अहिंसा दर्शन

अमर मुनि

सन्मति-साहित्य-रत्नमाला का चौबीसवाँ रत्न

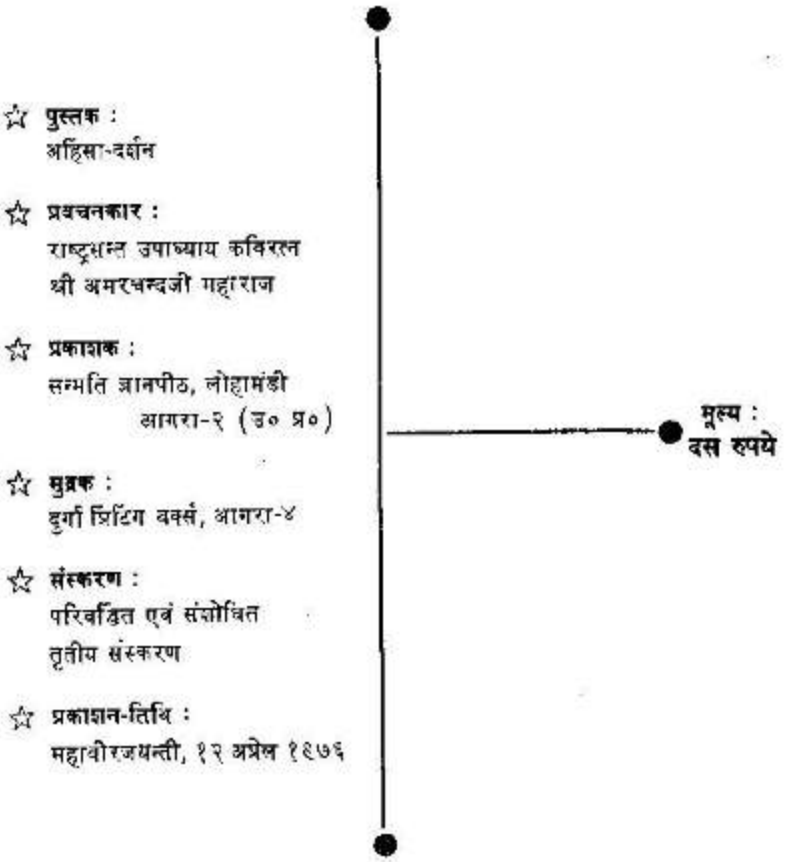

अहिंसा-दर्शन

[सिद्धान्त एवं साधना]

प्रवचनकार

राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री अमरमुनिजी महाराज

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

अहिंसा के भावना-सूत्र

'न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परां,
अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम्,
अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः। —९।२१।१२

(राजा रन्तिदेव ने पीड़ित एवं बुभुक्षित प्रजा के कल्याण की कामना करते हुए कहा था—) मैं भगवान् से अष्टसिद्धियों के युक्त स्वर्ग की श्रेष्ठगति नहीं चाहता, और तो क्या, मैं मोक्ष की कामना भी नहीं करता। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि मैं विश्व के समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हो जाऊँ और उनका सारा का सारा दुःख मैं ही सहन कर लूं, ताकि अन्य किसी भी प्राणी को दुःख न हो।

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' —योगदर्शन २।३५

अहिंसा की प्रतिष्ठा (पूर्णस्थिति) हो जाने पर उसके सान्निध्य में सब प्राणी अपना वैरभाव छोड़ देते हैं।

'अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।' —मनुस्मृति २।१५९

अहिंसा की भावना से अनुप्राणित हो कर ही प्राणियों पर अनुशासन करना चाहिए।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥' —गीता ६।२९

अनन्तचैतन्य की व्यापक चेतना से युक्त योगी अपने आपको सबमें तथा सब को अपने आप में देखता है, वह सर्वसमदर्शी होता है।

'निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव!

हे पाण्डव! जो सभी प्राणियों के प्रति निर्वैर (वैररहित) है, वही मुझे प्राप्त कर सकता है।

'अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वरः।' —महाभारत ११।१३

समस्त प्राणियों के लिए अहिंसा सर्वोत्कृष्ट धर्म है।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ —ईशोपनिषद् ६

जो अन्तर्निरीक्षण के द्वारा सब प्राणियों को अपनी आत्मा में ही देखता है और अपनी आत्मा को सब भूतों में, वह फिर किसी से घृणा नहीं करता है।

सब्बे सत्ता अवेरिनो होन्तु, मा वेरिनो।
सुखिनो होन्तु, मा दुक्खिनो॥ —बौद्धसूक्त

सभी प्राणी वैर से रहित हों, कोई भी वैर न रखे, सभी प्राणी सुखी हों, कोई दुःख न पाए।

संबुज्झमाणे उ नरे इमं,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥

सम्यग्बोधप्राप्त बुद्धिमान् मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होने वाले वैरभाव तथा महाभयंकर दुःखों को जान कर अपने को हिंसा से बचाए ।

जे य बुद्धा अतिक्कंता जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसि पइट्ठाणं भूयाणं जगई जहा ॥

जिस प्रकार जीवों का आधार-स्थान पृथ्वी है, वैसे ही भूत और भावी ज्ञानियों के जोवदर्शन का आधार-स्थान शान्ति अर्थात् अहिंसा है। यानी तीर्थंकर जैसा उच्च पद भी अहिंसापालन की बदौलत ही मिलता है ।

न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाई सव्वदुक्खाणं ।

प्राणवध का अनुमोदन (समर्थन (करने वाला पुरुष कदापि सर्वदुःखों से मुक्त नहीं हो सकता ।

—उत्तराध्ययन ८।८

न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए ।

—उत्तरा० ६।७

भय और वैर से निवृत्त हुए प्राणियों के प्राणों का घात न करे ।

एसा सा अहिंसा भगवई भीयाण विव सरणं, तसथावरसव्वभूयखेमकरी'

यह अहिंसा भगवती है, जो भयाकुल प्राणियों के लिए विशेष शरणदात्री है, त्रस-स्थावर सभी प्राणियों का कुशलक्षेम-मंगल करने वाली है ।

'सव्वं जगं तु समयाणुपेही पियमप्पियं कस्सइ नो करेजा

—सूत्र कृ० १।१०।७

भव्यात्मा को चाहिए कि वह समस्त अर्थात् सभी जीवों को समभाव से देखे । वह किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय न बनाए ।

तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि ।'

—आचारांग० १।५।५

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है । यह अद्वैतभावना ही, अहिंसा का मूलाधार है ।

समर्पण

वर्तमान अणु, उद्जन एवं प्रक्षेपास्त्र युग
की
संतप्त एवं संत्रस्त
अखण्ड मानव-जाति
को
अहिंसा-दर्शन
का
अमृतपात्र
सस्नेह
समर्पित

प्रकाशित हुआ। किन्तु वह भी कुछ वर्षों पहले ही समाप्त हो गया। अतः डॉ० वशिष्ठनारायण सिन्हा ने इसे संशोधित परिमार्जित करके रखा था। लेकिन वह यों ही पड़ा रहा। जनता की मांग बार-बार आती रही। इस वर्ष पं० मुनिश्रीनेमिचन्द्रजी महाराज ने अहिंसा के सम्बन्ध में श्री अमरभारती आदि में प्रकाशित कविश्रीजी महाराज के प्रवचनों एवं लेखों को छाड कर इसे परिष्कृतरूप से पुनः आद्योपान्त सम्पादित किया। इसी संशोधित परिवर्द्धित तृतीय संस्करण का नये रूप में प्रकाशन हुआ है। हम उन सभी सम्पादकों, संशोधकों एवं सहयोगियों के अत्यन्त आभारी है। खासकर सेवाभावी श्री अखिलेशजी महाराज के अत्यन्त आभारी है, जिनकी दीर्घदर्शिता की बदौलत यह सुन्दर साहित्य उपलब्ध हो रहा है। शीघ्र और सुन्दर मुद्रण के लिए 'दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स' के व्यवस्थापक महोदय का सरसहयोग भी प्रशंसनीय है। सभी सहयोगियों को धन्यवाद!

जैन भवन
लोहामंडी, आगरा-२
१२-४-७६

विनम्र—
—मंत्री, सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

अहिंसा के प्रेरणा-सूत्र

'एयं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया ॥'

—सूत्रकृताङ्गसूत्र १।१।४।१०

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राण की हिंसा न करे। अहिंसा-मूलक समता ही धर्म का सार है। बस, इतनी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए।

'सव्वे पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो, एवं परूवेमो, एवं पण्णवेमो, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। इत्थं विजाणह नत्थित्थ दोसो। आरियवयणमेयं ॥'

—आचारांगसूत्र १।४।२

हम ऐसा कहते हैं, ऐसा बोलते है, ऐसी प्ररूपणा करते हैं, ऐसी प्रज्ञापना करते हैं कि—'किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्त्व को न मारना चाहिए, न उन पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उनको गुलामों की तरह पराधीन बनाना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए। उक्त अहिंसाधर्म में किसी प्रकार का दोष नहीं है, यह ध्यान में रखिए। अहिंसा वस्तुतः आर्य (पवित्र) सिद्धान्त है।

जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं मणसा, वयसा कायसा चेव ॥

—उत्तराध्ययन अ० ८ गा० १०

लोकाश्रित जो त्रस और स्थावर जीव हैं, उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी प्रकार से दंड का प्रयोग न करें।

सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए ॥
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥

—सूत्रकृतांगसूत्र १।१।१।३

जो व्यक्ति प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है, इसप्रकार वह संसार में अपने लिए वैरभाव को ही बढ़ाता है।

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १९।२५

जगत् में शत्रु या मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है।

दूर क्यों जाएँ ! जैन इतिहास के विश्रुत धर्मसंघ-स्थापक तीर्थंकर अरिष्टनेमि के विवाह में बरातियों को पशु-पक्षियों का मांस दिया जाने वाला था, जब अरिष्टनेमि स्वयं दुल्हा बन कर रथ में बैठे हुए विवाह के लिए जा रहे थे, तब रास्ते में उन्होंने एक बाड़े में अवरुद्ध बहुत-से पशु-पक्षियों को देखा और करुणा से द्रवित हो कर उनको बन्धनमुक्त करवाया। उनके द्वारा पालन की गई इस व्यक्तिगत अहिंसा का प्रभाव तत्कालीन यादव जाति पर अचूकरूप से पड़ा। यादवजाति मानो जाग उठी। इसी प्रकार महात्मा गांधीजी ने जो भी व्यक्तिगत सत्याग्रह आदि किए थे, उन सबके साथ वे अहिंसा को अनिवार्य रूप से ले कर चले थे, जहाँ कहीं उन्हें यह स्पष्ट प्रतिभासित होता था कि इस सत्याग्रह में मेरे द्वारा हिंसा का भाव आ गया है, भले ही वह क्रोध, रोष और द्वेष के रूप में ही क्यों न आया हो, वह उस सत्याग्रह को स्थगित कर देते थे। उनकी दृष्टि में अहिंसा केवल व्यक्तिगत उपासना या साधना की चीज नहीं थी, अपितु वह सार्वभौम थी। मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी वर्गों के द्वारा वह आराधनीय, साधनीय थी।

यही कारण है कि अहिंसा-दर्शन में युगद्रष्टा राष्ट्रसंत उपाध्याय श्रीअमरमुनिजी ने शास्त्रीय भावों को वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में तौल-तौल कर बहुत ही बारीकी से युक्ति, प्रमाण, अनुभव और दृष्टान्त दे दे कर स्पष्ट कर दिया है।

अहिंसा-दर्शन के प्रथम और द्वितीय संस्करण में प्रकाशित उपाध्यायश्रीजी महाराज के प्रवचन ब्यावर में हुए थे। इन पंक्तियों का लेखक भी उस समय ब्यावर ही था। मेरे ही अनुरोध पर विक्रम संवत् २००७ के ब्यावर-चातुर्मास में श्रद्धेय उपाध्यायश्रीजी महाराज ने उपासकदशांग-सूत्र पर व्याख्यान देना स्वीकार किया था और उन्होंने उपासकदशांग-सूत्र के प्रथम अध्ययन के आधार पर अहिंसा, सत्य आदि व्रतों पर अत्यन्त विशदरूप से व्याख्यान दिए थे। उन व्याख्यानों को सुन कर सहसा दिवंगत ज्योतिर्धर आचार्य पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज का स्मरण हो आता है।

ब्यावरचातुर्मास के उन अहिंसा-सम्बन्धी प्रवचनों का सम्पादन पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने किया था। उसके बाद सन् १९५७ में उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके बाद अब यह तृतीय संस्करण संशोधित और परिवर्द्धित रूप में मेरे द्वारा सम्पादित हो कर प्रकाशित हो रहा है।

इस संस्करण में श्रद्धेय उपाध्यायश्रीजी महाराज के द्वारा समय-समय पर अहिंसा के सम्बन्ध में दिये गए प्रवचन, जो श्री अमरभारती में प्रकाशित होते रहे हैं, उन्हें छाँट कर व्यवस्थित करके यथा-तथा जोड़ दिये गए हैं। इनमें से कुछ प्रवचन नए विषयों पर हैं, कुछ युगानुलक्षी सामयिक प्रश्नों पर अहिंसा-सम्बन्धी प्रवचन हैं। कुछ अहिंसा के विधेयात्मक पहलुओं तथा सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक हिंसा-अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में दिये गए प्रवचन हैं। मतलब यह है कि अहिंसा भगवती के सांगोपांग

प्रकाशकीय

अहिंसा मानवजाति के लिए जन्म से ले कर मृत्युपर्यन्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और प्रत्येक कदम पर अनिवार्य है, परन्तु उसके सम्बन्ध में जब तक स्पष्ट दर्शन न हो, उसके विविध पहलुओं पर जब तक सूक्ष्म दृष्टि से विचार न किया जाय, तब तक अहिंसा की साधना और अहिंसा के प्रयोग सफल नहीं हो सकते। इसी दृष्टिकोण से राष्ट्रसन्त कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज के अहिंसा-सम्बन्धी प्रवचनों का यह सुन्दर संकलन किया गया है। इसमें अहिंसा की जो विवेचना की गई है, उसमें कितनी नौलिकता, गम्भीरता और विशदता है, यह बात ध्यानपूर्वक पढ़ने वाले विवेकशील पाठक स्वयं समझ सकते हैं। जैनशास्त्रों में अहिंसा के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट व्याख्या मिलती है, परन्तु प्रथम तो शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन करने वाले ही विरले हैं, फिर यत्र-तत्र बिखरी हुई और प्राकृत या संस्कृत भाषा में निबद्ध व्याख्या के अन्तस्तत्त्व को समझने और प्रतिपादन करने वाले विद्वानों की संख्या तो और भी कम है। राष्ट्रसन्त उपाध्यायश्रीजी महाराज ने शास्त्रों की शब्दावली के सहारे शास्त्रों की आत्मा का स्पर्श किया है, अहिंसा के तत्त्वज्ञान और सिद्धान्त के साथ-साथ उन्होंने अहिंसा के व्यवहारपक्ष को भी विशदरूप से स्पष्ट किया है। कहना होगा कि उनके द्वारा की गई अहिंसा की विस्तृत विवेचना अपूर्व और नौलिक बन पड़ी है।

यह ब्यावर श्रीसंघ की सूझ-बूझ का फल है कि उसने कविरत्न उपाध्यायश्रीजी महाराज के वि० संवत् २००७ के ब्यावर-चातुर्मास में उपासकदशांग का अवलम्बन ले कर अहिंसा पर दिये गए युगस्पर्शी प्रवचनों का पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल से सम्पादन करवा लिया था। अहिंसा-दर्शन के प्रथम संस्करण में उन्हीं प्रवचनों का प्रकाशन हुआ है। उसकी मांग इतनी अधिक हुई कि सन् १९५७ में शीघ्र ही उसका द्वितीय संस्करण

कठिन है कि इन प्रवचनों का सम्पादन पूर्णतया सफल हो सका है। प्रवचनों के सम्पादन में उपाध्यायश्रीजी महाराज के भावों को अक्षुण्ण रखने का भरसक ध्यान रखा गया है तथापि कहीं भाषा में विरूपता या स्खलना हो गई हो तो उसके लिए पाठक क्षमा करें।

उपाध्यायश्रीजी महाराज के द्वारा अहिंसा-सम्बन्धी ये प्रवचन किसी एक सम्प्रदाय, पक्ष या मत को ले कर नहीं किये गए हैं, अहिंसा-सम्बन्धी जो सार्वजनिक और निष्पक्ष मन्तव्य है, उसे ले कर ही आपने ये प्रवचन किए हैं, सम्भव है, परम्परागत धारणाओं के कारण किसी का उनसे मतभेद हो, फिर भी यदि वे सज्जन निष्पक्षता और गम्भीरता से विचार करेंगे तो उनका मनःसमाधान होना कठिन नहीं है।

आशा है, पाठक अहिंसा के सम्बन्ध में इन प्रवचनों को पढ़ कर हृदयंगम करेंगे और अपने सर्वक्षेत्रीय जीवन को अहिंसा से अनुप्राणित बनाएंगे।

जैनभवन, लोहामंडी
आगरा-२
ता० १२-४-७६

—मुनि नेमिचन्द्र

अहिंसा-दर्शन का अन्तरंग

जब से इस धरातल पर मनुष्य नामक प्राणी विद्यमान है, जब से उसे हृदय और बुद्धि प्राप्त है, तभी से अहिंसा का पावन सिद्धान्त भी प्रचलित है। यथार्थरूप से यह कहना कठिन है कि अहिंसा की सर्वप्रथम कल्पना कब प्रादुर्भूत हुई थी। इतिहास इस विषय में मौन है। किन्तु यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि मानव के सर्वांगीण जीवन को सुखद, सरल, आनन्दमय एवं निश्चिन्ततापूर्वक बिताने के लिए ही अहिंसा का स्वीकार किया गया था। प्रारम्भ में थोड़े से सिद्धान्त स्थिर किये गए होंगे, लेकिन आगे चल कर पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में कई नई-नई उलझनें पैदा हुई होंगी, कई नए संघर्ष भी उपस्थित हुए होंगे, और तब हिंसा-अहिंसा की मर्यादाएँ, उनका स्वरूप और विविध परिस्थितियों में विविध देश,काल और पात्र के अनुसार उनके विभिन्न प्रयोग भी सुनिश्चित किये गए होंगे। इस प्रकार अहिंसा की विचारधारा का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया, जटिलतम प्रश्न भी अहिंसा के द्वारा सुलझाए जाने लगे और इसकी उपयोगिता एवं अनिवार्यता केवल व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्पष्टतः समझी जाने लगी। यही कारण है कि हिंसा-अहिंसा का स्वरूप एवं पथ इतना जटिल और दुर्गम-सा हो गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अहिंसा कोरी सिद्धान्त की ही वस्तु नहीं, वह व्यवहार की भी वस्तु है। चिरकाल से बड़े-बड़े साधकों ने अपने व्यावहारिक जीवन में अहिंसा की आराधना करके जगत् के सामने मूल्यवान आदर्श प्रस्तुत किए हैं।

जगत में जितने भी धर्म हैं, वे सब एक या दूसरी तरह से अहिंसा की महत्ता का स्वीकार करते हैं। साम्यवादी देशों में, जहाँ कि धर्म को अफीम के समान माना जाता है, वहाँ भी राष्ट्र की जीवन-यात्रा को सुखद एवं सरल बनाने के लिए अहिंसा का स्वीकार किया जाता है। नीति और धर्म-सम्बन्धी जितने भी नियम, मर्यादाएँ परम्पराएँ, व्रत एवं तप आदि हैं, उन सब में अहिंसा का होना अनिवार्य माना गया है। राजनीति जैसे गंदे माने जाने वाले क्षेत्र में भी राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी ने अहिंसा के विभिन्न प्रयोग करके उसे सफल बनाया था।

अहिंसा के प्रयोग करने का जहाँ व्यक्तिगत रूप से शास्त्रों में विधान है, वहाँ सामूहिक रूप से भी अहिंसा-प्रयोग के बीज शास्त्रों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अहिंसा केवल एक व्यक्ति के पालन की ही चीज नहीं है, और न उसका सुफल केवल एक व्यक्ति से अनुस्यूत रहता है, अपितु एक व्यक्ति के अहिंसा-पालन से उसका प्रभाव सारे समाज और कभी-कभी राष्ट्र पर भी पड़ा है।

२०	घृणा : समग्र समाज में व्याप्त हिंसा का मूल	२१८
२१	जातिवाद : सामाजिक हिंसा का अभूत	२२९
२२	पवित्रता से सामाजिक अहिंसा की प्रतिष्ठा	२४८
२३	शोषण : सामाजिक हिंसा का स्रोत	२५९
२४	आर्यकर्म और अनार्यकर्म	२७६
२५	कृषि अल्पारम्भ और आर्यकर्म है	२८९
२६	अहिंसा और कृषि	३०१
२७	मानवजीवन और कृषि-उद्योग	३१३
२८	रोजी, रोटी और अहिंसा	३३४
२९	श्रावक और स्फोटकर्म	३४७
३०	गोरक्षा का प्रश्न और अहिंसा	३६२
३१	सांस्कृतिक क्षेत्र में अहिंसा की दृष्टि	३६६
३२	वैचारिक अहिंसा और अनेकान्त	३७४
३३	जीवन के चौराहे पर	३७८

सर्वांगसुन्दर सार्वभौम दर्शन करने के लिए यह ग्रन्थ अपने आप में अद्वितीय है। किसी भी अन्य ग्रन्थ में इतना सुन्दर, स्पष्ट और युक्तिसंगत विवेचन मिलना कठिन है।

यों तो 'अहिंसा' इतना व्यापक और विवादास्पद विषय है कि इसके विवेचन में हजारों पृष्ठ लिखे जाएँ तो भी पर्याप्त न होंगे। परन्तु खास-खास मुद्दों को ले कर उपाध्यायश्रीजी महाराज ने जो व्याख्या की है, वह भी अहिंसा के साधकों, उपासकों, विचारकों, प्रयोगकारों और शोधकर्ताओं के लिए अनूठी और अद्वितीय है।

इसमें जैन-धर्म के इस युग के आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से ले कर भगवान् महावीर तक के जमाने में हुए अहिंसा-विषयक प्रयोगों पर सुन्दर विश्लेषण किया गया है। साथ ही वर्तमानयुग के गोरक्षा, बंगलादेश के रूप में शरणागत-रक्षा तथा धर्मयुद्ध का आदर्श, सापराधी को दण्ड, आदि ज्वलन्त प्रश्नों पर भी प्राचीनयुग के ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक उदाहरण दे कर जैनधर्म का अहिंसा-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक क्षेत्र के भाषा, संततिनियमन, अतिथि सत्कार, जातिवाद आदि प्रश्नों पर भी अहिंसा का स्पष्ट युक्तिसंगत दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। सामाजिक क्षेत्र में जाति, वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय, परिवार, राष्ट्र एवं प्रान्त आदि के नाम पर होने वाले संघर्ष, घृणा, द्वेष, विवाद और सिरफुटौव्वल के रूप में खतरनाक हिंसा का विश्लेषण करके उपाध्यायश्रीजी महाराज ने उसका अहिंसात्मक उपाय एवं निवारणपक्ष भी प्रस्तुत किया है और अहिंसा के उस परिपुष्ट आध्यात्मिक आधार पर भी आपने सुन्दर विश्लेषण किया है, जो सर्वधर्म एवं सर्वदर्शन के हृदयों को स्पर्श करने वाला है। एक प्रवचन में आपने समस्त प्रचलित धर्मों के अहिंसा-विषयक विचार प्रस्तुत किए हैं।

सुदूर अतीत से, अर्थात् उस अज्ञात प्राचीनकाल से ले कर आज तक जो हिंसा-अहिंसा की मीमांसा की जाती रही है, उत्तरोत्तर जो उसका स्वरूप विराट् और विशाल होता गया है, आचार-जगत की अहिंसा जो भगवान् महावीर के युग में ज्ञान के साथ विचारजगत् में भी प्रवेश करती जान पड़ती है और गांधीयुग में राजनैतिक क्षेत्र में आ कर वरदान देती प्रतीत होती है, इन सबका अहिंसा-दर्शन में सांगोपांग युक्तियुक्त एवं आगम-प्रमाणसहित विश्लेषण है।

राष्ट्रसंत उपाध्याय कविरत्न श्रीअमरचन्दजी महाराज बहुश्रुत, मूर्धन्य विद्वान्, दार्शनिक एवं निष्पक्ष तत्त्वचिन्तक मुनिपुंगव हैं। सौभाग्य से आपको विद्या और बुद्धि के साथ उच्चकोटि की वक्तृत्वकला भी प्राप्त है। आपकी भाषा में ओज, अर्थगम्भीर्य एवं लालित्य है। आपकी प्रवचनशैली नदी के प्रवाह की तरह प्रतिपाद्य विषय की ओर अग्रसर होती हुई लहराती हुई धरातल से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक गगनतल को छूती हुई-सी जान पड़ती है, वह न तो बीच में कहीं रुकती है, और न स्खलित ही होती है। यद्यपि प्रवचनों का सम्पादन करते समय आपकी भाषा की मौलिकता को अक्षुण्ण रखने का भरसक प्रयास किया गया है, फिर भी यह दावा करना

प्राणों की आहुति दे कर भी,
दुखियों का दुःख दूर करे।
हानि देख कर पर की सज्जन,
अपने मन में झूर मरे॥

—उपाध्याय अमरमुनि

औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर दो,
सब को सुखी बनाओ॥

—प्रसाद

अनुक्रमणिका

क्या ?		कहाँ ?
१	अहिंसा : जीवन की अन्तर्गंगा	१
२	अहिंसा का आध्यात्मिक आधार	१८
३	अहिंसा का शाश्वतरूप : वृत्ति में अहिंसा	२४
४	अहिंसा : विश्वशान्ति की आधारशिला	२९
५	क्या अहिंसा अव्यवहार्य है ?	३८
६	अहिंसा के दो रूप : अनुग्रह और निग्रह	४६
७	युद्ध, दण्ड और अहिंसा	५९
८	अहिंसा की कसौटी	६७
९	अहिंसा का मानदण्ड	८७
१०	अहिंसा की त्रिपुटी	९६
११	अहिंसा के दो पक्ष : प्रवृत्ति और निवृत्ति–१	११०
१२	अहिंसा के दो पक्ष : प्रवृत्ति और निवृत्ति–२	१२१
१३	अहिंसा की विधेयात्मक त्रिवेणी	१३५
१४	अहिंसा का युगसापेक्ष महत्त्व	१५१
१५	द्रव्यहिंसा-भावहिंसा	१५७
१६	अहिंसा के सद्धर्म में धर्मयुद्ध का आदर्श	१७०
१७	हिंसा की रीढ़ : प्रमाद	१८२
१८	मानवता का भीषण कलंक	१९५
१९	वर्ण-व्यवस्थागत सामाजिक हिंसा	२०७

१ | अहिंसा : जीवन की अन्तर्गंगा

संसार में सभी प्राणी व्यग्र और व्यस्त दिखाई देते हैं। छोटी-छोटी चींटियाँ दिन हो या रात दौड़-दौड़ कर अन्नकणों को एकत्रित करती हुई नजर आती हैं। पक्षीगण सुबह से शाम तक दाने चुनते हुए दीख पड़ते हैं। आदमी चाहे दिन हो या रात, शरीर कंपा देने वाली ठंडक हो या देह झुलसा देने वाली गर्मी, हमेशा कहीं पत्थर तोड़ता हुआ, कहीं कारखानों में लोहा पीटता हुआ, कहीं खेतों में हल चलाता हुआ पाया जाता है। आखिर इन सब कार्यकलापों के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होगा! कारण है—जीवन का सुख, मन की शान्ति। हर प्राणी यह चाहता है कि उसे ही ज्यादा से ज्यादा सुख-सुविधाएँ प्राप्त हों, परन्तु जब तक वह दूसरों की सुख-सुविधाओं पर ध्यान नहीं देगा, वह अपने आप में स्वार्थी, आरामतलब, अहंकारी एवं असंतोषी बन कर दूसरों की जरूरतों की उपेक्षा करता रहेगा, दूसरों के अधिकारों को छीनता रहेगा, दूसरों के श्रम का शोषण करता रहेगा, तब तक वह स्वयं सुख और शान्ति से युक्त नहीं हो सकेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो, ऐसा प्राणी दूसरों की हिंसा करता रहेगा—फिर भले ही कायिक हिंसा कम हो, वाचिक या मानसिक ज्यादा हो। अतः किसी भी व्यक्ति को सच्चे अर्थों में सुख-शान्ति-सम्पन्न बनना है तो, उसे मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का स्वीकार करना ही होगा।

अहिंसा सर्वक्षेत्रों में आवश्यक

इसी कारण संसार के मूर्धन्य मनीषियों ने सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन के लिए अहिंसा की खोज की।

अहिंसा मानव-जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन का सर्वोत्तम विकास-बिन्दु है। क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर—दोनों ही प्रकार के मंगल-जीवन का मूलाधार 'अहिंसा' है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वबन्धुत्व का जो विकास हुआ या हो रहा है, उसके मूल में अहिंसा की ही पवित्र भावना काम करती रही है। मानव—सभ्यता के उच्च आदर्शों का सही-सही मूल्यांकन अहिंसा के रूप में ही किया जा सकता है। हिंसा और विनाश, अधिकार-लिप्सा और असहिष्णुता, सत्ता-लोलुपता और स्वार्थान्धता से विधाक्त उत्पीड़ित संसार में अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ अमृतमय विश्राम-भूमि है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य आराम की साँस लेता है। अपने को और दूसरों को समान धरातल पर देखने के लिए अहिंसा की निर्मल आँख का होना नितान्त आवश्यक है। यदि अहिंसा न हो, तो मनुष्य न स्वयं

अपने को पहचाने और न दूसरों को ही। पशुत्व से ऊपर उठने के लिए अहिंसा का अवलम्बन अनिवार्य है।

विभिन्न धर्मों में अहिंसा-भावना

अहिंसा की परिधि के अन्तर्गत समस्त धर्म और समस्त दर्शन समवेत हो जाते हैं। यही कारण है कि प्रायः सभी धर्मों ने इसे एक स्वर से स्वीकार किया है और अन्ततोगत्वा इसी का आश्रय लिया है। हमारे यहाँ के चिन्तन में, समस्त धर्म-सम्प्रदायों में अहिंसा के सम्बन्ध में, उसकी महत्ता और उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं, भले ही उसकी सीमाएँ कुछ भिन्न-भिन्न हों। कोई भी धर्म यह कहने के लिए तैयार नहीं कि झूठ बोलने में धर्म है, चोरी करने में धर्म है या अब्रह्मचर्य-सेवन करने में धर्म है। अब इन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता, तो हिंसा को कैसे धर्म कहा जा सकता है? हिंसा को हिंसा के नाम से कोई स्वीकार नहीं करता। अतः किसी भी धर्मशास्त्र में हिंसा को धर्म और अहिंसा को अधर्म नहीं कहा गया है। सभी धर्मों ने अहिंसा को ही परम धर्म स्वीकार किया है। मनुष्य के चारों ओर पार्थिव जीवन का मजबूत घेरा पड़ा हुआ है, उसे तोड़ कर उच्चतम आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए अहिंसा के बिना गुजारा नहीं है।

जैनधर्म में अहिंसा-भावना

अहिंसा जैनधर्म का तो प्राण है।। जैनधर्म का नाम लेते ही सर्वसाधारण को अहिंसा की स्मृति हुआ करती है। आज से पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने अहिंसा की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिए, हिंसा के विरोध में क्रांति की। अहिंसा और धर्म के नाम पर हिंसा का जो नग्न नृत्य हो रहा था, जनमानस भ्रान्त किया जा रहा था, वह भगवान् महावीर से देखा नहीं गया। उन्होंने हिंसा पर लगे धर्म और अहिंसा के मुखौटों को उतार फेंका और सामान्य जनमानस को उद्बुद्ध करते हुए कहा—हिंसा कभी भी धर्म नहीं हो सकती। विश्व के सभी प्राणी—वे चाहे छोटे हों या बड़े, पशु हों या मानव, सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।[1] सबको सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। सबको अपना जीवन प्यारा है।[2] जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते, उसे दूसरा भी पसन्द नहीं करता। जिस व्यवहार को तुम पसन्द करते हो, उसे सभी पसन्द करते हैं। यही जिनशासन के कथनों का सार है, जो कि एक तरह से सभी धर्मों का सार है।[3] किसी के प्राणों की

---

१ सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
—दशवैकालिक सूत्र ६।११

२ सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुहपडिकूला। —आचारांग सूत्र १।२।३

३ जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियगं जिणसासणयं॥ —बृहत्कल्पभाष्य ४५८४

हत्या करना धर्म नहीं हो सकता। अहिंसा, संयम और तप यही वास्तविक धर्म है।[४] इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं।[५] उनकी हिंसा न जान कर करो, न अनजान में करो और न दूसरों से ही किसी की हिंसा कराओ। क्योंकि सबके भीतर एक-सी आत्मा है। हमारी तरह सबको अपने प्राण प्यारे हैं। ऐसा मान कर भय और वैर से मुक्त होकर किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। जो व्यक्ति खुद हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और दूसरों को हिंसा का अनुमोदन करता है, वह अपने लिए वैर ही बढ़ाता है।[६] अतः प्राणियों के प्रति वैसा ही भाव रखो, जैसा कि अपनी आत्मा के प्रति रखते हो।[७] सभी जीवों के प्रति अहिंसक हो कर रहना चाहिए। सच्चा संयमी वही है, जो मन, वचन और शरीर से किसी की हिंसा नहीं करता। यह है—भगवान् महावीर की आत्मौपम्य दृष्टि, जो अहिंसा में ओत-प्रोत हो कर विराट् विश्व के सम्मुख एकात्मानुभूति का एक महान् गौरव प्रस्तुत कर रही है।

बौद्धधर्म में अहिंसा-भावना

'आर्य' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए बौद्धधर्म ने अहिंसाप्रिय व्यक्ति को आर्य कहा है। तथागत बुद्ध ने कहा है—"प्राणियों की हिंसा करने से कोई आर्य नहीं कहलाता, बल्कि जो प्राणी की हिंसा नहीं करता, उसी को आर्य कहा जाता है।[८] सब लोग दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से भय खाते हैं। मानव दूसरों को अपनी तरह जान कर न तो किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करे।[९] जो न स्वयं किसी का घात करता है, न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, न दूसरों से जीतवाता है, वह सर्वप्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता।[१०] जैसा मैं हूँ वैसे ये हैं, तथा जैसे ये हैं वैसा मैं हूँ—इस प्रकार आत्मसदृश

---

४ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। —दशवैकालिक १।१

५ जावंति लोए पाणा तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा न हणे नोवि घायए॥ —दशवैकालिक

६ अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥ —उत्तराध्ययन ८।१०

७ सयंऽतिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढई अप्पणो।। —सूत्र कृताङ्ग १।१।१।३

८ न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणान, अरियोति पवुच्चति॥ —धम्मपद १९।१५

९ सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥ —धम्मपद १०।१

१० यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जापते।
मित्तं सो सब्बभूतेसु वेरं तस्स न केनचीति॥ —इतिवुत्तक, पृ० २०

मान कर न किसी का घात करे न कराए।[११] सभी प्राणी सुख के चाहने वाले हैं, इनका जो दण्ड से घात नहीं करता है, वह सुख का अभिलाषी मानव अगले जन्म में सुख को प्राप्त करता है।[१२] इस प्रकार तथागत बुद्ध ने भी हिंसा का निषेध करके अहिंसा की प्रतिष्ठा की है।

तथागत बुद्ध का जीवन 'महाकारुणिक जीवन' कहलाता है। दीन-दुखियों के प्रति उनके मन में अत्यन्त करुणा भरी थी, दया का सागर लहरा रहा था।

भगवान् महावीर की भाँति तथागत बुद्ध भी श्रमण-संस्कृति के एक महान् प्रतिनिधि थे। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक कारणों से होने वाली हिंसा की आग को प्रेम और शान्ति के जल से शान्त करने के सफल प्रयोग किये, और इस आस्था को सुदृढ़ बनाया कि समस्या का प्रतिकार सिर्फ तलवार ही नहीं, प्रेम और सद्भाव भी है। यही अहिंसा का मार्ग वस्तुतः शान्ति और समृद्धि का मार्ग है।

वैदिकधर्म में अहिंसा-भावना

वैदिकधर्म भी यज्ञकाल से उत्तरोत्तर अहिंसा-प्रधान धर्म होता गया है। "अहिंसा परमो धर्मः" के अटल सिद्धान्त को सम्मुख रख कर इसमें भी अहिंसा की विवेचना की गई है। अहिंसा ही सबसे उत्कृष्ट एवं पावन धर्म है, अतः मनुष्य को कभी भी, कहीं भी और किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[१३] जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है, उसे दूसरों के लिए कभी न करो।[१४] इस नश्वर जीवन में न तो किसी प्राणी की हिंसा करो और न किसी को पीड़ा पहुँचाओ। बल्कि सभी आत्माओं के प्रति मैत्री-भावना स्थापित कर विकसित करते रहो। किसी के साथ वैर न करो।[१५] जैसे मानव को अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए जो लोग बुद्धिमान और पुण्यशाली हैं, उन्हें चाहिए कि

---

११ यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥
—सुत्तनिपात, ३।३।७।२७

१२ सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्चसो लभते सुखं॥ —उदान, पृ० १२

१३ अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वरः।
तस्मात् प्राणभृतः सर्वान् मा हिंस्यान्मानुषः क्वचित्॥
—महाभारत–आदिपर्व, १।१।१३

१४ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। —मनुस्मृति

१५ न हिंस्यात् सर्वभूतानि, मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ —महाभारत–शान्तिपर्व २७८।५

वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें ।[१६] इस विश्व में अपने प्राणों से प्यारी दूसरी कोई वस्तु नहीं है । इसलिए मानव जैसे अपने ऊपर दयाभाव चाहता है, उसी प्रकार दूसरों पर भी दया करे ।[१७] दयालु आत्मा ही सभी प्राणियों को अभयदान देता है, और उसे भी सभी अभयदान देते हैं ।[१८] अहिंसा ही एकमात्र पूर्ण धर्म है । हिंसा, धर्म और तप का नाश करने वाली है ।[१९] अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म भी अहिंसा की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार करता है ।

इस्लामधर्म में अहिंसा-भावना

इस्लामधर्म की अट्टालिका भी अहिंसा की नींव पर टिकी हुई है । इस्लामधर्म में कहा गया है—"खुदा सारी दुनिया (अल्क) का पिता (खालिक) है । विश्व में जितने प्राणी हैं, वे सब खुदा के पुत्र (बंदे) हैं ।" कुरानशरीफ की शुरूआत में ही 'अल्लाहतालां खुदा' का विशेषण दिया है—"बिस्मिल्लाह रहिमानुर्रहीम"—इस प्रकार का मंगलाचरण दे कर यह बताया गया है कि सब जीवों पर रहम करो ।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली साहब ने कहा है—"हे मानव ! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना" अर्थात् पशु-पक्षियों को मार कर उनको अपना भोजन मत बनाओ । इसी प्रकार 'दीने इलाही' के प्रवर्त्तक मुगलसम्राट् अकबर ने कहा है—"मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान बनाना नहीं चाहता । जिसने किसी की जान बचाई—उसने मानो सारे इन्सानों को जिन्दगी बख्शी ।"[२०]

उपर्युक्त उदाहरणों से यही प्रतिभासित होता है कि इस्लामधर्म भी अमुक अंश में अपने साथ अहिंसा की दृष्टि को ले कर चला है ।

---

१६ प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन गन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्मभिः ॥
—महाभारत–अनुशासनपर्व, २१५।१९

१७ नहि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते ।
तस्माद् दयां नरः कुर्यात् यथात्मनि तथा परे ॥
—महाभारत–अनुशासनपर्व, ११६।८

१८ अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ॥
—महाभारत–अनुशासनपर्व, ११६।१३

१९ अहिंसा सकलो धर्मः ।
—महाभारत-शान्तिपर्व ।

२० व मन् अहया हा अकअलया अहाम्मास ऊमीअनः ।
—कुरानशरीफ ५।३५

ईसाईधर्म में अहिंसा-भावना

महात्मा ईसा ने कहा है कि—"तू तलवार म्यान में रख ले, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सब तलवार से ही नष्ट किये जायेंगे।"[२१] अन्यत्र भी बतलाया है—"तुम अपने दुश्मन को भी प्यार करो और जो तुम्हें सताते हैं, उनके लिए भी प्रार्थना करो। यदि तुम उन्हीं से प्रेम करो, जो तुमसे प्रेम करते हैं, तो तुमने कौन मार्के की बात की?"[२२] इतना ही नहीं, वरन् अहिंसा का वह पैगाम तो काफी गहरी उड़ान भर बैठा है। "अपने शत्रु से प्रेम रखो, जो तुमसे वैर करें, उनका भी भला सोचो और करो। जो तुम्हें शाप दें, उन्हें आशीर्वाद दो। जो तुम्हारा अपमान करे, उसके लिए प्रार्थना करो। जो तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी तरफ दूसरा गाल भी कर दो। जो तुम्हारी चादर छीन ले, उसे अपना कुर्ता भी ले लेने दो।[२३] ईसा का यह संदेश अहिंसा का कितना बड़ा उदाहरण है! "यदि तू प्रार्थना के लिए धर्ममन्दिर में (चर्च) में जा रहा है, उस समय तुझे याद आ जाय कि अमुक व्यक्ति से खटपट या अनबन है तो वापिस लौट जा और विरोधी से अपने अपराध की क्षमायाचना कर। अपने अपराधों की क्षमायाचना किये बिना तुझे प्रार्थना करने का अधिकार नहीं है।"

यहूदीधर्म में अहिंसा-भावना

यहूदीमत में कहा गया है कि—"किसी आदमी के आत्म-सम्मान को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। लोगों के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बड़ा पाप है, जितना उसका खून कर देना।"[२४]

"यदि तुम्हारा शत्रु तुम्हें मारने को आए और वह भूखा-प्यासा तुम्हारे घर पहुँचे, तो उसे खाना दो, पानी दो।"[२५]

"यदि कोई आदमी संकट में है, डूब रहा है, उस पर दस्यु-डाकू या हिंसक शेर-चीते आदि हमला कर रहे हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी रक्षा करें।" प्राणिमात्र के प्रति निर्वैरभाव रखने की प्रेरणा प्रदान करते हुए यह बतलाया गया है कि—'अपने मन में किसी के भी प्रति वैर का दुर्भाव मत रखो।'[२६]

---

२१ मत्ती। —२।५१।५२

२२ मत्ती —५।४५।४६

२३ लूका —६।२७।३७

२४ ता० बाबा मेतलिया —मेतलिया-५८ (ब)।

२५ नीति, —२५।२१ परमिदास

२६ तोरा —लैव्य व्यवस्था १९।१७

पारसी और ताओ धर्म में अहिंसा-भावना

पारसीधर्म के महान् प्रवर्त्तक महात्मा जरथुस्ट ने कहा है कि—"जो सबसे अच्छे प्रकार की जिन्दगी गुजारने से लोगों को रोकते हैं, अटकाते हैं और पशुओं को मारने की सिफारिश करते हैं, उनको अहुरमज्द बुरा समझते हैं।"[२७] अतः अपने मन में किसी से बदला लेने की भावना मत रखो। बदले की भावना तुम्हें लगातार सताती रहेगी! अतः दुश्मन से भी बदला मत लो। बदले की भावना से प्रेरित हो कर कभी कोई पापकर्म मत करो। मन में सदा-सर्वदा सुन्दर विचारों के दीपक सँजोए रखो।"

ताओ धर्म के महान् प्रणेता—लाओत्से ने अहिंसात्मक विचारों को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि—"जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करते, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ।"[२८]

कनफ्यूशस-धर्म के प्रवर्त्तक कांगफ्यूत्सें ने कहा है कि—"तुम्हें जो चीज नापसन्द है, वह दूसरे के लिए हर्गिज मत करो।"

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रमण संस्कृति के मूल संस्थापक भगवान् ऋषभदेव ने अहिंसा का जो बीज बोया तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने जिसे पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया, उसे विश्व के समस्त धर्मों ने अपने धर्म के अन्तर्हृदय के रूप में अंगीकार किया। अतः श्रमणसंस्कृति की अमर देन—अहिंसा वह महान् शक्ति है, जो विश्व के समस्त धर्मों को पारस्परिक ऐक्य-सूत्र में संबद्ध करने में सहज समर्थ है। यह विश्व के समस्त धर्मों को श्रमणसंस्कृति की महान् देन है।

आदिमयुग का मानव और जीवन में अहिंसा का उदय

मानव-विकास के क्रमों पर आज की वैज्ञानिक दृष्टि सर्वप्रथम आदिमयुग पर जा टिकती है। आदिमयुग का मानव जंगलों में भटका करता था। जंगली जानवरों का शिकार करना, उनके कच्चे-अधपके मांस से क्षुधा-तृप्ति करना, तथा उनकी खालों को वस्त्र की जगह पहनना, यही प्रायः उसका नित्य का जीवन था। आदिममानव का यह जीवनक्रम बताता है कि अपने से इतर किसी भी प्राणी का मूल्य उसके लिए कुछ भी न था। बस, कुछ मूल्य था तो इतना ही कि उन्हें मारकर अपनी क्षुधापूर्ति करना एवं उनकी खाल को पहन लेना भर। तब के मानव को कहाँ यह पता था कि सभी प्राणी एक समान हैं, सभी हमारी तरह ही सुख-दुःखों का अनुभव करते हैं, हमारी तरह ही दुःखों से मुक्ति चाहते हैं और सुखों की कामना करते हैं।

---

२७ गाथा —हा० ३४, ३

२८ लाओ तेह किंग।

इतिहास इसका प्रमाण है कि ऋषि-परम्परा से पूर्व श्रमण-परम्परा ने मानव-मात्र को यह ज्ञान प्रदान किया कि—"मानव! जिस प्रकार तूने सुख एवं शान्तिपूर्ण पथ से यात्रा करने के लिए मानव-तन पाया है, उसी प्रकार विश्व के समस्त प्राणी भी सुख एवं शान्ति का जीवन चाहते हैं। अतः जिस प्रकार तुम अपना अहित नहीं कर सकते, अपना अहित नहीं देख सकते, अपने लिए कतई पीड़ा एवं दुःख नहीं चाह सकते — विश्व के अन्य सभी जीव भी अपने लिए ऐसा कुछ नहीं चाहते हैं। जीवन जीना है, तो क्या तामसिक वृत्तियों से ही जिया जा सकता है? क्या सात्विक वृत्तियां जीवन-विकास में कोई बाधक हैं? क्यों नहीं मांस-भक्षण की जगह अन्न से क्षुधातृप्ति की जाए? क्यों नहीं पशुओं की खाल की जगह कपास की कृषि के द्वारा वस्त्र तैयार करके, सर्दी-गर्मी एवं लज्जा से अपने शरीर की रक्षा की जाए?"

मानव-जीवन के विकास का इतिहास आज भी इस बात को दुहरा रहा है कि श्रमण-संस्कृति ने इस प्रकार मानवमात्र को परिबोध देकर अहिंसा के सहारे मानव को मानव का जीवन-प्रदान किया। श्री दिनकरजी जैसे साहित्यकारों की दृष्टि में मानव को पशु-जीवन से ऊपर उठा कर अहिंसा, दया, प्रेम एवं सहानुभूति के मार्ग पर ला कर मानवता का निर्मल जीवन-प्रदान करने का प्रथम श्रेय भगवान् ऋषभदेव को ही मिलता है।

अहिंसा : जीवन की हर प्रवृत्ति का आधार स्तम्भ :

अहिंसा श्रमण-संस्कृति—जैनसंस्कृति—की विश्वसंस्कृति को महान् देन है, ऐसा कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। श्रमण-संस्कृति में अहिंसा, जीवन एवं धर्म की सबसे पहली कसौटी है, यानी अहिंसा के केन्द्र से ही श्रमण-संस्कृति का पहला चरण बढ़ता है। जैनधर्म की उत्पत्ति का प्रथम सिद्धान्त ही अहिंसा-भावना है। पश्चात्, इस अहिंसा को भारत के अन्य धर्म एवं संस्कृतियों ने भी एक भाव से हृदयंगम कर लिया। आगे चल कर तो यह अहिंसा करुणा, प्रेम एवं सहिष्णुता के रूप में भारतीय संस्कृति का प्राण ही बन गई; जैनदर्शन का तो यह हृदय ही है। इसकी विशद व्याप्ति में सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य आदि समस्त व्रतों का स्वतः समावेश हो जाता है।[२९] श्रमणसंस्कृति का मूलस्वरूप अहिंसा है और सत्य आदि उसका विस्तार है। ब्रह्मचर्य उसकी संयम साधना है, अस्तेय और अपरिग्रह उसका तप है।

जैनधर्म की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी प्रत्येक साधना में अहिंसा का जीवन-संगीत चलता है। आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए किये जाने वाले व्रत-

---

२९ अहिंसा-गहणे पंच महव्वयाणि गहिताणि भवंति।
संजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ,
संपुण्णाय अहिंसाय संजमो वि तस्स वट्टइ।

—दशवैकालिक, चूर्णि १ अध्ययन

विधान में पहला स्थान अहिंसा का है। एक जैन गृहस्थ हो अथवा साधु सर्वप्रथम अहिंसा की ही प्रतिज्ञा लेता है। यहाँ अल्पता और महत्ता को ले कर दोनों की अहिंसा में यद्यपि महान् अन्तर है; तथापि अहिंसा की प्राथमिकता में कोई अन्तर नहीं। इसका यह मतलब नहीं है कि जैनधर्म अहिंसा को ही महत्त्व देता है, दूसरे सत्य आदि व्रतों को नहीं।

यद्यपि सभी व्रत महान् और उपादेय हैं, किन्तु सबकी जड़ में अहिंसा दिखाई पड़ती है। यदि अहिंसा है तो, सत्य भी टिकेगा, अचौर्य भी टिकेगा और ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की भावना भी टिक सकेगी। जीवन के जितने भी ऊँचे-ऊँचे नियम, व्रत, त्याग, प्रत्याख्यान, तप आदि हैं, उन सबमें अहिंसा का होना अनिवार्य है। जमीन पर ही कोई विशाल महल खड़ा हो सकता है। आधार के अभाव में आधेय नहीं टिक सकता। सारे संसार का जो वैभव खड़ा है, वह भूमि के सहारे पर ही तो खड़ा है। इस रूप में अहिंसा हमारी भूमि है। जहाँ अहिंसा है, वहीं करुणा, तप, सत्य, क्षमा, दया आदि सब कुछ टिक सकेंगे। अहिंसा न हो तो कुछ भी टिकने वाला नहीं है।

तप के मूल में भी अहिंसा हो

आपने दुर्वासा ऋषि का नाम तो सुना ही होगा? वह एक महान् तपस्वी था, एक महान योगी था। उसकी तपस्या और योग-साधना से स्वर्ग का राजा इन्द्र भी भयभीत रहता था। तब क्या दुर्वासा ऋषि अहिंसक थे? क्या उनका तप और योग अहिंसक था? क्या ऋषि-मुनियों का यही कर्तव्य होता है कि अपनी तपस्या के बल पर वे दूसरों को पीड़ित करें एवं भयभीत करें? निश्चय ही नहीं, क्योंकि क्रोध स्वयं अपने आप में एक महती हिंसा है। आपने सुना होगा कि किस प्रकार निर्दोष शकुन्तला को दुर्वासा ने अभिशाप दे डाला था। गीता में कहा गया है कि जो स्वयं किसी से न भयभीत हो, और न जो दूसरे को भयभीत करे, वही व्यक्ति सच्चा अहिंसक है।

तप के नाम पर स्वयं का उत्पीड़न भी हिंसा है

प्राचीन युग में कुछ साधक इस प्रकार की साधना किया करते थे, जिससे देह का दमन हो, और इन्द्रियों का उत्पीड़न हो, पर वस्तुतः यह धर्म की साधना नहीं थी। शरीर और इन्द्रिय ये तो साधन हैं। इनसे पाप भी किया जा सकता है और पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकता है। शरीर और इन्द्रियों की क्रियाओं में पुण्य-पाप नहीं रहते। वे रहते हैं—मनुष्य के मन की सही और गलत वृत्तियों में। अतः इन्द्रिय और शरीर को मारना नहीं है, बल्कि उन्हें साधना है। जरा विचार तो कीजिए कि मानव को जो शरीर, इन्द्रिय और मन अनन्त पुण्यों के उदय से प्राप्त हुए हैं, वे पाप-रूप कैसे हो सकते हैं? जब अन्य प्राणी का पीड़न पाप है, तब स्वयं का उत्पीड़न भी पाप क्यों नहीं? हिंसा क्यों नहीं? जैनधर्म शरीर और इन्द्रिय के उद्देश्यहीन तपन को धर्म नहीं मानता है। यह तो मन के तपन को, परिमार्जन को ही धर्म मानता है।

सत्य वही, जो अहिंसा से अनुप्राणित हो

भगवान् महावीर ने सत्य को भगवान कहा है—'तं सच्चं खु भगवं।' लेकिन खेद है कि आज का मनुष्य उस सत्य-स्वरूप भगवान के साथ भी खिलवाड़ कर रहा है। सत्य की ओट में झूठ बोल कर अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगा है। कुछ सत्य के दीवाने इस प्रकार के भी मिलते हैं, जो यह नहीं देखते कि जिस सत्य को हम बोल रहे हैं, उससे स्वयं का, समाज का और राष्ट्र का हित होगा कि नहीं? जो हित न साध सके वह सत्य कैसा? सत्य वही है जो अपना और पराया दोनों का हित साधता है। मुझे स्मरण है, एक सज्जन, जो सत्य पर अत्यधिक बल देता था, सत्य बोलना उसके जीवन का उद्देश्य बन गया था। एक बार वह अपने पुत्र के साथ रेल में बैठ कर कहीं जा रहा था। चलती गाड़ी में उसने अपने लड़के की ओर देखा तो उसे लगा कि यह तो गाड़ी में बैठने के लिए पूरा टिकट लेने के योग्य हो गया है, आज इसका प्रातः-काल का जन्म-दिन है, अतः प्रातःकाल से यह आधे टिकट की काल-सीमा को पार कर गया है। पर, मैंने इसका आधा ही टिकट ले रखा है, यह सरकार की चोरी है। चोरी ही नहीं, यह मेरे लिए असत्य भी है। यह पाप है, मुझे इस प्रकार नहीं करना चाहिए था। मैंने ऐसा किया ही क्यों? उसने विचार किया कि मैं अभी इस लड़के का पूरा टिकट ले कर सरकार की चोरी से मुक्त हो सकता हूँ। उसने जंजीर खींच कर चलती गाड़ी को एक निर्जन एवं विकट वन में रोक लिया, जहाँ दिन में भी चोर, डाकू और लुटेरे रहते थे। गाड़ी क्यों रुकी? किसने रोकी? सभी यात्रियों के मुख पर यही प्रश्न था। खोज-बीन करने पर पता लगा कि इस गाड़ी में एक सत्यपालक सज्जन अपने पुत्र के साथ यात्रा कर रहे हैं, उसी ने गाड़ी को रोका है। सभी लोग कहने लगे कि यह कैसा नासमझ व्यक्ति है? यह कैसा सत्य-प्रेमी व्यक्ति है? अपने सत्य-पालन के प्रदर्शन के लिए हम सभी को इसने संकट में डाल दिया है। सत्य बोलना, सत्य का पालन करना, और सत्य का प्रदर्शन करना, इसमें बड़ा अन्तर है? मनुष्य का सत्य इस प्रकार का सत्य नहीं बन जाना चाहिए कि किसी के ऊपर संकट का पहाड़ टूट पड़े। जिस सत्य से हिंसा और वैर की ज्वाला फूट निकलती हो, वह सत्य कभी सत्य नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर ने साधकों को सम्बोधित करते हुए कहा था—कि तुम सत्य के उपासक हो, तुमको सर्वत्र सत्य की साधना करनी है, लेकिन कभी इस प्रकार का सत्य मत बोलो, जिससे किसी की आत्मा को कष्ट पहुँच सकता हो। विचार कीजिए, कोई सत्य का साधक मार्ग में चला जा रहा हो, सामने से कोई शिकारी अपने शिकार का पीछा करता आ रहा हो। इस प्रकार की स्थिति में यदि वह शिकारी उस साधक से पूछता है कि क्या तुमने किसी पशु को इधर जाते देखा है? यही स्थिति गुण्डों द्वारा किसी सती-साध्वी का पीछा करने में है, और निरपराध यात्रियों को लूटने और उनका अपहरण करने में है। भगवान् महावीर कहते हैं—इस प्रकार की स्थिति में साधक को

मौन रहना चाहिए। मौन रहने से समस्या का समाधान न होता हो तो दूसरे के प्राणों की रक्षा के लिए यदि असत्य भी बोला जाए तो वह मर्यादा में है।[३०] तब वह असत्य भी सत्य ही है, असत्य नहीं। क्योंकि उससे अहिंसा की रक्षा होती है। जिस सत्य से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का हित न हो, वह सत्य भी असत्य ही है। आज सत्य के नाम पर कैसे-कैसे नाटक रचे जाते हैं, और क्या कुछ किया जाता है, यह सब कुछ होते हुए भी कुछ व्यक्ति अपने को सत्यवादी मान बैठते हैं। पर क्या कभी विचार किया कि ओघसंज्ञा से सत्य बोलना एक अलग बात है, और सत्य को ठीक तरह समझ-परख कर उसे जीवन में उतारना, एक अलग बात है। जब तक मन, वाणी और कर्म में सत्य की त्रिपथगा अवतरित न हो, तब तक जीवन पवित्र और पावन नहीं बन सकता। भगवान् महावीर ने तो स्पष्ट ही कहा था कि—विचार के सत्य को वाणी में उतरने दो और वाणी के सत्य को जीवन की धरती पर उतरने दो, तभी मानव-जीवन निर्दोष बन सकेगा।

दयास्वरूपिणी महानदी : अहिंसा

गंगा जैसी महानदी जब बहती है और उसकी विराट् धाराएँ जब लहराती हुई चलती हैं तो उसके किनारों पर घास खड़ी हो जाती है, हरियाली लहलहाने लगती है, अनेकानेक बड़े-बड़े वृक्ष भी उग आते हैं, और यदि निरन्तर पोषण मिले तो ऊँचे-ऊँचे वृक्ष तो क्या, सघन वन भी खड़े हो जाते हैं। पर ऐसा कब और कैसे होता है? जब पानी की धारा वहाँ तक पहुँचती है। नदी के पानी की धारा प्रत्यक्ष में उन्हें सींचती तो नजर नहीं आती, किन्तु उसके जलकण अन्दर ही अन्दर सब को तरी पहुँचाते हैं, वृक्षों को हरा-भरा करते हैं, पोषण देते हैं और वे वृक्ष विस्तार पाते हैं। यदि नदी सूख जाएगी तो हरियाली कब तक ठहरेगी? वह भी सूख जाएगी और समाप्त हो जाएगी। निसर्ग का वह सुन्दर और मनोरम विशाल-वैभव नष्ट हो जाएगा, स्थिर नहीं रह सकेगा। इसी प्रकार दया की महानदी भी यदि हमारे अन्तःकरण में बहती रहेगी, वचन में और कार्य में भी उसका संचार होता रहेगा, तो दूसरे व्रत भी अपने आप पनप उठेंगे।[३१]

अहिंसा एवं दया के साधक का मन शुद्ध भावना से परिपूर्ण हो कर प्रत्येक प्राणी के लिए करुणा का भंडार बन जाता है। अपनी ओर से किसी को कष्ट देना तो दर-किनार रहा; दूसरे की ओर से भी यदि किसी पर कष्ट होता हुआ देखता है, तब भी उसका हृदय करुणा से छलछलाने लगता है। मुँह से कुछ भी बोलता है तो अमृत छिड़क देता है। क्या मजाल कि कभी मुँह से गाली निकल जाए? कड़वी

---

३० आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध

३१ दयानदी-महातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः।
तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्नन्दन्ति ते चिरम्॥

बात तो उसकी जीभ पर कभी आ ही नहीं सकती। जहाँ अहिंसा और करुणा की धाराएँ जीवन के कण-कण में बह रही हों, वहाँ विकार का जहर आएगा कहाँ से? वहाँ से तो अमृत की ही बूँद टपकेगी। यदि कहीं जहर निकल रहा है, तो समझ लेना चाहिए कि उस स्रोत के मूल में अमृत की कमी है।

अहिंसा के साधक की वाणी पर दया का झरना बहता है। जब वह बोलता है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि दुखिया के मन को वाणी द्वारा ढाढस मिल रहा है। दुखिया उसकी वाणी सुनने के बाद अपना दुःख भूल जाता है। साधक की वाणी लगी हुई चोट में मरहम का काम करती है। वह अमृत-रस से छलकती हुई वाणी संसार का कल्याण करने के लिए सदैव तैयार रहती है। वह साधक बच्चों से, बूढ़ों से, नौजवानों से, बहिनों से, घर में और घर से बाहर भी सबसे आदर और प्रेम के साथ बोलता है। साधक को यदि अमीर मिलता है तो उसी भाव से, और यदि झाड़ू देने वाला भंगी सम्मुख मिलता है, तो उसके साथ भी उसी समानभाव से उसकी वाणी बहती है। उस वाणी में दया और प्रेम का सोता बहता है, उससे मानो फूल झड़ते हैं। इस प्रकार अहिंसा की वह धारा शरीर से बहती है, वाणी से बहती है, और मन से बहती है।

संयम के बिना अहिंसा असम्भव

भगवान् महावीर ने कहा है—

"अपने हाथों को संयम में रखो, उन्हें अनुचित कार्य के लिए छूट मत दो। इन हाथों पर तुम्हारा पूरा नियंत्रण और पूरा अधिकार होना चाहिए। जब ये हाथ बेकाबू हो जाते हैं तो अनुचित की ओर बढ़ते हैं, और स्व-पर के विनाश में निमित्त बनने लगते हैं। इसलिए इन्हें सदा काबू में ही रखो। यदि इन्हें असंयत होने दिया तो इनमें शूल चुभेंगे और व्यथा होगी, और उस व्यथा से सारे शरीर में उत्पीड़न पैदा हो जाएगा। इससे आत्म-हिंसा तो होगी ही, साथ ही दूसरे सूक्ष्म जीवों को और कीड़ों-मकोड़ों को भी ये कुचल डालेंगे। वाणी को भी संयम में रखो। यदि इसे बे-लगाम होने दिया, तो यह दूसरों के कानों में शूल हूल देगी और न जाने क्या-क्या अनर्थ पैदा करेगी! इन्द्रियों को भी संयम में रखो। यदि इन्हें निरंकुश हो जाने दिया, तो समझ लो कि जीवन नौका व्यसनों के प्रवाह में बह कर एक दिन विनाश के भँवर में जा गिरेगी, और मानव-जीवन का अनमोल महत्व धूल में मिल जाएगा।[३२]

यह मन, वचन और काय की अहिंसा है। जो साधक अहिंसा का व्रत लेता है—मन, वचन और शरीर से लेता है। वही सच्चा साधक कहलाने योग्य होता है। यह नहीं हो सकता कि मन के अन्दर जो सोच रहा हो अहिंसा; और मन के बाहर वाणी से संसार में आग लगाने का दुस्साहस करे। भला यह कैसा अहिंसक होगा जो

---

३२ हत्थसंजए पायसंजए वायसंजए संजइंदिए। —दशवैकालिक, १०, १५

वाणी तथा काया से तो बाहर में हिंसा करे, और जग में यह ढिंडोरा पीटे कि मेरे तो मन में अहिंसा है ? अतएव अहिंसा-व्रती साधक के लिए यह परम आवश्यक है कि उसकी अहिंसा—मन, वचन और शरीर के रूप में त्रिपथगामिनी हो। तभी वह अहिंसा का सच्चा आराधक माना जायेगा।

त्रिपथगामिनी : अहिंसा

कहते हैं, गंगा त्रिपथगा है—त्रिपथगामिनी है, अर्थात्, वह तीन राह से होकर बहती है। पौराणिक ग्रंथों में इसे त्रिपथगामिनी कहा गया है। पुराने टीकाकारों ने इसकी बड़ी लम्बी-चौड़ी व्याख्या की है। परन्तु ऐसा लगता है कि तीर जिस जगह लगना चाहिए था, वहाँ नहीं लगा है। वे त्रिपथगामिनी का अर्थ करते हैं कि गंगा की एक धारा पाताललोक में, दूसरी धारा मर्त्यलोक में और तीसरी धारा स्वर्गलोक में बहती है। यह विश्व तीन लोकों में विभाजित है—पाताल, ऊर्ध्व और मध्य। अस्तु, गंगा तीनों लोकों के कल्याण के लिए बहती है। बेचारे पाताललोक के निवासी यहाँ कैसे आ सकते हैं ? तो गंगा की एक धारा पौराणिक टीकाकारों ने उनके लिए वहीं भेज दी। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक वालों पर दया करके गंगा की एक धारा ऊर्ध्वलोक में भी पहुँचा दी गई। मध्यलोक में तो वह है ही। मगर है उसकी तीन धाराओं में से एक ही धारा ! इसीलिए उसे त्रिपथगामिनी कहा है।

'त्रिपथगामिनी' विशेषण को यह कैसी शोचनीय छीछालेदर की गई है ! पंडित स्थूलगंगा से चिपट गए, और बस अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ा दिए। खैर, जो भी कुछ हो; किन्तु अहिंसा की यह त्रिपथगामिनी गंगा तो वस्तुतः तीनों लोकों में बहती है। यह मानव-जीवन या इन्सानी जिन्दगी तो एक विराट् दुनिया है; एक विशाल लोक है ! उसके विषय में ऐसा कहा जाता है—

"जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है; और जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है। जो पिण्ड में मालूम कर लिया गया है, वह ब्रह्माण्ड में मिल जायेगा।[३३]"

कृष्ण के जीवन-चरित्र में एक अलंकार आता है। कृष्ण-चरित्र के लेखक कहते हैं—

कृष्ण जब बच्चे थे, तो उन्हें मिट्टी खाने की आदत थी। प्रायः बच्चे मिट्टी खा ही लिया करते हैं, और सूरदास ने कृष्ण में भी इस आदत की घोषणा की है कि कृष्ण मिट्टी खाते थे और माता उन्हें रोकती थी। एक बार कृष्ण ने देखा कि घर में मुझे कोई नहीं देख रहा है, और झट मिट्टी की डली उठा कर मुँह में डाल ली। अचानक उसी समय यशोदा आ पहुँची और मुझे पकड़ लिया कि क्या कर रहे हो ?

---

३३ "यत् पिण्डे, तद् ब्रह्माण्डे।
यद् ब्रह्माण्डे, तत् पिण्डे॥"

कृष्ण ने बात को हँसी में उड़ाते हुए कहा—'कुछ नहीं।'

यशोदा ने मुँह खोलने को कहा। कृष्ण ने मुँह खोला तो माता को मुँह में सारा विश्व दिखाई दिया। वहाँ चाँद, सूरज और चमकते हुए तारे दिखाई दिए। वन, पर्वत, सागर और बड़े-बड़े नगर भी नजर आए। तब यशोदा ने सोचा—यह पुत्र नहीं, भगवान् है।

यह तो अलंकार की बात है, रूपक अलंकार है। इसका असली मतलब यह है कि नन्हे से बालक के अन्दर भी विश्व की विराट् चेतना छिपी पड़ी है। उसकी आत्मा के अन्दर भी अनन्तशक्ति का अजस्रस्रोत बह रहा है। इसी प्रकार एक बूढ़ा, जो मौत की शय्या पर पड़ा जीवन की अंतिम घड़ी गिन रहा है, उसकी आत्मा में भी अनन्त शक्तियाँ हैं। यद्यपि यह कहानी काल्पनिक है, तथापि इसके आधार पर भागवतकार बताना चाहता है कि यदि ब्रह्माण्ड में देखने चलोगे, तो वहाँ क्या मिलेगा? जो देखना है, वह आत्म-ब्रह्माण्ड में देखो। यदि गंगा को देखना हो, तो अपने अन्तःस्थल पर देखो; यदि चाँद और सूरज देखने हों, तो अपने अन्दर ही देखो। अधिक क्या, जो भी महान् विभूतियाँ देखनी हों, वे सब आत्मा के पुनीत पट पर चित्रित हैं।

गंगा की धारा—अहिंसा-गंगा की धारा है। पुराने टीकाकार भटक गए। वे तीनों लोकों में पानी की धार को तलाश करने लगे। लेकिन अहिंसा-गंगा की धारा तीन मार्गों पर बहती है। यदि स्थूलगंगा में नहा भी लिए, तो शरीर के ऊपर का मैल भले ही साफ हो जाय, किन्तु ऐसे गंगा-स्नान से पाप नहीं धुल सकते। यदि पापों को धोना है, तो आत्मा में जो अहिंसा की अमृत-गंगा बह रही है, उसी में स्नान करना होगा। तभी कल्याण सुनिश्चित है।

अहिंसा की वह अमृत-धारा तीन रूप में बह रही है। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा है कि "मनुष्य का यह विराट् जीवन—मन का लोक, वचन का लोक और शरीर का लोक है।" इस प्रकार मानव-जीवन तीन लोकों में विभक्त है, वह त्रिलोकी है। इसके अन्दर बसने वाले राक्षस बन रहे हैं, पशु बन रहे हैं और अहिंसा अमृत को पीने वाले देवता भी बन रहे हैं, और इस तत्व-ज्ञान का पान करने वाले कोई-कोई भगवान् भी बन रहे हैं। जो व्यक्ति इस त्रिलोकी के अन्दर अहिंसा की गंगा नहीं बहा रहा है, जिसने अहिंसा की ज्ञान-गंगा में स्नान नहीं किया है, गहरी डुबकियाँ नहीं लगाई है तथा जिसकी आत्मा अहिंसा की धारा में नहीं बही है—उसने बाहर से इन्सानी चोला भले ही पहन लिया हो, किन्तु अपनी अन्दर की दुनिया में वह हैवान बन रहा है। उसे न तो अपने आपका पता है, न अपने अमूल्य जीवन का ही पता है। वह वासनाओं में भटक रहा है, फलतः किसी समय कुछ भी अनर्थ करने को तैयार हो जाता है। इस तरह उसकी जिन्दगी ठोकरें खा रही है, वह जंगली और हिंसक जानवरों की तरह बन रही है। जो एक प्रकार से राक्षस की जिन्दगी है।

अन्तर्जीवन की अमृतगंगा

मानव-जाति के इस विराट् जीवन में न मालूम कितने राम और कितने रावण छिपे पड़े हैं ! वे कहीं बाहर से नहीं आते, बल्कि अन्दर ही पैदा होते हैं। भारतवर्ष के सन्तों ने इस सम्बन्ध में कहा है कि इस आत्मा को, जो अनादिकाल से रावण के रूप में राक्षस और पशु रहा है; यदि इन्सान बनाना है, देवता बनाना है और भगवान् बनाना है, तो अहिंसा की जो पवित्र-पावनी ज्ञान-गंगा बह रही है, उसमें स्नान कराओ। सब मैल-पाप दूर हो जाएगा। अहिंसा की ज्ञान-गंगा में कूदो। यदि अभिमान आता होगा तो स्वतः नष्ट हो जाएगा। मोह, लोभ, माया आदि जो भी विकार तुम्हें तंग कर रहे हैं ; और इनका जो मैल मन एवं मस्तिष्क पर चढ़ गया है, वह समूल नष्ट हो जाएगा। अन्तर्जीवन में जो अमृत की धारा बह रही है, यदि उसमें डुबकी लगाओगे, स्नान करोगे—तो संसारी आत्मा से महात्मा, और महात्मा से परमात्मा बन जाओगे।

मनुष्य के भीतर प्रायः एक ऐसी मिथ्या धारणा काम करती रहती है कि वह समस्या का समाधान अन्दर तलाश नहीं करता, बल्कि बाहर खोजता फिरता है। जहाँ जख्म है, वहाँ मरहम नहीं लगाता, अन्यत्र लगाता है। यदि चोट हाथ में लगी है, और दवा पैर में लगाई गई, तो क्या असर होगा ? यदि सिर दुख रहा है, और हाथों में चन्दन लगाया, तो क्या सिर का दर्द मिट जाएगा ? रोग जहाँ हो, वहीं दवा लगानी चाहिए। यदि दाहिने हाथ में कीचड़ लगा है, तो बाएँ हाथ पर पानी डालने से वह कैसे साफ होगा ?

अब देखना यह है कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकारों का मैल कहाँ लगता है ? यदि वह मैल कहीं शरीर पर लगता है, तब तो किसी तीर्थ में जा कर धो लिया जा सकता है और वहाँ तक भी जाने की क्या जरूरत; कहीं आस-पास के किसी तालाब या नदी में डुबकी लगा लेने से भी वह दूर हो जाएगा। जैनधर्म दृढ़तापूर्वक कहता है कि वह मैल आत्मा पर लगा हुआ होता है। अतः दुनियाभर के तीर्थों में क्यों भटका जाए ? सबसे बड़ा तीर्थ तो अपनी आत्मा ही होती है। क्योंकि उसी में अहिंसा और प्रेम की निर्मल धाराएँ बहती हैं। उसमें ही डुबकी लगा लगाने से पूर्ण शुद्धता प्राप्त होती है। जहाँ अशुद्धि है वहाँ की ही तो शुद्धि करनी है। जैन-दर्शन बड़ा आध्यात्मिक दर्शन है, और वह इतना ऊँचा भी है कि मनुष्य को मनुष्यत्व के अन्दर बन्द करता है। मनुष्य की दृष्टि मनुष्य में डालता है। अपनी महानता अपने ही अंदर तलाश करने को कहता है। व्यक्ति अपना कल्याण करना चाहता है, किन्तु प्रश्न उठता है कि कल्याण करे भी तो कहाँ करे ? यहाँ पर जैनधर्म स्पष्टतः कहता है कि—जहाँ तुम हो, वहीं पर ; बाहर किसी गंगा या और किसी नदी या पहाड़ में नहीं। आत्म-कल्याण के लिए, जीवन-शुद्धि के लिए या अंदर में सोए हुए भगवान् को जगाने के लिए एक इंच भी इधर-उधर जाने की जरूरत नहीं है। तू जहाँ है, वहीं आ जा और आत्मा का कल्याण कर ले।

मोक्ष भी मानव के अन्तर में है

कोई-कोई अजैन विद्वान परिहास करते हैं—जैनधर्म में ४५ लाख योजन का मोक्ष माना गया है। कितना बड़ा विस्तार है? इसमें एक ओर तो बड़ी-बड़ी दार्शनिक चर्चाएँ होती हैं तो; दूसरी ओर मोक्ष को इतना लम्बा-चौड़ा माना गया है कि जिसकी कोई हद नहीं। किन्तु कहा जा सकता है कि इतने बड़े की जरूरत भी है। मोक्ष तो इन्सान के लिए माना गया है और जहाँ इन्सान है, वहाँ मोक्ष भी है। यदि इन्सान का कदम भू-मण्डल पर ४५ लाख योजन तक, तो ऊपर मोक्ष भी ४५ लाख योजन लम्बा-चौड़ा है। मोक्ष तो इन्सान को ही मिलना है। जब इन्सान आत्मशुद्धि कर लेता है तो सीधा मोक्ष में पहुँच जाता है। उसे एक इंच भी इधर-उधर नहीं होना पड़ता। अतएव जहाँ व्यक्ति हो, वहीं बैठ जाए। जहाँ रहे, वहीं आत्म-गंगा में डुबकी लगा ले। क्योंकि वहाँ अमृत की धारा बह रही है। वह जीवन-यात्रा में संयम और साधना की ओर जितना अधिक से अधिक अग्रसर होता है, उतना ही मोक्ष के निकट होता जाता है। इस प्रकार वह मैल धो कर निर्मल हो जाता है और घुलते-घुलते जब मैल का आखिरी कण भी धुल जाता है तो वहीं पर मोक्ष भी पा लेता है यह कोई बनावट नहीं है, बल्कि सार्वभौमिक सत्य है।

मोक्ष किसको मिल सकता है? क्या ऊँट, घोड़े या राक्षस को मिल सकता है? नहीं। वह तो केवल मनुष्य को ही मिल सकता है। अतः जहाँ मनुष्य है, वहीं मोक्ष भी है।

आत्मशुद्धि भी अन्तर्गंगा में डुबकी लगाने पर

जैनधर्म अपने आपमें इतना विराट् है कि वह गंगा को अपने ही अंदर देखता है, कहीं अन्यत्र जाने को नहीं कहता। सबकी बड़ी गंगा उसके भीतर बह रही है, और वह तीन मार्गों से हो कर बहती है। अर्थात् वह मन के लोक में, वचन के लोक में और कर्म के लोक में बह रही है। परन्तु उस गंगा में तभी डुबकी लगेगी, जब कोई लगाएगा। यदि हजारों तीर्थों में स्नान कर भी आये, किन्तु अंदर की गंगा में स्नान नहीं किया तो सब बेकार है। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा था—

'आत्मा नदी है। इसमें संयम का जल भरा है। दया की तरंगें उठ रही हैं। सत्य का प्रवाह बह रहा है। इसके ब्रह्मचर्यरूपी तट बड़े मजबूत हैं। इसी में स्नान करना चाहिए। अहिंसा और सत्य की गंगा में स्नान करने से ही आत्मा की शुद्धि होती है। शरीर पर पानी डाल लेने से केवल शरीर की सफाई हो सकती है, परन्तु आत्मा कदापि स्वच्छ नहीं हो सकती।'[३४]

---

३४ आत्मा नदी संयम-तोयपूर्णा। सत्यावहा शील-तटा दयोर्मिः॥
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

जो बात कृष्ण ने पाण्डुपुत्र के लिए कही है, वही समस्त साधकों के लिए उपयुक्त है। इसे हल करना चाहिए। पर, हल कहाँ हो सकता है? क्या गली के नुक्कड़ पर बैठ कर, या जंगलों में भटक कर? नहीं, उसका हल तो जीवन के अन्दर ही मिल सकता है। शुद्धि की साधना अंदर है और मूल शुद्धि भी अंदर ही होती है। सबसे बड़ा इष्टदेव अंदर ही बैठा है। दुनियाभर के देवता कहीं पर हों, किन्तु सबसे बड़ा आत्म-देव तो अंदर ही मौजूद है। इसी इष्ट देवता की उपासना में तल्लीन हो कर, जब तक अंदर का पाप नहीं धोया जाता, तब तक बाहर के देवताओं से कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं हो सकता।

सबसे बड़ी गंगा हमारे ही अंदर बह रही है। अहिंसा और सत्य की गंगा हमारी नस-नस में प्रवाहित हो रही है। अहिंसा की इस गंगा में स्नान किए बिना जीवन की पवित्रता कभी मिलने वाली नहीं। जैनधर्म, बौद्धधर्म, वैदिकधर्म या संसार के किसी और धर्म को देखा जाये, इनमें देश-काल और परिस्थितियों के प्रभाव से कुछ गलतफहमियाँ मिल सकती हैं, किन्तु अहिंसा की आवाज सभी धर्मों में एक-सी सुनाई देती है। सब का स्वर एक ही निकलता है—अहिंसा से ही कल्याण हो सकता है। इस सम्बन्ध में हमारे यहाँ कहा जाता है कि जब नदी बहती है तब तो किनारों पर, आसपास हरियाली छा जाती है, और जब वह नदी सूख जाती है तो आसपास की हरियाली भी सूख जाती है। इसी प्रकार हमारे मन, वचन और शरीर में से भी यदि अहिंसा की धारा बह रही है—तो सत्य भी फला-फूला रहेगा, अस्तेय भी, ब्रह्मचर्य भी, श्रावकपन और साधुपन भी हरा-भरा रहेगा।[३५] यदि अहिंसा की नदी सूख गई और उसका प्रवाह बन्द हो गया तो—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी धर्म सूख जायेंगे। न श्रावकपन रहेगा, न साधुपन बचेगा। यदि इन सब धर्मों को हरा-भरा और जीवन को सुन्दर एवं सौरभमय देखना है, तो अहिंसा की त्रिपथगामिनी दिव्य गंगा को मन, वचन एवं कर्म के पथ पर अविश्रान्त गति से बहने दिया जाए। ☆

३५ दयानदी-महातीरे सर्वे धर्मास्तृणांकुराः।

अहिंसा का आध्यात्मिक आधार | २

मनुष्य-जीवन के दो पहलू हैं—एक शरीर और दूसरा आत्मा। जो शरीर-विज्ञान को जानने वाले होते हैं, उन्हें शरीर का विश्लेषण करने पर मांस, मज्जा, रक्त, शिराएँ, मस्तिष्क इत्यादि का पता चलता है। हृदय एक यन्त्र है, जो इस शरीर-पिण्ड का संचालन करने वाला है; यह भी शरीरशास्त्री बताते हैं। पर, इसके अतिरिक्त जो दूसरा पहलू है—वह आत्म-दृष्टि का है। भारतीय चिन्तन जब मनुष्य के विश्लेषण की गहराई में जाता है, तब वह बतलाता है कि शरीर के अन्दर एक ऐसा आत्मतत्त्व है, जो हृदय, बुद्धि और मस्तिष्क को आलोकित करता है। इस रक्त-मांस के ढेर में भी वह एक आलोक स्तम्भ है। मनुष्य केवल हृदय और मस्तिष्क में एक सूक्ष्म चेतना है, जिसमें करुणा व स्नेह का वास है। वही मनुष्य का वास्तविक रूप भी है। यदि मनुष्य के हृदय में जीवन का प्रवाह न हो, करुणा और स्नेह की स्रोतस्विनी न हो, तो मधुर पारिवारिकता टूट-टूट कर बिखर जाए, सामाजिक आत्मीयता खण्ड-खण्ड हो जाए। इस हृदय में राष्ट्रीयता और विश्ववत्सलता का निवास है। राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर की चिन्तनधारा इस आत्मा और हृदय के स्नेह-सरोवर से ही निकलती है।

हृदय का धर्म

हृदय समस्त मानवीय भावनाओं का केन्द्र है। अहिंसा क्या हड्डियों का धर्म है? नहीं, वह तो हृदय का धर्म है। हृदय में प्रवाहित होने वाला स्नेह के अजस्र-स्रोत का ही विराट् रूप अहिंसा कहलाता है। प्रेम, सहानुभूति, करुणा—ये सब उसी की विभिन्न धाराएँ हैं। इनमें भावना एक ही है, शब्दों की विविधता है। भारतीय शास्त्र शब्दों के भण्डार हैं, क्योंकि उनमें भावों का भण्डार भरा है। इन शास्त्रों में एक ही भाव को बताने के लिए हजारों शब्दों का प्रयोग किया गया है। एक ही भावना के अनन्त पहलू होते हैं। कभी किसी पहलू पर जोर दिया गया और कभी दूसरे पर। इस तरह हृदय की अनन्त भाव-भंगिमाओं के वर्णन में शब्दों का विशाल भण्डार भर गया। हृदय के एक प्रकार के स्नेह का नाम "माता" है तो दूसरे प्रकार के स्नेह का नाम 'पिता' है। इसी प्रकार पति-पत्नी, भाई और बहन इत्यादि के स्नेह एक ही भाव को अलग-अलग शब्दों में प्रकार अभिव्यक्ति देते हैं। पर मानव की मधुरता इन सबके पीछे झलकती है। चाहे उस मधुरता का नाम कुछ भी लिया जाय। यह मधुरता ही अहिंसा है, करुणा है और दया है। जब सोई हुई आत्मा जागृत हो जाती है, घृणा और द्वेष का पर्दा फट जाता है। अहंकार की चट्टान चूर-चूर हो जाती है और प्रेम का झरना फट पड़ता है; तभी

अहिंसा और दया का रूप प्रकट होता है। ओ मानव ! तुम कहीं भी रहो, कैसे भी रहो ! परन्तु तुम्हारे हृदय का प्रेम निरन्तर बहता रहना चाहिए। यह पावन स्रोत कहीं सूख न जाय। तुम में यदि स्नेह नहीं रहेगा, तो कुछ भी नहीं रहेगा। फूल सुगन्ध और रंग से तभी सुन्दर मालूम देता है, जब तक उसमें जलतत्त्व है। इसी तरह तुम में तभी तक आकर्षण रहेगा, जब तक सहृदयता का झरना बहता रहेगा, जब तक दूसरे के दुःख को अपने दुःख के समान समझते रहोगे और जब तक दूसरे के जीवन को अपना ही जीवन समझोगे। यदि हृदय में संवेदना नहीं है, तो वहाँ मनुष्यता कैसे बसेगी ? आखिर राक्षस में और मनुष्य में अन्तर ही क्या है ? राक्षस भी मनुष्य जैसा दीखता है। पर, भावनाओं से और वृत्तियों से एक व्यक्ति राक्षस कहलाता है तथा दूसरा व्यक्ति मनुष्य कहलाता है। भारतवर्ष कहता है कि मनुष्य का शरीर होना ही पर्याप्त नहीं है; मनुष्य का मन होना चाहिए, मनुष्य की बुद्धि, वृत्ति और भावना भी होनी चाहिए। मनुष्य की दृष्टि में एक विशेष प्रकार का वैशिष्ट्य होना चाहिए। उसका समाज के प्रति, पड़ौसी के प्रति, पशु-पक्षियों के प्रति कैसा व्यवहार हो, यह स्वयं उसका मन फैसला करता है।

प्रेम की गंगा दूर तक बहाओ

संसार में हर एक मनुष्य भागीरथ है। सुनते हैं—भागीरथ गंगा लाये थे। उसी तरह हर एक मनुष्य प्रेम और करुणा की गंगा लाता है। इसलिए वह भी भागीरथ के समान ही है। यह गंगा मनुष्य के हृदय में से निकलती है। बुद्ध, महावीर, राम, कृष्ण, ईसा आदि ने इसी स्नेहगंगा को तीव्र धारा प्रवाहित की। किन्तु कुछ छोटे भागीरथ ऐसे भी हैं, जो आगे नहीं बढ़ पाते और गंगा बीच में ही अटक जाती है। कुछ लोगों के शरीर में ही यह गंगा अटक कर रह गई, यानी शरीर से बहुत प्रेम है। अपने शरीर के प्रति वे लोग पूरा ध्यान रखते हैं। कुछ लोगों की गंगा आगे बढ़ी और परिवार तक आ कर अटक गई। माँ-बाप, पति-पत्नी आदि तक ही स्नेह सीमित हो गया। पड़ौसी चाहे जैसी स्थिति में क्यों न रहे, उन्हें कुछ पता नहीं होता है। पड़ौसी के घर से अपने घर की दीवार जरूर मिलती है, किन्तु मन से मन नहीं मिलता है। वह गंगा बहुत संकुचित सीमा में बँध गई है। कुछ लोग तो इतने संकुचित हो जाते हैं कि अपने परिवार के स्वार्थ के लिए या पुत्रादि को बचाने के लिए देवी-देवताओं के आगे पशु-पक्षियों का बलिदान तक करने को तैयार हो जाते हैं। कुछ लोग पुत्रप्राप्ति के लिए भी इस तरह की निर्मम और निर्दय प्रक्रियाएँ कर बैठते हैं, जिन्हें सुन कर आत्मा में सिहरन-सी होती है। इसका मतलब यही हुआ कि स्नेहगंगा परिवार तक सीमित रह गई। आगे नहीं बढ़ पाई। कुछ लोगों की यह स्नेहगंगा और आगे बढ़ी, पर मनुष्य तक आ कर रुक गई। यह ठीक है कि जितना उत्तरोत्तर विकास होता है, उतना अच्छा है। हम उस विकसित भावना का आदर करते हैं। किन्तु करुणा और प्रेम का स्रोत अजस्र तथा अबाध गति से बहते रहना चाहिए। भला, इसमें सीमा को

स्थान कहाँ है ? हृदय में स्नेह और करुणा लबालब भरी होनी चाहिए। उसका बहाव शरीर, परिवार या पड़ौसी तक रुकना नहीं चाहिए। पशु-पक्षी और जड़-जगत् तक उसका विस्तार होना चाहिए। भारतीय ऋषि गाय के अमृतोपम दूध और बैल की उत्पादनशक्ति की उपादेयता को लक्षित करके गाय को माता और बैल को पिता का स्थान देते हैं। यह कितना ऊँचा आदर्श है ? वह ऋषि अपनी माता और गौमाता में कोई अन्तर नहीं देखता। हमारे यहाँ बन्दर को भी हनुमान का प्रतीक माना गया है। हमारे प्रेम का पात्र केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि विराट् सृष्टि के समस्त तत्त्व उसके पात्र हैं।

अद्वैत की दृष्टि

आज हृदय सूखा-सा नजर आता है। हमारे ऋषि-मुनियों और बुजुर्गों ने लकीर के फकीर बन कर कोई काम नहीं किया। उन्होंने नई-नई रेखाएँ खींची, नये-नये मार्ग बनाए, नये-नये सिद्धान्त रचे, उन्होंने हर आत्मा में भगवान् के दर्शन किये। कहा भी है—

"यस्मिन् शरीरे आत्मैव पश्यति"

वेद का ऋषि सृष्टि के समस्त प्राणियों का प्रतिबिम्ब अपनी ही आत्मा में ही देखता है, कितना उदात्त दृष्टिकोण है ! विश्व को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सम्पूर्ण विश्व में देखना मन की कोमल करुणा का ज्वलन्त उदाहरण है। वह ऋषि संकीर्णता की कैद को तोड़ कर समस्त बन्धनों और सीमाओं को लाँघ कर व्यापक विश्व का दर्शन करता है। मेरी आत्मा कुछ अलग है, उससे मुझे कुछ प्यार है, जब तक ऐसी भावना रहेगी, तब तक अद्वैत नहीं उड़ेगा। छोटे-छोटे हजारों स्रोत मिल कर गंगा का विशाल रूप धारण करते हैं। गंगा, अलग और छोटे-छोटे स्रोत अलग, ऐसा भेदभाव वहाँ नहीं चल सकता है। अलग-अलग प्राणियों के सम्मिलन से विश्व का यह रूप दृष्टिगोचर होता है। तब भला व्यक्ति स्वयं को सृष्टि से यानी समष्टि से कैसे अलग कर सकता है ? जो विश्व में अपने को और अपने में विश्व को देखता है, वह घृणा-द्वेष और संकुचित भावनाओं से ऊपर उठ जाता है। यह वेदान्त का चिन्तन मानव के लिए प्रेरणा का प्रतीक है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन का मूल-स्वर एक ही है। भले ही भाषाएँ अलग-अलग रही हों। भगवान् महावीर भी कहते हैं कि[1] 'समस्त जीव जीना चाहते हैं, जैसे कि मैं चाहता हूँ। विश्व के समस्त प्राणियों की यही इच्छा है, जो मेरी इच्छा है। सुख से रहना जैसे मुझे प्रिय है, वैसे ही सबको प्रिय है।' जब अन्तःकरण में ऐसा विशुद्ध कारुण्य भरा हो, तब द्वैत और वैर के लिए कहाँ गुंजाइश रह जाती है ?

मांसाहार और क्रूरता

इस उदात्त करुणा के स्थान पर आज तो संकुचित करुणा भी नहीं है।

१ "सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं"

मानव के प्रति जो सहज स्वभाविक स्नेह होना चाहिए, वह भी नहीं दीखता है। आज अखबारों के पृष्ठ हिंसा, हत्या, चोरबाजारी आदि के समाचारों से भरे रहते हैं। निहत्थी जनता पर सिपाही गोलियाँ चला देते हैं। आवेग और उन्माद में भड़की हुई जनता सार्वजनिक स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करने में अपना गौरव समझती है। यह अस्वस्थ सार्वजनिक जीवन देख कर हृदय काँप उठता है। इसी तरह व्यक्तिगत जीवन में भी आए दिन हिंसा फूट पड़ती है। किसी से जरा-सी बात पर लड़ाई हुई तो जान का खतरा पैदा हो जाता है। आजें आर्ड शा ने कहा था कि पश्चिम के देश भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। इस निर्दयता का एक मुख्य कारण मनुष्य का खान-पान और रहन-सहन भी है। मांस खाने की वृत्ति से करुणा का बहुत कम सम्बन्ध है। पशु को निर्मम हो कर मारना-काटना और खाना—मानव की वृत्तियों पर बुरा असर डालता है। जब कोमल हृदय के बच्चे यह सब देखते हैं तो उनमें भी सहसा नृशंसता और निर्दयता के अंकुर फूट पड़ते हैं; उनमें क्रूरता के संस्कार बैठ जाते हैं। इसलिए बर्नार्ड शा ने कहा—"यदि पश्चिम क्रूरता के कष्टों से बचना चाहता है तो उसको अपनी करुणा का विचार पशुजगत् तक ले जाना होगा। करुणा की नींव गहराई में ले जानी होगी; क्योंकि संस्कारवश मानव पशु-पक्षी को निशाना बनाते-बनाते अपने पड़ौसी को मार देने में भी संकोच या भय महसूस नहीं करेगा। जब हृदय क्रूर और सख्त हो जाता है, तब किसी भी तरह का निर्दय कृत्य करते समय मन में संकोच नहीं होता।"

हम लोग आये दिन डकैती की घटनाएँ पढ़ते और सुनते हैं। जिन्होंने डकैती का दृश्य कभी देखा है, उन्हें मालूम होगा कि उन डाकुओं के हृदय कितने कठोर और निर्मम होते हैं। अबोध बच्चों और अबला बहनों तक को वे किस क्रूरता से मारते हैं यहाँ तक कि यदि कोई विरोध में कुछ बोल गया अथवा अपनी रक्षा के लिए सामना कर बैठा तो उसे गोली का भी शिकार बनाते देर नहीं लगाते। आखिर उनका हृदय इतना क्रूर कैसे बना? यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। मानस-शास्त्रियों को भी इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना होगा। वास्तव में इस क्रूरता का उद्गम-स्थान बाल्यावस्था में कोमल-मन और मस्तिष्क पर असंगत और अमानवीय संस्कार का पड़ना ही है। बचपन से ही, पशु-पक्षियों को मारने, उनके शरीर को अलग-अलग काट कर खाने में आनन्द लेने की प्रवृत्ति का ही यह व्यापक परिणाम है।

कत्लखाने बन्द करो

भारतवर्ष में अब तक हिंसा का ताण्डव होता रहा। लेकिन आज तो हम स्वतन्त्र हैं। अब हमें पवित्र संस्कारों के आधार पर समाज की पुनर्रचना करनी चाहिए। आजादी के बाद भी यदि हम देश का करोड़ों रुपया लगा कर बड़े-बड़े कत्ल-खाने खोलेंगे तो क्या इससे स्नेह और करुणा का विकास होगा? क्या इससे मानवता

का गौरव बढ़ेगा? यह कैसी विडम्बना है, एक ओर पहिनने के कपड़ों पर यदि खून का एक भी धब्बा लग जाय तो हृदय ग्लानि से बेचैन हो जाता है और उस खून के धब्बे को धो देने पर ही मन को शांति महसूस होती है। मन्दिर, मस्जिद आदि में खून से सने कपड़े पहन कर जाना वर्जित माना गया है। इसी तरह रक्त से सने कपड़े पहन कर सभा-समाज में बैठना भी अच्छा नहीं लगता, तब भला पशु-पक्षियों का मांस खाना कैसे सभ्यतासूचक माना जायगा? प्रत्येक भारतीय नागरिक को अपने अतीत की याद करके संकल्प करना चाहिए कि वह इस क्रूरतापूर्ण हिंसा का विरोध करेगा। प्रत्येक व्यक्ति समस्त प्राणियों के लिए मंगलकामना करे और विश्व को अभय दे। गीता में कहा है कि—स्वयं अभय रहो और दूसरों को भी अभय दो। स्वयं आनन्द से जीओ दूसरों को आनन्द से जीने दो। केवल मनुष्य ही नहीं, पशुजगत् को भी आनन्द से जीने का अधिकार दो। आज बहुत से अर्थशास्त्री अपने किताबी ज्ञान और आंकड़ों के बल पर, यह तर्क पेश करते हैं कि निरुपयोगी पशुओं को मार दिया जाय तो अन्न की कमी दूर होगी, चारा बचेगा।

यह कैसा अर्थशास्त्र है?

पर, मैं वह अर्थशास्त्र नहीं चाहता, जो करुणा को खत्म करके चारे की रक्षा करे। यह कैसा बचत का अर्थशास्त्र है, जो निरीह प्राणियों के प्राणों पर हाथ साफ करने की इजाजत देता है? क्या घर के बूढ़े लोगों को इसलिए मार दिया जाय कि वे अब कोई काम नहीं कर सकते? वे केवल अनाज खाते हैं पर, उत्पादन नहीं करते? यह कोरा तर्कशास्त्र है, अर्थशास्त्र नहीं। अर्थशास्त्र से भी मानवीय भावना एवं संस्कारों का मूल्य अधिक है। यह सब समस्याएँ भावना से ही हल हो सकती हैं। वास्तव में इस विशाल जगत् में कोई भी चीज निरुपयोगी नहीं है। कुशल वैद्य के हाथ में आ कर जहर भी अमृत बन जाता है। जब जहर जैसी चीज भी निरुपयोगी नहीं है, तब दूसरा कोई भी प्राणी निरुपयोगी कैसे हो सकता है? यह निरुपयोगिता का अर्थशास्त्र जिस मस्तिष्क से पैदा हुआ है, वह मस्तिष्क ही कहीं निरुपयोगी तो नहीं हो गया है? एक बच्चे के लिए पैसा भी निरुपयोगी हो सकता है, पर क्या वास्तव में पैसा निरुपयोगी है? यदि कोई उसका उपयोग करना न जाने तो उस वस्तु का क्या दोष है?

भगवान् महावीर के समय की एक कहानी है। जीवक वैद्य तक्षशिला में विद्याध्ययन समाप्त कर स्नातक बने और गुरु की आज्ञा ले कर राजगृही चलने को तैयार हुए तो गुरु ने पूछा—"वत्स! तुम्हारा अध्ययन तो समाप्त हो चुका है, पर तुम्हें एक काम और करना है। यहाँ से चार-चार कोस चारों ओर घूमो तथा एक ऐसी चीज लाओ कि जिसका उपयोग औषधि के रूप में न हो सके।" आज्ञा पा कर शिष्य गया। चारों ओर खूब चक्कर लगा कर गुरु के सामने खाली हाथ आ कर खड़ा हो गया। गुरु ने पूछा—"कहो वत्स! काम किया?" जीवक बोला—"गुरुदेव! मुझे अफसोस है,

मैं एक भी चीज ऐसी प्राप्त नहीं कर सका, जो औषधि के रूप में काम में न आए। कंकर, पत्थर, गोबर इत्यादि सब चीजें औषधि के रूप में काम में लाई जा सकती हैं। ऐसी हालत में मुझे खाली हाथ लौट कर आना पड़ा है, मुझे क्षमा करें। आचार्य अपने शिष्य का यह उत्तर श्रवण कर झूम उठे। उन्होंने शिष्य को गले लगा लिया और बोले कि "जाओ वत्स! तुम जहाँ भी जाना चाहो, जाओ। तुमने चिकित्साशास्त्र का तत्त्व प्राप्त कर लिया है। अब सब जगह सफलता तुम्हारे चरण चूमेगी। इस विशाल सृष्टि के हर पौधे में बीमारी को दूर करने की शक्ति है। केवल उसका संयोजन करने वाला दुर्लभ है। तुमने यह संयोजन करने का मन्त्र पा लिया है?[२] जाओ वत्स! सृष्टि का अमृततत्त्व ग्रहण करके सृष्टि को वापिस आरोग्य प्रदान करो।

कहने का आशय यह है कि दुनिया में निरुपयोगी चीज कुछ नहीं है, इसलिये निरुपयोगिता की आड़ में हिंसा और क्रूरता को प्रोत्साहन देना अनुचित है।

मैं सारे देश और समाज के सामने बहुत ही नम्रतापूर्वक यह कहना चाहता हूं कि अब द्वेष, हिंसा और वैर की भावना को खत्म करना अनिवार्य तथा व्यावहारिक कार्यक्रम बन गया है। यदि हम इस आवश्यकता को महसूस नहीं करेंगे तो टिक नहीं सकेंगे। अब हमें अपनी दृष्टि को बाहर से हटा कर अन्दर की ओर ले जाना होगा। अन्तःकरण को पवित्र एवं स्नेहिल बनाना होगा। स्नेह वह सूत्र है जो अनन्त हृदयों को अपने में पिरोये रहता है। वही हृदय कारुण्यपूर्ण है, जो मानव की अखण्डता को कायम रखता है। स्नेह और करुणा आत्मा का गुण है। आत्मा के इस पहलू को ठीक से समझ कर शरीर के माध्यम से जीवन-प्रवाह को नया मोड़ तथा नयी गति देना है।

---

२ 'अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः॥

अहिंसा का शाश्वतरूप : वृत्ति में अहिंसा | ३

अहिंसा के सम्बन्ध में आज तक जितना लिखा गया है और कहा गया है, शायद ही किसी और विषय पर इतना लिखा गया हो या कहा गया हो। पर, इसके साथ ही जितनी भ्रान्तियाँ अहिंसा के सम्बन्ध में आज तक हुई हैं, और किसी विषय में नहीं हुई। इस विरोधात्मक स्थिति का एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कारण है। इसी कारण का मैं स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ।

अहिंसा की आत्मा

जो सूक्ष्म है, यदि उसे स्थूल बना दिया जाता है, तो उसकी आत्मा समाप्त हो जाती है। यही बात अहिंसा के सम्बन्ध में भी हुई है। अहिंसा मात्र बाह्यव्यवहार का स्थूल विधि-निषेध नहीं है, बल्कि अन्तरचेतना का एक सूक्ष्म भाग है। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ ऐसी स्थिति बनती गई कि अहिंसा का सूक्ष्मभाव निरन्तर क्षीण होता गया और उसको स्थूल व्यवहार का, ओछबुद्धि से मात्र दिखाऊ विधि-निषेधों का रूप दे दिया गया। फलतः अहिंसा की ऊर्जा और आत्मा एक प्रकार से समाप्त ही हो गई। जब किसी सिद्धांत की ऊर्जा एवं आत्मा समाप्त हो जाती है, तो वह निष्प्राण तत्त्व जीवन को तेजस्वी नहीं बना सकता। वह जीवन की समस्याओं का सही समाधान नहीं खोज सकता। वह स्वयं ही एक दिन एक समस्या बन जाता है। क्या स्थूल व्यवहार से सम्बन्धित अहिंसा के सम्बन्ध में भी ऐसा नहीं हुआ है? पिछली कितनी ही सहस्राब्दियों से हमने अहिंसा को महान् धर्म के रूप में उद्घोषणा की है। अहिंसा को जीवन का परम सत्य मान कर उसकी उपासना की है। सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक जीवन की सुरक्षा का आधार अहिंसा को माना है, विश्वव्यापी सिद्धांत के रूप में हजारों वर्षों से अहिंसा को मान्यता दी है। हजारों वर्षों से पीढ़ी दर पीढ़ी इसकी चर्चा एवं परिचर्चा होती रही है। परन्तु प्रश्न है, कहाँ है इन सबकी फलनिष्पत्ति? हम अब तक अहिंसक समाज की रचना क्यों नहीं कर पाए? इस प्रश्न के दो ही उत्तर हो सकते हैं। जिस अहिंसातत्त्व की हम बात करते हैं, वह केवल बौद्धिक व्यायाम बन कर रह गया है। ऐसा लगता है, जैसे वह काल्पनिक दुनिया का कोई अलौकिक तत्त्व है, जिसका धरती की दुनिया के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। गलत समस्या के आसपास हजारों मस्तिष्क व्यर्थ ही उलझते रहे हैं और

आज भी उलझ रहे हैं। अथवा इसका दूसरा ही एक विकल्प है। वह यह कि अहिंसा स्वयं तो एक जीवित जाग्रत तत्त्व है, जनकल्याणकारी है, पर उसको सही अर्थ में हमने जाना नहीं है। ऐसा होता है कि कभी-कभी बड़ी लम्बी कालयात्रा के बाद अच्छे से अच्छे सिद्धान्त धूमिल हो जाते हैं या धूमिल कर दिये जाते हैं। मैं इस प्रश्न का दूसरा उत्तर सोचता हूँ।

अहिंसा का सम्बन्ध हृदय के साथ

वस्तुतः अहिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय के साथ है, मस्तिष्क के साथ नहीं है; तर्क-वितर्क के साथ नहीं है, कुछ बँधे-बँधाए विवेकशून्य विश्वासों के साथ नहीं है; विभिन्न शब्दों के जाल में बंधी और उलझी हुई भाषा के साथ भी नहीं है, बल्कि अन्तर्जीवन के साथ है, अन्दर की गहरी आध्यात्मिक अनुभूति के साथ है। अहिंसा की भूमि जीवन है। जब भूमि से वृक्ष का सम्बन्ध टूट जाता है, तो वह फिर हरा-भरा एवं विकसित नहीं रह सकता। प्रवक्ता को अपनी बात साफ कहनी चाहिए, असः साफ और बेलाग कह रहा हूँ कि अहिंसा जीवन से टूट चुकी है।[1] मूल से असंपृक्त रख कर उसे किस प्रकार पल्लवित रखा जा सकता है? यही कारण है कि अहिंसा आज केवल स्थूल व्यवहार की क्षुद्र परिधि में सीमित हो गई है। जनजीवन में उसका रससंचार क्षीण एवं क्षीणतर हो गया है। और इस प्रकार अहिंसा के प्राणों की एक तरह से हत्या ही हो गई है।

अगर अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है, तो आवश्यकता है, अहिंसा को हम स्थूल व्यवहार की संकीर्ण परिधि से मुक्त कर व्यापक बनाएँ, जीवन की सूक्ष्म अनुभूति एवं हृदय की गहराई तक उसे अवतरित करें।

वृत्ति में अहिंसा ही अहिंसा का स्थायी रूप

निवृत्ति और प्रवृत्ति के मध्य में वृत्ति है। वृत्ति का अर्थ है—चेतना का भाव। यही भाव मन को तरंगित करता है। अहिंसा इन्हीं उदात्त एवं कल्याणकारी तरंगों के आधार पर जीवन के स्थूल व्यवहारों व विधि-निषेधों के रूप में प्रगट होती है। इसे ही हम प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं।

धरती के समग्र आध्यात्मिक दर्शन व्यवहार के स्थूल विधि-निषेध के साथ अहिंसा का सम्बन्ध स्थापित नहीं करते हैं;[2] मानवमन की मूल पवित्र वृत्ति के साथ ही अहिंसा को सम्बन्धित करते हैं। यही वृत्ति जीवन है। यही अहिंसा का बीज है।

---

१ अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणं, भयवेराओ उवरए। —उत्तराध्ययन ६।७

२ जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा॥ —सूत्र. श्रु. १ अ. ११ गा. ३६

यही सब कुछ है। अगर यह नहीं है, तो कुछ भी नहीं है। अहिंसा के क्रान्तद्रष्टा ऋषि उस बीज की जितनी चिन्ता करते हैं उतनी इधर-उधर के विधि-निषेधरूप फल, फूल और टहनियों की नहीं। बाह्य व्यवहार के आधार पर खड़े किये गये अहिंसा के विधि-निषेध देश, काल तथा व्यक्ति की स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, मूल बीज नहीं बदलता है। किन्तु मध्यकाल के सामाजिक व्यवस्थापक, चाहे वे धार्मिक रहे हों या राजनीतिक, अहिंसा को उसकी मौलिक सूक्ष्मता से पकड़ नहीं सके हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति के स्थूल परिवेश में ही अहिंसा को मानने और मनवाने के आसान तरीके अपनाते रहे और यथाप्रसंग तात्कालिक समाधान निकालते रहे। किन्तु हिंसा की समस्या ऐसी न थी, जो प्रचलित परम्परा के स्थूल चिन्तन से एवं विधि-निषेध के भावहीन विधानों से समाधान पा जाती। वह नये-नये रूपों में प्रकट होती रही और मानव-जीवन के सभी पक्षों को दूषित करती रही। यही कारण है कि हजारों वर्षों से समस्या समस्या ही बनी रही। कोई भी समाधान उभरते प्रश्नों को मिटा नहीं सका। यदि हम इधर-उधर के विकल्पों में न उलझकर अहिंसा की मूल भावना को समझने का प्रयत्न करें, तो आज भी अहिंसा के मूल केन्द्रस्वरूप आन्तरिक वृत्ति पर अहिंसक समाज की रचना हो सकती है। मैं यहाँ स्पष्टरूप से कह देना चाहता हूँ कि अहिंसा के आधार पर परस्पर सहयोगी समाज की रचना के लिए निवृत्ति और प्रवृत्ति के प्रचलित व्यामोह के ऐकान्तिक आग्रह को हमें क्षीण करना होगा, तभी हम मानव की आन्तरिक वृत्ति से सम्बन्धित अहिंसा के वास्तविक रूप को समझ सकेंगे।

भय एवं प्रलोभन पर आधारित अहिंसा स्थायी नहीं

अहिंसा का मर्म समझाते हुए मैंने कुछ लोगों को सुना है—'किसी को कष्ट मत दो, किसी के प्राणों का वध मत करो, किसी को रुलाओ मत। अगर तुम दूसरों को कष्ट दोगे, तो तुम्हें भी कष्ट भोगने होंगे, अगर किसी को मारोगे, तो तुम्हें भी मरना पड़ेगा। अगर किसी को रुलाओगे, तो तुम्हें भी रोना होगा।' अपने दुःखों की संभावना उन्हें पीड़ित कर देती है और इसी चिन्तनधारा में दूसरों को परिताप पहुँचाने से अपने आपको बचाने की कोशिश करते हैं। इस उपदेश ने मनुष्य के मन में एक भय की भावना पैदा की, जो स्वयं अपने में एक हिंसा है। उक्त स्थिति में प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्थूल स्तर पर अहिंसा प्रकाशमान होती दिखने लगती है और हम इतने भर में सन्तोष कर लेते हैं। परन्तु अन्य किसी प्रसंग विशेष पर जब यह समझाया जाता है कि 'अपने दुश्मनों को समाप्त करो, स्वर्ग मिलेगा। यज्ञ में पशुओं को देवताओं के लिए समर्पित कर दो, वे प्रसन्न हो कर तुम्हें सुख-समृद्धि देंगे। संघर्षरत प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर दो, तुम्हें सम्मान मिलेगा, सम्पत्ति मिलेगी, पद मिलेगा।' इतिहास का हर विद्यार्थी जानता है कि इन प्रलोभनों ने मनुष्य से कितने क्रूर और भयानक कार्य करवाए हैं। प्रश्न है कि यह सब किस कारण हो सका है? स्पष्ट है कि भय के माध्यम से हिंसा का त्याग कराया गया था। ज्यों ही भय के स्थान पर प्रलोभन आ खड़ा हुआ कि

मानव गड़बड़ा गया। प्रलोभन ने हिंसा को फिर से उत्तेजित कर दिया। प्रलोभन हिंसा को इसी कारण उत्तेजित कर सका कि हमने अन्तर्मन में वृत्ति की हिंसा को छोड़ने के लिए उचित ध्यान नहीं दिया। अगर वृत्ति की अहिंसा जाग जाती है, तो दुनिया का कोई भी भय या प्रलोभन हिंसा को जन्म नहीं दे सकता। जो अहिंसा केवल स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति में है, विधि-निषेध में है, उसे सावारण-सा विरोधी वातावरण एवं कारण भी समाप्त कर देता है। जन-जीवन में उसका मूल स्थायी नहीं होता।

वृत्ति में अहिंसा का अर्थ

वृत्ति की अहिंसा का अर्थ है—जीवन की गहराई में अहिंसा की भावधारा का सतत प्रवाहित होना। जो अन्दर की वृत्ति से अहिंसक है, वह किसी को मार नहीं सकता, किसी को कष्ट नहीं दे सकता, किसी के प्राणों का वध नहीं कर सकता। अर्थात् वृत्ति के अहिंसक होने में हिंसा की योग्यता ही निर्मूल हो जाती है। यह अहिंसा मरणोत्तर स्वर्ग के लिए, सामाजिक एवं पारिवारिक सुख-सुविधा के लिए या प्रतिष्ठा के लिए नहीं होती। वृत्ति के अहिंसक की स्वयं ही यह सहज अवस्था हो जाती है कि वह हिंसा कर ही नहीं सकता, चाहे उसके लिए प्राप्त प्रतिष्ठा ही क्यों न खोनी पड़े, जीवन को दाँव पर ही क्यों न लगा देना पड़े। उसके लिए अहिंसा स्वाभाविक हो जाती है। मुझे शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए, यह उसका सिद्धान्त नहीं होता, अपितु दुनिया में उसका कोई दुश्मन ही नहीं होता। वह यह बात नहीं कहता कि अहिंसा की शिक्षा से हमें सबके प्रति द्वेष नहीं, प्रेम करना चाहिए, अपितु प्रेम के अतिरिक्त उसके पास करने को और कुछ होता ही नहीं। यह है वृत्ति में अहिंसा, जो अहिंसा का शाश्वत और सर्वव्यापी रूप है।

अहिंसा की निष्ठा और भावना में अन्तर

वृत्ति में अहिंसा होगी तो अहिंसा की निष्ठा होगी। वही उसका सर्वग्राही रूप है। अहिंसा, करुणा और सत्य की धाराएँ तो हमारे जीवन में बहती रहती हैं, भावनाएँ उमड़ती चली जाती हैं, पर जब तक अहिंसा और करुणा की निष्ठा जागृत नहीं होती, तब तक दर्शन नहीं बन पाता।

एक माता के हृदय में पुत्र के प्रति जो करुणा और प्रेम का प्रवाह उमड़ता है, उसमें अहिंसा की धारा छिपी भले ही हो, पर उसे हम अहिंसा की निष्ठा नहीं कह सकते। उसकी करुणा के साथ मोह का अंश जुड़ा हुआ है, व्यक्तिवाद जुड़ा है, इसलिए अनन्त-काल से करुणा का प्रवाह हृदय में उमड़ते हुए भी उससे आत्मा का विकास नहीं हो सका, उत्थान नहीं हो सका।

बिल्ली जब अपने बच्चों को दाँतों से पकड़ कर ले जाती है तो एक दाँत भी उनके शरीर पर गड़ने नहीं पाता। क्या बात है कि जब वे ही दाँत चूहे पर लगते हैं तो रक्त की धारा बह चलती है, वह चीं चीं कर उठता है। इसमें क्या अन्तर आया?

भावना का ही तो अन्तर है ! भावना में एक जगह प्रेम और ममता है, दूसरी जगह क्रूरता है। खूंखार शेरनी भी अपने बच्चों को प्यार से दुलारती-पुचकारती है, उन्हें दूध पिलाती है। किन्तु यह प्रेम की भावना दया और अहिंसा के रूप में वहाँ विकसित नहीं हुई। इसलिए बिल्ली और शेरनी की ममता को अहिंसा का विकास नहीं कहा जा सकता, चूंकि वहां अहिंसा की दृष्टि नहीं है। जहां अहिंसा निष्ठा और श्रद्धा के रूप में नहीं है, वहाँ वह बन्धन से मुक्त करने वाली नहीं बन सकती। अहिंसा का आदर्श वहाँ जागृत नहीं हो सकता। अहिंसा की भावना और संस्कार होना एक बात है और उसमें निष्ठा होना और बात है।

अतः अहिंसा के बाह्यपक्ष पर ही मत उलझो। उसके हृदयपक्ष की ओर देखो ! अपने मस्तिष्क से उत्पन्न तर्क को हृदय की सहज-सरल सौहार्दपूर्ण भावनाओं के रस से सिंचित करो। फिर जो अहिंसा का रूप निखरेगा, वही यथार्थ और चिरस्थायी भी होगा।

४ | अहिंसा : विश्वशान्ति की आधारशिला

भगवान् महावीर का अहिंसाधर्म एक उच्च कोटि का आध्यात्मिक एवं सामाजिक धर्म है। यह मानवजीवन को अन्दर और बाहर—दोनों ओर से प्रकाशमान करता है। महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है। मानव की अन्तरात्मा को, अहिंसा भगवती बिना किसी बाहरी दबाव, भय, आतंक अथवा प्रलोभन के सहज अन्तःप्रेरणा देती है कि मानव विश्व के अन्य प्राणियों को भी अपने समान ही समझे उनके प्रति बिना किसी भेद-भाव के मित्रता एवं बन्धुता का प्रेमपूर्ण व्यवहार करे। मानव को जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी अपना अस्तित्व तथा सुख प्रिय एवं अभीष्ट है—यह परिबोध ही अहिंसा का मूल स्वर है। अहिंसा 'स्व' और 'पर' को, अपने और परराये की, घृणा एवं वैर के आधार पर खड़ी की गई भेदरेखा को तोड़ देती है।

अहिंसा का धरातल

अहिंसा विश्व के समग्र चैतन्य को एक धरातल पर खड़ा कर देती है। अहिंसा समग्र जीवन में एकता देखती है, सब प्राणियों में समानता पाती है। इसी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था—'एगे आया'—आत्मा एक है, एकरूप है, एक समान है। चैतन्य के जाति, कुल, समाज, राष्ट्र, स्त्री, पुरुष आदि के रूप में जितने भी भेद हैं, वे सब कारोपित भेद हैं, बाह्य निमित्तों के द्वारा परिकल्पित किये गए मिथ्या भेद हैं। आत्माओं के अपने मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं है। और जब भेद नहीं है तो, फिर मानवजाति में यह कलह एवं विग्रह कैसा? त्रास एवं संघर्ष कैसा? घृणा एवं वैर कैसा? यह सब भेदबुद्धि की देन है और अहिंसा में भेदबुद्धि के लिए कोई स्थान नहीं है। अहिंसा और भेदबुद्धि में न कभी समन्वय हुआ है और न कभी होगा। आज जो विश्वनागरिक की कल्पना कुछ प्रबुद्ध मस्तिष्कों में उड़ान ले रही है, 'जय जगत्' का उद्‌घोष कुछ समर्थ चिन्तकों की जिह्वा पर मुखरित हो रहा है, उसको अहिंसा के द्वारा ही मूर्तरूप मिलना संभव है। दूसरा कोई ऐसा आधार ही नहीं है, जो विभिन्न परिकल्पनाओं के कारण खण्ड-खण्ड हुई मानवजाति को एकरूपता दे सके। प्रत्येक मानव के अपने सृजनात्मक स्वातन्त्र्य एवं मौलिक अधिकारों की सुरक्षा की गारण्टी, जो विश्वनागरिकता तथा जयजगत् का मूलाधार है, अहिंसा ही दे सकती है, और कोई नहीं। अहिंसा विश्वास की जननी है और विश्वास परिवार, समाज तथा राष्ट्र के पारस्परिक सद्‌भाव, स्नेह और सहयोग का मूलाधार

है। अविश्वास के कारण इधर-उधर बेतरतीब बिखरे हुए मानवमन को अहिंसा विश्वास के मंगलसूत्र में जोड़ती है, एक करती है। अहिंसा 'संगच्छध्वम्, संवदध्वम्' की ध्वनि को जन-जन में अनुगुंजित करती है, जिसका अर्थ है—साथ चलो, साथ बोलो। मानवजाति की एकसूत्रता के लिए यह 'एक साथ' का मन्त्र सबसे बड़ा मन्त्र है। यह 'एक साथ' का महामन्त्र मानवजाति को व्यष्टि की क्षुद्र भावना से समष्टि की व्यापक भावना की दिशा में अग्रसर करता है। अहिंसा का उपदेश है, सन्देश है, आदेश है कि व्यक्तिगत अच्छाई, प्रेम और त्याग से—आपसी सद्भावनापूर्ण पावन परामर्श से, केवल साधारणस्तर की सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को ही नहीं, जाति, सम्प्रदाय, संस्कृति और राष्ट्रों की विषम से विषम उलझनों को भी सुलझाया जा सकता है और यह सुलझाव ही भेद में अभेद का, अनेकता में एकता का विधायक है। यही वह पथ है, जिस पर चलकर मानव मानव को मानव समझ सकता है, उसे प्रेम की बाँहों में भर सकता है। इसी से विश्वबन्धुत्व एवं विश्वशान्ति का स्वप्न पूर्ण हो सकता है।

अहिंसाभावना का विकास

मानव अपने विकास के आदिकाल में अकेला था, वैयक्तिक सुख-दुःख की सीमा में घिरा हुआ, एक जंगली जानवर की तरह। उस युग में न कोई पिता था, न कोई माता थी, न पुत्र था, न पुत्री थी, न भाई था और न बहन थी। पति और पत्नी भी नहीं थे। देह-सम्बन्ध की दृष्टि से ये सब सम्बन्ध थे, फिर भी सामाजिक नहीं थे। इसलिए कि माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन और पति-पत्नी आदि के रूप में तब कोई भी भावनात्मक स्थिति नहीं थी। एकमात्र नर-मादा का सम्बन्ध था, जैसा कि पशुओं में होता है। सुख-दुःख के क्षणों में एक-दूसरे के प्रति लगाव का, सहयोग का जो दायित्व है, वह उस युग में नहीं था। इसलिए नहीं था कि तब मानवचेतना ने विराट् रूप ग्रहण नहीं किया था। वह एक क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थ की तटबन्दी में अवरुद्ध थी। एक दिन वह आया, जब मानव इस क्षुद्र सीमा से बाहर निकला, केवल अपने सम्बन्ध में ही नहीं, अपितु दूसरों के सम्बन्ध में भी उसने कुछ सोचना शुरू किया। उसके अन्तर्मन में सहृदयता, सद्भावना की ज्योति जगी और वह सहयोग के आधार पर परस्पर के दायित्वों को प्रसन्नमन से वहन करने को तैयार हो गया। और जब वह तैयार हो गया, तो परिवार बन गया। परिवार बन गया, तो माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन और पति-पत्नी आदि सभी सम्बन्धों का आविर्भाव हो गया। और जैसे-जैसे मानवमन भावनाशील हो कर व्यापक होता गया, वैसे-वैसे पारिवारिक भावना के मूल मानवजाति में गहरे उतरते गए। फिर तो परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र आदि के विभिन्न क्षेत्र भी व्यापक एवं विस्तृत होते चले गए। यह सब भावात्मक विकास की प्रक्रिया, एक प्रकार से, अहिंसा का ही एक सामाजिक रूप है। मानव-हृदय की आन्तरिक संवेदना की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है। और यह संवेदना की व्यापक प्रगति ही परिवार, समाज और राष्ट्र के

उद्भव एवं विकास का मूल है। यह ठीक है कि उक्त विकासप्रक्रिया में रागात्मक भावना का भी एक बहुत बड़ा अंश है, पर उससे क्या होता है? आखिर तो यह मानव-चेतना की ही एक विराट् प्रक्रिया है, और यह अहिंसा है। अहिंसा भगवती के अनन्त रूपों में से यह भी एक रूप है। इस रूप को अहिंसा के मंगलक्षेत्र से बाहर धकेल कर मानव मानवता के पथ पर एक चरण भी ठीक तरह नहीं रख सकता।

अहिंसा की प्रक्रिया

अहिंसा मानवजाति को हिंसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य, द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या-दाह, दुःसंकल्प, दुर्वचन, क्रोध, अभिमान, दम्भ, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वंसमूलक विकृतियाँ हैं, सब हिंसा के ही रूप हैं। मानवमन हिंसा के उक्त विविध प्रहारों से निरन्तर घायल होता आ रहा है। मानव उक्त प्रहारों के प्रतिकार के लिए भी सदा प्रयत्नशील नहीं रहा है। परन्तु वह प्रतिकार इस लोकोक्ति को ही चरितार्थ करने में लगा रहा कि 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही गया।' बात यह हुई कि मानव ने वैर का प्रतिकार वैर से, दमन का प्रतिकार दमन से करना चाहा, अर्थात् हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करना चाहा, और यह प्रतिकार की पद्धति ऐसी ही थी, जैसी कि आग को आग से बुझाना, रक्त से सने वस्त्र को रक्त से धोना। वैर से वैर बढ़ता है, घटता नहीं है। घृणा से घृणा बढ़ती है, घटती नहीं है। यह उक्त प्रतिकार ही था, जिसमें से युद्ध का जन्म हुआ, शूली और फाँसी का आविर्भाव हुआ। लाखों ही नहीं, करोड़ों मनुष्य भयंकर से भयंकर उत्पीड़न के शिकार हुए, निर्दयता के साथ मौत के घाट उतार दिये गए, परन्तु समस्या ज्यों की त्यों सामने खड़ी रही। मानव को कोई भी ठीक समाधान नहीं मिला। हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नहीं, अहिंसा से होना चाहिए था, घृणा का प्रतिकार घृणा से नहीं; प्रेम से होना चाहिए था। आग का प्रतिकार आग नहीं; जल है। जल ही जलते दावानल को बुझा सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—**"क्रोध को क्रोध से नहीं, क्षमा से जीतो। अहंकार को अहंकार से नहीं, विनय एवं नम्रता से जीतो। दंभ को दंभ से नहीं, सरलता और निश्छलता से जीतो। लोभ को लोभ से नहीं, सन्तोष से जीतो, उदारता से जीतो।"** इसी प्रकार भय को अभय से, घृणा को प्रेम से जीतना चाहिए। और विजय की यह सात्विक प्रक्रिया ही अहिंसा है। अहिंसा प्रकाश की अन्धकार पर, प्रेम की घृणा पर, सद्भाव की वैर पर, अच्छाई की बुराई पर विजय का अमोघ उद्घोष है।

अहिंसा की दृष्टि

भगवान् महावीर कहते थे—'वैर हो, घृणा हो, दमन हो, उत्पीड़न हो कुछ भी हो, अन्ततः सब लौट कर कर्त्ता के ही पास आते हैं। यह मत समझो कि बुराई वहीं रह जाएगी, तुम्हारे पास लौट कर नहीं आएगी। वह आएगी, अवश्य आएगी, कृत कर्म निष्फल नहीं जाता है। कुएँ में की गई ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप में वापस लौटती है। और भगवान् महावीर तो यह भी कहते थे कि वह और तू कोई दो नहीं

हैं। चैतन्य चैतन्य एक है। जिसे तू पीड़ा देता है, वह और कोई नहीं, तू ही तो है। भले आदमी, तू दूसरे को सताता है तो, वह दूसरे को नहीं, अपने को ही सताता है। इस सम्बन्ध में आचारांगसूत्र में आज भी उनका एक प्रवचन उपलब्ध है—

"जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।"

यह भगवान् महावीर की अद्वैतदृष्टि है, जो अहिंसा का मूलाधार है। जब तक किसी के प्रति परायेपन का भाव रहता है, तब तक मनुष्य परपीड़न से अपने को मुक्त नहीं कर सकता। सर्वत्र 'स्व' की अभेददृष्टि ही मानव को अन्याय से, अत्याचार से बचा सकती है। उक्त अभेद एवं अद्वैत दृष्टि के आधार पर ही भगवान् महावीर ने परस्पर के आघात-प्रत्याघातों से त्रस्त मानवजाति को अहिंसा के स्वर में शान्ति और सुख का सन्देश दिया था कि **"किसी भी प्राणी को···किसी भी सत्व को न मारना चाहिए, न उस पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उसको एक दास (गुलाम) की तरह पराधीन बनाना चाहिए—उसको स्वतन्त्रता से वंचित नहीं करना चाहिए, न उसे परिताप देना चाहिए और न उसके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव ही करना चाहिए।"** यह अहिंसा का वह महान् उद्घोष है, जो हृदय और शरीर के बीच, बाह्य प्रवृत्तिचक्र और अन्तरात्मा के बीच, स्वयं और आसपास के साथियों के बीच एक सद्भावनापूर्ण व्यावहारिक सामंजस्य पैदा कर सकता है, मानव-मानव के बीच बन्धुता की मधुर रस-धारा बहा सकता है। मानव ही क्यों—अहिंसा के विकासपथ पर निरन्तर प्रगति करते-करते एक दिन अखिल प्राणिजगत् के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। अहिंसा क्या है? समग्र चैतन्य के साथ बिना किसी भेदभाव के तादात्म्य स्थापित करना ही तो अहिंसा है। अहिंसा में तुच्छ-से-तुच्छ जीव के लिए भी बन्धुत्व का स्थान है। महावीर ने कहा था—जो व्यक्ति सर्वभूतात्मभूत है, सब प्राणियों को अपने हृदय में बसा कर विश्वात्मा बन गया है, उसे विश्व का कोई भी पाप कभी स्पर्श नहीं कर सकता। दशवैकालिक सूत्र में आज भी वह अमर वाणी सुरक्षित है—**'सव्वभूयप्पभूयस्स समं भूयाई पासओ, पिहियासवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ।'**

अहिंसा का सिद्धान्त और व्यवहार

भगवान् महावीर ने अहिंसा को केवल आदर्शरूप ही नहीं दिया, अपने जीवन में उतार कर उसकी शत-प्रतिशत यथार्थता भी प्रमाणित की। उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त और व्यवहार को एक करके दिखा दिया। उनका जीवन उनके अहिंसा-प्रयोग के महान् आदर्श का ही एक जीता-जागता मूर्तिमान निदर्शन था। विरोधी से विरोधी के प्रति भी उनके मन में कोई घृणा नहीं थी, कोई द्वेष नहीं था। वे उत्पीड़क एवं घातक विरोधी के प्रति भी मंगल-कल्याण की पवित्र भावना ही रखते रहे। संगम जैसे भयंकर उपसर्ग देने वाले व्यक्ति के लिए भी उनकी आँखें करुणा से गीली हो आई थीं। वस्तुतः

उनका कोई विरोधी था ही नहीं। उनका कहना था—विश्व के सभी प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, मेरा किसी के भी साथ कुछ भी वैर नहीं है—**'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई।'**

भगवान् महावीर का यह मैत्रीभावमूलक अहिंसाभाव इस चरम कोटि पर पहुँच गया था कि उनके श्रीचरणों में सिंह और मृग, नकुल और सर्प—जैसे प्राणी भी अपना जन्मजात वैर भुला कर सहोदर बन्धु की तरह एक साथ बैठे रहते थे। न सबल में क्रूरता की हिंसवृत्ति रहती थी, और न निर्बल में भय, या भय की आशंका। दोनों ओर एक जैसा स्नेह का, सद्भाव का व्यवहार। इसी सन्दर्भ में प्राचीन कथाकार कहता है कि भगवान् के समवसरण में सिंहनी का दूध मृगशिशु पीता रहता, और हिरनी का सिंहशिशु—**'दुग्धं मृगेन्द्रवनितास्तनजं पिबन्ति।'** भारत के आध्यात्मिक जगत् का यह महान् एवं चिरंतन सत्य, भगवान् महावीर के जीवन पर से साक्षात् साकाररूप में प्रकट हो रहा था कि साधक के जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा—पूर्ण जागृति होने पर उसके समक्ष जन्मजात वैरवृत्ति के प्राणी भी अपना वैर त्याग देते हैं, प्रेम की निर्मल धारा में अवगाहन करने लगते हैं—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'**

अहिंसा का अन्तहृदय

अहिंसा जीवन का महान् वरदान है। मानव यदि मानव है, तो वह सर्वप्रथम एक करुणामूर्ति प्राणी है, जिसके प्रथम हृदय है, फिर मस्तिष्क। जिस प्रकार मस्तिष्क तर्क की भूमि है, जोड़-तोड़ की स्थली है, उसी प्रकार हृदय श्रद्धा, प्रेम एवं करुणा का सुकोमल स्थल है। मानवता से आप्लावित मानव जीवन का अन्तहृदय अहिंसा है। अहिंसा उसका अन्तहृदय इसलिए है, कि यही वह स्थल है, जहाँ से वह स्व-आत्मा के समान पर-आत्मा को समझता है, समानभाव से सबके लिए—सभी प्राणियों के लिए सुख-दुःख की समानरूप से अनुभूति करता है। इसका सीधा-सा अर्थ है कि वह विश्व की समस्त आत्माओं को समदृष्टि से देखता है। चैतन्यमात्र के प्रति अपने-पराये का भेद न रखते हुए, समतापूर्ण व्यवहार करता है। इसी भावना को लक्ष्य करके श्रमणसंस्कृति के उन्नायक भगवान् महावीर ने कहा था—"सभी प्राणों को, सभी भूतों को, सभी जीवों को तथा सभी सत्वों को न तो मारना चाहिए, न पीड़ित करना चाहिए और न ही उनको घात करने की बुद्धि से स्पर्श करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध, शाश्वत और नित्य है[1]।" इसी भावना को विस्तृत करते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—"सब आत्माओं को अपनी आत्मा की तरह समझो। विश्व के सभी प्राणियों की आत्माओं में

---

१ सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेत्तव्वा,
न उद्दवेयव्वा—एस धम्मे सुद्धे निच्चे सासए।

—आचारांग सूत्र

अपने आपको देखो और विश्व की समस्त आत्माओं को अपने भीतर देखो[२]।" वस्तुतः यह साधना समत्वयोग की साधना है, जिसका मूल आधार विश्व की समग्र आत्माओं के साथ अपने जैसा व्यवहार करना है। हम अपने लिए जिस प्रकार का व्यवहार दूसरों से चाहते हैं, हम अपने लिए जिस प्रकार की स्थिति की अपेक्षा दूसरों से करते है, अन्य समस्त प्राणियों के लिए भी हम वैसा ही व्यवहार करें, वैसी ही स्थिति निर्मित करें—यही अहिंसा का अन्तर्हृदय है।

आत्मौपम्य दृष्टि

भगवान् महावीर ने विश्वप्राणियों के मध्य समता की संस्थापना करते हुए कहा था कि 'विश्व की सभी आत्माएँ एक हैं।"[३] अर्थात् सभी प्राणी संग्रह और व्यवहार नय की दृष्टि से एक ही चैतन्यसागर की अलग-अलग बूंदें हैं, एक ही मूल चैतन्य-वृक्ष की अलग-अलग पत्तियाँ एवं फूल हैं, जो सभी एक साथ मिल कर चैतन्यभाव-सागर का रूप लेती हैं, विशाल वृक्ष का पर्याय बनती है। यथार्थ में यह भावना अपने अन्दर में धारण करना एक महान् योग है। इसी को गीता में श्रीकृष्ण ने यों कहा है—"जो सभी जीवों को अपने समान समझता है और उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है, वही परम योगी है"[४]। यह समत्वयोग की साधना ही आत्मा की साधना है, अपने आपको साधने का पथ है। इसी भावना को सर्वोपरि बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—"विश्व के समग्र जीवनिकाय को अपनी आत्मा के समान समझो"[५]। "प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझो"[६]। अतः हम कह सकते हैं कि यह आत्मौपम्य दृष्टि, जिसके विषय में भगवान् महावीर ने उद्घोष किया है, इसके मूल में अहिंसा के अमृतसागर की लहरें ही हिलोरें ले रही हैं। यह अहिंसा-सागर की लहरें, जिस भावनातल पर लहरा रही है, उसकी साधना सामान्य साधना नहीं है; अपितु वीरत्व की महान् साधना है।

अहिंसा : वीरत्व का मार्ग

वस्तुतः यह जो अहिंसा की साधना है; यह आत्मा के विराट्भाव की साधना है। आत्मा का भावनात्मक दृष्टि से इतना व्यापक रूप में विकास कर लेना है कि विश्व की सभी आत्माएँ उसमें ठीक उसी प्रकार समाहित हो जाएँ, जिस प्रकार कि भूतल पर लहराने वाली अनेकों नदियाँ सागर में आ कर एकीभाव से समाहित

२ सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ। —दशवैकालिक, ४।९
३ एगे आया। —ठाणांग, सूत्र १-१
४ आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः॥ —गीता, अ० ६।३२
५ अप्पसमे मन्निज्ज छप्पिकाए। —दशवैकालिक, १०।५
६ आयतुले पयासु। —सूत्रकृतांगसूत्र, १।१०।३

हो जाती हैं और सागर बिना किसी राग-द्वेष से सबको अपने अंक में सँजोता-सहेजता चला जाता है। वस्तुतः यह राग-द्वेष पर विजय ही तो अहिंसा का पथ है, और उक्त विजय को प्राप्त करने वाला ही तो सच्चे अर्थ में विजेता है। विजेता, हम उसे कभी नहीं कह सकते, जो हाथ में नंगी तलवार लिए भय और आतंक के बल पर किसी पर शासन करे; किसी को अपने अधीन रखे। हाथ में बम ले कर दूसरों को भय दिखा कर अपने आगे झुकाने का प्रयत्न करने वाला तो सही माने में वीर कहलाने का अधिकारी हो ही नहीं सकता। वह तो कायर है। जो परमुखापेक्षी होता है, वह कायर नहीं तो और क्या है? वह अपनी महान् चैतन्यशक्ति की अपेक्षा जड़शक्ति पर अधिक भरोसा करता है। सच्चा वीर तो वह है, जिसके चरणरज विश्व के समस्त प्राणी श्रद्धा एवं प्रेम से चूम लें, अपने सर पर लगा लें। यहाँ हमें राष्ट्रकवि 'दिनकर' की वे पंक्तियाँ बड़ी युक्तियुक्त लगती हैं, जहाँ उन्होंने कहा है—

"...आदमी नहीं मरता बरछों से, तीरों से,
लोहे की कड़ियों की साजिश बेकार हुई,
बाँधो मनुष्य को शब्दनेम की जंजीरों से।"

डा० एस० राधाकृष्णन् ने एक जगह चालू युग पर करारी चोट करते हुए, अहिंसा के महत्त्व पर प्रकाश डाला है—"इस जमाना हथियारबन्द कायरता का है। कायरता ने अपने हाथ में हथियार इसलिए रखे हैं कि वह दूसरों के हमलों से डरती है और स्वयं हथियार इसलिए नहीं चलाती; क्योंकि उसे हिम्मत नहीं होती। जो डर के मारे हथियार चला नहीं पाती, उसी का नाम कायरता है। इस कायरता से इन्सान को उबारने वाली एक ही शक्ति है और वह है अहिंसा।" अतः यह स्पष्ट है कि अहिंसा कायरता नहीं सिखाती, अपितु वीरता का पाठ पढ़ाती है। अहिंसा यह कभी नहीं कहती कि तुम चुप रह कर अन्याय एवं अत्याचार को सहन करो, क्योंकि अन्याय करना पाप है, तो दैन्यभाव से अन्याय का सहन करना महापाप है। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र में हो, अथवा राजनीतिक क्षेत्र की बात लगभग एक ही है। जिस व्यक्ति में अन्याय के विरुद्ध योग्य प्रतिकार करने की शक्ति नहीं है, वह न तो अपनी रक्षा कर सकता है, न अपने परिवार की, न समाज की और न अपने राष्ट्र की ही रक्षा कर सकता है। और वह अहिंसा, अहिंसा नहीं, जिसके निष्प्राण शरीर से चिपट कर आदमी अपने राष्ट्र तक को दासता की बेड़ी में जकड़ जाने दे। ऐसी अहिंसा का जीवन में कोई मूल्य नहीं।

विज्ञान और अहिंसा

मानव-विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब विज्ञान ने संहारक अस्त्र-शस्त्रों का बहुतायत से निर्माण किया है, मानव ने निहितस्वार्थवश निर्ममता से उनका प्रयोग किया है, फलस्वरूप भयंकर संहारक लीलाएँ देखने को मिली हैं। विश्व का प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध इसका ज्वलन्त प्रमाण है। किन्तु हर बार देखा

यही गया है कि मानवमन ने उन संहारक शस्त्रास्त्रों से त्रस्त हो कर परस्पर सहानुभूति एवं सहअस्तित्व के आधार पर ही शान्ति की स्थापना की है। लीग ऑफ नेशन्स एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ (यू० एन० ओ०) ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है और उसके बाद अहिंसा एवं सहअस्तित्व के आधार पर जो शान्ति स्थापित की गई है, वह बहुत अंशों में स्थायी सिद्ध हुई है। अतः यह निश्चित है कि अहिंसा द्वारा सम्पादित विजय स्थायी एवं शाश्वत विजय होती है। इसी शाश्वत सत्य को अभिव्यक्त करते हुए राष्ट्रकवि दिनकर ने कहा है—

ऐसी शान्ति राज करती है, तन पर नहीं, हृदय पर।
नर के ऊँचे विश्वासों पर, श्रद्धा, भक्ति, प्रणय पर॥

भले ही विज्ञान हमें विपुल परिमाण में शस्त्रास्त्र का खजाना प्रदान करे, परन्तु हमें उन शस्त्रास्त्रों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देना चाहिए, बल्कि उन्हें सदा अपने नियन्त्रण में रखना चाहिए। शस्त्रास्त्रों का प्रयोग सुरक्षा एवं शान्ति की रक्षा के लिए मर्यादित तरीके से होना चाहिए। हर चीज के मूल में हित की भावना का होना परमावश्यक है। ऐसे में विज्ञान अहिंसा का सहचर सिद्ध हो सकता है, संहारक नहीं। मानव पहले मानव है, उसके पश्चात् और कुछ—इसका सदैव ध्यान रहना चाहिए।

अहिंसा और राजनीति :

विश्व के महान् राजनेताओं ने समय-समय पर विज्ञानप्रदत्त विपुल एवं भयानक संहारक शस्त्रास्त्रों से संत्रस्त हो कर, अहिंसा के द्वारा शान्ति का मार्ग खोजने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह तथ्य पाया है कि शाश्वत शान्ति युद्ध की विभीषिका एवं आणविक शस्त्रास्त्रों के संहारक प्रयोग में नहीं, बल्कि अहिंसा एवं सह-अस्तित्व में निहित है।

भारत के प्रधानमन्त्री स्व० पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अहिंसा को अपनी नीति में सदा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इनका पंचशील का निर्माण इस दिशा में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपलब्धि है। सन् १९६१ में बेलग्रेड में हुआ आणविक विभीषिका के संरक्षणार्थ विश्व के विभिन्न राष्ट्रों का सम्मेलन भी, इस दिशा में गौरवपूर्ण प्रयास है। उक्त सम्मेलन में अहिंसासम्बन्धी सिद्धान्त को ही स्पष्ट करते हुए स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"मानवता खतरे में है, हमें इसी पहलू से सोचना है। यानी जो जरूरी सवाल है, उस पर पहले सोचें, और यह जरूरी सवाल है—युद्ध और शान्ति का। जब विश्व विनाश की ओर बढ़ रहा है, तो दूसरे सवाल गौण हैं।..."

"....मुझे बड़ा ही ताज्जुब होता है। कि महान् शक्तियाँ इसे इज्जत का प्रश्न बना कर अपनी-अपनी बात पर दृढ़ हैं और यह इतनी महान् और शक्तिशाली है कि शान्तिवार्ता के लिए तैयार नहीं। मेरा विश्वास है कि यह एक गलत रुख है; इसमें उनकी इज्जत का ही प्रश्न नहीं, बल्कि मानवजाति के भविष्य का भी प्रश्न है।"

उक्त सम्मेलन में लंका की प्रधानमन्त्री श्रीमती भंडारनायके ने अपनी हार्दिक भावना को व्यक्त करते हुए कहा था—"मैं इस सम्मेलन में भाग लेने सिर्फ अपने राष्ट्र की प्रधानमन्त्री की हैसियत से ही नहीं आई हूँ, बल्कि एक स्त्री और माँ की हैसियत से भी···।"

"मैं एक क्षण के लिए भी ऐसा विश्वास नहीं कर सकती कि दुनिया में कोई भी माँ है, जो अपने बच्चों के पारमाणविक[७] सक्रिय धूल के शिकार होने और घुल-घुल कर मरने की संभावना पर विचार कर सके।"

सम्मेलन के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए युगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने कहा था—"बेलग्रेड-सम्मेलन का उद्देश्य महान् शक्तियों को यह बतला देना है कि विश्व का भाग्य सिर्फ उन्हीं के हाथों में नहीं रह सकता।"* इसी प्रकार के एक सम्मेलन में जो कि क्रेमलिन में रूस की तरफ से आयोजित था, उसमें बोलते हुए तत्कालीन रूसी प्रधानमन्त्री निकिता ख्रुश्चेव ने कहा था—"आंशिक अणुपरीक्षण-प्रतिबंधसंधि अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का आलेख है। किन्तु इस संधि से अणुयुद्ध का खतरा खत्म नहीं हुआ है। जब तक हथियारों के लिए दौड़ जारी रहेगी, तब तक यह खतरा बना रहेगा।" उक्त अवसर पर अमरीकी विदेशमन्त्री डीन रस्क ने कहा—"यह एक अच्छा पहला कदम है, और यदि इसके अनुगमन में और कदम बढ़े, तो शान्ति के लिए मानव का स्वप्न यथार्थ रूप पा सकेगा।" स्व० पं० नेहरू ने उस अणुपरीक्षण-प्रतिबंध संधि पर हस्ताक्षर करते हुए कहा था कि—"मास्को में आज (५ अगस्त '६३ को) इस संधि पर हस्ताक्षर हो रहे हैं और प्रत्येक शान्तिप्रेमी को इसका स्वागत करना चाहिए। यद्यपि परीक्षणों पर यह आंशिक प्रतिबंध-संधि ही है, और निरस्त्रीकरण की दिशा में बहुत बड़ी प्रगति नहीं है, फिर भी यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यह उस मंजिल की ओर ले जाने वाला प्रथम सोपान है।···भारत ने इस संधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया है। हम यह मानते हैं कि युद्ध-वर्जन-संधि जहाँ भी हो, उसका स्वागत किया जाएगा, क्योंकि उससे युद्ध का खतरा कम होता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व के महान् शक्तिशाली एवं आणविक शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र भी अपनी राजनीति में प्रधानतः अहिंसा को ही स्थान देते हैं।

विश्वबन्धुत्व, विश्वशांति और अहिंसा :

इससे यह स्पष्ट है कि अहिंसा विश्वशांति का सबसे सुगम एवं श्रेष्ठ पथ है। जैसा कि हम पहले कह आये हैं, विश्व में जब-जब युद्ध की भयानक लीला से मानव संत्रस्त हुआ है, उसने विश्वशांति की तलाश अहिंसा के पथ से की है और यह निश्चय है कि तब अहिंसा ने ही उन्हें सही अर्थ में शान्ति प्रदान भी की है। ●

---

७ पारमाणविक विभीषिका। —विक्रमादित्यसिंह

क्या अहिंसा अव्यवहार्य है ?

५

अहिंसा के सम्बन्ध में आज के संसार के सामने एक विकट प्रश्न उपस्थित है। जब तक उस प्रश्न को अच्छी तरह से हल नहीं कर लिया जाता है, तब तक इससे सम्बन्धित शंकाओं का पूरी तरह समाधान नहीं हो सकता। कुछ लोग कहते हैं कि अहिंसा के सिद्धान्त भी बहुत अच्छे हैं, समय-समय पर अहिंसा का जो विश्लेषण किया गया है, उनकी जो व्याख्याएँ की गई हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं और इतनी ऊँची हैं कि वास्तव में हमें उनका आदर करना चाहिए।

अहिंसा : अतीत, वर्तमान एवं भविष्य

अहिंसा एक निषेधात्मक शब्द है हिंसा का। हिंसा नहीं करनी चाहिए, बस यही अहिंसा का आशय है, किंतु हिंसा के लिए यह शब्द कोई दिशानिर्देश नहीं करता, बल्कि विशालता का एक उन्मुक्त धरातल प्रदान करता है। हिंसा चाहे शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा कार्मिक हो, व्यक्तिक हो, पारिवारिक हो, सामाजिक हो, राष्ट्रीय हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हो—यह प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षाक्रम से वर्जित है।

जब हम सुदूर अतीत पर अवलोकन करते हैं, तो आज से २५०० वर्ष अतीत के गौरवपूर्ण उन्मेष पर एक बार दृष्टि थम जाती है, जबकि भगवान् महावीर एवं तथागत बुद्ध ने हिंसा के विरुद्ध सात्त्विक क्रांति करके अहिंसा की पुनःस्थापना की। भयंकर से भयंकर डाकू एवं हत्यारों ने भी अहिंसाव्रत को उन महान् पुरुषों की सत्प्रेरणा से जीवन में अपना कर अपने जीवन को धन्य-धन्य किया था। और एक बार फिर से चतुर्दिक अहिंसा—दया, प्रेम, करुणा का सौम्य वातावरण उमड़ उठा था।

कुछ लोगों की दृष्टि में अहिंसा अव्यवहार्य

किन्तु कुछ लोग यों मानने लगे कि जहाँ अहिंसा की लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ की गई हैं। वहीं वह अव्यवहार्य भी बन गई; अर्थात्—व्यवहार में आने लायक नहीं रही। जीवन में उतारने योग्य भी न रही। यदि उसके सहारे जीवन-यात्रा पूरी करना चाहें तो कर नहीं सकते। कोई अच्छी बात तो हो, किन्तु काम में आने के लायक नहीं हो तो, फिर उसका क्या मूल्य है ? चीज अच्छी है, पर लेने योग्य नहीं है—इसका क्या अर्थ हुआ ? यदि अहिंसा जीवन में उतारने लायक नहीं है, उसके सहारे हम जीवन-यात्रा तय नहीं कर सकते तो इसका मतलब यह हुआ कि वह निरर्थक वस्तु है, अयोग्य है और जीवन में उसका कोई मूल्य ही नहीं है।

चारों ओर हिंसा के वातावरण में अहिंसा का पालन कैसे ?

जैनदर्शन ने हिंसा, अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। हिंसा क्या है ? इस सम्बन्ध में एक मोटा-सा स्थूल सिद्धान्त प्रचलित है कि 'प्राणी-हत्या' हिंसा है। यदि हम इस सिद्धान्त की बारीकी में जाएँगे तो एकदम मन कह उठेगा कि फिर तो संसार में पूर्ण अहिंसक कोई हो ही नहीं सकता। चूँकि जब तक शरीर है हलन-चलन की क्रिया भी होती रहेगी, श्वासोच्छ्वास भी चलते रहेंगे। और जब हम यह मानते हैं कि संसार में चारों ओर असंख्य प्राणी भरे हैं। हवा के एक झोंके में ही असंख्य-असंख्य प्राणियों का विनाश हो जाता है। आँख झपकने में ही असंख्य प्राणियों का काल आ जाता है—

"पक्ष्मणोपि निपातेन तेषां स्यात्कश्च-पर्ययः।"

ऐसी स्थिति में वीतरागी पुरुष भी इस हिंसा से नहीं बच सकते। और उनके जीवन में भी जब अहिंसा की भूमिका नहीं आ सकती, तो फिर साधारण मनुष्यों की क्या बात करें ?

मैं एक बार एक इञ्जीनियरिंग कालेज में व्याख्यान देने गया था। बात चल पड़ी तो लेबोरेटरी विभाग वालों ने आग्रह किया कि आइए, हम आपको अपने यन्त्र दिखलाएँ। उन्होंने एक कागज का टुकड़ा लिया और कहा—'देखिए, इस पर कुछ दिखाई देता है ?' कागज तो बिल्कुल साफ था, मिट्टी या धूल कुछ भी तो उस पर नहीं लगी हुई थी। उसे माइक्रोस्कोप के नीचे रखा और कहा—'अब देखिए।' देखा तो आश्चर्य कि मेरी गणना से बाहर जीवाणु जैसे कुलबुला रहे थे। एक स्वच्छ कागज पर, जहाँ आँखों से एक जीव भी डोलता-डोलता नहीं दिखाई देता, वहाँ इतने जीवाणु !

मेरे मन में विचार आया कि इस प्रश्न पर वास्तव में जैनदर्शन कितना गहरा गया है। उसने कण-कण में जीवाणु भरे हुए बतलाए तो किसी समय में यह मजाक की बात रही होगी, पर आज इस विज्ञान ने तो उसे परम सत्य सिद्ध कर दिया। अतः यह स्पष्ट है कि विश्व में कोई भी ऐसा स्थान नहीं, जहाँ सूक्ष्मशरीर-धारी जीव न भरे हों। स्थूलशरीरधारी जीव भी असंख्य हैं, अनन्त हैं। जल में भी जीव हैं, थल में भी जीव हैं, हवा में भी जीव हैं। चारों ओर जीवों से संकुल है यह विश्व। प्रश्न है, तब साधक अहिंसक कैसे रह सकता है ?

"जले जीवाः स्थले जीवा, जीवाः पर्वतमस्तके।
जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ?"

जरा हाथ हिला नहीं कि असंख्य जीव मौत के घाट उतर गए। जरा पैर हिला नहीं कि असंख्य प्राणी कालकवलित हो गए। हर श्वास के साथ प्राणी मर रहे हैं, दो चार नहीं, एक साथ असंख्य।

अभिप्राय यह है कि जब जीवहिंसा से कोई भी मनुष्य बच नहीं सकता, तो

फिर अहिंसा की बात करने का हमारा क्या तात्पर्य है ? कैसे हम अहिंसक रह सकते हैं ? और हम क्या, इस तरह से तो वीतराग केवली भी अहिंसा का पालन कैसे कर सकेंगे ?

इस प्रकार के प्रश्न प्रायः साधारण लोगों के और कभी-कभी विचारकों के सामने भी उठा सकते हैं। अब हमें देखना यह है कि क्या वस्तुतः बात ऐसी ही है ? क्या अहिंसा सचमुच ही व्यवहार में आने योग्य नहीं है। यदि हृदय की सचाई से विचार किया जाए और भारत के सुनहरे इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो पता चलेगा कि यह विचार सही नहीं है। जो वस्तु कई शताब्दियों से लगातार व्यवहार में आती रही है, और भगवान् महावीर जैसे महापुरुषों ने, गौतम जैसे सन्तों ने और आनन्द जैसे संभ्रान्त गृहस्थों ने तथा वर्तमान में राष्ट्रपिता गांधीजी तक ने भी व्यावहारिक जीवन में जिसके सफल प्रयोग करके दिखलाए हैं ; फिर उसकी व्यावहारिकता में आज किसी प्रकार की शंका करना कैसे उचित कहा जा सकता है ? एक नहीं, हजारों साधकों ने, जो अहिंसा की संतापशामिनी छाया में आये, कहा कि यह अहिंसा आकाश की नहीं, धरती की चीज है शत-प्रतिशत व्यवहार की चीज है। जिन्होंने अहिंसा का आचरण अपने जीवन-व्यापार में किया है, उन्हें तो वह स्वप्न में भी अव्यवहार्य नहीं लगी, किन्तु जिन्होंने एक दिन भी अपना जीवन अहिंसामय नहीं बिताया, वे अपने मनगढ़न्त तर्कों के आधार पर उसे अव्यवहार्य मानते हैं ! क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ?

अहिंसा के बिना जीवन में एक कदम भी गति सम्भव नहीं

अहिंसा के बिना हमारा जीवन एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। मानव यदि मानव के रूप में जीवन-पथ पर अग्रसर होना चाहता है, और मनुष्य यदि मनुष्य के रूप में अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है तो अहिंसा के बिना वह एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए यदि मनुष्य अपने जीवन के एक-एक कदम पर दूसरों का खून बहाता हुआ और संहारक संघर्ष करता हुआ चलता है तो वह मनुष्य की वास्तविक गति नहीं है। वह तो सचमुच हैवान, राक्षस और दैत्य की गति है। मानव और दानव के चलन में दिन-रात जैसा विपरीत अन्तर है। इस अन्तर को भूतल के प्रत्येक मनुष्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

वस्तुतः जब आदमी चलता है, तो वह जीवन-पथ में किसी दूसरे के लिए काँटे नहीं बिछाता है। वह तो सुखदायी जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश देता हुआ ही चलता है और आनन्द के फूल बरसाता हुआ चलता है। जिधर भी उसका पदार्पण होता है प्रेम की फुहारें छूटती दिखलाई पड़ती हैं। यदि वह अपने कर्तव्यमय कदमों से घृणा की फुहारें छोड़ता है तो समझ लो कि वह इन्सान नहीं, बल्कि हैवान है। मोटर-ड्राइवर

का दृष्टान्त देते हुए पहले कहा जा चुका है कि वही ड्राइवर सावधान और चतुर समझा जाता है, जो सामने आते हुए बच्चों और बूढ़ों को बचा कर मोटर चलाता है, काँटों और झाड़ियों को भी बचाता हुआ चलता है। इसके विपरीत, जो ड्राइवर सामने आये हुए बालक या बूढ़े को कुचल देता है और मोटर को कभी इस किनारे से तो कभी-कभी उस किनारे से टकरा देता है और गाड़ी को लड़खड़ाती हुई चाल में चलाता है तो लोग निश्चित कह बैठेंगे—यह ड्राइवर नहीं, कोई पागल है और इसे मोटर चलाने का अधिकार नहीं है।

अभिप्राय यही है कि जीवन भी एक प्रकार की गाड़ी है, मोटर है या रथ है, और आत्मा इसका ड्राइवर है। वह जब जीवन की गाड़ी को ठीक ढंग से चलाता है, जहाँ कहीं टक्कर लगने वाली हो तो उसे बचा लेता है और जब संघर्ष होता है तब भी बचा कर चलता है, तो वह जीवन की राह पर ठीक-ठीक अपनी गाड़ी चलाता है। वह रुकता भी नहीं है, किन्तु निरन्तर चलता ही रहता है, तब हम समझते हैं कि यह ड्राइवर-आत्मा सावधान है और कुशल है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा और द्वेष के नशे में नहीं है। फलतः खुद भी सावधानी के साथ चलता है और दूसरों को भी बचाता हुआ चलता है।

अन्धाधुन्ध चलाने का क्या मतलब है ? मान लो, कोई व्यक्ति परिचय-पथ पर आ गया और उसे हिंसा से कुचल दिया, असत्य से कुचल दिया। फिर कोई साथी मिल गया तो उसे चोरी से, ईर्षा से या घृणा से कुचल दिया। और इस प्रकार कुचलता हुआ मदमत्त स्थिति में गुजरता ही गया, कहीं रुका ही नहीं, तो आप समझ लें कि इस जीवन का ड्राइवर-आत्मा होश में नहीं है। वह इन्सान के रूप में अपने जीवन की गाड़ी को नहीं चला रहा है। उसे हैवानियत का नशा चढ़ा हुआ है और वह भूल गया है कि जीवन का पथ कैसे तय किया जाए।

जीवन की कला अहिंसा से ही परिपूर्ण होती है

यदि कोई व्यक्ति गहन वन से गुजर रहा है अथवा दुर्गम पहाड़ों पर चढ़ रहा है। मार्ग में इधर भी काँटेदार झाड़ियाँ हैं और उधर भी। इधर भी नुकीले पत्थर हैं और उधर भी हैं। वे सभी उसे घायल करते हैं, काँटे भी चुभते हैं और कठोर पत्थरों की ठोकरें भी लगती हैं। किन्तु वह यात्रा करता ही रहता है। जबकि उसे चलने के लिए एक जरा-सी पगडंडी मिली है। जरा-सी असावधानी होते ही इधर या उधर उसके कपड़े झाड़ी में उलझ जाएँ। इसलिए इधर-उधर से कपड़ा बचाता हुआ ठीक बीच से उस पगडंडी पर बढ़ जा रहा है। फिर भी यदि वह उलझ जाता है तो रुक कर शीघ्र ही कपड़ा काँटों से निकाल लेता है। वह आगे चल देता है और यदि फिर कभी उलझ जाता है तो वह अपने को निकालता है। चलते हुए यदि कहीं पैर में काँटा लग जाता है तो तत्क्षण खड़ा हो जाता है और काँटे को निकाल लेता है। यदि बीच में पत्थर या चट्टान आ जाती है तो भी बचता है और यदि कभी असावधानी से ठोकर भी लग

आती है तो तत्काल सहलाता है और आगे बढ़ जाता है। राह की रुकावटों में वह उलझता नहीं है, अपितु चलता ही जाता है—सावधानी के साथ। **'चल चल रे नौजवान, चलना तेरा काम'** : इसी मूलमंत्र को उसने अपनी जीवन-यात्रा का आलम्बन माना है।

इस तरह एक आदमी चल रहा है और निरन्तर चला ही जा रहा है। वह बीच में कहीं रुकता नहीं है, किन्तु सीधा अपनी मंजिल की ओर बराबर बढ़ता ही चला जा रहा है।

एक दूसरा आदमी भी उसी रास्ते पर चलता है, किन्तु सावधानी नहीं रखता है। जब वह काँटेदार झाड़ी के पास से गुजरता है तो झाड़ी में उलझ जाता है। बस, अब सोचता है कि इसने मेरा पल्ला उलझा दिया, अतः जब तक मैं इस झाड़ी को ही जड़ से न काट दूँ, तब तक आगे नहीं बढ़ सकता। अब वह उसे काटने में जुट जाता है और काट कर ही आगे कदम रखता है, कि अगले कदम पर फिर दूसरी झाड़ी में उलझ जाता है और फिर उसे भी काटने लगता है। पैर में यदि कोई काँटा चुभ गया तो उसको निकाल कर टुकड़े-टुकड़े करने लगा। फिर आगे बढ़ा और यदि पत्थर की ठोकर लग गई तो कुदाल ले कर चट्टान को तोड़ने लग जाता है। इस प्रकार का चलने वाला क्या अपनी मंजिल पर पहुँच सकेगा ? कभी नहीं।

जो बच कर सावधानी से चलता है और उलझता नहीं है, वह तो चलेगा और अपनी मंजिल भी पूरी कर लेगा। परन्तु जो इस प्रकार उलझता हुआ चलता है और जहाँ उलझता है, वहाँ संहार करने लग जाता है और सारे पहाड़ को चकनाचूर करके ही आगे बढ़ने का संकल्प करता है, वह चाहे सौ वर्ष की उम्र पाए, तो भी अपने अभीष्ट लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेगा। वह हजार वर्ष की उम्र में भी मंजिल पूरी नहीं कर सकेगा।

इससे निष्कर्षरूप सिद्धान्त यह निकला कि यदि जीवन-यात्रा करनी है तो सर्वप्रथम व्यर्थ के संघर्षों से अपने जीवन को बचाते हुए सावधानी से चलना चाहिए। सावधानी रखते हुए भी यदि कहीं उलझन आ ही जाये तो शान्त चित्त हो उसको सुलझाते हुए आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए। मनुष्य यदि इधर-उधर से पल्ला संभाल कर अपने जीवन के पथ पर चलता जायेगा, तब तो अपनी मंजिल पर पहुँच ही जायेगा। इसके विपरीत यदि किसी से जरा-सी भी अनबन हो गई, तो जब तक उसकी जबान नहीं खींच ले, या परिवार में जरा-सी कोई बात हो जाए तो बस, जब तक कानून की तीरकमान ले कर अदालत के द्वार को न खटखटा दे, तब तक आराम की साँस न ले, तो उसकी जीवन-गाड़ी अपनी यात्रा कभी सफलतापूर्वक तय नहीं कर सकती।

जीवन के दो मार्ग : अहिंसा एवं हिंसा का

इस प्रकार जीवन का पहला मार्ग है—अहिंसा का ; अर्थात्—प्रथम तो कभी

किसी से उलझें नहीं, सदैव सावधानी से ही चलें और यदि कभी परिस्थिति-वश उलझ भी जायें तो उलझन को ठीक कर लें। यह अहिंसा का प्रेरणामय जीवन है। इसके बाद दूसरा मार्ग है—हिंसा का, जिसमें प्रथम तो असावधानी से चलना, पैर किधर पड़ रहे हैं—इस बात का कभी विचार ही न करना और यदि कभी किसी से उलझ जाएँ या टकरा जाएँ तो उसके सर्वनाश का संकल्प कर लेना। ऐसी बुद्धि, हिंसा की बुद्धि है।

इन दो मार्गों में से व्यक्ति किसी एक को ही अपना सकता है। कई विचारक कहते हैं कि अहिंसा उत्तम चीज है, किन्तु यह जीवन-व्यवहार की उपादेय वस्तु नहीं है। वैसे व्यक्तियों से पूछा जा सकता है कि व्यवहारमार्ग कौन-सा है ? वस्तुतः बचना और बचाना ही व्यवहार का मार्ग है, और यही वास्तविक अहिंसा है। जो हिंसा है, वह तो उलझने का और टकराने का मार्ग है। स्वयं बर्बाद हो जाना और दूसरों को भी बर्बाद कर देना हिंसा है। आप ही सोचिए, भला इसे गलत विचार न कहा जाए तो और क्या कहा जाए ?

हिंसा और अहिंसा की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए। यदि इसका निर्णय नहीं हो सका, तो जीवन के सही रास्ते पर चलना भी मुश्किल भी जायेगा। व्यक्ति अपने जीवन के प्रति सजग रहे, सदैव सावधान रहे और देखता रहे कि दूसरों को उसके द्वारा की गई हिंसा या अहिंसा से क्या फल मिलता है ? यदि वह स्वस्थ मन और स्थिर बुद्धि से विचार करेगा तो उसे पता चलेगा कि जीवन-व्यवहार में वह हिंसा के बजाय अहिंसा में ही अधिक रहता है। यदि घर में कोई छोटी-सी घटना हो जाती है तो क्या वह उसके लिए न्यायालय की शरण लेता है ? जब परिवार की गुत्थियाँ उलझ जाती है तो वे डंडे से नहीं सुलझाई जाती है, प्रत्येक घटना पर अदालत में नहीं भागा जाता है। हाँ, तो अहिंसा एवं प्रेम का जैसा सद्व्यवहार परिवार में किया जाता है, वही समाज में और राष्ट्र में क्या नहीं किया जा सकता ?

जो हिंसा के पथ पर चलते हैं, आखिरकार वे एक दिन ऊबते हैं और उससे विरत होते हैं। जो खूनी लड़ाइयां लड़ते रहे और जिन्होंने जीवन-क्षेत्र को रक्त-रंजित कर दिया, वे भी अन्त में सन्धि करने बैठते हैं। आखिर यह क्या कौतूहल है ? जो वस्तु अन्त में आने वाली ही है, लाखों-करोड़ों का संहार करके अन्ततः जिस मार्ग को अपनाना ही है, उसका पहले ही क्यों न अनुसरण किया जाये। यदि वही मार्ग सूझ-बूझ के साथ पहले ही पकड़ लिया जाये तो क्या अच्छा न होगा ? सारांश में यह स्पष्ट है कि 'अहिंसा' व्यवहार की उपादेय वस्तु है, वह किसी भी रूप में अव्यवहार्य नहीं है। हजारों साधक इसी मार्ग पर चलते रहे हैं और उन्होंने इसी पथ पर चल कर अपनी हजारों वर्ष की जिन्दगी गुजारी है। उन्हें अहिंसा 'अव्यवहार' की वस्तु कभी नहीं दिखलाई दी।

हिंसा से एक दिन भी जीवनव्यवहार नहीं चल सकता

कोई अहिंसा को 'अव्यवहार्य' और हिंसा को ही 'व्यवहार्य' समझने वाला यदि

यह प्रतिज्ञा कर ले कि मैं हिंसा ही करूँगा—जो मिलेगा उसकी हिंसा किए बिना नहीं रहूँगा, तो क्या वह एक दिन भी अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह सकेगा ? अहिंसा की प्रतिज्ञा ले कर तो लम्बी जिन्दगी गुजारी जा सकती है और गुजारी भी गई है, किन्तु हिंसा की प्रतिज्ञा करके भला कितने मिनट बिताए जा सकते हैं ? हिंसा की प्रतिज्ञा लेने वाला अधिक से अधिक उतनी ही देर जिन्दा रह सकता है जितनी देर उसे अपना गला घोंट कर आत्म-हत्या में लग सकती है।

हम अपने जीवन में निन्यानवे फीसदी तो प्रेम से काम लेते हैं और एक फीसदी हिंसा, घृणा या द्वेष से काम लेते हैं । तब फिर यह समझना कठिन नहीं है कि अहिंसा 'अव्यवहार्य' नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि वास्तविकता यह है कि अहिंसा के द्वारा ही जीवन-व्यवहार चलाया जा सकता है और वस्तुतः अहिंसा ही जीवन है, रक्षा है; और हिंसा मृत्यु है, संहार है।

अहिंसा-पालन क्यों करें ?

संसार का प्रत्येक प्राणी चाहे वह देव है, मानव है, या पशु-पक्षी है, और तो क्या, एकेन्द्रिय भी है, तो भी सबके अन्दर में एक ही कामना जग रही है, एक ही हिलोर उठ रही है, और वह है—सुख प्राप्त करने की इच्छा।

भगवान् महावीर ने प्राणियों की इस मानसिक भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहा था—

"सव्वे पाणा सुहसाया, दुह-पडिकूला"

—संसार के समस्त प्राणी सुख की इच्छा करते हैं, दुःख से कतराते हैं !

विश्व के सभी धर्म जो कि वास्तव में धर्म हैं, उन सबका विकास इसी आधार पर हुआ है। उनके चिन्तन का स्रोत इसी उत्स से निकला है। अहिंसा का विचार, इसी सिद्धान्त के आधार पर खड़ा हुआ है। इसी में दया और करुणा की दिव्यध्वनि निकलनी शुरू हुई। इसी भूमिका पर सत्य का अनन्त प्रकाश प्रगट हुआ। अस्तेय और ब्रह्मचर्य का विचार इसी सिद्धान्त पर पल्लवित हुआ है। और अपरिग्रह की पृष्ठभूमि भी यही विचार रहा है।

हम हिंसा क्यों नहीं करें ? इस तर्क का समाधान यही है कि हिंसा से दूसरे प्राणी को कष्ट होता है, चैतन्य को पीड़ा होती है।

भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि आप अहिंसा का उपदेश करते हैं, किन्तु प्रश्न है कि हम उसका पालन किसलिए करें ? इसके उत्तर में भगवान् महावीर ने जो अपने अहिंसा-मूलक दर्शन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है, वह बहुत ही मनोवैज्ञानिक और प्राणी की समग्र चेतना की अनुभूति से जुड़ी हुई है। उन्होंने कहा—

"सव्वे जीवा वि इच्छंति,
जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं,
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥"

—सब जीव जीना चाहते हैं, और सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता । इसलिए किसी का प्राणवध करना बड़ी क्रूरता है, पाप है । इसलिए निर्ग्रन्थ साधक उससे दूर रहते हैं ।

मरने की कल्पना ही बड़ी क्रूर और अप्रिय होती है । राह चलते किसी मरणासन्न जर्जर बूढ़े को भी यदि 'मर जाओ' कह दिया जाएँ तो उसका हृदय रोष से भर उठता है, मरने का स्वप्न भी आ गया, तो आदमी का चेहरा फीका पड़ जाता है, चिन्ताओं से हृदय व्याकुल हो जाता है । कल्पना कीजिए, मरने की कल्पना भी जब भयंकर है, तब साक्षात् मृत्यु तो कितनी भयंकर होगी ?

स्व-परसुख के लिए अहिंसा का व्यवहार अनिवार्य

कुछ लोग कहते हैं कि किसी को कष्ट होता है तो उसके अपने कर्म से, हमें उसके सुख-दुःख से क्या मतलब ? हम किसी की हिंसा न करें, अपने आपको हिंसा के पाप से बचाये रखें, बस हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है । यह एक दृष्टि है । पर भगवान् महावीर की उपर्युक्त व्याख्या की गहराई में जायेंगे तो पता चलेगा कि वहाँ अहिंसा का उद्गम करुणा से हुआ है । अनुकम्पा से अहिंसा का विचार प्रस्फुटित हुआ है । सब प्राणी जीना चाहते हैं, मरना नहीं चाहते । इसलिए—"तम्हा पाणिवहं घोरं ।" किसी को मारना क्रूरता है, उसकी जीवन-इच्छा के साथ खिलवाड़ है । यह एक बहुत ही सूक्ष्म विचार है और अहिंसा—गंगोत्री की धारा में आकण्ठनिमग्न हुए बिना इसकी गहराई को नापना कठिन है । चैतन्य के साथ आत्मानुभूति किए बिना यह विचार अंकुरित और पल्लवित नहीं हो सकता ।

निष्कर्ष यह है कि हिंसा से जीने की कल्पना अपने और दूसरे सभी प्राणियों के लिए भयंकर और अव्यवहार्य है, मगर अहिंसा से जीने की कल्पना सभी के लिए सुखद और व्यवहार्य है । ●

अहिंसा के दो रूप : अनुग्रह और निग्रह ६

अपने जीवन में किसी को कष्ट न पहुँचाना, अपने व्यवहार के द्वारा किसी प्राणी को पीड़ा न देना, अपितु उसे सुख-शान्ति पहुँचाना ही अहिंसा है। किसी जीव पर अनुकम्पा करना, दया करना अहिंसा है।

इस प्रकार जब यह निश्चित है कि अनुग्रह करना अहिंसा है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निग्रह करना क्या है? निग्रह में हिंसा ही है, अथवा अहिंसा भी हो सकती है?

जब कभी समाज के सामने यह गम्भीर प्रश्न उपस्थित हुआ है, तभी वह सोच में पड़ गया है और कभी-कभी इधर-उधर भटक भी गया है। इस प्रश्न का जैसा चाहिए था, वैसा सीधा स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सका है। यदि कभी किसी ने उत्तर देने का साहस भी किया है, तो उसे ठीक-ठीक समझने की कोशिश नहीं की गई है। फलतः लोग अभी तक भ्रम में पड़े हुए हैं।

अब देखना यह है कि इस विषय में जैन-धर्म क्या कहता है? जैन-धर्म अनुग्रह में तो अहिंसा को स्वीकार करता ही है; पर निग्रह के विषय में उसका क्या अभिमत है? दण्ड में अहिंसा है या नहीं?

यदि दण्ड में अहिंसा नहीं है, क्योंकि जिसे दण्ड दिया जाता है, उसे स्वभावतः कष्ट होता है, और जब कष्ट होता है तो निग्रह या दण्ड अहिंसा नहीं, हिंसा बन जाता है; और जब यह हिंसा बन गया तो फिर जैन-धर्म में आचार्य का कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए। परन्तु हम शासन-व्यवहार में देखते हैं, वहाँ आचार्य का महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

आचार्य एक साधु है और जो साधुता एक सामान्य साधु में होती है, वही आचार्य में भी होती है। ऐसा नहीं, कि साधु तो पांच महाव्रती हो और आचार्य कोई छठा-सातवाँ महाव्रत भी पालता हो। इस प्रकार सामान्य साधु और आचार्य दोनों ही साधुता तथा महाव्रतों की दृष्टि से तो समान हैं। हाँ, व्यक्तिगत जीवन की आचार-विषयक न्यूनाधिकता हो सकती है और वह तो सामान्य साधुओं में भी हो सकती है, और वह होती ही है। परन्तु उससे साधु और आचार्य का भेद नहीं हो सकता। फिर आचार्य का महत्त्व किस रूप में है?

यदि जैन-धर्म के अनुसार अनुग्रह ही अहिंसा है और निग्रह अहिंसा नहीं है, बल्कि हिंसा ही है तो आचार्य के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। जैन-धर्म में हिंसा को कोई स्थान नहीं है, और जब हिंसा के लिए स्थान नहीं है तो हिंसा-स्वरूप दण्ड के लिए भी कोई स्थान नहीं है; और जब दण्ड के लिए स्थान नहीं है तो, फिर आचार्य के लिए भी स्थान नहीं होना चाहिए। क्योंकि आचार्य अपने औचित्य के अनुसार दोषी को दण्ड देता है।

आचार्य संघ का नेतृत्व करता है। वह देखता रहता है कि कौन क्या कर रहा है, और किस विधि से कर रहा है? कौन साधक किस पगडण्डी पर चल रहा है सब ठीक-ठीक चल रहे हैं या कोई पथ-विचलित हो गया है? यह निरीक्षण-कार्य आचार्य का ही उत्तरदायित्व है। जब सब ठीक-ठीक चलते हैं तो सबको उनका अनुग्रह मिलता रहता है। बहुधा महान् आचार्यों में देखा है कि छोटों के प्रति उनका अनुग्रह अपेक्षाकृत अधिक रहता है। जिस प्रकार पिता, पुत्र को प्रेम की दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार आचार्य भी अपने छोटे से छोटे शिष्य पर अपार प्रेम बरसाते हैं। झुल्लकों के समान ही वृद्धों के लिए भी वे सेवा का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। वे निरन्तर इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि संघ में किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाये। यदि किसी पर कष्ट आ भी पड़ता है तो उसकी शान्तिमय निवृत्ति के लिए वे सद्भावना प्रेरित करते हैं। शिक्षार्थी मुनियों का अध्ययन ठीक चल रहा है या नहीं, और स्थविरों की सेवा की सुव्यवस्था है या नहीं? छोटे बालक जो प्रायः संघ में आये हैं, उनका समुचित विकास तथा प्रगति हो रही है या नहीं। छोटों के प्रति समाज में छोटे-बड़े की ऐसी उपेक्षा भावना तो नहीं है कि—अरे! छोटे साधुओं में क्या रखा है; इत्यादि इस तरह अपने उत्तरदायित्व के नाते आचार्य छोटी-बड़ी सभी बातों का ध्यान रखते हैं और सभी के प्रति यथोचित अनुग्रह रखते हैं।

आचार्य : संघ का अहिंसक गोप

परन्तु आचार्य का अनुग्रह तभी तक प्राप्त होता है, जब तक साधक मर्यादा में चलते हैं और अनुशासन का पूर्णतः पालन करते हैं। इसी कारण आचार्य को गोप की उपमा दी गई है। भगवान् महावीर को भी महागोप कहते हैं, अर्थात्—सबसे बड़े ग्वाले। ग्वाला अपनी गायों, भैंसों तथा अन्य पशुओं को वन-भूमि की ओर ले कर चलता है। जब तक पशु ठीक-ठीक चलता है तब तक वह अपने दण्ड का प्रयोग नहीं करता; अर्थात् डण्डा नहीं मारता। यदि भावावेश में बिना कारण ही डण्डा मार देता है, तो समझना चाहिए कि वह पागल हो गया है। जब ग्वाला इस प्रकार का पागलपन प्रस्तुत करे तो उसे पशुओं को चराने का अधिकार नहीं देना चाहिए। इसके विपरीत जब कोई पशु दौड़ कर आस-पास के खेत में मुंह डाल देता है तो उसे विवेक के साथ डण्डे का प्रयोग करना चाहिए और पशु को खेत से बाहर कर देना चाहिए। वह

पशुओं को इधर-उधर नहीं भटकने देना और मर्यादा से बाहर पशुओं की हरकत देखकर उन पर डण्डे का उचित प्रयोग भी करना।

ग्वाले का रूपक भगवान् महावीर के लिए भी प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि भगवान् महागोप थे। आचार्यों को भी संघ का गोप कहा गया है, अर्थात् साधु और श्रावक जब तक अनुशासन की मर्यादा में चलते हैं, तब तक आचार्य उन्हें दण्ड नहीं देते, बल्कि अपार अनुग्रह की रस-वर्षा करते हैं। परन्तु जब आचार्य यह देखते हैं कि कोई मर्यादा के बाहर गया है और उसी गति से चला जा रहा है तो उस समय वे उसे डाँटते हैं, और यदि कोई गलती करता है, तो उसे दण्ड भी देते हैं। जब आचार्य दण्ड देते हैं, तो आखिर दण्ड तो अपना तदनुरूप प्रभाव डालेगा ही।

आचार-संहिता के अनुसार साधु का यह कर्त्तव्य बतलाया गया है कि कदाचित् साधु मर्यादा से बाहर चला जाए या गलती कर बैठे तो उसे अपने को तत्काल संभाल लेना चाहिए और स्वयं ही आचार्य को अपने दोषयुक्त कार्य की सूचना दे देनी चाहिए कि मुझसे अमुक गलती हो गई है। चाहे मनुष्य कितना ही सावधान क्यों न रहे, किन्तु जब तक वह साधक है और प्रारम्भिक साधना में लगा हुआ है, तब तक उससे कहीं न कहीं छोटी-मोटी भूल हो जाए ऐसा स्वाभाविक है।

जागृति

इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा है कि प्रत्येक क्षण जीवन में जागते रहो। क्या कारण है कि जागते हुए भी सो जाओ? और यदि बाहर में सोए हुए हो, तब भी अन्दर में पूर्णतः जागृत रहो।

जब साधु जागृत अवस्था में है तब तो वह जागता है ही; किन्तु जब निद्रावस्था में हो तब भी उसे जागता ही समझो[1]। वह जब अकेला है, तब भी जागता है। जब वह सब के बीच में है, तब भी जागता है। नगर में है, तब भी जागता है, और यदि वह वन में वास कर रहा है तब भी जागता रहता है। साधु के सम्बन्ध में जो पाठ आता है, उसमें कहा गया है।

साधु को प्रत्येक परिस्थिति में एक ही निर्दिष्ट मार्ग पर चलना है। अकेले में भी और हजारों के बीच में भी सोते हुए भी, और जागते हुए भी, वन में भी और नगर में भी। साधना जीवन की यही समरसता है।[2] वह अपने लिए है, अपने विकास

---

१ 'सुत्ताऽमुणिणो'
'मुणिणो सया जागरंति'
—आचारांग

२ "से गामे वा नगरे वा रण्णे वा···दिया वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा॥"
—दशवैकालिक सूत्र, चतुर्थ अध्ययन।

के लिए है। अतः वह हर हालत में एकरूप रहनी चाहिए। सच्चा साधक दर्शकों की उपस्थिति या अनुपस्थिति को सामने रख कर अपने जीवन-पथ का मानचित्र तैयार नहीं करता।

साधक अपने को संयम की शूली पर समझे

राजस्थान की वीर नारियों की कहानी बहुत ही प्रसिद्ध है और खासतौर से मीरा की कहानी, जिसने सोने के महलों में जन्म लिया और सोने के महलों में ही जिसका विवाह भी सम्पन्न हुआ। एक दिन संसार की भौतिक ताकत ने उसे महलों में बन्द रखने और वैभव की मोहक नींद में सुला देने की भरपूर कोशिश की; किन्तु वह महलों में बन्द नहीं हो सकी, वैभव की नींद नहीं सो सकी। भगवत्प्रेम का महान् आदर्श उसके हृदय के कण-कण में उमड़ता रहा।

उसने कहा—३ जो साधक है, वह तो संयम की शूली पर बैठा है। साधु या गृहस्थ कोई भी हो, उसके जो व्रत या नियम हैं, शूली की नोंक के समान हैं। वहाँ पर दूसरी कोई फूलों की सुख-सेज नहीं मिलेगी। फूलों की सुख-सेज पर शयन करने वाले तो सम्राट् होते हैं, अतः यदि वे खर्राटे लेना चाहें तो ले सकते हैं। परन्तु जो साधक साधना-रूपी शूली की सेज पर बैठा है, वह सुख की नींद के खर्राटे नहीं ले सकता। उसका तो एक-एक क्षण जागेगा। उसके लिए हर प्रतिज्ञा शूली की सेज है। साधु ने अहिंसा और सत्य आदि की जो प्रतिज्ञाएँ ली हैं, उनमें से प्रत्येक प्रतिज्ञा शूली की सेज है।

कोई कह सकता है कि शूली पर जब सुदर्शन चढ़े, तो फूल बरसे और शूली सिंहासन हो गई थी। बात ठीक है, किन्तु शूली पर चढ़े बिना फूल नहीं बरसते। जब हम जीवन के क्षेत्र में चलते हैं, तब यदि इस साधना-रूपी शूली की सेज पर नहीं चढ़ेंगे तो फूल नहीं बरसने वाले हैं। फूल तो तभी बरसेंगे, जब साधक अपने आपको संयम और साधना की कसौटी पर सच्चा सिद्ध कर देगा।

इस दृष्टिकोण से हर साधक को हर समय जाग्रत रहना है। क्योंकि छद्मस्थ आखिर छद्मस्थ है, वह सर्वज्ञ और वीतराग नहीं हो गया है। वह अपूर्ण है। यदि वह अपूर्ण एवं साधारण साधक अपने आपको पूर्ण एवं विशिष्ट समझने लगता है तो यह उसकी भयंकर भूल है। इस प्रकार छद्मस्थ होने के कारण कदाचित् वह लड़खड़ा जाता है। वास्तव में मोहनीय कर्म बड़ा ही बलवान है। इसके प्रभाव से कभी क्रोध की उछाल आ जाती है, तो कभी मान की लहर भी आ जाती है, और कभी कोई अन्य तरंग भी उठ खड़ी होती है।

पुरातन संतों के श्रीमुख की ऐसी उक्ति है कि जब लवण-समुद्र में तूफानी लहरें

---

३ हेरी मैं तो दर्द दिवानी, मेरा दर्द न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय॥

आती हैं तो हजारों देवता उन लहरों को दबाने का प्रयत्न करते हैं। वे लहरें दबती हैं या नहीं ? यह दूसरी बात है, किन्तु हमारे हृदय की लहरें तो ज्वार-भाटे की भांति उछाल मार रही हैं और एक बड़ा तूफान पैदा कर रही हैं। जब इतना भयङ्कर तूफान आता है, तो क्या होता है ? तब हम उस त्याग और संयम की दिव्यशक्ति से उस समुद्र को निरन्तर दबाते हैं। कम से कम मन के महासागर में तो यह चीज चलती ही रहती है। फिर भी कभी मन काबू से बाहर हो जाए तो उसका क्या उपाय है ? यही कि आत्म-शुद्धि करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा साधक गलती होने पर फौरन आचार्य के पास पहुंचे, तब तो ठीक है; अन्यथा स्वयं आचार्य दण्ड की व्यवस्था करते हैं और इस तरह अनुग्रह करते-करते कभी निग्रह का प्रसंग भी उपस्थित हो जाता है। अर्थात् यदि आचार्य में अनुग्रह करने की शक्ति है, तो निग्रह करने की भी शक्ति है। जब वे अनुग्रह करते हैं तो पूरा अनुग्रह, और जब दण्ड देते हैं तो वह भी पूरा और मर्यादा के अनुसार। उन्हें संघ ने यह अधिकार दिया है और उनका यह उत्तरदायित्व भी है। यदि कोई आचार्य किसी भी कारण से इस उत्तरदायित्व की उपेक्षा करता है तो वह आचार्यपद पर नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में उन्हें अपना यह पद स्वयं त्यागना होगा या संघ उनको पद-त्याग के लिए बाध्य करेगा।

अनुग्रह की तरह निग्रह भी कर्त्तव्य :

इस प्रकार उचित प्रसंग पर दोषी को दण्ड देना आचार्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है, परन्तु जब दण्ड दिया जाता है तो दण्ड पाने वाले को कष्ट होता है। जब कष्ट होता है तो वहां हिंसा होगी या अहिंसा ? यदि यह दण्ड हिंसा का सूचक है और केवल तकलीफ पहुंचना ही हिंसा है तो इस स्थिति में दण्ड देने का अधिकार आचार्य को नहीं रह जाता है। क्योंकि साधु-जीवन में हिंसा का कार्य नहीं किया जा सकता। किन्तु जब हम उस निग्रह एवं दण्ड को अहिंसा मानते हैं तो आचार्य के लिए दोषी को दण्ड देने का अधिकार सर्वथा न्याय-संगत हो जाता है। आचार्य की ओर से दिया जाने वाला दण्ड हिंसा की बुद्धि से और द्वेष की भावना से नहीं दिया जाता है। जब आचार्य निग्रह करते हैं तो शास्त्रानुसार कोई से कड़ा दण्ड देते हैं, किन्तु उनके मन में अहिंसा रहती है। दया और कल्याण की भावना लहराती है, क्योंकि उस साधक के प्रति उनकी आत्म-शुद्धि की भावना है।

बच्चा जब गन्दा हो जाता है तो माता उसे स्नान कराती है और उसके वस्त्र साफ करती है, तब वह चिल्लाता है, हल्ला मचाता है। स्नान से उसे तकलीफ होती है, किन्तु अबोधपन के कारण वह नहीं समझता कि मुझे क्यों परेशान किया जा रहा है। परन्तु जो कुछ भी किया जा रहा है, उसके सम्बन्ध में माता के हृदय से पूछिए कि वह बालक को सफाई और स्वच्छता कष्ट देने के लिए कर रही है, अर्थात्—हिंसा

के उद्देश्य से कर रही है या मन में उठी वात्सल्य की हिलोर से प्रेरित हो कर कर रही है ?

धर्म-शास्त्रों में वर्णन आया है कि आचार्य को माता और पिता का निर्मल एवं स्नेह-सिक्त हृदय रख कर साधक को दण्ड देना चाहिए, शत्रु का क्रूर हृदय[४] रख कर नहीं। दण्ड-पात्र यदि समझदार है तो वह भी यही समझता है कि जो दण्ड उसे दिया जा रहा है—वह पिता के हृदय से दिया जा रहा है और उसमें कल्याण की भावना समाविष्ट है, शत्रु की भावना तो दण्ड से कोसों दूर है। जो कल तक अनुग्रह कर रहे थे, वही आज अकारण इतने कठोर क्यों बन सकते हैं ? अस्तु, वह समझता है कि आचार्य उसे सुधारने के लिए ही इतने कठोर बने हैं; किन्तु उनकी इस कठोरता में भी करुणा की विशुद्ध भावना विद्यमान है।।

चने के पौधे को जब तक ऊपर-ऊपर से काटा नहीं जाता, तब तक वह ठीक तरह बढ़ नहीं पाता, और जब उसे ऊपर से काट-छाँट दिया जाता है तो झट उसका विकास शुरू हो जाता है। इसी प्रकार जब तक साधक की गलती पर प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता, तब तक उसका विकास रुका रहता है। किन्तु प्रायश्चित्त ले लेने पर विकास में वृद्धि होती है और उसका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। निस्सन्देह ऐसे साधक ही अपने जीवन में फलते-फूलते हैं और महान् बनते हैं।

दण्ड और दया के मध्य सन्तुलन हो

दण्ड अविचारित नहीं होना चाहिए। उस पर दया का अंकुश रहना चाहिए। समाज में व्यक्तियों की मनःस्थिति में जब तक भेद है, तब तक दण्ड मिट नहीं सकता दण्ड के बाद दया के प्रयोग व करुणा के भाव से व्यक्ति का जीवन परिवर्तित हो जाता है। रामराज्य में दण्ड साधन है, साध्य नहीं। अन्ततः दण्ड खत्म हो जाता है। भरतजी के मन में माता कैकेयी के प्रति आक्रोश था, विद्वेष नहीं। भरत के आक्रोश ने माँ की ममता को काटा और यही उन्हें अभीष्ट था। मंथरा पर लक्ष्मणानुज शत्रुघ्न ने प्रहार किया, भरत ने उसे छुड़ा दिया। दण्ड और दया के मध्य में यही सन्तुलन **'रामचरितमानस'** का आदर्श है। दोनों के सन्तुलन द्वारा ही समाज सुव्यवस्थित रह सकता है।

निग्रह भी अहिंसा का एक रूप है। वस्तुतः यह एक अपेक्षा है, जिसके बल पर जैन-धर्म कहता है कि निग्रह भी अहिंसा है। अपेक्षा तो हर जगह और हर समय

४ जं मे बुद्धाऽणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाहोत्ति पेहाए पयओ तं पडिसुणे।।
अणुसासणमोवायं दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मण्णइ पण्णो वेसं होइ असाहुणो।।'
—उत्तराध्ययन सूत्र १, २७-२८।

रहती है। निरपेक्ष वचन एकान्तमय होता है और वह जैन-धर्म को कभी मान्य नहीं है, कहीं भी स्वीकार नहीं है। जब हम इस विषय का चिन्तन की दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं, और गहराई से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि यद्यपि 'अनुग्रह' और 'निग्रह', यह दो शब्द ऊपर से अलग अलग अर्थ के वाचक मालूम पड़ते हैं। परन्तु गहराई में जाने पर अन्ततः दोनों का उद्देश्य और प्रयोजन एक ही हो जाता है। आचार्य के द्वारा साधक के हितार्थ किया हुआ निग्रह भी अनुग्रह का ही एक रूप है। इसके विपरीत कभी-कभी अनुग्रह भी हिंसा का रूप धारण कर लेता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण इस प्रकार है—

मान लीजिए, एक बच्चा बीमार है। डाक्टर ने उसे मिठाई खाने के लिए मना कर दिया है। पर उसकी माता स्नेहवश कहती है—'बेटा, मिठाई खा ले।' इस दशा में माता का यह अनुग्रह क्या होगा? तात्पर्य यह है कि हर एक जगह एक-सी बात लागू नहीं होती है। अनुग्रह तथा निग्रह दोनों ही समयानुकूल अपेक्षाकृत हैं। अतएव कभी अनुग्रह का रूप निग्रह में प्रकट हो सकता है, और कभी निग्रह का रूप अनुग्रह में हो सकता है। इसके लिए मानव-जगत् को देखना नितान्त आवश्यक है।

यहीं पर एक प्रश्न और उपस्थित होता है। यदि यह माना जाए कि निग्रह दण्ड है, और दण्ड देना हिंसा है; ऐसी स्थिति में यदि एक बारह व्रतधारी श्रावक है और वह अपने व्रत-विधान का पूरी तरह पालन कर रहा है। किन्तु साथ ही वह एक सम्राट् भी है, राजा है या अधिकारी नेता है। एक दिन उसके सामने एक जटिल समस्या आ जाती है—एकाएक आक्रमण का प्रश्न खड़ा हो जाता है। उसके देश पर कोई अत्याचारी विदेशी राजा आक्रमण कर देता है। अब वह श्रावक राजा क्या उपाय करे? जो आक्रमण करने वाला शत्रु राजा है वह द्रुतगति से चढ़ कर आने वाला है। आक्रामक के रूप में वह देश को लूटता है और प्रजाजन को पीड़ित करता है। देश की लूट के साथ वहाँ की संस्कृति और सभ्यता को भी नष्ट करता है, माताओं और बहिनों की आबरू भी बिगाड़ता है। इधर वह श्रावक राजा देश का नायक बना है और प्रजा की रक्षा का महान् उत्तरदायित्व भी लिए हुए है। तब ऐसी स्थिति में उसका क्या कर्तव्य होना चाहिए? राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति के लिए वह क्या उपाय करेगा? वह निग्रह का मार्ग अपना कर देश की समुचित रक्षा करेगा, अथवा स्वदेश की लाखों निरीह जनता को अत्याचारी आक्रामक के चरणों में अर्पण कर अन्याय के सामने मस्तक टेक देगा?

जैन-धर्म इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहता है कि इस प्रकार के प्रसंगों पर हिंसा मुख्य नहीं है, अपितु अन्याय का प्रतीकार करना मुख्य है और जनता की समुचित रक्षा ही मुख्य है। वह श्रावक राजा अपनी ओर से किसी पर व्यर्थ आक्रमण करने नहीं जाएगा। जो पड़ोसी देश व्यवस्थापूर्वक शान्ति से रह रहे हैं, वहाँ पर अपनी साम्राज्यशाही विजय का झंडा गाड़ने के लिए नहीं पहुँचेगा। किन्तु जब कोई

शत्रु बन कर उसके देश में खून बहाने आएगा; तब वह अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए लड़ने की पूरी तैयारी करेगा और अवश्य लड़ेगा। स्थूल प्राणातिपात (हिंसा) का यथास्थिति त्याग करते समय, श्रावक ऐसे रक्षात्मक संघर्ष के लिए पहले से ही छूट रखता है।

चतुर्विध हिंसा और श्रावक के लिए त्याज्य संकल्पी हिंसा

जैनाचार्यों ने हिंसा के सम्बन्ध में काफी सूक्ष्म चिन्तन किया है। उन्होंने हिंसा की व्याख्या करते हुए उसके चार भेद किए हैं—(१) संकल्पी, (२) आरम्भी, (३) उद्योगी, और (४) विरोधी।

जान-बूझकर मारने का इरादा करके किसी प्राणी को मारना—'संकल्पी हिंसा' है।

चौके-चूल्हे आदि के काम-धन्धों में जो हिंसा हो जाती है—वह 'आरम्भी हिंसा' कहलाती है।

खेती-बाड़ी, व्यापार, उद्योग आदि करते हुए जो हिंसा हो जाती है—वह 'उद्योगी हिंसा' कहलाती है। और

शत्रु का आक्रमण होने पर देश को विनाश से बचाने के लिए तथा अन्याय-अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए सुरक्षा एवं शान्ति की दृष्टि से जो युद्ध किया जाता है, और उसमें जो हिंसा हो जाती है—वह 'विरोधी हिंसा' कहलाती है।

इन चार प्रकार की हिंसाओं में से श्रावक कौन-सी हिंसा का त्याग करता है, और कौन-सी हिंसा की उसे छूट रहती है? इसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर हमें विचार करना चाहिए।

श्रावक इनमें से सिर्फ 'संकल्पी-हिंसा' का परित्याग करता है। मारने की भावना से जो निरपराध की हिंसा की जाती है, उसी का वह त्याग कर पाता है।

प्रवृत्तिपरायण श्रावक 'आरम्भी-हिंसा' का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि उसे उदर-पूर्ति आदि के लिए समय-समय पर आरम्भ-समारम्भ करना पड़ता है और उसमें हिंसा का होना स्वाभाविक है।

यही बात 'उद्योगी-हिंसा' के सम्बन्ध में भी है। आखिरकार जीविकोपार्जन के लिए काम-धन्धे करने ही होते हैं, और जब उन्हें किया जाएगा तो हिंसा का होना स्वाभाविक है। इस कारण श्रावक उसका परित्याग भी सर्वतोभावेन नहीं कर सकता।

अब रही 'विरोधी-हिंसा', सो श्रावक उसका भी परित्याग नहीं करेगा। क्योंकि उसे निर्दय शत्रुओं से अपनी, अपने परिवार की, अपने देश की, जिसकी समुचित रक्षा का महान् उत्तरदायित्व उसके ऊपर है, यथावसर रक्षा करनी ही होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि स्थूल हिंसा का त्याग करते समय श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करेगा। अर्थात् वह बिना प्रयोजन खून से हाथ

नहीं मरेगा। मारने के लिए ही किसी को नहीं मारेगा, धर्म के नाम पर किसी निर्दोष की हिंसा नहीं करेगा, और इसी प्रकार की अन्य हिंसा भी नहीं करेगा। इस कथन की पुष्टि के लिए एक पाश्चात्य दार्शनिक का अभिमत प्रस्तुत किया जा सकता है।

रस्किन ने, जो पश्चिम का एक बड़ा दार्शनिक था, उपदेशक एवं वकील आदि धन्धे की आलोचना की है। उसकी एक पुस्तक का 'सर्वोदय' नाम से महात्मा गांधी ने अनुवाद किया है। उसमें रस्किन कहता है—"सिपाही का आदर्श यह है कि वह स्वयं किसी को मारने नहीं जाता, किन्तु देश की रक्षा के लिए जब वह खड़ा होता है तब उससे किसी का कत्ल हो जाता है और कभी खुद भी कत्ल हो जाता है।"

अभिप्राय यह है कि कत्ल करना उसकी मुख्य दृष्टि नहीं है, बल्कि उसका प्रधान लक्ष्य तो रक्षा करना है और रक्षा करते-करते सम्भव है, वह दूसरे को मार दे या खुद भी मर जाए।

कुछ लोग कहते हैं कि जैन-धर्म की अहिंसा पंगु है, उसने देश को गुलाम बनाया है और देश को बिगाड़ दिया है। इस प्रकार सारी बुराइयों का उत्तरदायित्व जैन-धर्म पर डाला जाता है। परन्तु जैन-धर्म में प्रतिपादित 'अहिंसा' के वर्गीकरण का तथा उसकी विभिन्न श्रेणियों और भूमिकाओं का यदि गहराई के साथ अध्ययन किया जाए तो उन्हें ऐसा कहने का मौका नहीं मिलेगा। दुर्भाग्य से दूसरों ने तो क्या, स्वयं जैनों ने भी जैन-धर्म की अहिंसा को समझने में भयंकर भूल की है और उसे समझने का पूरी तरह प्रयत्न नहीं किया है। चूंकि उन्होंने जैन-धर्म को समझा नहीं है, तभी तो यह सब गड़बड़ हुई है और नित्य प्रति हो रही है।

रावण के अत्याचार के खिलाफ राम का युद्ध जायज था या नहीं ?

मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी की पत्नी सीता को रावण चुरा ले गया। रावण उस पर अत्याचार करना चाहता था, उसके सतीत्व को भंग करने के लिए प्रस्तुत हो रहा था। तब राम ने लंका पर आक्रमण करने के लिए सेना तैयार की। भारतीय रणनीति के अनुसार युद्ध आरम्भ करने से पहले अंगद आदि के द्वारा समझौते का सन्देश भी भेजा। रावण समझौता करने को बिल्कुल तैयार नहीं हुआ। सीता को लौटाना उसने कथमपि स्वीकार नहीं किया। ऐसी परिस्थिति में राम जैन-धर्म से पूछें कि—'मैं क्या करूं ? एक तरफ सीता की रक्षा का प्रश्न है ! अत्याचारी के आक्रमण पर प्रत्याक्रमण का प्रश्न है ! अन्याय, अत्याचार और बलात्कार के प्रतीकार का प्रश्न है ! और दूसरी तरफ युद्ध का प्रश्न है !!' यह तो स्पष्ट ही है कि युद्ध तो युद्ध ही है और जब युद्ध होगा तो हजारों माताएँ पुत्रहीना हो जाएँगी, हजारों पत्नियां अपने पति गंवा बैठेंगी, और हजारों पुत्र पिताओं से हाथ धो बैठेंगे। हजारों घरों के दीपक बुझ जाएँगे, देश के कोने-कोने में हाहाकार मच जाएगा। इस प्रकार युद्ध के लिए तो सारी जिन्दगी के लिए रोना शुरू हो जाएगा। ऐसी स्थिति में राम को क्या करना चाहिए ?

यही प्रश्न जैन-धर्म को हल करना है। इसी दुविधा का समाधान जैन-धर्म को तलाश करना है।

लोग कह सकते हैं कि ऐसे अवसर पर मौन रहना ठीक है। किन्तु राम कहते हैं—'मैं दुविधा में हूँ और निर्णय करना चाहता हूँ कि क्या करूँ?' जिससे वे पूछते हैं, व्यवस्था माँगते हैं, वही मौन धारण कर लेता है। किन्तु मौन धारण कर लेने से क्या किसी समाज की उलझी हुई समस्याओं का हल निकाला जा सकता है? फिर ऐसे विकट और नाजुक प्रसंग पर, जो धर्म मौन धारण कर लेता हो, वह क्या जीवन-व्यापी धर्म कहला सकता है? क्या यह मौन उसकी दुर्बलता का द्योतक नहीं होगा? क्या उस मौन से उसकी कार्य-क्षमता में बट्टा नहीं लगेगा? क्या यह उस धर्म का लँगड़ापन सिद्ध नहीं करेगा? ऐसे अवसर पर व्यक्ति को अपना कर्त्तव्य पहचानने के लिए क्या किसी दूसरे धर्म की शरण में जाना चाहिए? यदि जैन-धर्म वास्तव में जीवन-व्यापी धर्म है, यदि वह दुर्बल नहीं है, लँगड़ा-लूला भी नहीं है; अपितु पूर्णतया क्षमताशाली है, तो उसकी शरण में आने पर किसी दूसरे धर्म से भीख माँगने की आवश्यकता नहीं रहती। कर्त्तव्य की पुकार पर वह मौन नहीं रहेगा, उचित कर्त्तव्य की सूचना अवश्य देगा।

हाँ, तो जैन-धर्म क्या सूचना देता है, और किस ढंग से देता है? एक तरफ घोर हिंसा है! और दूसरी तरफ एकमात्र सीता की रक्षा का प्रश्न है!! इस अवसर पर रामचन्द्र सोचते हैं—'मुझे क्या करना चाहिए?' जो लोग यह समझते हैं कि जहाँ ज्यादा जीव मरते हैं, वहाँ ज्यादा हिंसा होती है। उनके इस विचार से तो रामचन्द्रजी को चुप हो कर निष्क्रिय रूप से किसी कोने में बैठ जाना चाहिए! क्योंकि युद्ध में बहुत से जीवों की हिंसा होती है और वे जीव भी एकेन्द्रिय नहीं, पंचेन्द्रिय हैं! और फिर उनमें भी अधिकांशतः मनुष्य! किन्तु जैन-धर्म ऐसा नहीं कहता। जैन-धर्म तो यह कहता है कि यदि तुम सीता को बचाने के लिए जा रहे हो तो वहाँ केवल एक सीता का ही साधारण प्रश्न नहीं है; बल्कि हजारों सीताओं की रक्षा का गम्भीर सवाल है! जिसे प्राण-पण से हल करना राम का कर्त्तव्य है। यदि आज एक गुण्डा किसी एक सती पर अत्याचार करता है तो वह वास्तव में एक ही महिला की रक्षा का प्रश्न नहीं है; अपितु उसके पीछे हजारों-लाखों गुण्डों के सामूहिक अत्याचार का गम्भीर प्रश्न है। यदि आज एक गुण्डे के अत्याचार को सिर झुका कर सहन कर लिया जाएगा तो कल सैकड़ों, और परसों हजारों गुण्डे सिर उठाएँगे, और इस प्रकार संसार में किसी सती का सतीत्व तथा मान-मर्यादा सुरक्षित नहीं रह सकेगी। दुनिया में अत्याचार, अनाचार और बलात्कार का ऐसा दौर शुरू हो जाएगा कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं होगी। फिर बेचारे धर्म को स्थान कहाँ रह जाएगा?'

अतएव राम के सामने केवल एक सीता का प्रश्न नहीं था, बल्कि हजारों सन्नारियों की रक्षा का प्रश्न था। राम को अपने भोग-विलास के लिए एक सुन्दर

युवती की आवश्यकता थी, और उसके लिए वे हजारों के गले कटवाने पर प्रस्तुत हो रहे थे ; ऐसी कल्पना स्वप्न में भी नहीं करनी चाहिए। इस स्थिति के लिए तो जैन-धर्म किसी भी तरह की स्वीकृति नहीं दे सकता। उक्त दशा में वह यही कहेगा—वासना-पूर्ति के लिए एक नारी की जीवित मूर्ति चाहिए, तो हजारों मिल सकती हैं। फिर क्यों व्यर्थ ही आग्रहवश संहार का पथ अपनाया जाए ?

राम के लिए तो यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। जैन रामायण में एक वर्णन आता है कि रावण ने राम के पास सन्देश भेजा था कि 'एक सीता को रहने दो। मैं उस एक के बदले में कई हजार सुन्दर कुमारिकाएँ तुम्हारे लिए भेज दूँगा। तुम आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करना। मैं आनन्द की सब सामग्री भी तुम्हें दे दूँगा, मात्र सीता को छोड़ दो।' किन्तु उस समय राम के सामने भोग-विलास का प्रश्न नहीं था। वे इस दृष्टि से सीता को पाने का प्रयत्न नहीं कर रहे थे। वे तो अपने पुनीत कर्त्तव्य का पालन कर रहे थे। वे तो अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए कटिबद्ध हो रहे थे। एक पत्नी और एक नारी के अपमान की रक्षा के लिए उन्होंने प्रण किया था कि प्राण दे कर भी उसकी रक्षा करना है। यदि राम इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए सन्नद्ध हैं तो यह गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का पालन है और उस मर्यादा का पालन करते समय जैन-धर्म हिंसा या अहिंसा की दुहाई दे कर किसी का हाथ नहीं पकड़ता है, न मौन ही साधता है।

राम ने रावण के साथ युद्ध किया, परन्तु युद्ध करना उनका उद्देश्य नहीं था। सीता को प्राप्त करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। उस अवसर पर वे अपने कर्त्तव्य की प्रेरणा की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में युद्ध का उत्तरदायित्व राम पर पड़ता है या रावण पर ? रावण स्वयं अत्याचार करने को तैयार होता है और उसके सामने माताओं तथा बहनों के पवित्र सतीत्व का कोई मूल्य नहीं है। उधर राम कहते हैं—"मुझे कुछ नहीं चाहिए। न तो पृथ्वी चाहिए, न सुन्दर ललनाएँ, और न तेरी सोने की लंका का एक रत्ती भर सोना ही चाहिए। मुझे तो मेरी सीता लौटा दे।" जब राम की यह बात पूरी नहीं हुई तो अन्त में युद्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि राम ने सती और सतीत्व की रक्षा के लिए ही अत्याचार से युद्ध किया था। तो जैन-धर्म कर्त्तव्य की दृष्टि से—रामचन्द्र को युद्ध से नहीं रोकता है। अहिंसावादी जैन-धर्म अत्याचारी को न्यायोचित दण्ड देने का अधिकार, गृहस्थ को देता है।

इस कथन का मूल अभिप्राय यह है कि गृहस्थ श्रावक की भूमिकाएँ कितनी भी ऊँची क्यों न हो, किन्तु जैन-धर्म का आदेश स्पष्ट है कि जो अन्यायी हो, अत्याचारी हो, विरोधी हो, केवल मानसिक विरोधी नहीं, वास्तविक विरोधी हो, समाज का द्रोही हो—उसे यथोचित दण्ड देने का अधिकार श्रावक हर समय रखता है। परन्तु उस अवसर पर श्रावक को राग-द्वेष की हीन भावना से कार्य नहीं करना है; अपितु कर्त्तव्य की उच्च भावना को सामने रखना है। यदि वह ऐसा सोचता है कि शत्रु का भी

कल्याण हो, संघ और समाज का भी भला हो, तो वहाँ भी उस अंश में अहिंसा की सुगन्ध आती है। शत्रु के प्रति हित-बुद्धि रखते हुए उसे होश में लाने के लिए दण्ड दिया जा सकता है, यह कोई अटपटी और असंगत बात नहीं है। यह तो अहिंसक साधक की सुन्दर जीवन कला है।

कृष्ण का कार्य हिंसावर्द्धक या हिंसा निवारक ?

मुझे उत्तर-प्रदेश और पंजाब आदि प्रान्तों में अधिक घूमने का मौका मिला है। वहाँ राष्ट्रीय स्वयं-सेवकसंघ वालों की चर्चाएँ ज्यादा होती हैं। कृष्ण को युद्ध का देवता माना जाता है। "महाभारतयुद्ध के मूल प्रेरक एवं नेता कृष्ण हैं। उनकी प्रेरणा पर ही महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमें नर-संहार की कोई सीमा न रही। उनकी शंख-ध्वनि में प्रलय का अट्टहास गूँजता था। अतः हमें जीवन के लिए कृष्ण के आचार को ही कर्त्तव्यबिन्दु मानना है।" कुछ लोगों को ऐसा कहते हुए सुना है। अनेक बार इस प्रसंग को ले कर जैन-धर्म और उसकी अहिंसा पर बहुत ही भद्दी छींटाकशी भी की जाती है।

संयोगवश जब मेरा उनसे वास्ता पड़ा तो मैंने कहा—आपने कृष्ण के मार्ग को ठीक-ठीक नहीं समझा है और उनके जीवन से कुछ नहीं सीखा है। कृष्ण का मार्ग तो जैन-धर्म का ही एक आंशिक रूप है। जब आप कृष्ण के जीवन पर चलते हैं तो वस्तुतः जैन-धर्म पर ही चलते हैं; और जब जैन-धर्म पर चलते हैं तो कृष्ण के मार्ग पर चलते हैं। महाभारत का युद्ध होने से पहले जब पाँचों पाण्डव वनवास की अवधि समाप्त कर कृष्ण के पास द्वारिका में आ जाते हैं तो दुर्योधन आदि को समझाने के लिए पहले पुरोहित भेजा जाता है। किन्तु जब उसे कामयाबी नहीं होती है, तो उसके बाद कृष्ण स्वयं शान्तिदूत का कार्य करने को तैयार होते हैं। कृष्ण क्या साधारण व्यक्ति थे ? वे उस युग के प्रवर्त्तक थे। तत्कालीन कर्म-क्षेत्र में सबसे बड़े कर्मयोगी थे और सबसे बड़े सम्राट् थे। वे स्वयं दूत बन कर दुर्योधन की सभा में जाते हैं।

यदि कभी आपके ऊपर ऐसा काम पड़ जाए तो आप यही कहेंगे—'हमें क्या पड़ी है ? ऐसे छोटे काम के लिए भला क्यों नाहक अपनी नाक छोटी करवाएँ ?' इस प्रकार दूसरों के लिए दूत-कर्त्तव्य का दायित्व आ जाने पर साधारण आदमी की नाक पर भी सिकुड़न आ जाती है।

परन्तु कृष्ण ने अपनी मान-मर्यादा की कोई परवाह नहीं की, अपनी प्रतिष्ठा का कुछ भी विचार नहीं किया और दूत बनकर दुर्योधन के पास निस्संकोच चले गये। दुर्योधन की सभा में पहुँच कर उन्होंने जो भाषण दिया, वह संसार के भाषणों में अपना विशेष महत्त्व रखता है। महाभारत के अध्ययन में जब मैंने यह भाषण पढ़ा तो मैं गद्गद हो गया। उन्होंने कहा—"मैं रक्त की नदी नहीं बहाना चाहता। रक्त की नदी बहाते हुए जो बीभत्सरूप दिखाई देता है, उसे मैं अपनी आँखों से देखना नहीं चाहता। मैं नहीं चाहता कि नौजवानों की शक्ति व्यर्थ ही खत्म हो जाए,

बड़े-बूढ़ों की इज्जत खत्म हो जाए और हजारों-लाखों माताओं, बहनों को जीवन-भर रोना पड़े। दुर्योधन ; तुम अन्याय कर रहे हो ! अत्याचार पर उतारू हो गये हो !! यह मार्ग ठीक नहीं है। वस्तुतः राज्य पर तो पाण्डवों का ही अधिकार है। यदि तुम उनका पूरा राज्य उन्हें नहीं लौटाना चाहते हो, तो सिर्फ पाँच गाँव ही उन्हें दे दो। मैं पाण्डवों को समझा दूँगा और उन्हें इतने में ही सन्तुष्ट कर लूँगा।"

जो कृष्ण दुर्योधन के सामने युद्ध को टालने के लिए इस प्रकार झोली फैला कर खड़े होते हैं, वे हिंसा के देवता हैं या अहिंसा के ? उन्होंने युद्धजन्य हिंसा को टालने का कितना अथक प्रयत्न किया ! जो आगे आने वाली भयंकर हिंसा है, उसके विरोध-स्वरूप उनके कोमल हृदय में कितनी ऊँची अहिंसा छिपी है ? पाँच गाँव का समझौता कितने बलिदानपूर्वक किया जाता है—इसका अन्दाज, तो इसकी गहराई में उतर कर देखने से ही लग सकता है।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण हिंसा के राक्षस नहीं थे, बल्कि अहिंसा के साक्षात् देवता थे। किन्तु जब उनकी नहीं चली और दुर्योधन की दुर्बुद्धि से कोई समझौता नहीं हो सका तो विवश हो कर लड़ाई लड़नी ही पड़ी। वह लड़ाई राज्य-सुख के लिए नहीं लड़ी गई। अन्याय और अत्याचार को रोकने का जब कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया, तब युद्ध का मार्ग अपनाया गया। इस स्थिति में हम कृष्ण को अहिंसा की दृष्टि से देवता के रूप में, और दुर्योधन को हिंसा की दृष्टि से राक्षस के रूप में देखते हैं।

इन सब बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि केवल अनुग्रह ही अहिंसा नहीं है और अहिंसा का दायरा भी इतना छोटा नहीं है कि मात्र कष्ट न पहुँचाना और सांत्वना देना ही अहिंसा हो, बल्कि अत्याचार को रोकने का प्रश्न उपस्थित होने पर एक अंश में, निग्रह भी अहिंसा का रूप धारण कर लेता है। जैन-धर्म अनेकान्तवादी है ; जब हम उसे उसी दृष्टि से देखेंगे, तभी उसका सही रूप दिखाई देगा और हमारी समस्त भ्रान्तिपूर्ण भावनाओं का समुचित समाधान हो जाएगा।

७ युद्ध, दण्ड और अहिंसा

जीवन, जीवन है। सिद्धान्त और आदर्श जीवन के लिए होते हैं; जीवन, सिद्धान्त और आदर्श के लिए नहीं होता। जीवन के समक्ष सबसे विकट समस्या यह है कि उसे सुखमय बनाने के साधन क्या और कैसे होने चाहिए? अतः भारतीय संस्कृति में, भारतीय धर्मों और भारतीय दर्शनों में जीवन और जगत् के सम्बन्ध में बड़ी गंभीरता से विचार किया गया है। जीवन चेतन है और जगत् जड़-चेतन-उभयात्मक है। अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने की भावना प्रत्येक चेतन में विद्यमान रहती है। सुखी चेतन ही अपने जीवन से प्रीति करता हो, यह बात नहीं है। दुःखी चेतन भी अपने जीवन से उतनी ही अधिक प्रीति करता है, जितनी कि सुखी चेतन करता है। अपना जीवन सबको प्रिय होता है। जीवन में स्वभावतः ही प्रेम, अहिंसा और मैत्री का भाव रहता है। अहिंसा, एक वह तत्त्व है, जिसकी सत्ता अनन्त-अनन्त काल से प्रत्येक चेतन में रही है और अनन्तकाल तक रहेगी। अहिंसा, एक वह परब्रह्म है, जो जगत् के प्राण-प्राण में और चेतन-अचेतन में परिव्याप्त रहता है। यह बात अलग है कि उसकी अभिव्यक्ति परिस्थितिविशेष में कहीं पर अधिक होती है, तो कहीं पर कम होती है, पर उसकी सत्ता चेतनजगत् में सर्वत्र रहती है। जगत् का एक भी चेतन प्रीति एवं प्रेम से शून्य नहीं है। अपने प्रति और दूसरे के प्रति मनुष्य के मन में जो सहज प्रीति-भाव है, वस्तुतः वही अहिंसा है।

अहिंसा : एक प्रश्न ?

अहिंसा के समक्ष आज जितने प्रश्न पर्वताकार बन कर खड़े हैं, या खड़े कर दिए गए हैं; सम्भव है, सुदूर अतीत में इतने प्रश्न कभी न बोझी रहे हों। आज वैचारिक जगत् क्या, पारिवारिक क्या, सामाजिक क्या, राष्ट्रीय क्या और अन्तर्राष्ट्रीय क्या—सर्वत्र उलझी कड़ियों को आज का प्रबुद्ध मानव अहिंसा के माध्यम से ही सुलझाना चाहता है। इस प्रलयंकर एवं भयंकर अणु-युग में अहिंसा ही मानव-जीवन के लिए आशा का मंगलप्रदीप है। मानव-जीवन के क्षितिज पर जब-जब निराशा के काले कजरारे मेघ छाए हैं, तब-तब उसने अपने जीवन की दुरूह समस्याओं के लिए दो पंथों का ही चयन किया है—शान्ति और युद्ध। जीवन की उलझी समस्याओं का सही समाधान किसमें है, शान्ति में अथवा युद्ध में? यह एक विकट प्रश्न है। आज फिर इसी सन्दर्भ में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि क्या अहिंसा के द्वारा राष्ट्र की

सुरक्षा की जा सकती है ? क्या राष्ट्र पर किए गए आक्रमण का प्रतिकार अहिंसा के द्वारा सम्भव है ?

सिद्धान्त और आदर्श :

परन्तु प्रश्न है कि क्या वह स्थिति वर्तमान में संभव है ? आदर्श अपने में महान् है, परन्तु उसकी योग्य भूमिका के हुए बिना आदर्श का अतिरेक मनुष्य-जाति को भ्रान्ति के वात्याचक्र में उलझा देता है। आदर्श, आदर्श है, वह व्यवहार में कब, कहाँ, कैसे और कितना उतरता है, यह गम्भीर विचार की अपेक्षा रखता है। आदर्श, व्यवहार में उतरना चाहिए, यह एक सुन्दर एवं आवश्यक सिद्धान्त है, किन्तु किस स्थिति का व्यक्ति उस आदर्श को अपने जीवन में कितना उतार सकता है, यह उसकी अपनी नैतिक अन्तःस्फूर्त शक्ति और देश-काल की परिस्थिति पर निर्भर करता है। हमें यह कभी नहीं भूल जाना चाहिए, कि आदर्श और सिद्धान्त पहले व्यक्ति के जीवन में उतरता है और फिर व्यक्ति के माध्यम से ही, वह धीरे-धीरे अंशानुक्रम से समाज और राष्ट्र के जीवन में प्रवेश पाता है। प्रवेश पाता है, यह अभी सम्भावना ही है। अब तक का मानव-जाति का इतिहास तो ऐसी कोई साक्षी नहीं देता है। अतः राष्ट्र पर किए गए क्रूर एवं अधर्म आक्रमण के समय प्रतिकार-स्वरूप एक ओर युद्ध है और दूसरी ओर अहिंसा है। इन दोनों में से किसका चुनाव करना, इसका निर्णय बहुत कुछ राष्ट्रीय-चेतना और उसके देशकाल की परिस्थिति पर निर्भर करता है। अतः समाज और राष्ट्र का सम्मान और सांस्कृतिक जीवन जिस किसी भी यथाप्राप्त उपाय से अक्षुण्ण रह सके, उस प्रकार का प्रयत्न ही उस युग के व्यक्ति और समाज का कर्त्तव्य है।

एक व्यक्ति इतना ऊँचा हो सकता है कि अहिंसा के उच्च आदर्श के लिए सर्वस्व निछावर कर दे, और प्रतिफल की कुछ भी कामना न करे। इस प्रकार उसे अपने आपको होम देने का पूरा हक है। किन्तु समग्र समाज और राष्ट्र से तो यह आशा नहीं की जा सकती। समाज तथा राष्ट्र का आध्यात्मिक जीवन कभी भी एक स्तर पर विकसित नहीं होता, उसमें उतार-चढ़ाव रहता है और वह साधारण नहीं, काफी होता है। अतः उससे यह एकान्त आशा रखना कि वह समग्रभाव से अपने आपको अहिंसा के इतने ऊँचे आदर्श पर पहुँचाएगा, और प्रसन्नभाव से सर्वस्व का बलिदान कर प्रतिपक्षी के हृदय को परिवर्तन कर उसके द्वारा अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति कर सकेगा, असम्भव है। समग्र समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के द्वारा कभी भी यह तथ्य स्वीकृत नहीं हो सकता। यह ध्रुव सत्य है कि समाज और राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों की भावना और उनके जीवन का दृष्टिकोण कभी एक जैसा नहीं हो सकता। अस्तु, अहिंसा से अन्याय का प्रतिकार करने की क्षमता हर किसी में नहीं हो सकती। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति संकट के समय अपने और अपने से सम्बन्धित जनसमूह के जीवन की सुरक्षा चाहता है। और यह सुरक्षा जिस किसी भी उपाय से उसे उपलब्ध हो वह,

सब करने को तैयार हो जाता है। यह सत्य है कि कुछ महानुभाव आध्यात्मिक साधना की विशिष्ट स्थिति पर पहुँच जाएं और साथ ही यह भी सत्य है कि जीवन के अमुक प्रसंगों पर वे अपने मनोनीत आदर्शों पर चलने के लिए स्वतन्त्र हैं, पर समग्र समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र को वे अपने मनोनीत आदर्शों पर चलाने को स्वतन्त्र नहीं है। कारण स्पष्ट है कि व्यक्ति की अपनी सीमा है और समाज की अपनी सीमा है।

दण्ड और अहिंसा :

अहिंसा के उपर्युक्त सन्दर्भ में एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है—दण्ड का। एक व्यक्ति अपराधी है, समाज की नीतिमूलक वैधानिक स्थापनाओं को तोड़ता है और उच्छृंखलभाव से अपने अनैतिक स्वार्थ की पूर्ति करता है। प्रश्न है—उसे दण्ड दिया जाए या नहीं ? यदि उस अपराधी व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है, तो उसे शारीरिक, मानसिक पीड़ाएँ होती है। उसे कष्ट व परिताप होता है और कष्ट या परिताड़न देना हिंसा है और यदि दण्ड नहीं दिया जाता है, तो अन्याय को बढ़ावा मिलता है, समाज में अनैतिक कार्यों में और भी वृद्धि होती है, अन्याय-अत्याचार का प्रसार होता है और जन-जीवन असुरक्षित एवं अशान्तिपूर्ण हो कर और भी पीड़ित हो उठता है। अहिंसा का दर्शन अन्याय-प्रतीकार की इस कक्षा में क्या समाधान देता है ?

वस्तुतः अहिंसा-दर्शन हृदयपरिवर्तन का दर्शन है। वह मारने का नहीं, सुधारने का दर्शन है। वह संहार का नहीं, उद्धार एवं निर्माण का दर्शन है। अहिंसा-दर्शन का दण्ड के सम्बन्ध में कुछ ऐसा विचार है कि अपराधी के अन्दर स्नेह एवं सहानुभूति की भावना भर कर मनोवैज्ञानिक प्रणाली से उसमें सुधार किया जाए, अपराधी को मिटाने की अपेक्षा अपराध के कारणों को मिटाना, कहीं ज्यादा श्रेयस्कर है। क्योंकि अपराध एक मानसिक रोग है, जिसका इलाज प्रेम, स्नेह एवं सद्भाव के माध्यम से ही होना चाहिए। भारत सरकार ने भी अहिंसा के इस मनोवैज्ञानिक धरातल को आज के युग में युक्तियुक्त समझ कर अपनी राजनीति एवं दण्डनीति में इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। बालसुधारकेन्द्र, वनिताविकासमण्डल, कैदियों के सुधार आदि के रूप में सरकार की ओर से किए गए इस दिशा में कुछ ऐसे ही प्रयत्न हैं।

भगवान् महावीर का अहिंसा के सम्बन्ध में यह अमृतमय सन्देश है कि—पापी से पापी व्यक्ति से भी घृणा मत करो। बुरे आदमी और बुराई के बीच अन्तर करना चाहिए। बुराई सदा बुराई है, वह कभी भलाई नहीं हो सकती। परन्तु बुरा आदमी प्रसंग एवं वातावरण के अनुसार भला आदमी बन सकता है। मूल में कोई आत्मा बुरी है ही नहीं। असत्य के बीच में भी सत्य, अन्धकार के बीच में भी प्रकाश छिपा हुआ है। विष भी अपने अन्दर में अमृत को सुरक्षित रखे हुए है। अच्छे बुरे—सब में ईश्वरीय ज्योति जल रही है। अपराधी व्यक्ति में भी यह ज्योति है, किन्तु दबी हुई है। हमारा प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि वह ज्योति बाहर आए, ताकि समाज में अपराध की मनोवृत्ति का अन्धकार दूर हो।

अपराधी को कारागार की निर्मम यंत्रणाओं से भी सुधारा नहीं जा सकता। प्रायः ऐसा होता है कि अपराधी पहले से भी कहीं अधिक गलत कार्य करने की तीव्र-भावना ले कर कारागार से लौटता है। वह जरूरत से ज्यादा कड़वा हो जाता है, एक प्रकार से समाज का उद्दंड, विद्रोही और बागी हो जाता है। फाँसी आदि के रूप में दिया जाने वाला प्राणदण्ड एक प्रकार से खानूनी हत्या नहीं तो और क्या है? प्राणदंड का दंड तो सर्वथा अनुपयुक्त दंड है। कारण, भय के वश से भले ही कुछेक व्यक्ति उस प्रकार का अपराध करना छोड़ दें, किन्तु इससे उनके अन्दर में निहित अपराध की मनोवृत्ति तो समाप्त नहीं हो पाती। ऐसे में तो कभी-कभी सही न्याय भी नहीं हो पाता, और भ्रांतिवश निरपराध भी प्राणदंड का भागी हो जाता है। भगवान् महावीर ने अपने एक सन्देश में नमिराजर्षि के वक्तव्य को प्रमाणित किया है कि कभी-कभी मिथ्यादंड भी दे दिया जाता है। मूल अपराधी साफ बच जाता है और बेचारा निरपराध व्यक्ति मारा जाता है—

"अकारिणोऽत्थ वज्झंति, मुच्चई कारगो जणो।"

कल्पना कीजिए, इस स्थिति में यदि कभी निरपराध को प्राणदंड दे दिया जाए, तो क्या होगा? वह तो दुनिया से चला जाएगा, और उसके पीछे यदि कहीं सही स्थिति प्रमाणित हुई, तो न्याय के नाम पर उस निरपराध व्यक्ति के खून के धब्बे ही शेष रहेंगे! रोगों को रोगमुक्त करने के लिए रोगी को ही नष्ट कर देना, कहाँ का बौद्धिक चमत्कार है? अहिंसा-दर्शन इस प्रकार के दण्ड-विधान का विरोध करता है। उसका दृष्टिकोण है कि दण्ड देते समय अपराधी के साथ भी अहिंसा का दृष्टिकोण रखना चाहिए। उसे मानसिक रोगी मान कर उसका मानसिक उपचार होना चाहिए, ताकि वह भी एक सभ्य एवं सुसंस्कृत नागरिक बन सके। समाज के लिए उपयोगी व्यक्ति हो सके। ध्वंस महान् नहीं है, निर्माण महान् है। अपराधी से अपराधी व्यक्ति के पास भी एक उज्ज्वल चरित्र होता है, जो कि कुछ वैयक्तिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण या तो दब जाता है, अथवा अविकसित रह जाता है। अतः न्यायालय के बौद्धिक वर्ग को अहिंसा के प्रकाश में दण्ड के ऐसे उन्नत, सभ्य एवं सुसंस्कृत मनोवैज्ञानिक तरीके खोजने चाहिए, जिनसे अपराधियों का सुप्त उज्ज्वल चरित्र सजग हो कर, समाज के लिए उपादेय सिद्ध हो सके।

प्रतीकारात्मक अहिंसा का सही मार्ग

ऐसा हो सकता है कि कुछ अपराधी बहुत ही निम्न स्तर के हों, और उन पर मनोविज्ञान से सम्बन्धित भद्र प्रयोग कारगर न हो सकें, फलतः उनको शारीरिक दण्ड देना आवश्यक हो जाता है। इस अनिवार्य स्थिति में भी अहिंसा-दर्शन कहता है कि जहाँ तक हो सके, करुणा से कार्य लेना चाहिए। शारीरिक दण्ड भी सापेक्ष होना चाहिए, निरपेक्ष एवं अमर्यादित नहीं। शांत से शांत माता भी कभी-कभी उद्धत संतान को चाँटे मारने को विवश हो जाती है, क्रुद्ध भी हो जाती है, किन्तु अन्तर में उसका

सहज, सौम्य मातृत्व क्रूर नहीं हो जाता, सुकोमल ही रहता है। माता के द्वारा दिए जाने वाले शारीरिक दण्ड में भी हितबुद्धि रहती है, विवेक रहता है, एक उचित मर्यादा रहती है। भगवान् महावीर का अहिंसा-दर्शन इसी भावना को ले कर चलता है। वह मानवचेतना के संस्कार एवं परिष्कार में अन्त तक अपना विश्वास बनाए रखता है। उसका आदर्श है—अहिंसा से काम लो। यह न हो सके तो अल्प से अल्पतर हिंसा का पथ चुनो, वह भी हिंसा की भावना से नहीं, अपितु भविष्य की एक बड़ी एवं भयानक हिंसा के प्रवाह को रोकने की अहिंसाभावना से। इस प्रकार हिंसा में भी अहिंसा की दिव्यचेतना सुरक्षित रहनी चाहिए।

अन्यायपूर्ण स्थिति को सहते रहना, अन्याय एवं अत्याचार को प्रोत्साहन देना है। यह दब्बूपन का मार्ग अहिंसा का मार्ग नहीं है। कायरता कायरता है, अहिंसा नहीं है। अहिंसा मानव से अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार का न्यायोचित अधिकार नहीं छीनती है। वह कहती है, प्रतिकार करो, परन्तु प्रतिकार के आवेश में मुझे मत भूल जाओ। प्रतिकार के मूल में विरोधी के प्रति सद्भावना रहनी चाहिए, बुरी भावना नहीं। प्रेम, सद्भाव, नम्रता, आत्मत्याग अपने में एक बहुत बड़ी शक्ति है। कैसा भी प्रतिकार हो, इस शक्ति का चमत्कार एक दिन अवश्य होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

युद्ध और अहिंसा

कभी-कभी यह सुनने में आता है कि कुछेक लोग यह कहते हैं—'अहिंसा व्यक्ति को कायर बना देती है, इससे आदमी का वीरत्व एवं रक्षा का साहस ही मारा जाता है।" किन्तु यह धारणा निर्मूल एवं गलत धारणा है। आत्मरक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना, जैनधर्म के विरुद्ध नहीं है; किन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं संगठित शक्ति अवश्य ही संहारलीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बना देगी। आप आश्चर्य न करें, पिछले कुछ वर्षों से जो शस्त्रसंन्यास का आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्धसामग्री रखने को जो कहा जा रहा है, उसे तो जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो कार्य कानून एवं संविधान के द्वारा लिया जा रहा है, वह उन दिनों उपदेशों के द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े राजाओं को जैनधर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम कराया था कि वे राष्ट्ररक्षा के काम में आने वाले आवश्यक शस्त्रों से अधिक शस्त्रसंग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दंड एवं अमर्यादित बना देता है। प्रभुता की लालसा में आ कर वह कभी न कभी किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव-जगत् में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकरों ने हिंसा के मूल कारणों को ही उखाड़ने का प्रयत्न किया है। आज विज्ञान की चकाचौंध में भूला मानव भले यह गर्व करे कि एक-से-एक अधिक शक्तिशाली शस्त्रास्त्रों का निर्माण कर विज्ञान युद्ध को सदा के लिए समाप्त कर देगा; किन्तु यह मृगमरीचिका से कतई कम नहीं है। माना, विज्ञान ने कुछेक ऐसी चमत्कारी उपलब्धियों को प्रस्तुत कर

दिखाया है, कि जिनसे आज का मानव चकाचौंध में पड़ गया है। किन्तु चकाचौंध की दृष्टि कभी भी सही एवं स्थायी हितदृष्टि नहीं हो सकती।

जैन तीर्थंकरों ने कभी युद्ध का समर्थन नहीं किया। यहां अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बन कर युद्ध के समर्थन में लगते आये हैं, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग का लालच दिखाते आये है, राजा को परमेश्वर का अंश बता कर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आये हैं। वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में काफी कट्टर रहे हैं। 'प्रश्नव्याकरण' और 'भगवतीसूत्र' युद्ध के विरोध में क्या कुछ कहते हैं ? यदि थोड़ा-सा कष्ट उठा कर देखने का प्रयत्न करेंगे तो उनमें बहुत कुछ युद्धविरोधी विचारसामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते है, मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान् महावीर का कितना उत्कृष्ट भक्त था। औपपातिक सूत्र में उसकी भक्ति का चित्र चरमसीमा पर पहुँचा दिया है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल समाचार जान कर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है! किन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने वाला आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया, प्रत्युत नरक का अधिकारी बता कर उसके पापकर्मों का भंडा-फोड़ कर दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो गया था, लेकिन भगवान् महावीर ने इस बात की जरा भी परवाह नहीं की। भला, पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कर सकते थे ?

यह ठीक है कि अहिंसा मानवीय मूल्यों में सबसे बड़ा मूल्य है। जीवन का स्थायी समाधान अन्ततोगत्वा अहिंसा में ही सम्भव है। आखिर कब तक मानव-जाति खूँखार भेड़िये की तरह आपस में लड़ती-झगड़ती रहेगी, एक-दूसरे को क्षत-विक्षत करती रहेगी। युद्ध से कभी समस्या का स्थायी समाधान नहीं हो सकता। मानवता का कल्याण अहिंसा की अमृतधारा में ही है। शान्ति और अहिंसा के अभाव में मानव जाति की सुरक्षा सम्भव नहीं है। शान्ति के क्षणों में मानव-जाति हजारों वर्षों तक टिकी रह सकती है, किन्तु युद्ध की विभीषिका से आक्रान्त हो कर एक दिन भी काटना उसके लिये कठिनतर हो जाता है। जगत् का कल्याण एवं मंगल अहिंसा एवं शान्ति की अमृतगंगा में ही हो सकता है, युद्ध के दावानल में नहीं।

हृदय-परिवर्तन और अहिंसा

अहिंसा, या अन्य किसी भी आध्यात्मिक-भावना के कारण दूसरे के हृदय का बदलना, कहाँ तक सम्भव है, यह भी विचारणीय है। विरोधी का हृदय यदि तमसाच्छन्न है, खुदगर्जी की राक्षसी वृत्ति से ग्रस्त है, तो वह समय पर सहसा कैसे बदला जा सकता है ? सत्त्वगुणप्रधान भावनाशील हृदय ही अहिंसात्मक प्रतिकार का स्नेहोल्लसित अद्भुत एवं दिव्य-निमित्त पा कर बदल सकते हैं। परन्तु भूखे सिंह के समक्ष साधु और असाधु के व्यक्तित्व का क्या अन्तर है ? चित्तौड़ आदि में भारत की हजारों ही वीर नारियाँ सतीत्व की रक्षा के लिए जल कर भस्म हो गईं। भारत-विभाजन के अवसर

पर हजारों बहनों ने अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति दे दी। परन्तु प्रश्न है, आततायियों के हृदय कब और कितने बदले ? सीता जैसी साध्वी नारी भी अपने सतीत्व के प्रभाव से, अपहरणकर्ता रावण को पराङ्मुख नहीं कर सकी। अहिंसा के पूर्णावतार भगवान् महावीर गोशालक का कितना हृदय बदल पाये ? और करुणा के देवता महान् बुद्ध भी क्या देवदत्त का हृदय परिवर्तन कर सके ? महावीर अपने युग के चेटक-कोणिक युद्ध को नहीं रोक सके। बुद्ध भी शाक्य और श्रावस्ती के संहारक संघर्ष को नहीं मिटा सके। उन जैसी अहिंसा की उच्च-साधना अन्यत्र कहाँ सम्भव है, जो स्वार्थान्ध आततायियों का हृदय बदल दे और अहिंसात्मक प्रतिकार का सार्वजनीन मार्ग प्रशस्त करे ?

महावीर और अहिंसा

भौतिक क्षेत्र में कुछ अपराध-परायण लोगों के लिए शक्ति का प्रतिकार शक्ति ही है। अतएव अहिंसा के महान् वैज्ञानिक विश्लेषणकार भगवान् महावीर और उनके उत्तराधिकारियों ने गृहस्थसमाज के लिए सुरक्षा के प्रसंग में किसी प्रकार आक्रमण करने का तो निषेध किया, परन्तु दुष्ट विरोधी के आक्रमण का हिंसात्मक प्रतिकार करने के प्रति निषेध-सूत्र का एकान्त आग्रह नहीं किया। मनुष्य की अपनी भूमिका को लक्ष्य में न रख कर, केवल भावना के प्रभाव में बह जाना, फलस्वरूप किसी उच्च आदर्श को उस पर बलात् लादना और फिर उसके फलाफल की मीमांसा करना, न सिद्धान्त-संगत है और न तर्क-संगत ही। अतः इस प्रश्न पर गम्भीर विचार की आवश्यकता है।

आदर्श एवं व्यवहार

अहिंसा एक आध्यात्मिक शक्ति है, वही एक विराट् आत्म-चेतना है। वह निष्कामभाव से अपने को उत्सर्ग कर देने का महान् मार्ग है। अहिंसा के पथ पर जीवन की आहुति दी जा सकती है, दी भी गई है। परन्तु वह किसी भौतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं। क्योंकि अहिंसा और भौतिक स्वार्थों का परस्पर कोई मेल नहीं है। अहिंसा एक परम धर्म है, यह सत्य है, किन्तु स्वार्थ-लोलुप एवं क्रूर व्यक्तियों के खूनी पंजों से समाज और राष्ट्र को बचाने के लिए, कभी-कभी एक बुराई होते हुए भी युद्ध अनिवार्य हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने रावण के साथ युद्ध को रोकने का बहुत कुछ प्रयत्न किया था, पर वह रुक न सका। महाभारत के युद्ध को रोकने के लिए, श्रीकृष्ण ने कितना प्रबल शान्ति-प्रयत्न किया था, पर उनको अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। व्यक्ति के जीवन की मर्यादा समाज और राष्ट्र की मर्यादा से भिन्न है। युद्ध और अहिंसा मानव-जाति की एक ऐसी समस्या है, जिसका अभी तक मौलिक समाधान नहीं निकल पाया है। इसका मूल कारण है, सामूहिक जीवन में आदर्श और व्यवहार की विषमता। समाज का आदर्श ऊँचा हो, यह आवश्यक है, परन्तु वह सम्भवित हो, यह भी तो आवश्यक है !

युद्धविशेष और अहिंसा

प्रस्तुत चर्चा में एक बात खास-तौर से समझने जैसी है। वह यह कि सभी युद्ध एक धरातल पर नहीं होते हैं। जो युद्ध सुन्दर स्त्री पाने के लिए, दूसरों का राज्य या ऐश्वर्य हड़पने के लिए, अपने अहंकार की दुंदुभि बजाने के लिए लड़े जाते हैं, जिनमें आमूलचूल स्वार्थ की दुर्गन्ध उछलती है, वे युद्ध अधर्म-युद्ध हैं। इस प्रकार के युद्ध व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को पतन के गर्त में ले जाते हैं। उक्त युद्धों में हिंसा का ही एकान्त नग्न तांडव है। परन्तु जो युद्ध व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के लिए न हो कर दीन-दुर्बलों की रक्षा के लिए, नारीजाति के सतीत्व एवं सम्मान की रक्षा के लिए लड़े जाते हैं, जो युद्ध अन्याय एवं अत्याचार के प्रतीकारस्वरूप होते हैं, उन्हें भी अधर्म-युद्ध की कोटि में रखना, किसी भी तरह धर्मसंगत नहीं है। जो लोग राम-रावण के युद्ध को, अभी-अभी बांगलादेश के रक्षार्थ लड़े गए भारत-पाक-युद्ध को, दोनों पक्षों के लिए एक जैसा ही पापरूप मानते हैं, उन्हें क्या कहा जाए? स्पष्ट है, जो युद्ध अपने लिए किसी स्वार्थ के एकमात्र अन्याय के प्रतीकार के लिए, अत्याचार से पीड़ितों की रक्षा के लिये लड़ा जाता है, उसमें बाह्य हिंसा के साथ अन्दर में अहिंसा का निर्मल स्रोत भी प्रवाहित है।

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न उतना मुख्य नहीं है जितना कि विवेक और अविवेक का प्रश्न मुख्य है। विवेक के अभाव में अहिंसा भी हिंसा हो जाती है, और विवेक के सद्भाव में हिंसा भी अन्दर में अहिंसा का रूप ले सकती है। इसलिए तो कहा है—जयणा धम्मस्स जयणी।' यतना धर्म की मां है। यतना अर्थात् देश, काल परिस्थिति के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य का उचित विवेक।

८ | अहिंसा की कसौटी

धर्म चाहे कोई भी हो, जैन अथवा अजैनेतर, यदि गहराई के साथ उसका अध्ययन मनन, और चिन्तन किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि प्रत्येक धर्म का प्राण या हृदय अहिंसा ही है।

किसी का शरीर कितना ही बलवान और लम्बा-चौड़ा क्यों न हो, जब तक हृदय उसमें अपना काम करता रहता है, अर्थात् धक्-धक् करता रहता है, तभी तक वह चलता है और उसका एक-एक अंग हरकत करता है। तभी तक उसका शरीर क्रियाशील है और उस पर उस व्यक्ति का अधिकार है। किन्तु ज्यों ही हृदय की गति में जरा भी गड़बड़ी हुई, हृदय का स्पन्दन जरा-सी देर के लिए भी रुका कि यह भारी-भरकम शरीर सहसा बेकार हो जाता है। सड़क पर चलता-चलता लुढ़क जाता है।

यद्यपि हृदय, शरीर में छोटी-सी जगह रखता है, फिर भी सारे शरीर का उत्तरदायित्व, सम्पूर्ण प्राणशक्ति, उसी में केन्द्रित है। यदि हृदय धक्-धक् करता रहेगा और रक्त को ठीक-ठीक फेंकता रहेगा, तो प्राणों की झंकार रहेगी, शरीर चैतन्य रहेगा यदि हृदय गुम हो जाए, उसकी हरकत बन्द हो जाए, वह काम करना छोड़ दे—तो क्या फिर शरीर स्थिर रह सकेगा? कदापि नहीं। क्रियाशील शरीर के स्थान पर निष्क्रिय लाश-मात्र रह जाएगी। शरीर तभी तक रहता है, जब तक आत्मा उसमें स्थिर है। आत्मा के निकल जाने के बाद शरीर शरीर नहीं रहता।

अहिंसारहित धर्म धर्म नहीं

आगमों की परिभाषा में भी हृदयहीन शरीर, शरीर नहीं कहलाता। आगमकार एक-एक इंच नाप कर चलते हैं और जिनके पदचिन्हों को देख कर आज हम चलते हैं, वे यही कहते हैं कि जब तक शरीर में आत्मा है; तभी तक शरीर, शरीर है। जब आत्मा निकल जाती है, तो वह मिट्टी का ढेर है। भूतकाल के दृष्टिकोण से भले ही स्थूल भाषा में उसे शरीर कहते रहें। जो बातें शरीर के सम्बन्ध में देखी और सोची जाती हैं, वही धर्म के सम्बन्ध में भी पाई जाती हैं। कोई धर्म कितना ही ऊँचा क्यों न हो, उसका क्रियाकाण्ड कितना ही उग्र और घोर क्यों न हो, उसकी तपस्या कितनी ही तीव्र क्यों न हो, और ऐसा

भी क्यों न जान पड़ता हो कि दुनिया की समस्त साधनाओं का गहन बोझ उस धर्म या व्यक्ति ने अपने ऊपर लाद लिया हो, किन्तु जब तक उसमें अहिंसा की भावना विद्यमान रहेगी, जीवों के प्रति दया का झरना बहता रहेगा, पीड़ितों के लिए संवेदना स्पन्दित रहेगी, तभी तक वह धर्म, वह क्रियाकाण्ड, वह तप और वह परोपकार धर्म की कोटि में गिना जायेगा, तभी तक सत्य भी धर्म है, नवकारसी से ले कर छह महीने तक की तपस्या आदि क्रियाकाण्ड भी धर्म है। यदि उसमें से अहिंसा निकल जाए तो फिर वह धर्म नहीं रहेगा, धर्म का निर्जीव-शवमात्र रहेगा, अथवा वहाँ एक प्रकार से अधर्म ही होगा। अहिंसा मूल में रहनी चाहिए, फिर चाहे वह थोड़ी हो या ज्यादा, न्यूनाधिक की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि अहिंसा का जरा भी अंश क्यों न हो, पर होना चाहिए; अन्यथा धर्म का अस्तित्व नहीं रह सकता।

कोई जीवन धर्ममय और विराट् तब ही बनता है, जब अहिंसा की भावनाएँ उसमें लहराती हों, दूसरों पर अन्तःकरण की अजस्र वर्षा होती हो, और अपने जीवन के साथ दूसरों के जीवन को भी देख कर चला जाता हो। जिस प्रकार एक व्यक्ति को जीने का हक है, उसी प्रकार दूसरों को भी जीने का हक है। जहाँ जीओ और जीने दो यह महामंत्र जीवन के कण-कण में गूँजता हो, हृदय से मेल रखते हुए चलता हो; तो समझ जाना चाहिए कि वहाँ सच्ची अहिंसा है। जहाँ यह अहिंसा रहेगी, वहीं पर धर्म रहेगा। इस अहिंसा के अभाव में धर्म टिक नहीं सकता। इसी महासत्य की ओर संकेत करते हुए भगवान् महावीर ने प्रश्नव्याकरणसूत्र के संवरद्वार में जहाँ अहिंसा का वर्णन किया है, उसे 'भगवती' कहा है।[1]

अहिंसा भगवती के दर्शन कब ?

अहिंसा को भगवती का जो रूपक दिया गया है, वह अर्थहीन नहीं है। अहिंसा वस्तुतः भगवत्स्वरूप है, पूज्या है। जितनी श्रद्धा भगवान् के प्रति रखी जाती है, जितना प्रेम और जितना स्नेह भगवान् के प्रति होता है, उतना ही स्नेह और श्रद्धा साधक के मन में अहिंसा के प्रति भी होनी चाहिए। अहिंसा पूजा की चीज है, वह श्रद्धा का केन्द्र है।

अब प्रश्न उठता है कि भगवान् के दर्शन कब होंगे ? उत्तर सीधा है—जब अहिंसा के दर्शन कर लोगे, तभी भगवान् के दर्शन होंगे। अहिंसा के दर्शन करे नहीं, अहिंसा की झाँकी देखे नहीं और यदि कोई उसे ठुकराता चले, उसकी ओर से पीठ मोड़ कर चले, तो भगवान् के दर्शन कैसे होंगे !

सबसे बड़े भगवान् तो अन्दर बैठे हैं, उनके ऊपर विकार-वासनाओं का पर्दा पड़ा है। आत्म-देव, जो सबसे बड़े भगवान् हैं, अन्दर ही तो बैठे हैं, इसी शरीर

---

१ 'एसा सा भगवती अहिंसा जा सा भीयाणं विव सरणं०।'

के अन्दर ही तो विराजमान हैं ! किन्तु दुर्भाग्य से, अनादिकाल से हिंसा का पर्दा पड़ा हुआ है, काला लबादा पहिन रखा है और वह पर्दा नख से शिख तक पड़ा हुआ है। फिर आत्म-देव के दर्शन हों तो कैसे हों ? यदि उस आत्म-देव के दर्शन करना है तो हिंसा के काले पर्दे को उतारना होगा। जितने अंशों में वह कम होता जाएगा, उतने ही अंशों में आत्मा के दर्शन होते जाएंगे और उतने ही अंशों में फिर भगवान् का भी साक्षात्कार होता चला जाएगा। श्रावक बनने वाला व्यक्ति यदि श्रावक के रूप में पूरी अहिंसा नहीं पाल सकता, हिंसा का पूरा पर्दा नहीं उतार सकता तो भी जितना बन सके, उतना ही उतारने का प्रयास उसे करना चाहिए।

अहिंसा भगवती की पूजा के लिए अन्यत्र कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं, किसी खास समय की भी जरूरत नहीं। दुकान में बैठ कर या घर में रह कर कहीं उसकी पूजा हो सकती है। जीवन के प्रत्येक क्षण में और प्रत्येक व्यापार में अहिंसा की पूजा-प्रतिष्ठा हो सकती है। अपनी मनोवृत्तियों को, अपने कर्मों को अहिंसा की तराजू पर ही तौलना श्रेयस्कर है। अहिंसा के प्रति गहरी और आग्रह-भरी भावना चित्त में उत्पन्न करनी चाहिए।

अहिंसा ही परब्रह्म है

आचार्य समन्तभद्र, जो जैन-जगत् में एक बहुत बड़े दार्शनिक हो चुके हैं और जिनकी विचारधाराएँ गम्भीररूप में हमारे सामने आज भी मौजूद हैं उन्होंने जब भी कुछ कहा, आत्मा की झाँकी खोल कर कहा। अहिंसा के सम्बन्ध में उनका एक बड़ा हृदयस्पर्शी बोल है—वह परब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा कौन है ? कहाँ है ? और किस रूप में है ? इस प्रश्नावली के उत्तर में आचार्य स्वयं कहते हैं—'इस संसार के प्राणियों के लिए, साधारण प्राणियों के लिए और जो भी विशिष्ट साधक हैं, उनके लिए भी साक्षात् परमब्रह्म अहिंसा है।'[२] अहिंसा की उपासना एवं सेवा के अभाव में भगवान् की उपासना या सेवा एक अविवेक हो सकती है, एक भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु सच्ची उपासना एवं सेवा कदापि नहीं हो सकती।

अहिंसा को जब भगवान् कहा है तो वह अपने आप में स्वतः अनन्त हो गई, क्योंकि जो भगवान् होता है, वह अनन्त होता है। जिसका अन्त आ गया, वह भगवान् कैसा ? जिसकी सीमा बँध गई हो, वह और कुछ भले ही हो, किन्तु भगवान् कदापि नहीं हो सकता। आत्मा में अनन्त गुण हैं। भगवान् होने के लिए उनमें से प्रत्येक गुण को भी अपने असली रूप में अनन्त होना चाहिए। आत्मा में एक विशेष गुण ज्ञान है। जब यह ज्ञानगुण अनन्त और असीम बन जाता है, तभी भगवान् बना जा सकता है। इसी प्रकार जब चारित्र में अनन्तता आ जाती है, दर्शनगुण, वीर्य और दूसरे प्रत्येक

२ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् —बृहत्स्वयम्भू-स्तोत्र

गुण जब अनन्त बन जाते हैं, तब साधक को भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होती है। अहिंसा जब भगवान् है, परम ब्रह्म है तो अनन्त है, और जीव अनन्त है तो उसकी पूरी व्याख्या एक साधारण जीव न तो जान सकता है और न कह ही सकता है। केवलज्ञानी भी अहिंसा के पूर्ण रूप को जानते तो हैं, किन्तु वाणी के द्वारा पूर्णतः व्यक्त वे भी नहीं कर सकते। इस भू-मण्डल पर अनन्त-अनन्त तीर्थंकर अवतरित हो चुके हैं, किन्तु अहिंसा का परिपूर्ण रूप जानते हुए भी किसी के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सका, तो फिर एक सामान्य व्यक्ति द्वारा तो कहना ही कहाँ हो सकता है? सामान्य व्यक्ति अहिंसा भगवती के उस अनन्त रूप की झाँकी देख ही कहाँ पाता है?

अहिंसा की भी एक विराट् झाँकी है, वह झाँकी इतनी विशाल और विस्तृत है कि उसका नेत्रों से ओझल होना असम्भव है, अतः अहिंसा एक बड़ी से बड़ी अलौकिक विभूति है। शास्त्रों को पढ़ने के बाद पढ़ने वाले को जान पड़ता है कि उसने बड़ी से बड़ी बारीकी तक को पहचान ली। मगर जिन्होंने उसे पहचाना है, वे बतलाते हैं कि यह तो अनन्तवाँ भाग ही कहा गया है! महासमुद्र में से केवल एक ही बूँद बाहर फेंकी गई है! यह अनन्तवाँ भाग और एक बूँद जो भी शास्त्रों में आई है, बड़े विस्तार से है। वह पूरा पढ़ा भी नहीं गया है और समझा भी नहीं गया है, किन्तु जो कुछ भी थोड़ा-सा पढ़ा और समझा गया है, वह भी किसी को पूर्णतः समझाया नहीं जा सकता। फिर भी मुझे जो कुछ समझाने का अवसर मिले, उसे आपको धैर्य के साथ समझने की कोशिश करनी चाहिए।

अहिंसा की प्रथम झाँकी कब?

उस विराट् अहिंसा का दिव्य-स्वरूप आपको समझना है और यह तय करना है कि आपको मानव बनना है या दानव? यह किसी भी व्यक्ति के लिए बहुत आवश्यक है। जब मनुष्य के सामने मानवता और दानवता में से किसी एक को चुन लेने का सवाल उपस्थित होता है तो उसी क्षण अहिंसा सामने आ कर खड़ी हो जाती है। अनादिकाल से प्राणी मानवता के सत्-मार्ग को छोड़ कर दानवता के कुपथ पर भटक रहा है, और कहीं-कहीं तो दानवता के आवेश में इतनी बीभत्स हिंसा भी कर चुका है कि जमीन को उसने निरीह प्राणियों के खून से तर कर दिया है। फिर भी उसे इस संकल्प की याद नहीं आई कि—वह मानव बने या दानव? इस गति से यह जीव एक दिन उस एकेन्द्रिय और निगोद दशा में पड़ गया, जहाँ अपना रक्षण करना भी उसके लिए मुश्किल हो गया।

संसारचक्र में भटकता हुआ यह प्राणी किस गति और किस स्थिति में नहीं रहा है? इस असीम संसार में जितनी भी गतियाँ, स्थितियाँ और योनियाँ हैं, उन सब में एक-एक बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार यह गया और आज भी जा रहा है।[3]

---

३ देखिये, भगवती सूत्र १२, ७, ४५७।

किन्तु किसी भी स्थिति में यह संकल्प नहीं जागा कि उसे बनना क्या है—मानव या दानव ? जिस दिन आत्मा के सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि उसे क्या बनना है, उसी समय अहिंसा सामने आती है और कहती है—'यदि तुझे इन्सान बनना है तो मुझे स्वीकार कर, मेरा अनुसरण कर, मेरे चरणों की पूजा कर, और मेरे चरणों पर अपना जीवन उत्सर्ग कर।'

अपनी जिन्दगी को यदि इन्सानियत के आदर्श साँचे में ढालना हो और मानवता के महान् स्वरूप को प्राप्त करना हो, तो समझना चाहिए कि अहिंसा के बिना प्राणी, मानव नहीं बन सकता। इस मिट्टी के ढेर की जीव ने अनन्त-अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ दिया। इस प्रकार के ग्रहण करने और छोड़ देने से मानवता के रूप में अहिंसा की प्रथम झाँकी भी नहीं आती। अहिंसा की ज्योति मानव-मन में तभी जागृत होती है, जब वह अपने ही समान दूसरों की जिन्दगी को समझने के लिए तैयार होता है। जब मनुष्य अपने ही समान दूसरों की पीड़ाओं, सुख-दुःखों और इच्छाओं की अनुभूति करता है, तभी उसमें आनन्द व प्रेम का स्रोत प्रवाहित होता है। इसलिए भारतीय संस्कृति का स्वर सदैव पुकारता रहा है—मनुष्य ! तेरा आनन्द स्वयं-सुख के भोग में नहीं है, स्वयं की इच्छापूर्ति में ही तुम्हारी परितृप्ति नहीं है, किन्तु दूसरों के सुख में ही तुम्हारा आनन्द छिपा हुआ है, दूसरों की परितृप्ति में ही तुम्हारी परितृप्ति है। तुम्हारे पास जो धन-सम्पत्ति है, शक्ति है, बुद्धि है, वह किसलिए है ? तेरे पास जो ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि है, उसका हेतु क्या है ? क्या स्वयं की सुख-सुविधा के लिए ही यह सब कुछ है ? अपने सुखभोग के लिए तो एक पशु भी अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार स्वयं की सुरक्षा करता है, इच्छा-पूर्ति करता है। फिर पशुता और मानवता में क्या अन्तर है ? मनुष्य का वास्तविक आनन्द स्वयं के सुखोपयोग में नहीं, बल्कि दूसरों को अर्पण करने में है। मनुष्य के अपने पास जो उपलब्धि है, वह अपने बन्धु के लिए है, पड़ौसी के लिए है। अपने ही समान दूसरे चैतन्य के लिए समर्पण करने में जो सुख और आनन्द की अनुभूति होती है, वही अहिंसा भगवती की प्रथम झांकी है, जो मानवता के माध्यम से आती है। जब मनुष्य में इस प्रकार की इन्सानियत आ जाती है, तभी समझना चाहिए कि उसने अहिंसा परब्रह्म की पहली झाँकी कर ली है, और जितना-जितना वह अहिंसा परब्रह्म के विराट् रूप के निकट जाता है, जीवन में उतारता जाता है, उतनी-उतनी उसके अन्दर भगवत्-चेतना जागती जाती है, और तब वे दुष्कर्म और पाप जो उसे सब ओर से घेरे खड़े होते हैं, दुरन्त मार्ग खड़े होते हैं, सारी क्षुद्रताएँ मिट जाती हैं।

बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण का नाम सुना होगा आपने ? एक व्यक्ति उनकी उदार एवं दयालु माता के दर्शन करने के लिए घर पर पहुँचा। जब विद्याभूषण की माता उस श्रद्धालु सज्जन के सामने आईं, तो वह आँखें फाड़-फाड़ कर उसके हाथों की ओर देखने लगा। माताजी ने उसकी इस उत्कट

जिज्ञासा का कारण पूछा, तो वह बोला—"सतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे धनाढ्य विद्वान् की माँ के हाथों में हीरे और मोती के स्वर्ण-आभूषण की जगह पीतल के आभूषण देख कर मैं चकित हूँ कि यह क्या है, क्यों है ? आपके हाथों में यह शोभा नहीं देते ।"

माता ने गम्भीरता से कहा—"बेटा ! इन हाथों की शोभा तो दुष्काल के समय बंगपुत्रों को मुक्तभाव से अन्न-वस्त्र अर्पण करने में थी । सेवा ही इन हाथों की सच्ची शोभा है । सोना और चाँदी हाथ की शोभा और सुन्दरता का कारण नहीं होता ।"

मनुष्यता का यह एक रूप है । जो देवी अपने हाथ के आभूषण उतार कर भूखे-प्यासे बन्धुओं के पेट की ज्वाला को शान्त करती है, उनके सुख में ही अपना सुख देखती है, वह सच्ची मानव-देहधारिणी देवी है ।

भारतीय संस्कृति में यह समर्पण की भावना, करुणा और दान के रूप में विकसित हुई है । करुणा मानव-आत्मा का मूल स्वर है । किन्तु खेद है, उस करुणा का जो सर्वव्यापक और सर्वग्राही रूप था, वह आज कुछ सीमित एवं संकीर्ण विधि-निषेधों में सिमट कर रह गया है । करुणा का अर्थ सिकुड़ गया है, काफी सिकुड़ गया है । करुणा और दया का अर्थ इतना ही नहीं है कि कुछ कीड़े-मकोड़ों की रक्षा कर ली जाए, कुछ बकरों और गायों को कसाई के हाथों से छुड़ा लिया जाए और अमुक तीर्थक्षेत्रों में मछली मारने के ठेके बन्द कर दिये जायें । अहिंसक-समाज-रचना की भावना जो आज हमारे समक्ष चल रही है, उसका मूल अभिप्राय समझना चाहिये । यह ठीक है कि पशु-दया भी करुणा का एक रूप है, पर करुणा और अहिंसा की यहीं पर इतिश्री नहीं हो जानी चाहिए, यह तो प्रारम्भ है । उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और बहुत विशाल है । हमें व्यापक दृष्टिकोण ले कर आगे बढ़ना है । अपने मन की करुणा को आस-पास, समाज में व परिवार में बाँटते चलो । जो सुख-साधन और उपलब्धियाँ आपके पास हैं, उन्हें समाज के कल्याणमार्ग में लगाते चलो । समाज की सेवा में समर्पण का जो दृष्टिकोण है, वह एक व्यापक दृष्टिकोण है । व्यक्ति सामाजिक जीवन के दूर किनारों तक अपने वैयक्तिक जीवन की लहरों को फैलाता चलता है, उन्हें समाज के साथ एकाकार करता चलता है । वह जितना ही आगे बढ़ेगा, जितना ही अपने सुख को समाज के सुख के साथ जोड़ता चलेगा, उतना ही व्यापक बनता चला जायेगा । व्यक्तिवाद का क्षुद्र घेरा तोड़ कर समाजवाद एवं समष्टिवाद के व्यापक क्षेत्र में उतरता जायेगा ।

वैदिक दर्शन में ईश्वर को सर्वव्यापक माना गया है । वह व्यापकता शरीर-दृष्टि से है, अथवा आत्म-दृष्टि से या भावदृष्टि से है ? चूँकि यह भी माना गया है हर आत्मा परमात्मा बन सकता है । प्रत्येक आत्मा में जब परमात्मा बनने की योग्यता है, तो वस्तुतः आत्मा ही ईश्वर है । आत्मा आवरण से घिरा हुआ है, इसलिए जो

अखण्ड आनन्द का स्रोत है, वह अभी दबा हुआ है, और जो प्रकाश है, वह अभी संक्षिप्त हो गया है, सीमित हो गया है, और धुंधला हो गया है। इस प्रकार दो बातें हमारे सामने आती हैं। एक यह कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है, और दूसरी यह कि परमात्मा सर्वव्यापक है। जैन-दृष्टिकोण के साथ इसका समन्वय करें तो मात्र कुछ शब्दों के जोड़-तोड़ के सिवा और विशेष अन्तर नहीं दिखाई देगा। हमारे पास समन्वयबुद्धि है, अनेकान्तदृष्टि है और वह तोड़ना नहीं, जोड़ना सिखाती है—सत्य को खण्डित करना नहीं, किन्तु पूर्ण करना बताती है। सर्वव्यापक—शब्द को हम समन्वयबुद्धि से देखें, तो इसका अर्थ होगा, आत्मा अपने स्वार्थों से निकल कर आसपास की जनता के, समाज और देश के, अन्ततः विश्व के प्राणियों के प्रति जितनी दूर तक दया, करुणा और सद्भावना की धारा बहाता चला जाता है, प्रेम और समर्पण की वृत्ति जितनी दूर तक जगाता चला जाता है, उतना ही वह व्यापक बनता जाता है। हम आन्तरिक जगत् में कितने व्यापक बनते जायेंगे, अहिंसा की हमारी ये सद्वृत्तियाँ जितनी दूर तक विस्तार पाती जाएँगी और उनमें जन-हित की सीमा जितनी व्यापक होती जाएगी, उतना ही ईश्वरीय अंश हमारे अन्दर प्रकट होता जाएगा। जितना-जितना ईश्वरत्व जागृत होगा, उतना-उतना ही आत्मा परमात्मा के रूप में परिणत होता चला जायेगा।

अहिंसा का हार्द : सुख को सर्वव्यापी बनाना

अहिंसारूपी परब्रह्म परमात्मा आपके अन्दर कितना जागृत हुआ है, इसको नापने का 'बेरोमीटर' भी आपके पास है। उस 'बेरोमीटर' से आप स्वयं को जान पाएँगे कि अभी आप कितने व्यापक बने हैं? कल्पना कीजिए, आपके सामने आपका परिवार है, उस परिवार में बूढ़े मां-बाप हैं, भाई-बहन हैं, और दूसरे सगे सम्बन्धी भी हैं, कोई रोगी भी है, कोई पीड़ित भी है। कोई ऐसा भी है, जो न कुछ कमा सकता है और न कुछ श्रम कर सकता है। ऐसे परिवार का उत्तरदायित्व आपके ऊपर है। इस स्थिति में आपके मन में कल्पना उठती है कि "सब लोग मेरी कमाई खाते हैं, सबके सब बेकार पड़े हैं, अनाज के दुश्मन बन रहे हैं, काम कुछ नहीं करते। बूढ़े मां-बाप अब तक परमात्मा की शरण में नहीं जा रहे हैं, जब बीमार पड़ते हैं, तो उन्हें दवा चाहिए। और इस विचार के बाद आप उन्हें उपदेश दें कि अब क्या धरा है संसार में? छोड़ो संसार को। बहुत दिन तक खाया पीया। कब तक ऐसे रहोगे? आखिर तो मरना ही है एक दिन।" यह उपदेश तो आपका काफी ऊँचा है, बहुत पहुँची हुई बात है आपकी, पर आपका दृष्टिकोण कहाँ तक पहुँचा है, यह भी तो देखिए। वास्तव में आप यह उपदेश किसी सहज वैराग्य से प्रेरित होकर दे रहे हैं, या अपने सुख का और सुख के साधनों का जो बँटवारा हो रहा है, उसे रोकने के लिए दे रहे हैं? जो समय और श्रम आपको उनकी सेवा में लगाना पड़ रहा है उससे ऊब कर ही आप यह वैराग्य की बात कर रहे हैं? यदि

अपने स्वार्थ और सुख के घेरे में बन्द हो कर ही आप यह वैराग्य की बात करते हैं, तो फिर सोचिए कि जब आप अपने परिवार में ही व्यापक नहीं बन पा रहे हैं, माता-पिता तक हृदय को अभी तक स्पर्श नहीं कर सके हैं। उसके लिए भी कुछ त्याग और बलिदान नहीं कर सकते हैं, भाई-बहनों के अन्तस्तल को नहीं छू सकते हैं, तब समाज के हृदय तक पहुँचने की तो बात ही क्या करें? परिवार की छोटी-सी चारदीवारी के भीतर भी आप व्यापक नहीं बने हैं, तो वह विश्वव्यापी अहिंसारूपी परमात्मतत्त्व आपमें कैसे जागृत होगा? अपने सुख को माता और भाई-बहनों में भी आप नहीं बाँट सकते, तो समाज को बाँटने की बात कैसे सोची जा सकती है?

विचार कीजिए—घर में आपका पुत्र-पौत्रादि का परिवार है, आपका सहोदर भाई भी है, उसका भी परिवार है, पत्नी है, बाल-बच्चे हैं—लड़के-लड़कियां हैं। अब आपके मन में अपने लिए अलग बात है, अपने भाई के लिए अलग बात है। अपनी पत्नी के लिए आपकी मनोवृत्ति अलग ढंग की है और भाई की पत्नी के लिए अलग ढंग की। लड़के-लड़कियों के लिए भी एक भिन्न ही प्रकार की मनोवृत्ति काम कर रही है। इस प्रकार घर में एक परिवार होते हुए भी मन की सृष्टि में अलग-अलग टुकड़े हैं, सबके लिए अलग-अलग खाने हैं और अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। एक ही रक्त के परिवार में इन्सान जब इस प्रकार खण्ड-खण्ड हो कर चलता है, क्षुद्र घेरों में बंट कर चलता है, तब उससे समाज और राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापकता की क्या आशा की जा सकती है? और अहिंसारूपी परब्रह्म की कैसे वह उपासना कर सकता है?

मैं विचार करता हूँ कि मनुष्य के मन में जो ईश्वर की खोज चल रही है, परमात्मा का अनुसन्धान हो रहा है, क्या वह सिर्फ एक धोखा है? वंचनामात्र है? हजार-लाखों मालाएँ जपने मात्र से ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे? व्रत और उपवास आदि का नाटक रचने से परमात्म-तत्त्व जागृत हो जायेगा? जब तक यह अलग-अलग सोचने का दृष्टिकोण नहीं मिटता, मन के ये खण्ड-खण्ड सम्पूर्ण मन के रूप में परिवर्तित नहीं होते, अपने समान ही दूसरों को समझने की वृत्ति जागृत नहीं होती, अपने चैतन्यदेवता के समान ही दूसरे चैतन्य-देवता का महत्त्व नहीं समझा जाता, अपने समान ही उसका सम्मान नहीं किया जाता और अपने प्राप्त सुख को इधर-उधर बाँटने का भाव नहीं जगता, यथार्थरूप से अहिंसा भगवती की उपासना नहीं होती, तब तक आत्मा-परमात्मा नहीं बन सकता। जब आप सोचेंगे कि जो अभाव मुझे सता रहे हैं, वे ही दूसरों को भी पीड़ा दे रहे हैं। जो सुख-सुविधाएँ मुझे अपेक्षित हैं, वे ही दूसरों को भी अपेक्षित हैं। जो संवेदना, अनुभूति स्वयं के लिए की जाती है, उसी तीव्रता से जब वे दूसरों के लिए की जायेंगी, तब आपके अन्तर में विश्वात्मभाव प्रकट होगा; तभी अहिंसा भगवती की विराट् झांकी आपको प्रत्यक्ष प्रतीत होगी।

अहिंसा भगवती का विराट् रूप : विश्वात्मानुभूति

मैं कह चुका हूँ इधर-उधर के दो-चार प्राणी बचा लेना या दो-चार घण्टा

या कुछ दिन अहिंसा का व्रत पालन कर लेना, अहिंसा और करुणा की मुख्य भूमिका नहीं है। विश्व-समाज के प्रति अहिंसा की भावना जब तक नहीं जगे, व्यक्ति व्यक्ति में समानता और सह-जीवन के संस्कार जब तक नहीं जन्में, तब तक अहिंसक-समाज-रचना की बात केवल विचारों में रहेगी। समाज में अहिंसा और प्रेम के भाव जगाने के लिए व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा। अपने पराये के ये क्षुद्र घेरे, स्वार्थ और इच्छाओं के ये कटघरे तोड़ डालने होंगे। विश्व की हर आत्मा के सुख-दुःख के साथ ऐक्यानुभूति का आदर्श जीवन में लाना होगा। भारतीय संस्कृति का यही स्वर सदा-सदा से गूंजता रहा है—

अयं निजः परोवेति गणना लघु-चेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

हृदय की गहराई से निकले हुए ये परमात्म-चेतना के व्यापक स्वर हैं। जहाँ परमात्मतत्त्व छिपा बैठा है, आत्मा के उस निर्मल उत्स से वाणी का यह निर्झर फूटा है। यह मेरा है, यह तेरा है, इस प्रकार अपने और पराये के रूप में जो संसार के प्राणियों का बँटवारा करता चला जाता है, उसके मन की धारा बहुत ही सीमित है, क्षुद्र है। ऐसी क्षुद्र मनोवृत्ति का मानवसमाज के किसी भी क्षेत्र में अपना उचित दायित्व निभा सकेगा, अपने परिवार का व्यक्तित्व भी ठीक से वहन करेगा, जो जिम्मेदारी उसके कंधों पर आ गई है उसे ठीक तरह पूरी करेगा—इसमें शंका है। कभी कोई अतिथि दरवाजे पर आए और वह उसका खुशी से स्वागत करने के लिए खड़ा हो जाए तथा आदर और प्रसन्नतापूर्वक अतिथि का उचित स्वागत करे—यह आशा उन मनुष्यों से नहीं की जा सकती, जो 'अपने पराये' के दायरे में बँधे हुए हैं। किस समय उनकी क्या मनोवृत्ति रहती है, किस स्थिति में उनका कौन अपना होता है और कौन पराया होता है—यह सिर्फ उनके तुच्छ स्वार्थों पर निर्भर रहता है और कुछ नहीं।

इसके विपरीत जिनके मन के क्षुद्र घेरे टूट गए हैं, जो स्वार्थ की कैद से छूट गए हैं, उनका मन विराट् रहता है। विश्व के मुक्त आनन्द और अभ्युदय की निर्मल धारा उनके हृदय में बहती रहती है। विश्वात्मा के सुख-दुःख के साथ उनके सुख-दुःख बँधे रहते हैं। किसी प्राणी को तड़पते देख कर उनकी आत्मा द्रवित हो उठती है, फलस्वरूप किसी के दुःख को देख कर सहसा उसे दूर करने के लिए वे सक्रिय हो उठते हैं। पराया जैसा कभी कोई उनका होता ही नहीं। सभी कुछ अपना होता है। सब घर अपने घर! सब समाज अपने समाज! अपने परिवार के साथ उनका जो स्नेह और सौहार्द है, वही पड़ोस के साथ, वही मोहल्ले वालों के साथ और वही गाँव, प्रान्त और राष्ट्र वालों के साथ। यह व्यापक स्नेह और सौहार्द उनका निश्छल एवं निर्मल होता है। उसमें वैयक्तिक स्वार्थ की कोई गन्ध नहीं होती। आज की तरह उनका प्रान्तीय स्नेह राजनीतिक स्वार्थ साधने का हथियार नहीं होता है। आज सब ओर

नारे लग रहे हैं, 'अपना प्रान्त अलग बनाओ, तभी प्रान्त की उन्नति होगी।' वस्तुतः देखा जाए तो इन तथाकथित नेताओं को प्रान्त की उन्नति की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी स्वयं की उन्नति की चिन्ता है। प्रान्त का भला कुछ कर सकेंगे या नहीं, यह तो दूर की बात है, पर अपना भला तो कर ही लेंगे। जनता की सेवा हो न हो, किन्तु अपनेराम की तो अच्छी सेवा हो ही जायेगी। सेवा का मेवा भी मिल ही जायेगा। प्रान्त और देश में दूध-दही की नदी तो दूर, पानी की नहर या नाला भी बने या न बने, पर अपने घर में तो संपत्ति की गंगा आ ही जायेगी। आज के ये सब ऐसे स्वार्थ और क्षुद्र विचार हैं, जिनसे देश के खण्ड-खण्ड हो रहे हैं, मानवता के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। जातिवाद, प्रान्तवाद, संप्रदायवाद वे कैंचियां हैं, जिनसे इन्सानों के दिल काटे जाते हैं, मानवता के टुकड़े किये जाते हैं और अपने पद-प्रतिष्ठा और सुख-ऐश्वर्य के प्रलोभन में मानवजाति का सर्वनाश किया जाता है। जो इन सब विकल्पों से परे मानव का 'मानव' के रूप में दर्शन करता है, उसे ही अपना परिवार एवं कुटुम्ब समझता है, वह व्यापकचेतना का स्वामी नर के रूप में नारायण का अवतार है।

कल्पना कीजिए, आप किसी रास्ते से गुजर रहे हैं। आपने वहाँ किसी बच्चे को देखा, जो घायल है, वेदना से कराह रहा है। आपका हृदय द्रवित हो गया और आपके हाथ ज्यों ही उसे उठाने को आगे बढ़ते हैं, आवाज आती है, यह तो 'चण्डाल' है, भंगी है; इसका क्या अर्थ हुआ? आपमें अहिंसा और करुणा की एक क्षीण ज्योति जली तो थी, पर जातिवाद की हवा के एक हल्के से झोंके से वह सहसा बुझ गई। आप करुणा को भूल कर जातिवाद के चक्कर में आ जाते हैं कि यह तो भंगी का लड़का है, भला इसे मैं कैसे छू सकता हूँ? चमार का लड़का है, इसे कैसे उठायें? इस क्षुद्र भावना की गन्दी धारा में बह जाते हैं आप, जहाँ प्रेम का पवित्र जल नहीं, किन्तु जातिवाद का गन्दा पानी बहता है। ऐसे समय में आपकी यह भावना होनी चाहिए कि जो वेदना से कराह रहा है, घायल है, वह आत्मा है। शरीर का जन्म चाहे जहाँ हुआ हो, चाहे जिस घर में हुआ हो, आत्मा का जन्म तो कहीं नहीं होता। आत्मा तो आत्मा है। वह ब्राह्मण के यहाँ हो तो क्या, शूद्र के यहाँ हो तो क्या? वह काले रंग की चादर के अन्दर है तो क्या, और गोरे पिण्ड के अन्दर है तो क्या? हम आत्मा की सेवा करते हैं, शरीर की सेवा नहीं करते हैं। यदि शरीर की सेवा करते हैं तो जब कोई मर जाता है तो प्रिय से प्रिय सम्बन्धी को जला कर खाक क्यों कर देते हैं? शरीर की ही सेवा मुख्य है, तो शरीर तो तब भी है। इस पर से सिद्ध होता है कि शरीर की सेवा नहीं, सेवा आत्मा की होती है। और आत्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, भंगी, चमार तथा काले-गोरे आदि के भेदों से सर्वथा परे है।

आत्मा की सेवा करनी है, तो फिर शरीर के सम्बन्ध में यह क्यों देखा जाता है कि यह भंगी का शरीर है, या चमार का? यदि भंगी और चमार की दृष्टि है, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि आपने अब तक आत्मा को ठीक तरह से परखा ही नहीं, आत्मा

नहीं; शरीर के ही दर्शन आप कर रहे हैं। बाहर में जो जाति-पांति के झगड़े हैं, दायरे हैं, आप अभी तक उन्हीं में बन्द हैं। आत्मा न भंगी है, न चमार है, और न काला है, न गोरा है। यदि शरीर को देखना है तो शरीर सबका ही भंगी है। ब्राह्मण का शरीर भंगी है, वैश्य का शरीर भी भंगी है। उसके शरीर में भी वही दुनियाभर का मलमूत्र भरा है, जो भंगी के शरीर में है। क्या आप दावा कर सकते हैं कि भंगी के शरीर में कूड़ा भरा है और आपके शरीर में सोना भरा है। भंगी के शरीर में मलमूत्र है और आपके शरीर में कुछ और है? शरीर की दृष्टि से सब चाण्डाल है, ब्राह्मण भी, वैश्य भी और क्षत्रिय भी। आप भी और हम भी। शरीर के अन्दर छुपे हुए उस परम चैतन्य-आत्मा का स्पर्श जब तक नहीं होता, तब तक द्वैतभावना नहीं मिट सकती। जब आत्मा की सही परख हो जायेगी, तभी आत्म-दृष्टि बन सकेगी। आत्मा-आत्मा में कोई भेद नहीं है। आत्मा में परमात्मा का वास है वस्तुतः जो आत्मा है वही परमात्मा है। ये अहिंसा परब्रह्म के उदात्त विचार, यह विशाल दृष्टिकोण जब तक आपके हृदय में जागृत नहीं होता, तब तक आप परमात्मतत्त्व की ओर नहीं बढ़ सकते। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य परस्पर में भेद की दीवारें खड़ी कर देता है, अपने मन में इतने क्षुद्र घेरे बना लेता है, उसकी दृष्टि जातीयता के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाती है तो वह अपने ही समान मानवजाति के एक सदस्य की सेवा और सहायता नहीं कर सकता, भला वह पशु-पक्षियों की सेवा और करुणा की क्या बात करेगा? एक मनुष्य पर जब आप दया नहीं कर सकते, उसकी पीड़ा पर आपका हृदय नहीं पिघल सकता, तो हम क्या आशा करें कि पशुओं के क्रंदन पर, कष्ट पर आप नेमिनाथ बन कर पसीज उठेंगे?

भारतीय संस्कृति की विराट् भावनाएँ, उच्च कल्पनाएँ यहाँ तक पहुँची हैं कि यहाँ सांप को भी दूध पिलाया जाता है। संसारभर में भारत ही एक ऐसा देश मिलेगा, जहाँ पशु-पक्षियों के त्यौहार मनाये जाते हैं। नागपंचमी आई तो सांप को दूध पिलाया गया; गोपाष्टमी आई तो गाय और बछड़े की पूजा की गई। 'सीतला' (राजस्थान का त्यौहार) आई तो बिचारे गर्दभराज को पूजा-प्रतिष्ठा मिल गई। यहाँ की दया और करुणा का स्वर कितना मुखर है कि जो सांप दूध पी कर भी जहर उगलता है, मनुष्य को काटने के लिए तैयार रहता है, जो मनुष्य के प्राणों का शत्रु है, उसे भी दूध पिलाया जाता है, शत्रु को भी मित्र की तरह पूजा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि जो प्रेम अपने शरीर, परिवार आदि के प्रति है, वही प्रेम जब दूसरों के संकट के समय सहायक होगा, समग्र मानवजाति और उससे भी ऊपर उठ कर सारे पशु-पक्षी जगत् तक समष्टि के रूप में फैलता जाएगा, सर्वत्र करुणा की धारा बहाएगा, तभी अहिंसा भगवती के विराट् रूप का दर्शन होगा।

अतः जहाँ पर दया, करुणा, और सेवा मानवता की पवित्र भावनाओं का अहिंसा भगवती के रूप में विकास हुआ है, वहाँ उलझनें या शुद्ध स्वार्थों के बंधन टिक

नहीं सकते। फिर भी मनुष्य जब परिस्थितियों से घिर जाय या कोई कठिनाई महसूस हो, तब भगवान् महावीर की अहिंसा की यह व्याख्या उसका पथ-प्रदर्शन करने को तैयार है—

अहिंसा की व्याख्या

संसारभर के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो[४] यही अहिंसा की व्याख्या है, यही अहिंसा का भाष्य और महाभाष्य है, और यही अहिंसा की महान् कसौटी है। जिस दिन और जिस घड़ी, व्यक्ति अपने आप में जो जीने का अधिकार ले कर बैठा है, वही जीने का अधिकार सहजभाव से दूसरों के लिए भी देगा, उसके अन्दर दूसरों के जीवन की परवाह करने की मानवता जागेगी, दूसरों की जिन्दगी को अपनी जिन्दगी के समान देखेगा और संसार के सब प्राणी उसको भावना में उसकी अपनी आत्मा के समान दिखने लगेंगे और सारे संसार को वह समभाव से देखने लगेगा—ज्ञान और विवेक की दिव्यदृष्टि से देखेगा कि यह सब प्राणी उसके ही समान हैं, उसमें और दूसरे में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, जो चीज उसे प्रिय है वही दूसरों को भी प्रिय है, बस तभी समझा जा सकता है कि उसके अन्दर अहिंसा है।

जब तक कोई यह समझता है—**'मिरे लगी सो दिल में और दूसरों के लगी सो तीमार में,** यानी चोट लगने पर जैसा दर्द इसे होता है वैसा ही दूसरों को होता है तब यह समझ नहीं आई, तब तक अहिंसा नहीं आ सकती। जब उसके मन को उसकी भावना को चोट लगती है और वह दर्द से घबराने लगता है तो निश्चित ही उसे समझना चाहिए कि वैसी ही पीड़ा दूसरे को होती है। इस प्रकार दूसरों के दर्द की अनुभूति जब व्यक्ति के हृदय में अपने दर्द की तरह होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि अहिंसा भगवती उसके भीतर आ विराजी है। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा है—

"सब जीव जीना चाहते हैं। कोई मरना नहीं चाहता। सभी को अपने जीवन के प्रति आदर व आकांक्षा है। सभी अपनी सुख-सुविधा के लिए सतत प्रयत्नशील हैं, अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं और अपनी सत्ता के लिए जूझ रहे हैं। अतः जैसा तू है, वैसे ही सब हैं। इसीलिए मैंने प्राणिवध अर्थात् हिंसा का त्याग किया है और दूसरों को सताना छोड़ा है। यदि स्वयं को सताया जाना पसन्द होता तो दूसरों को सताना न छोड़ते। यदि स्वयं को मारा जाना पसन्द होता तो मारना न छोड़ते। परन्तु सभी प्राणियों के जीवन की एक ही धारा है।"[५]

---

४ सव्वभूयप्पभूअस्स, सम्मं भूयाइं पासाओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बज्झई ।। —दशवैकालिक सूत्र ४।९

५ सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिडं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ।। —दशवैकालिक ६।११

उपर्युक्त कथन की परिपुष्टि में आचारांग सूत्र में कहा गया है।[६]

सच्ची कसौटी

इस प्रकार अहिंसा की सच्ची कसौटी अपनी ही आत्मा है। यह कसौटी तो प्रत्येक आत्मा को मिली है, उसी पर कस कर जांचो तो तुम्हें पता लग जाएगा कि अहिंसा धर्म है या पाप? यदि कोई गुंडा तुम्हारी बहन-बेटी या माता की इज्जत बर्बाद करे, यदि कोई तुम्हें मारे या गाली दे, अथवा तुम्हारा धन छीनने की कोशिश करे तो उस समय भी क्या यही कहोगे कि अहिंसा पाप है, हिंसा धर्म है? क्या भावना होगी, उस समय तुम्हारे अन्तर में?

अहिंसा धर्म है या पाप, इसकी कसौटी क्या उस समय शास्त्रों को देख कर करोगे या अपनी आत्मा से करोगे? वास्तव में अहिंसा की कसौटी या परीक्षा पोथियों को रगड़ने से या उनके पन्ने पलटने से नहीं होती। उसके लिए तो आत्ममंथन करने की आवश्यकता होती है। जब तक अपने पर आफत नहीं आई है, या अपने पर नहीं बीती है, तभी तक कदाचित् ऐसी बात कही जा सकती है कि अहिंसा पाप है। तभी तक यह तर्क-वितर्क किया जा सकता है। जिस दिन और जिस क्षण भी दृढ़ संकल्प के द्वारा व्यक्ति आत्मचिन्तन में लीन हो जायगा और आत्मानुभूति के अनुसार अपने जीवन-व्यापार को चलाने लग जाएगा, उसी समय से वह अहिंसा के धर्मत्व का अनुभव करने लगेगा।

एक गुंडा है, वह सुन्दर स्त्री का अपहरण करने में ही धर्म मानता है, दूसरी ओर एक व्यक्ति डाका डालने और मारकाट करने में ही धर्म मानता है; क्या इन दोनों के लिए वैसा हिंसक कृत्य धर्म हो जाएगा? अगर आप पर भी यही बात गुजरे तो आपकी आत्मा उसे धर्म कहेगी या पाप? सचमुच उस समय आपकी आत्मा ऐसे कृत्यों को हिंसा और पाप ही कहेगी!

अतः जीवन को परखने का प्रश्न आता है और सही स्थिति सामने आती है, तभी वास्तविकता का सही पता लगता है। जिसने कष्ट न पाया हो, जिसने पीड़ाएँ न देखी हों, फलतः जो मारना ही जानता हो, सताना ही जानता हो या दूसरों के हृदय में भाले भोंकना ही जानता हो और जो भोगविलास की गहरी नींद में सो रहा हो—आत्मस्वरूप को नहीं देख सका हो, भला उसे कैसे मालूम होगा कि अहिंसा धर्म है या पाप?[७] जब मनुष्य दुःख की आग में पड़ता है, तभी उसे असलियत का पता लगता है कि यह कृत्य अहिंसा-युक्त है या हिंसा-पूर्ण? फलतः अहिंसा धर्म है या

---

६ 'सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं।

—आचारांग १, २, ६२-६३

७ 'जाके फटी न पैर बिवाई, सो का जानै पीर पराई?'—हिन्दी कहावत

हिंसा ? आत्मदेवता उस विशेष प्रसंग पर स्वतः ही बोलने लगता है कि हिंसा धर्म है या अहिंसा ?

मारना धर्म है या बचाना ?

यदि कोई व्यक्ति भयानक जंगल में होकर जा रहा हो, उसके साथ में लाखों के हीरे-जवाहरात भी हों, उस समय लपलपाती हुई नंगी तलवार लिए एक अन्य व्यक्ति उसके सामने आ कर खड़ा हो जाय और कह दे—"रख दे यहाँ, जो भी हो तेरे पास, और मौत के घाट उतरने के लिए तैयार होजा।" तब वह क्या कहेगा ? यही कि ये सब चीजें ले लो, किन्तु प्राण मत लो। लेकिन जब वह यही कहता है—"नहीं, तो मैं धन और जान दोनों लूँगा। यह तो मेरा धर्म है। तू जीता कैसे निकल जायेगा ! और वह मारने के लिए तैयार होता है। तब वह उसके सामने गिड़गिड़ाता है, पैरों पड़ता है और हजार-हजार मिन्नतें करता है और फिर कहता है—'जो लेना हो, ले लो, पर मेरे पर करुणा करो।' वह मृत्यु की घड़ी उससे कहलवाती है कि 'मुझे छोड़ दो।' परन्तु वह कहता है—छोड़ूँ कैसे ? मारना तो मेरा धर्म है, कर्तव्य है; यही तो मेरे धर्म, गुरु और देवता ने मुझे सिखाया है।[८] ऐसी विकट परिस्थिति में प्रगटरूप में कहने का साहस, सम्भव है, उस व्यक्ति में न हो, तो भी मन ही मन वह यही कहेगा—"धूल पड़े ऐसे धर्म, देव और गुरु पर कि जिसने ऐसा निर्मम पाठ सिखाया है। सच्चे धर्म, देव और गुरु तो दुर्बल की रक्षा करने में धर्म बताते हैं। जो किसी निरपराध दीन-हीन की हत्या करने की शिक्षा देता है—वह धर्म नहीं, अधर्म है; गुरु नहीं, कुगुरु है; देवता नहीं, राक्षस है। भला किसी राह चलते आदमी का गला काट लेना भी कोई धर्म है।" कल्पना करो, इतने में ही दूसरा आदमी आ पहुँचता है, और कहता है—"क्या कर रहे हो ? तुम इसे नहीं मार सकते।" जबकि वह पहला कहता है कि मारना मेरा धर्म है। तब यह दूसरा कहता है—"बचाना मेरा धर्म है। मेरे देवता, गुरु और धर्म ने मुझे रक्षा का पाठ सिखलाया है कि मरते जीव को अपना जीवन दे कर भी बचाओ।" और वह कहता है—'मैं हर्गिज नहीं मारने दूँगा। तेरा मारने का धर्म झूठा है और मेरा बचाने का धर्म सच्चा है।'

'मारने' और 'बचाने' के इस संघर्ष में धर्म की कसौटी क्या हो सकती है ? मारा जाने वाला बीच में खड़ा है, वही कह सकता है कि 'मारना' धर्म है या 'बचाना' धर्म ? हिंसा में धर्म है या अहिंसा में ? तलवार चलाने वाला कहता है कि हिंसा में धर्म है; और तलवार पकड़ने वाला कहता है कि अहिंसा में धर्म है। जिस पर तलवार का झटका पड़ने वाला है, उसी से पूछ कर यह जाना जा सकता है कि हिंसा में धर्म है या अहिंसा में ? यही सबसे बढ़कर आत्मा की कसौटी है। इस सम्बन्ध में एक सन्त का कथन है—धर्म के गूढ़ रहस्य को सुनो और विश्व में जितने भी मत-मतान्तर हैं, सब

---

८ श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्॥

की बातें सुनो। कहीं इधर-उधर जाने-आने से और सुनने-सुनाने से धर्म मागता नहीं है। अपने धर्म के साथ-साथ दूसरों के धर्म को भी मालूम करो। फिर देखो कि सब धर्मों का निचोड़ एक ही है; अर्थात्, अपनी आत्मा के प्रतिकूल जो बातें मालूम होती हों वही करने और जिन बातों से तुम्हारे मन में पीड़ा उत्पन्न होती हो; जैसे—गाली देना, अपमान करना, नुकसान पहुँचाना, कष्ट पहुँचाना, आदि वे तुम दूसरों के लिए भी कभी न करो। यही सबसे बड़ा धर्म है और सबसे बड़ी अहिंसा है; अहिंसा में धर्म या अधर्म को परखने की सच्ची कसौटी है। जो व्यक्ति के 'अहम्' भाव को अन्दर से निकाल कर प्राणीमात्र में बिखेर देता है, व्यक्ति के भीतर सीमित स्नेह की संकीर्णवृत्ति को विशालता और विपुलता प्रदान करता हुआ चलता है और अन्त में जगत् के कोने-कोने में उसे फैला देता है; वही सच्चा धर्म है।

स्वार्थ या कांटेदार घेरा ही इस कसौटी में बाधक

मगर अहिंसा की यह कसौटी उस क्रूर, पापी, लुटेरे या हत्यारे के ध्यान में क्यों नहीं आती? संसार में आज नित नये संघर्षों का जन्म हो रहा है, वर्गगत, जातिगत, परिवारगत, धर्मसम्प्रदायगत एवं भाषागत संघर्ष दैत्य की तरह भयानक हो कर परेशान और भयभीत कर रहे हैं, मानव-जाति को; इन्हें अहिंसा की बात क्यों नहीं सूझती? वे इस पूर्वोक्त कसौटी को अपने पर लगा कर क्यों नहीं परखते? इन सबके मूल में एक ही कारण है और वह है—क्षुद्र स्वार्थों का घेरा। यह कांटेदार घेरा इतना भयानक है कि इसके कारण व्यक्ति अपनी वासना के लिए खाने-पीने, भोग विलास और ऐशआराम के लिए दूसरों को बर्बाद कर रहा है, नेस्तनाबूद कर रहा है। क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए भले ही दूसरों के हित कुचल दिये जाएँ, चाहे दूसरों का जीवन नष्ट हो जाए, किन्तु अपना घर भर जाना चाहिए और अपनी जिंदगी को पूरा आराम मिलना चाहिए; इस प्रकार की भावना से मनुष्य अपने अन्दर बन्द हो गया है। इसके कारण अहिंसा को धर्म मानते हुए भी वह स्वार्थपूर्ति के समय उसे भुला देता है।

मनुष्य आज अपने स्वार्थों का कैदी बना हुआ है। अपनी इच्छा, प्रतिष्ठा, सुख और भोग की भावना से इस प्रकार घिर गया है कि दूसरी कोई श्रेष्ठ कल्पना ही उसके मस्तिष्क में प्रवेश नहीं पा रही है। वह जब भी सोचता है, अपने सम्बन्ध में। जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है, स्वयं के स्वार्थ को ही देखता है। जब कभी मन में भूख-प्यास के संकल्प उठते हैं, तो उसे अपनी भूख ही भूख मालूम पड़ती है। दूसरे की भूख-प्यास की कोई अनुभूति ही नहीं होती। बात यह है कि अपनी वेदना और पीड़ाओं के सिवाय उसे और कुछ ध्यान में ही नहीं आता है। अपने कष्ट के सिवाय वह और किसी के कष्ट को अनुभव नहीं कर पा रहा है। इस क्षुद्र भावना से मनुष्य अपने अन्दर बन्द हो गया है, फलतः उसे नहीं मालूम होता कि दूसरों पर कैसी गुजर रही है? यह विकट और भयंकर घेराबन्दी है, यह स्वार्थ मोह और अज्ञान है; जिससे आज के मनुष्य का हृदय चारों ओर से घिर गया है।

जब तक मनुष्य अपनी कामनाओं और इच्छाओं की कैद से बाहर नहीं निकलता, अपने स्वार्थों के इस काँटेदार घेरे को तोड़ नहीं डालता, तब तक न उसे स्वयं को शांति मिल सकती है, और न उसके पड़ोसी को ही। न परिवार को सुख मिल सकता है, न समाज एवं राष्ट्र को। दूसरे के दुःख को देखने की दृष्टि, पराये हित को समझने की सद्भावना, जब तक मनुष्य के हृदय में नहीं जगती है, तब तक यह स्वार्थों की लड़ाई, संघर्ष और द्वन्द्व जो चलते आए हैं चलते रहेंगे। अपितु संघर्ष और लड़ाइयाँ और अधिक तीव्र होती रहेंगी। चिनगारियाँ उछलती रहेंगी और मनुष्य का अन्तर्मन उसमें जलता रहेगा।

बेटे ने बाप को कैद में क्यों डाला ?

सम्राट् श्रेणिक के सम्बन्ध में आप कुछ चर्चाएँ सुन चुके हैं। ढाई हजार वर्ष पूर्व के भारतीय इतिहास में वह एक महान सम्राट् के रूप में चमका था, भारत के राजनैतिक क्षितिज का वह एक जाज्वल्यमान नक्षत्र था। उसके राज्य की सीमाएँ ही विशाल नहीं थीं, अपितु उसका हृदय भी बहुत विशाल था। प्रजा सुखी थी, राज्य में सब ओर मधुमय उल्लास का वातावरण छाया हुआ था। भगवान् महावीर का प्रमुख भक्त था राजा श्रेणिक। वह कितनी बार नंगे पैरों चल कर भगवान् के समवसरण में पहुँचता रहा है। प्रभु के चरणों में अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहा है। उसके हृदय में प्रभु के प्रति अटल श्रद्धा और विश्वास की लौ जलती रही है। कितना अच्छा था वह सम्राट् ! आप जानते हैं इसी सम्राट् श्रेणिक का एक पुत्र था कूणिक। उसे अजातशत्रु कूणिक भी कहा जाता है। कूणिक को इतिहासकार एक महत्त्वाकांक्षी सम्राट् के रूप में चित्रित करते हैं। जब कूणिक का जन्म हुआ, तो गर्भकालीन अनिष्ट दोहद के कारण चेलणा ने उसे जन्मते ही बाहर फेंकवा दिया। माँ के हृदय का कोमल मातृत्व कितना कठोर हो गया था कि जन्मते ही नवजात शिशु को दासी के हाथों में सौंप देती है, बाहर फेंकने के लिए। इसलिए कि अनिष्ट दोहद के कारण भविष्य की दुष्कल्पनाओं और आशंकाओं से उसका हृदय काँप रहा था। किन्तु राजा श्रेणिक ने कमाल कर दिया। माँ ने जिस नवजातपुत्र को कूड़े के ढेर पर यों फेंक दिया, जैसे कोई घर का कूड़ा-कचरा फेंका जाता है, उसी पुत्र को पिता स्नेह से उठा कर लाता है। और श्रेणिक जब देखता है कि पुत्र की अँगुली में घाव हो गया है, अँगुली सड़ गयी है तो अपने मुँह से मवाद चूस-चूस कर घाव को ठीक करता है। चेलणा को उपालम्भ देता है और किसी भी प्रकार की आशंका न करके पुत्र को प्रेम से पालने का आग्रह करता है। मातृत्व से बढ़कर श्रेणिक का पितृत्व यहाँ निखरा है। एक सम्राट् पुत्र की अँगुली के सड़े हुए घाव को चूस कर उसका मवाद निकालता है। किसलिए ? पुत्र की पीड़ा और व्याकुलता शांत करने के लिए। पितृ-स्नेह का कितना ऊँचा चित्र है यह !

समय आगे बढ़ता है, स्थितियाँ बदलती हैं। कूणिक युवक होता है, उसके मन

में महत्त्वाकांक्षाएँ उठती हैं, वह राज्य-लिप्सा की उद्दाम तरंगों के थपेड़ों में बह जाता है। वह पिता के प्रति क्या सोचता है ?—"पिता बूढ़े हो गये हैं, किन्तु अभी भी सिंहासन नहीं छोड़ रहे हैं। मैं नौजवान हूँ, मेरी कुछ आकांक्षाएँ हैं, इच्छाएँ हैं। यदि इस जवानी में ही साम्राज्य का आनन्द नहीं लिया, तो फिर क्या बूढ़ा हो कर लूँगा। अभी कोई विजययात्रा नहीं की, देश-प्रदेश के सिंहासनों पर अपना झण्डा नहीं फहराया, तो क्या बुढ़ापे में दिग्विजय करने निकलूंगा ? और पता नहीं, बूढ़ा कब मरेगा, कब सिंहासन खाली होगा ? और कब मेरा राजतिलक होगा ? क्या तब तक मैं भी बूढ़ा नहीं हो जाऊँगा ? बूढ़ा होने पर सिंहासन मिला तो क्या आनन्द उठाऊँगा ? जवानी तो यों ही व्यर्थ बीत जाएगी।"

सोचिए, कूणिक किस प्रकार की कल्पनाओं में बह रहा है। किन दुराशाओं और लिप्साओं की दासता में जकड़ा जा रहा है। वह सिंहासन को कांटों का ताज नहीं, फूलों की सेज समझ रहा है, जिस पर झुल कर जीवन का आनन्द लूटा जा सकता है। वह सिंहासन पर अधिकार करना चाहता है। उत्तरदायित्व वहन करने के लिए नहीं; प्रजा की सुख-समृद्धि की भावना से नहीं, अपितु अपनी इच्छा और वासना की पूर्ति के लिए अधिकार चाहता है।

भारत के प्राचीन राजाओं का आदर्श क्या रहा है ? भारत का राजा राज्य के खजानों का धन और ऐश्वर्य का स्वामी नहीं होता था, वह अपने विशुद्ध सेवाधर्म के बल पर प्रजा के हृदय का स्वामी होता था, प्रजा के सुख के लिए उसका खजाना था, सेना थी और स्वयं उसका जीवन भी ! राजा सिंहासन पर किसलिए बैठता है ? प्रजा की सुरक्षा और समृद्धि के लिए, न कि जनता की लाश पर अपने सुख के महल खड़े करने के लिए ; प्रजा के रुदन पर जिसे हँसी फूटती हो, प्रजा के दुःख और पीड़ाओं में जिसे सुख मिलता हो, और प्रजा के हृदय के गर्म निश्वासों पर जिसके जीवन की गर्मी टिकी रहती हो, वह राजा नहीं होता, राक्षस होता है, सिंहासन का अधिकारी नहीं, धिक्कारी होता है, कलंक होता है।

मैं कह रहा था कि कूणिक अपनी इच्छाओं के अन्ध-प्रवाह में बह जाता है, राज्यप्राप्ति के सपने देखता है। सिंहासन हथियाने के लिए एक बेटा बाप को मारना चाहता है, अपनी माँ का सौभाग्य-सिन्दूर पोंछना चाहता है; माँ की हँसी-खुशी हाहाकार में बदलने को तैयार हो जाता है। मनुष्य की दुर्दान्त वासना और निम्न स्वार्थ-वृत्ति उसे कहाँ से कहाँ ले जाती है; कुछ पता नहीं। कूणिक कालीकुमार आदि दसों भाइयों को गाँठता है, राज्य का लोभ दे कर उन्हें अपने षड्यन्त्र में शामिल करता है और एक दिन सम्राट् को सिंहासन से उतार कर काठ के पिंजड़े में पशु की तरह बन्द कर डालता है।

इतिहास की इस जघन्य घटना की प्रेरक मनःस्थिति का विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि कूणिक की उद्दाम इच्छाएँ, अनियन्त्रित राज्यलिप्सा और झूठी

मानप्रतिष्ठा एवं महत्ता की भावनाएँ ही उसके मूल में थी। मनुष्य अपने यश, प्रतिष्ठा एवं स्वार्थों के पीछे ऐसा पागल हो जाता है कि वह कर्तव्य और अकर्तव्य की सीमाएँ तोड़ देता है। मन का दर्प, सर्प बन कर उसे अन्दर ही अन्दर काटता रहता है, अहंकार और महत्त्वाकांक्षा 'येन केन प्रकारेण' आगे बढ़ने का रास्ता ढूँढ़ती रहती है। उसके सामने माता-पिता के जीवन का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता। इतिहास अपने पन्ने उलट कर बता रहा है कि जब-जब मनुष्य इच्छाओं का दास बना है, स्वार्थों की भूल-भुलैया में भटका है, और 'अपनेपन' के क्षुद्र घेरे में बन्द हुआ है; तब-तब ऐसे कूणिकों का जन्म हुआ है; दुर्योधन और दुःशासनों का जमाना आया है। वासनाओं के इसी पिण्ड से कंस जन्म लेता है; औरंगजेब जन्म लेता है। ये वे पुत्र हैं, जिन्होंने अपने पिताओं के लिए, भाइयों और परिजनों के लिए कैदखाने तैयार किए हैं, उन्हें पशु की तरह पिंजड़े में डाला है, कालकोठरी में बन्द किया है और तलवार के घाट उतारा है। अपनी सुख-लिप्सा के नशे में चूर हो कर उनके संसार को उजाड़ा है उन्होंने स्वर्ग से नरक में डाला है। ऐसे ही व्यक्तियों की बदौलत संसार की यह दुर्दशा है। मैं सोचता हूँ कंस और कूणिक एक व्यक्ति का प्रतीक न हो कर आज स्वार्थान्धता और महत्त्वाकांक्षा का प्रतीक बन गया है। अहिंसा की वह कसौटी संकीर्ण तुच्छ स्वार्थ के कांटेदार घेरे से घिर कर धर्म के बदले अधर्म बन गई है। भारतीय संस्कृति में आज हजारों वर्षों के बाद भी कंस और कूणिक के प्रति जनसाधारण में तिरस्कार की भावना विद्यमान है। मैं समझता हूँ, वह घृणा और तिरस्कार उनकी इच्छादासता और स्वार्थवृत्ति के प्रति है।

अतः जब तक मानव अपने ही स्वार्थों और इच्छाओं का दास बना हुआ है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के प्राणों से खेल रहा है, वासना और विकारों के बन्धन नहीं टूटते, स्वार्थ की बेड़ियाँ नहीं टूटती, तब तक मनुष्य अपने आप में कैद रहेगा। अपने ही क्षुद्र घेरे में, पिंजड़े में पशु की तरह घूमता रहेगा। ऐसा मनुष्य संसार तो क्या, अपना भी भला नहीं कर सकेगा, और न ही वह अहिंसा भगवती की झांकी देख सकेगा।

जो आदमी अपने अन्दर बंद हो गया है, स्थिर स्वार्थों से घिर गया है और जिसे अपनी ही जरूरतें और चीजें महत्त्वपूर्ण मालूम होती हैं, वह उनकी पूर्ति के लिए दूसरों के जीवन की उपेक्षा करता है, और ऐसी उपेक्षा करता है, जैसी एक नशेबाज ड्राइवर। एक ड्राइवर नशा करके मोटर में बैठ जाता है और पूरी रफ्तार में मोटर छोड़ देता है। अब मोटर दौड़ रही है और ड्राइवर को भान नहीं है कि इस रास्ते पर दूसरे भी चलने वाले हैं। दूसरों के जीवन भी इसी सड़क पर घूम रहे हैं, वे उसकी बेहोशी से कुचले जा सकते हैं। वह तो नशे की मस्ती में झूम रहा है और मोटर तीव्रतम वेग के साथ दौड़ी जा रही है। क्या वह ड्राइवर सच्चा और ईमानदार ड्राइवर है? नहीं, कभी नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने लिए स्वार्थ या वासना का

प्याला चढ़ा लेता है और अपनी जीवन-गाड़ी को ऐसी उन्मुक्त एवं तीव्र गति से चलाता है कि दूसरों के जीवन कुचले जा रहे हैं, वे मर रहे हैं, परन्तु इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है; क्या वह व्यक्ति कभी सच्चा मनुष्य हो सकता है ?

गाड़ी को तेज रफ्तार में छोड़ने पर कभी भी दुर्घटना या खतरा हो सकता है, अतः उसे ब्रेक लगा कर चलाना चाहिए। जिस मोटर गाड़ी में ब्रेक न लगा हो, क्या उस गाड़ी को चलाने का अधिकार मिल सकता है ? बिना ब्रेक की गाड़ी चलाना दण्ड नीय है। जीवन की गाड़ी में भी संयम का ब्रेक लगना चाहिए। संयम का ब्रेक लगने पर जीवन-गाड़ी स्वयं भी सुरक्षित रहती है और दूसरों को भी सुरक्षित रखती है।

कोई ड्राइवर सोच-समझ कर मोटर चला रहा है, नशा उसने नहीं किया है और दिमाग को तरोताजा रख कर चला रहा है, और मोटर को जैसे-तैसे मरते-मारते ठिकाने पहुंचा देना मात्र ही उसका लक्ष्य नहीं है। बल्कि वह सड़क पर किसी को किसी प्रकार का नुकसान किए बिना सकुशल ठिकाने पहुंच जाता है, तो वही सच्चा और होशियार ड्राइवर है। अतएव जब वह चलाता है तो दाएँ-बाएँ बचा कर चलाता है। फिर भी मनुष्य होने के नाते उससे कभी भूल हो भी जाती है। अस्तु, बचाने का पूरा प्रयत्न करने पर भी कोई टकरा ही गया, या जब कोई सामने आया और उसने ब्रेक भी लगाया, किन्तु ब्रेक फेल हो गया और गाड़ी नहीं रुकी, तो ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि वह ड्राइवर उस हिंसा के पाप का भागी नहीं है।

हर एक आदमी जीवन की गाड़ी ले कर चल रहा है। मोटरगाड़ी को घर से बाहर न निकाल कर केवल घर के गैरेज में बन्द कर देना ही उसका सही उपयोग नहीं है। मोटर का सही उपयोग तो मैदान में चलाना है, किन्तु चलाने का उचित विवेक रहना चाहिए। इसी प्रकार जीवन में भी मन को बन्द करके सुला देने से जीवन की सारी हरकतें बन्द कर देने से और शरीर को एक मांसपिण्ड बना कर किसी एक कोने में रख छोड़ने से तो कोई परिणाम नहीं निकल सकता। जीवन को प्रतिक्षण गतिशील रहना चाहिए। गतिहीन जीवन जीवन नहीं, बल्कि जीवन की जिन्दा लाश है। मुर्दे की तरह निष्क्रिय पड़े रहना, क्या कोई धर्म का लक्षण है ?[८]

जैनाचार्य कहते हैं—जीवन की मोटर को चलाने की मनाही नहीं है। यदि गृहस्थ है तो उस रूप में गाड़ी को चलाने का हक है, और यदि साधु है तो भी चलाने का हक है। किन्तु चलाते वक्त उसे प्रमादी या असावधान न बनना चाहिए मस्तिष्क को साफ और तरोताजा रखते हुए सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की यह गाड़ी किसी से टकरा न जाए; व्यर्थ या अनुचित ढंग से किसी को कुछ नुकसान न पहुँचने पाए। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही जीवन की गाड़ी चलानी चाहिए, फिर भी कदाचित् भूल हो जाए और हिंसा की दुर्घटना हो जाए तो ऐसा होना बहुत हद तक हो सकता है। किन्तु अन्धे बन कर चलाने पर यह कभी भी क्षम्य नहीं हो सकता।

---

८ गीता।

अहिंसा की एक कसौटी : विवेक

एक बार गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया। उन्होंने अपने लिए ही नहीं, किन्तु समस्त विश्व के लिए पूछा—'भगवन्! जीवन में कहीं पाप न लगे ऐसी राह बताइए। क्योंकि जीवन पापमय है, यहाँ चलते हुए भी पाप लगता है।

विश्व के कुछ दार्शनिकों ने इस शाश्वत प्रश्न का समाधान इस प्रकार करने का प्रयत्न किया है—

—चलना पाप है;

—तो खड़े रहो।

—खड़े-खड़े भी पाप लगता है।

—अच्छा, बैठ जाओ।

—पाप तो बैठने पर भी लगता है।

—अच्छा, पड़ जाओ। सारे शरीर को मुर्दे की तरह पड़ा रखो।

—पड़े-पड़े भी पाप लगता है।

—तो मौन धारण कर लो, चुप रहो, बोलो मत और खाओ-पीओ भी नहीं!

क्या जीवन का यही अर्थ है? जैन-धर्म के समाधान करने की यह पद्धति नहीं है। भगवान् कभी यह नहीं कहते कि चलने से पाप लगता है तो खड़े हो जाओ। यदि इस पर भी पाप लगे तो बैठ जाओ, फिर पसर जाओ; और इस तरह जीवन को समाप्त कर दो। तीर्थंकरों के धर्म में सच्चा साधक वह नहीं है, जो इधर 'बोसिरे' कहे और उधर एक जहर की पुड़िया खा ले। बस रामनाम सत्य! न तो जीवन रहे, और न जीवन की हरकत ही रहे। जैन-धर्म तो यही कहता है कि—अरे मनुष्य! तेरी जिन्दगी अगर पचास वर्ष के लिए है तो पचास वर्ष; अगर सौ वर्ष के लिए है तो सौ वर्ष; और यदि हजार वर्ष के लिए भी है तो हजार वर्ष पूरे कर, शान के साथ पूरे कर। किन्तु एक बात का ध्यान अवश्य रखो—प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक करो। यदि चलना है तो चलने में यतना रखो, विवेक रखो। यदि खड़े हो तो बैठने की बात नहीं है। यथा प्रसंग खड़े रह सकते हो, पर विवेक के साथ खड़े होओ। यदि बैठना हो, तो भी विवेक के साथ बैठो। यदि सोना है, तो सोओ भी विवेक के साथ। यदि खाना है या बोलना है, तब भी यही शर्त है। विवेक के साथ ही खाओ, विवेक के साथ ही बोलो। फिर पाप-कर्म कदापि नहीं बँधेंगे।[९] पाप-कर्म तो अविवेक में ही है।

बस विवेक ही अहिंसा की सच्ची कसौटी है। जहाँ विवेक है, वहाँ अहिंसा है; और जहाँ विवेक नहीं है, वहाँ अहिंसा भी नहीं है। विवेक या यतनापूर्वक काम करते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाय तो वह कार्य हिंसा का नहीं होगा। अनुबन्ध-हिंसा नहीं होगी।

---

९ जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ॥ —दशवैकालिक सूत्र ४,८

९ अहिंसा का मान-दण्ड

हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में आज हमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना है। जगत् में असंख्य प्रकार के प्राणी हैं और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि प्राणियों के ये असंख्य प्रकार भी अपने आप में अनेक प्रकार के हैं। तात्पर्य यह कि जब हम विश्व की अनन्त-असीम जीव राशि पर विचार करना आरम्भ करते हैं तो एक नहीं, अपितु अनेक आधार ऐसे मिलते हैं, जिनसे समग्र जीव-राशि का वर्गीकरण होता है।

उदाहरणार्थ—कोई जीव एकेन्द्रिय है, और कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पंचेन्द्रिय है। इनके अतिरिक्त कोई स्थूल शरीर वाला हाथी है, ऊँट है या महाकाय मत्स्य है, तो कोई अनेक सूक्ष्म शरीरवाला है। ऐसा भी सुना जाता है कि सुई की नोंक के बराबर निगोद-काय के छोटे से खण्ड में अनन्त-अनन्त जीवों का विकास होता है।

हिंस्य और हिंसक की भूमिका

यहां एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि के रूप में जो वर्गीकरण किया गया है, वह जीवों के शरीर की बनावट के आधार पर है और साथ ही उनकी चेतना के विकास की तरतमता के आधार पर भी। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय आदि जीवों के शरीर की बनावट में अन्तर होता है। परन्तु शरीर की बनावट का ही भेद उसमें हो, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भेद न हो; ऐसी बात नहीं है। उनमें क्रमशः इन्द्रियों की संख्या बढ़ती चली गई है और इसी वृद्धि के कारण उनकी चेतना का विकास भी अधिक से अधिकतर होता चला गया है।

यह तो उन जीवों की बात हुई—जिन्हें हिंस्य कहते हैं; अर्थात् जिनकी हिंसा होती है। परन्तु हिंसा करते समय सब हिंसक भी एक रूप के नहीं होते। किसी के अन्तःकरण में हिंसा की भावना बहुत उग्र होती है, क्रोध की ज्वाला बड़ी ही तीव्र होती है, द्वेष की वृत्ति अत्यन्त बलवती होती है; और किसी के हृदय में हिंसा की वृत्ति मध्यम होती है या मन्द होती है या जैसा कि केवल द्रव्य-हिंसा की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, हिंसा की वृत्ति होती ही नहीं है।

हिंस्य और हिंसक की अनेक भूमिकाओं में तारतम्य

इस प्रकार हिंस्य और हिंसक की अनेकानेक भूमिकाएँ हैं और इन दोनों के

योग से ही हिंसा की निष्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सब हिंसाएँ एक ही श्रेणी की होती हैं या उनमें भी कुछ अन्तर है? यदि जीवन में होने वाली समस्त हिंसाएँ एक ही श्रेणी की होती हैं, तब तो शाक-सब्जी का खाना और मांस का खाना एक ही श्रेणी में होना चाहिए था? परन्तु ऐसा नहीं है। यदि ऐसा नहीं है और हिंसा में वस्तुतः किसी प्रकार का तारतम्य है; अर्थात् कोई हिंसा बड़ी है और कोई छोटी है—तो इस वर्ग-भेद का आधार क्या है? कौन-से गज से हिंसा का बड़ापन और छोटापन नापना चाहिए? क्या मरने वाले जीवों की संख्या की अल्पता पर ही हिंसा की अल्पता; और अधिकता पर ही हिंसा की अधिकता निर्भर है? अथवा जीवों के शरीर की स्थूलता और सूक्ष्मता पर हिंसा की विपुलता और न्यूनता अवलम्बित है? अथवा हिंसक की हिंसामयी मनोवृत्ति की तीव्रता और मन्दता पर हिंसा की अधिकता और न्यूनता आश्रित है? आखिर वह कौन-सा मापक है, जिससे हम हिंसा को सही तरीके से नाप सकें?

कुछ लोग कहते हैं—"पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी तो जीव ही हैं। उनमें भी प्राण हैं और उनको भी जीने का हक है। यदि करुणा की भाषा में कहा जाए तो वे बेचारे भी जिन्दगी रखते हैं, किन्तु मूक हैं। शायद इसीलिए आपकी आँखों में उनका मूल्य नहीं है? और द्वीन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक जितने भी बड़े-बड़े प्राणी हैं, उन्हीं की जिन्दगी का आप मोल समझते हैं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो मूक शिशु के समान बेचारे गरीब हैं, जो अपने आप में कुछ सामर्थ्य नहीं रखते हैं और जो अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं योग्य नहीं हैं, ऐसे एकेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा कम मानी जाएगी। जो पंचेन्द्रिय हैं, समर्थ हैं, बोल सकते हैं, उनकी हिंसा बड़ी मानी जाएगी? यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। संसार में सब जीव बराबर हैं, क्या एकेन्द्रिय और क्या पंचेन्द्रिय। हिंसा का एकमात्र आधार जीव है, जीवों में छोटे और बड़ेपन का वर्ग-भेद नहीं है।"

प्रायः हमारे बहुत-से साथी ऐसा कहते हैं कि—"यह जो आपका विचार करने का ढंग है कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में तारतम्य है, और आप उनकी हिंसा को कम और अधिक मानते हैं, यह तो शास्त्र-सम्मत नहीं है। एकेन्द्रिय की हिंसा भी हिंसा है। जब दोनों प्रकार की हिंसाएँ वास्तव में हिंसा की दृष्टि से बराबर हैं तो कमती-बढ़ती कैसी हो गई? सभी हिंसाएँ एक जैसी होनी चाहिए।"

कदाचित् इन्हीं विचारों के फलस्वरूप राजस्थान में एक नए पंथ का जन्म हुआ है। यों तो उस पंथ के जन्म लेने के और भी अनेक कारण सुने जाते हैं, परन्तु यहाँ उन सबके साथ उलझना आवश्यक नहीं। मनुष्य को विचारों का द्वन्द्व ही प्रायः धोखा देता है। मूल में कोई भी कारण रहा हो, किन्तु हिंसा और अहिंसा की व्याख्याओं ने भी कुछ कम धोखा नहीं दिया है और उन्हीं व्याख्याओं के कारण भ्रान्तियाँ

पहले भी थीं, आज भी मौजूद है, और शायद भविष्य में भी रहेंगी। कुछ भी हो, यह प्रश्न गम्भीरता से विचारने योग्य है।

अब तक के विवेचन से एक नई चीज प्रकाश में आई कि—जब सभी जीव समान हैं तो उनकी हिंसा भी समान होनी चाहिए। उनमें से किसी की हिंसा कम, और किसी की ज्यादा कैसे हो सकती है? इस तर्क से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सब जीवों की हिंसा समान है तो फिर कोई कम हिंसक और कोई अधिक हिंसक क्यों कहलाता है? यदि कहलाता है, तो आखिर उसका क्या कारण है?

इस नये प्रश्न का एक नया हल निकाला गया है। वह यह है कि जहाँ जीव ज्यादा मरेंगे, वहाँ ज्यादा हिंसा होगी, और जहाँ कम जीव मरेंगे, वहाँ कम हिंसा होगी। जब इस मान्यता को आश्रय दिया गया तो जीवों की गिनती शुरू हो गई। जब जीवों की गिनती शुरू हो गई तो विभिन्न प्रकार के नए-नए तर्क भी पैदा होने लगे। यथा—एक आदमी भूखा-प्यासा आपके दरवाजे पर आया है, वह प्यास से छटपटा रहा है और मरने वाला है। यदि आप उसे एक गिलास पानी दे देते हैं तो उसके प्राण बच सकते हैं। किन्तु वहाँ हिंसा की तरतमता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। एक तरफ पानी के पिलाने से केवल एक जीव बचता है, किन्तु दूसरी तरफ अनेक जीव मरते हैं? क्योंकि पानी की एक बूंद में असंख्यात जीव हैं। पानी के पी लेने पर वे सब मर जाते हैं। इस प्रकार केवल एक जीव बचाया जा सका, और उसके पीछे असंख्यात जीव मारे गये। फिर यहाँ धर्म कैसे हुआ? और पुण्य कैसे सम्भव होगा? यह तो वही बात हुई कि एक समर्थ की तो रक्षा कर ली गई; किन्तु उसके पीछे असंख्य असमर्थों को मार दिया गया। इस प्रकार जीवों को गिन-गिन कर हिंसा की तरतमता देखी जाती है।

क्या सचमुच जैनधर्म का यही दृष्टिकोण है कि जीवों को गिन-गिन कर हिंसा का हिसाब लगाया जाय? जीवों को गिन-गिन कर हिंसा और अहिंसा का मापक तैयार करना जैन-धर्म को इष्ट नहीं है। जब आगमों की पुरानी परम्परा का अध्ययन करेंगे तो आपको विदित होगा कि जैनधर्म जीवों की गिनती नहीं करता। वह तो केवल भावों को ही गिनता है। वह संख्या के बाहरी स्थूल गज से हिंसा को नहीं नापता। वह तो भावनाओं के सूक्ष्म गज से ही हिंसा की न्यूनता और अधिकता को नापता है।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा के प्रकरण में तंदुल-मत्स्य का शास्त्रीय उदाहरण दिया जा चुका है। बेचारा तंदुल-मत्स्य एक भी मछली को नहीं मार सकता, फिर भी वह घोर से घोर हिंसा का भागी बन जाता है। यदि अधिक जीवों की हिंसा ही बड़ी हिंसा का कारण होती तो शास्त्र हमारे सामने तंदुल-मत्स्य का उदाहरण प्रस्तुत न करते। परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। यह सिद्धान्त जैन-धर्म का नहीं है। यह तो हस्तीतापसों की मनगढ़न्त मान्यता है।[१]

---

१ हस्तीतापसों के लिए देखिए, सूत्रकृताङ्ग सूत्र और उसकी टीका—२, ६, ५२

हस्तीतापसों का मत

प्राचीन काल में अनेकविध तपस्वी होते थे। उनमें से हस्तीतापस घोर तपस्या तथा कठिन व्रतों का पालन करते थे। जब पारणे का दिन आता, तो वे विचार करते थे कि यदि हम वन-फल खाएँगे तो असंख्य और अनन्त जीव मरेंगे। यदि अनाज आदि खाएँगे, तो उसमें भी जीव होते हैं, फलतः सेर-दो सेर अन्न खाने पर अनेक जीव मारे जाएँगे। इसमें हिंसा ज्यादा होगी। तो फिर क्यों न किसी एक ही स्थूलकाय जीव को मार लिया जाए, जिसे हम भी खाएँ, दूसरों को भी खिलाएँ, और साथ ही हिंसा की मात्रा भी कम हो। यह सोच-कर वे जङ्गल में एक हाथी को मार लेते थे और कई दिन तक उसे सुविधा-पूर्वक खाते रहते थे। निस्सन्देह उनका यही विचार था कि हम ऐसा करते हैं तो हिंसा कम होती है।

परन्तु भगवान् महावीर ने कहा है कि ऐसा समझना बिल्कुल गलत है। तुम्हें तो जीवों के गिनने की आदत हो गई है कि वनस्पति में जीवों की संख्या अधिक है तो हिंसा भी अधिक होगी, किन्तु एक हाथी को मार लिया तो संख्या के अनुसार हिंसा कम हो गई। परन्तु ऐसा कदापि न समझो। जब वनस्पति-स्वरूप एकेन्द्रिय की हिंसा होती है, तब भावों में अधिक तीव्रता नहीं होती। उस समय मन में उग्र घृणा और द्वेष के भाव पैदा नहीं होते; क्रूरता और निर्दयता की आग नहीं जलती। परन्तु जब पंचेन्द्रिय जीव मारा जाता है तो अन्तःकरण की स्थिति दूसरे ही प्रकार की हो जाती है। वह हलचल करने वाला विशाल प्राणी है। जब उसे मारते हैं, तो घेरते हैं, और जब घेरते हैं तो वह अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब भीतर के भावों में तीव्रता होगी, क्रूरता एवं निर्दयता की अधिकता होगी और तदनुसार भावों प्रबलता होगी, तभी उसकी हिंसा की जाएगी। एकेन्द्रिय जीव की हिंसा के परिणामों में ऐसी तीव्रता नहीं होती।

भगवान् ने यही बतलाने का प्रयत्न किया है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में भाव एक जैसे नहीं होते हैं। अतएव उनकी हिंसा भी एक जैसी नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों भावों की तीव्रता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हिंसा की तीव्रता में भी वृद्धि होती जाती है, एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव की हिंसा में परिणाम अधिक उग्र होंगे। इसलिए हिंसा का परिणाम भी ज्यादा होगा। इस क्रम के अनुसार द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय में ज्यादा, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय में ज्यादा और चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रियों में ज्यादा हिंसा मानी जाती है। पंचेन्द्रियों में भी औरों की अपेक्षा मनुष्य को मारने में सबसे ज्यादा हिंसा होती है।

भावों की तीव्रता-मन्दता

हिंसा करने वाले के भाव किस गति तक तीव्र, तीव्रतर तथा तीव्रतम होते हैं, यह समझ लेना भी आवश्यक है। आप इस बात पर अवश्य ध्यान दें कि ज्यों-ज्यों विकसित

प्राणी मिलते हैं, जिनकी चेतना का जितना अधिक विकास होता है, उन्हें उतना ही अधिक दुःख होता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक उत्तरोत्तर दुःख ज्यादा होता है। दुःख एक प्रकार की संवेदना है। संवेदना का संबंध चेतना के साथ है। जिसकी चेतना का जितना अधिक विकास होगा, उसे दुःख की संवेदना उतनी ही अधिक होगी। जबकि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की चेतना अधिक विकसित है तो यह भी स्पष्ट है कि उसे दुःख की संवेदना—अनुभूति भी अधिक तीव्र होगी; और जब दुःख की संवेदना तीव्र होगी तो अपनी रक्षा का उपक्रम करते समय आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी बढ़ेगा। इधर मारने वाले में भी उतनी ही अधिक क्रूरता और रुद्रता का भाव जागेगा। जो जीव अपने बचाव के लिए जितना ही तीव्र प्रयत्न करेगा, मारने वाले को भी उतना ही तीव्र प्रयत्न मारने के लिए करना पड़ेगा। इस प्रकार पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा तीव्र भाव के बिना, अत्यधिक क्रूर परिणाम के बिना नहीं हो सकती। इसीलिए उसकी हिंसा एक बड़ी हिंसा कहलाती है और अधिक पाप का कारण होती है। यही कारण है कि भगवती और औपपातिक सूत्र आदि में नरक-गमन के कारणों का उल्लेख करते हुए पंचेन्द्रिय वध तो कहा है, किन्तु एकेन्द्रिय-वध नहीं।

जैनधर्म ऐसा उद्घोषित करता है कि सब जीवों को एक ही मापक से और इस दृष्टिकोण से नहीं नापना है कि सब प्राणी बराबर हैं, फलतः सब को मारने में एक जैसी ही हिंसा होती है। कभी यह भी मत समझो कि एक जीव को मारने से कम हिंसा होती है और अनेक जीवों को मारने से अधिक हिंसा होती है। जैनधर्म में ऐसा कोई एकान्त नहीं है। यह तो हस्तितापसों का मनगढ़न्त मत है, जिसका स्वयं भगवान् महावीर ने निषेध किया है; परन्तु दुर्भाग्य है, आज वही निषेध भगवान् के गले मढ़ा जा रहा है। किन्तु निष्पक्ष विश्लेषण के द्वारा जब वास्तविकता सामने आती है तो सारा भेद खुलकर ही रहता है।

यदि हस्तितापसों की मान्यता को मानने वाला साधु किसी गृहस्थ के घर आहार लेने जाता है। गृहस्थ के घर में एक तरफ उबली हुई ककड़ी का शाक है और दूसरी तरफ उबली हुई मछली है। दोनों ही चीजें, आहार-सम्बन्धी अनुद्दिष्ट आदि नियमों के प्रतिकूल नहीं है। अब बतलाइए, वहाँ वह साधु क्या निर्णय करेगा? जो सब जीवों को बराबर मान कर चलता है, उसके लिए उबली हुई ककड़ी और मछली में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। उसके मतानुसार तो जैसी पीड़ा एकेन्द्रिय को हुई थी, वैसी ही पीड़ा पंचेन्द्रिय को भी होनी चाहिए। परन्तु ऐसी बात जब प्रत्यक्ष रूप से सामने आती है और वास्तविकता की कसौटी पर कसी जाती है, तभी असलियत का पता लगता है।

जब सब जीव एक समान है और सबका शरीर भी समान है तो जिस प्रकार पानी का एक गिलास पी सकते हैं, क्या वैसे ही मनुष्य का रक्त भी पिया

जा सकता है ? जब दोनों ही समानरूप से प्रासुक उपलब्ध हों तो फिर भेद करने का क्या कारण है ?

मांस या कन्दमूल ?

जो मुनि ऐसा मानता है कि कम जीवों के मरने से कम हिंसा होती है और अनेक जीवों के मरने से अधिक हिंसा होती है, उसके सामने एक दिन ऐसा आदमी आता है, जो मांस खाने वाला है और जिसके यहाँ एक बकरा रोजाना हलाल हो जाता है। उसने उस मुनि से निवेदन करता है—"मैं अहिंसा-व्रत धारण करना चाहता हूँ। किन्तु पूर्ण रूप से हिंसा को त्याग देना मेरे लिये शक्य नहीं है, क्योंकि मेरे यहाँ रोजाना एक बकरा मार कर खाया जाता है और गाजर-मूली आदि कन्दमूल भी खाये जाते हैं। इन दोनों में से मैं केवल एक वस्तु का त्याग करना चाहता हूँ। जिसके प्रयोग में अधिक हिंसा होती हो, उसी का त्याग बता दें। जिसमें कम हिंसा होगी, वही पदार्थ मैं खाद्यरूप में ग्रहण करूँगा।"

हो सकता है कि वह मुनि दोनों चीजों का त्याग कराना चाहे, परन्तु त्याग तो त्याग करने वाले की इच्छा पर ही निर्भर है। वह दोनों का त्याग नहीं करना चाहता है। वह तो दोनों में से केवल एक का ही त्याग करना चाहता है; जब यह गम्भीर प्रश्न उस मुनि के सामने आता है तो उसका सही फैसला वह क्या दे सकेगा ? जो इस सिद्धांत को ले कर चला है कि यदि अधिक जीव मरें तो अधिक हिंसा होती है; तो क्या वह कन्दमूल में अनन्त जीव होने के कारण, उसमें अधिक हिंसा मान कर कन्दमूल का उससे त्याग करायेगा ? इधर कंदमूल में अनन्त जीव हैं, किन्तु दूसरी ओर केवल एक बकरा मरता है और उससे सारे परिवार की उदर-पूर्ति हो जाती है ! अब बताइए वे किस सिद्धांत पर चलेंगे ? जीवों की गिनती का हिसाब लगा-लगा कर हिंसा की न्यूनता और अधिकता को तोलने वाले ऐसे प्रसंग पर क्या करेंगे ? त्यागने वाला तो दो में से केवल एक का ही त्याग करना चाहता है। यदि वह मुनि कंदमूल के खाने में अधिक हिंसा समझते हैं तो कंदमूल का त्याग करा दें, यदि बकरे को मारने में अधिक हिंसा समझते हैं तो बकरे का त्याग करा दें। यदि मुनिराज बकरे का त्याग करवाते हैं तो उनकी यह मान्यता समाप्त हो जाती है कि—जहाँ अधिक जीव मरते हैं, वहाँ अधिक हिंसा होती है। चारों तरफ बगलें झाँकने के बाद अन्त में वे बकरा मारने का ही त्याग करायेंगे। किन्तु दुनियाभर में चक्कर काटने के बाद आखिर उन्हें सही सिद्धांत पर ही आना पड़ेगा।

जैन-धर्म में एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय जीव तक की द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा मानी गई है, और साथ ही उसमें क्रमशः तरतमता भी होती है। तरतमता का मूल कारण हिंसा का संक्लेश परिणाम है। जहाँ क्रोध आदि कषाय की तीव्रता जितनी ही कम होती है, वहाँ हिंसा भी उतनी ही कम होती है। इसी कसौटी पर हिंसा की

तीव्रता और मंदता को परखना जैन-धर्म को इष्ट है। जब इस कसौटी पर हिंसा और अहिंसा को कसेंगे तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि एकेन्द्रिय[२] की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को मारने में हिंसक के मन में रौद्र-ध्यान अधिक तीव्र होता है और मरने वाले जीव में भी चेतना अधिक विकसित होने के कारण दुःख की अनुभूति अधिक ही होती है, फलतः उसके आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी अधिक तीव्र हो जाते हैं। इस प्रकार जब वहाँ भाव-हिंसा तीव्र है, तो द्रव्य-हिंसा भी स्वभावतः बड़ी ही होगी।

दयामूर्ति भगवान् नेमिनाथ

यदि ऐसा न माना जाय तो भगवान् नेमिनाथ का पशुमोचन-सम्बन्धी अटिल प्रश्न कैसे हल होगा ? वे तो वैराग्य के सागर थे, विवाह नहीं करना चाहते थे, किन्तु उन्हें विवाह के लिए किसी न किसी तरह मना लिया गया और बरात की तैयारी होने लगी; तब उन्हें स्नान कराया गया। कहते हैं, १०८ घड़ों के पानी से स्नान कराया गया। विभिन्न प्रकार के फूलों की अनगिनत मालाएं पहनाई गईं। यह सब कुछ होता रहा, किन्तु फिर भी उन्होंने यह नहीं कहा कि "मेरे विवाह के लिये इतनी अधिक हिंसा हो रही है ! एक बूंद में असंख्यात जीव हैं और एक फूल की एक पंखुड़ी में असंख्य अनन्त जीव हैं। अतः मैं विवाह नहीं करना चाहता।" इस प्रकार वहाँ पर उन्होंने कोई विरोध प्रकट नहीं किया।

लेकिन बरात द्वारिका से चल कर राजा उग्रसेन के यहाँ पहुँची और जब रथारूढ़ हो कर नेमिनाथ तोरण पर आये तो एक बाड़े में कुछ पशु-पक्षियों को घिरा देखा। यहाँ उन पशु-पक्षियों की करुण पुकार उनके कानों से पड़ी और जब उसका कारण पूछा, तो उनके सारथी ने कहा—"महाराज ! ये भद्र प्राणी आपके विवाह प्रसंग पर भोजनार्थ मारने के लिये एकत्र किये गये हैं।"[३]

सारथी की बात सुनते ही भगवान् के अन्तःकरण में दया का सागर उमड़

---

२ जिन जीवों के एक त्वचारूप स्पर्शन-इन्द्रिय होती है, वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति एकेन्द्रिय कहलाते हैं। स्पर्शन और रसन=जिह्वा वाले लट, गिंडोले आदि द्वीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसन और घ्राण=नाक वाले चींटी आदि त्रीन्द्रिय हैं। स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु=आँख वाले मक्खी मच्छर आदि चतुरिन्द्रिय हैं। और स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र=कान वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पंचेन्द्रिय प्राणी हैं।

३ अह सारही तओ भणइ एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झ विवाहकज्जंमि, भोयावेउं बहुजणं॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २२, २७

पड़ता है।[१] वे करुणार्द्र हो कर कहते हैं—"एक तरफ तो आनन्द-मंगल हो रहा है, मांगलिक बाजे बज रहे हैं और दूसरी तरफ इन मूक पशुओं की गर्दनों पर छुरियाँ चलाने की तैयारी हो रही है।"

बस यह विचार उत्पन्न होते ही उन्होंने सारथी से कहा—'इन पशुओं को बाड़े से बाहर निकाल दो।' जब सारथी ने पशुओं को निकाल दिया तो भगवान् प्रसन्न हो कर सारथी को अपने अमूल्य आभूषण इनाम में दे देते हैं और साथ ही विवाह न करने का दृढ़ संकल्प कर साधना के महापथ पर चल पड़ते हैं।

यादवजाति मानो जाग उठी। कदाचित् इससे पूर्व अहिंसा के विषय में उसकी कोई विशेष स्पष्ट धारणा नहीं थी। इस उदाहरण से उसे एक नया सबक मिल गया। उसे ध्यान आया कि विवाह के समय हम जो बड़ी-बड़ी हिंसाएँ करते हैं और मूक पशुओं की गर्दनों पर छुरी चलाते हैं, यह कितना बड़ा अनर्थ है! कितनी बड़ी अमानुषिकता है!

भगवान् नेमिनाथ ने विवाह का परित्याग करके जो उच्च आदर्श समाज के सामने उपस्थित किया, उसका वर्णन भगवान् महावीर ने भी किया है। भगवान् नेमिनाथ ने स्नान करते समय, जलकाय के असंख्य एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा जानते हुए भी विवाह का त्याग नहीं किया; किन्तु बाड़े में बंद किए हुए कुछ गिनती के पंचेन्द्रिय प्राणियों को देख कर और दया से द्रवित हो कर उन्होंने विवाह करना अस्वीकार कर दिया। इससे क्या निष्कर्ष निकलता है? यदि भगवान् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा को समान समझते तो स्नान करते समय ही उसका विरोध कर देते और उसी समय विवाह करना अस्वीकार कर देते, क्योंकि वहाँ असंख्य जल-जीवों की हिंसा हो रही थी। यदि उस समय विवाह का त्याग नहीं किया तो फिर जल के जीवों की अपेक्षा बहुत थोड़े पंचेन्द्रिय पशु-पक्षियों की हिंसा से द्रवित हो कर भी विवाह का त्याग न करते। परन्तु संख्या में थोड़े-से पंचेन्द्रिय जीवों को मारने के लिये नियत देख कर उनके हृदय में करुणा का स्रोत बह उठा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा समान नहीं है।

एक गृहस्थ वनस्पति पर चाकू चलाता है और दूसरा किसी मनुष्य या पशु की गर्दन पर छुरी चलाता है तो क्या दोनों समान पाप के भागी हैं? क्या दोनों की हिंसा समान कोटि की है? जो लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा को समान ही मानते हैं, क्या वे गृहस्थ एकेन्द्रिय के समान पंचेन्द्रिय का भी वध करते हैं? यदि वे स्वयं ऐसा नहीं करते तो दुनिया को चक्कर में डालने के लिये एकान्तरूप से सर्व-विध हिंसा की समानता का प्रतिपादन क्यों करते हैं?

---

१ देखिए—उत्तराध्ययन सूत्र २२।१८-१९

अहिंसा और हिंसा का प्रधान केन्द्र तो व्यक्ति की भावना ही है। अतएव उसे ही आत्मा की कसौटी पर कसकर देखना होगा। जो इस प्रकार देखेंगे, वे हस्तीतापसों के युग में विचरण करने नहीं जाएँगे। जीवगणना के द्वारा हिंसा एवं अहिंसा को आंकना, यह जैनधर्म की अपनी कसौटी नहीं है, प्रत्युत भगवान् महावीर ने तो इसका प्रबल विरोध किया है। परन्तु दुर्भाग्य से यह भ्रान्ति हमारे अन्दर समाविष्ट हो गई है, अतः आज के विचारशील जैनों को उक्त भ्रान्ति के सम्बन्ध में अपना मत संसार के समक्ष स्पष्ट कर देना आवश्यक है। यह एक महत्त्वपूर्ण चर्चा है, और दया-दान-सम्बन्धी समस्त नये-पुराने वाद-विवाद इसी में निहित हैं। अहिंसा को समझने के लिए हिंस्य जीवों के शरीर, इन्द्रिय, चेतना आदि के विकास के तारतम्य एवं हिंसक के मनोभावों की तीव्रता-मन्दता को समझना होगा।

अहिंसा की त्रिपुटी

१०

धर्म के जितने भी मार्ग हैं, एक तरह से सभी अहिंसा के ही मार्ग हैं। धर्म के विभिन्न रूप भी अहिंसा के ही पृथक्-पृथक् रूप हैं। आचरण-सम्बन्धी जितने भी विधि-विधान हैं, उन सबमें अहिंसा उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे समुद्र की प्रत्येक लहर में जल। क्या सत्य, क्या अस्तेय, क्या ब्रह्मचर्य और क्या अपरिग्रह, सबके साथ ही अहिंसा चलती है। जीवन की किसी भी ऊंची भूमिका में, ऐसा नहीं है कि अहिंसा छूट जाए। यह कभी संभव नहीं होगा कि अहिंसा बिछुड़ जाए और सत्य चलने लगे, या अपरिग्रह उसे छोड़ कर आगे चल पड़े। अहिंसा-वीणा की मधुर झंकार सर्वत्र सुनाई देती है। इस प्रकार अहिंसा का स्वरूप विराट् है और उसी के सहारे धर्मों के समस्त नियम और उपनियम टिके हुए हैं।

अब देखना यह है कि जिस अहिंसा अथवा हिंसा को व्यक्ति अपने जीवन के अन्दर ले कर चलता है, तब वह कहां-कहां और किस-किस रूप में रहती है? जब यह बात भली-भांति समझ में आ जाएगी तो हमारे सामने अहिंसा का शुद्ध रूप भी स्वतः उपस्थित हो जाएगा।

शरीर और आत्मा

एक ओर शरीर है, तो दूसरी ओर आत्मा। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जो कर्म-बंध होते हैं, वे शरीर के द्वारा होते हैं या आत्मा के द्वारा? उत्तर है—जीवन में एक प्रकार की जो चंचलता और हलचल-सी रहती है, जिसे शास्त्र की परिभाषा में योग कहते हैं, उसी के द्वारा कर्मों का बंध होता है। यह हलचल न तो अकेले शरीर में होती है, और न अकेली आत्मा में; बल्कि एक-दूसरे के प्रगाढ़ सम्बन्ध के कारण दोनों में समानरूप से होती है। गहराई से विचार करने पर यह मालूम हो जायगा कि न केवल शरीर के द्वारा बंधन हो सकता है और न केवल आत्मा के द्वारा। यदि केवल शरीर के द्वारा ही बंधन होता, तो जब आत्मा नहीं रहती है और शरीर मुर्दा हो जाता है, तब भी कर्म-बन्धन होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः ऐसा जा सकता है कि यह शरीर जड़ वस्तु है। यह अपने आप में कुछ नहीं है; यह तो मिट्टी का डेला है, जो अपने आप कुछ भी करने वाला नहीं है। जब तक आत्मा की किरण नहीं पड़ती और आत्मा का स्पन्दन नहीं होता, तब तक शरीर कोई क्रिया नहीं कर सकता। यदि यह अपने आप कुछ कर पाता तो आत्मा के निकल जाने पर भी कर्म-बंध अवश्य होता।

प्रश्न उठता है, यदि शरीर कर्म को नहीं बाँधता है, तो क्या उसे आत्मा बाँधता है ? और यह जो शुभ या अशुभ जीवन-धारा बह रही है, वह शरीर में नहीं तो क्या आत्मा में बह रही है ? यदि आत्मा ही शुभ और अशुभ कर्मों का संचय कर रहा है—ऐसा मान लिया जाए तो जैन-धर्म की मर्यादा स्पष्ट नहीं होती। यदि आत्मा स्वयं, बिना शरीर के कर्म-बंध कर सकता है तो मुक्ति की दशा में भी कर्म-बंध होना चाहिए। वस्तुतः मोक्ष में क्या है ? वहाँ एकमात्र सिद्धत्वरूप है, ईश्वरीय रूप है और परम विशुद्ध परमात्म-दशा है। वहाँ शरीर नहीं रहता, केवल आत्मा ही रहता है। यदि आत्मा ही कर्म-बंध का कारण है तो सिद्धों को भी कर्म-बंध होना चाहिए। वहाँ भी शुभ और अशुभ कर्म होने चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। वहाँ आत्मा कर्म-बंध से अतीत, विशुद्ध ही रहती है। अतएव स्पष्ट है कि अकेला आत्मा भी कर्मों का बंध नहीं करता।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि कर्म-बन्ध आत्मा और शरीर के संयोग से होता है। जब तक ये दोनों मिले रहते हैं, तब तक संसारी दशा में कर्म-बन्ध होता रहता है। परन्तु जब ये दोनों अलग-अलग हो जाते हैं, न केवल स्थूल-शरीर ही; अपितु सूक्ष्म-शरीर भी आत्मा से अलग हो जाता है, तो इस अवस्था में कर्म-बन्ध का सर्वथा अन्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा और शरीर के संयोग पर ही कर्म-बन्ध आधारित है।

कल्पना करें—भंग है, और वह अधिक से अधिक तेज घोट कर रखी गई है। अब प्रश्न यह है कि उसका जो नशा है, और नशे के प्रभाव से जो पागलपन होता है, वह भंग में है या पीने वाले में है ? यदि पीने वाले में है तो भंग पीने से पहले भी उसमें उन्माद और दीवानापन होना चाहिए था। किन्तु ऐसा तो है नहीं। भंग पीने से पहले पीने वाले में पागलपन नहीं होता। यदि पीने वाले में और उसकी आत्मा में नशा नहीं है, मादकता भी नहीं है—तो क्या भंग में ही है ? यदि भंग में ही है तो भंग जब घोट-छान कर गिलास में रखी हो, तब उसमें भी दीवानापन आना चाहिए। किन्तु देखते हैं, वहाँ कुछ नहीं है। वहाँ वह शांतरूप में, लोटे या गिलास में पड़ी रहती है। परन्तु जब पीने वाले का संग होता है, तब जा कर दशा चढ़ता है, उन्माद और पागलपन भी आता है। तात्पर्य यह हुआ कि अकेली भंग और अकेली आत्मा में नशा नहीं है, बल्कि जब दोनों का संग होता है तभी मादकता पैदा होती है। इसलिए न अकेले शरीर पर दोषारोपण किया जा सकता है और न अकेली आत्मा को ही अपराधी समझा जा सकता है। जब आत्मा निस्संग हो जाती है और विशुद्ध बन जाती है, तब उनमें कोई हरकत या स्पन्दन नहीं रह जाता। इसी को योग-निरोध कहते हैं। जब तक आत्मा और शरीर का ऐहिक संसर्ग है, तब तक योग है, और जब तक योग है, तभी तक कर्म-बन्ध है।

हिंसा के द्वार : योग और करण

इस प्रकार जैनधर्म का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के द्वारा हिंसा

होती है, किन्तु वह शरीर के माध्यम से ही होती है। शरीर में ही मन और वचन की धारा भी बहती है। ये तीनों 'योग' कहलाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार हिंसा पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है? इसके लिए स्थूल शरीर को पाप करने से रोका जा सकता है, वचन को असद्भाषण से रोका जा सकता है और मन को भी अशुभ संकल्पों से हटा लिया जा सकता है। हैं, एक प्रकार से शरीर पर नियन्त्रण रखने से शरीर के द्वारा होने वाले पाप रुक जाते वचन पर अधिकार रखने से वचन द्वारा होने वाले पाप रुक जाते हैं, और मन पर अंकुश लगा देने से मानसिक पाप रुक जाते हैं।

मन, वचन और शरीर—ये तीन हिंसा और अहिंसा की आधारभूमिकाएँ हैं; और आगे चल कर इन तीनों के भी तीन-तीन भेद हो जाते हैं। मन से स्वयं हिंसा करना, दूसरे से करवाना और हिंसा करने वाले के कार्य का अनुमोदन-समर्थन करना। इसी प्रकार वचन और शरीर के साथ भी ये तीनों विकल्प चलते हैं।

जैन श्रावक (गृहस्थ) दो करण[1] तथा तीन योग से हिंसा का परित्याग करता है। अर्थात्—वह न तो मन, वाणी और शरीर के द्वारा हिंसा करता है और न मन, वाणी और शरीर द्वारा अन्य किसी से हिंसा करवाता ही है। गृहस्थ को अनुमोदन की छूट है। एक आदमी स्वयं काम करता है और उससे पापबन्ध होता है। दूसरा स्वयं करता नहीं, अपितु दूसरों से करवाता है और उससे पाप-बन्ध होता है। तीसरा स्वयं करता भी नहीं, करवाता भी नहीं, सिर्फ करने वाले का अनुमोदन या सराहना करता है और उसमें भी पाप-बन्ध होता है। अतः प्रश्न यह है कि इन तीनों में से किस स्थिति में पाप ज्यादा होता है? अर्थात् तीनों विकल्पों से आने वाला पाप समान है या न्यूनाधिक?

हिंसा किसमें ज्यादा, किसमें कम?

जैनधर्म अनेकांतवादी धर्म है, एकांतवादी नहीं। वह प्रत्येक सिद्धांत को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखता है। ऐसी स्थिति में धर्म, पुण्य या पाप का निर्णय देते समय वह एकपक्षीय निर्णय कैसे दे सकता है? अस्तु, जैनधर्म इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर विचारों की विभिन्नरूपता पर ही छोड़ देता है। अतएव विचारों का जो प्रवाह आता है, वह भी विभिन्न रूपों में प्रकट होता है; अर्थात्—एक व्यक्ति को किसी रूप में और दूसरे को दूसरे रूप में प्रकट होता है। इसकी गति कहीं तीव्र होती है, तो कहीं मन्द। जब तक उसकी भूमिका नीची रहती है और राग-द्वेष का आधिक्य होता है, तब तक विकल्पात्मक विचारों के प्रवाह में भी तीव्रता होती है। जैसे पृथ्वी का ढलाव पा कर पानी का प्रवाह तेज हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की नीची भूमिका में संकल्प और

---

१ गृहस्थ को संकल्पपूर्वक निरपराध प्राणियों की स्थूल हिंसा का परित्याग करना होता है।

विकल्पों का प्रवाह भी तीव्रता धारण कर लेता है। जैसे तलाव में बढ़ने वाले पानी का प्रवाह अनियंत्रित हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की भूमिका जब नीची होती है तो विचारों का प्रवाह भी अनियंत्रित रहता है। इसके विरुद्ध जब साधक की भूमिका ऊँची होती है और राग-द्वेष मन्द होते हैं, तब साधक प्रत्येक कार्य मन्दभाव या अनासक्त-भाव से करता है और उसमें यथासम्भव तटस्थबुद्धि भी रखता है। विवेक-विचार से काम लेता है और उसका हर कदम निमन्त्रण के साथ बढ़ता है। इस तरह वह चलता भी है और रुकता भी है।

जीवन-गाड़ी के दो गुण : प्रवृत्ति और निवृत्ति

जीवन की गाड़ी में दोनों प्रकार के गुण होने चाहिए—आवश्यकता होने पर वह चल सके और आवश्यकता होने पर यथावसर रोकी भी जा सके। यदि वह मोटर है, तो उसमें चलने का, और समय पड़ने पर ब्रेक लगाते ही रुकने का गुण भी होना चाहिए। जीवन की गाड़ी को भी जहां साधक ठीक समझता है, वहां चलाता है और यथावसर रोक भी लेता है। वह अपने मन, वचन और शरीर से काम लेता है और जब चाहता है, तब उनकी गति को रोक भी सकता है। वह हरकत तो करेगा ही, जीवन को मांस का पिण्ड बना कर नहीं रखेगा। यदि रखेगा भी तो कहां तक? आखिर जीवन तो जीवन है, और वह भी मानव का जीवन। अस्तु, जीवन को जीवन के वास्तविक रूप में ही व्यतीत करना है; जड़रूप में निष्क्रिय नहीं बनाना है। जगत् में जीवन तो जीवन के ही रूप में रहेगा, जड़ के रूप में नहीं रह सकता। उसमें स्पन्दन का होना अनिवार्य है। यदि हठात् शरीर और वचन पर ताला डाल भी दिया जाए, तो मन का क्या होगा? वह तो अपने चंचल स्वभाव के कारण उछल-कूद मचाता ही रहेगा। वह हजारों प्रकार के बनाव और बिगाड़ करता रहता है। मन राजा है। भला, उस पर सहसा ताला किस प्रकार लगाया जा सकता है? जीवन है तो ये सब हरकतें भी रहेंगी ही। किन्तु साधक में इतना सामर्थ्य आना चाहिए कि उसके जीवन की गाड़ी जब कभी गलत रास्ते पर जाने लगे, तब वह उसे रोक दे और यथाशीघ्र सही रास्ते पर ले आए।

एक साधक स्वयं काम करता है। यदि उसमें विवेक है, विचार है और चिंतन है, तो वह यथावसर चलता भी है और इधर-उधर के पाप-प्रवाह को कम भी करता है। यदि चलते समय कोई क्रीड़ा मार्ग में आ गया, बालक आ गया या बूढ़ा आ गया तो उन्हें अवश्य बचा लेता है। क्योंकि उसे चलना है, पर विवेक के साथ।

भारतीय संस्कृति की परम्परा में चलने के लिए भी नियम हैं। यदि सामने से बालक आ रहा है और रास्ता तंग है, तो वयस्क पुरुष या स्त्री को किनारे पर खड़ा हो जाना चाहिए और उस बालक को पूरी सुविधा देनी चाहिए। उसका सम्मान करना चाहिए। बालक दुर्बल है और उसे इधर-उधर भटकाना उचित नहीं, क्योंकि वह गड़बड़ में पड़ जाएगा। इसलिए उसे सीधे नाक की राह जाने दो। यदि कोई

बहन आ रही है तो भारतीय संस्कृति का तकाजा है कि पुरुष को बच कर एक ओर खड़ा हो जाना चाहिए और उस बहन को सीधी राह से चलने देना चाहिए। यदि कोई वृद्ध आ रहा है, तो नौजवान को अलग किनारे खड़ा हो जाना चाहिए और वृद्ध को इधर-उधर नहीं होने देना चाहिए। उसकी वृद्धावस्था का ख्याल रखकर उसे सुविधा के साथ चलने देना चाहिए। यदि कोई प्रजा आ रहा है तो प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह राजा को रास्ता दे और किनारे खड़ा हो जाए। पहले राजा थे, अब इस जमाने में नेता या संरक्षक होते हैं। न मालूम वे कहाँ और किस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए जा रहे हैं। उनके रास्ते में रोड़ा क्यों अटकाया जाए? यदि सामने से साधु-संत आ रहे हों, तो राजा को भी रास्ता बचा कर सामान्य प्रजाजन की भाँति किनारे खड़ा हो जाना चाहिए और साधु को सीधा चलने देना चाहिए।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि साधु को भी कहीं रुकना चाहिए या नहीं? सभ्यता और संस्कृति की आत्मा अपने आप ही बोल उठती है कि साधु चल रहा है और सामने से कोई मजदूर बजन लादे आ रहा है, तो साधु को भी रास्ता छोड़कर किनारे खड़ा हो जाना चाहिए। जो मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लदा चला आ रहा है, बोझ से हाँफता और पसीने से लथपथ हुआ चल रहा है, तो उसे हटने के लिए कभी नहीं कहना चाहिए। चाहे कोई राजा हो या साधु-संत हो, उस मजदूर के लिए सबको हटना चाहिए।

यह सब क्या है? यही कि चलने के साथ जरूरत पड़ने पर 'ब्रेक' लगाना है। इसी प्रकार आवश्यकता होने पर अपने जीवन को रोक भी लेना चाहिए। यह नहीं कि गाड़ी छूट गई तो बस छूट ही गई। वह कहीं भी टकराये, किन्तु हम तनिक भी इधर-उधर न होंगे! नहीं, साधक को बच कर चलना चाहिए। आशय यह है कि जीवन की जो भी गतियाँ हैं, उनमें खाना, पीना, रहना आदि सभी कुछ सम्मिलित हैं। उन सब में प्रवृत्ति भी करनी है और निवृत्ति भी। प्रवृत्ति करते समय वातावरण, समय, व्यक्ति और स्थान आदि का यथोचित ध्यान रखना आवश्यक है। जीवन की गति को विवेकपूर्वक रोक कर भी रखना है और आगे भी बढ़ाना है।

इतनी भूमिका के बाद इस प्रश्न का उत्तर सरल हो जाता है कि करने में ज्यादा पाप है, या कराने में, अथवा अनुमोदन में ज्यादा पाप है? पहले ही कहा जा चुका है कि जैन-धर्म अनेकांतवादी धर्म है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ भी वास्तविकता का पता लगाया जा सकता है।

करने की अपेक्षा करवाने में अधिक हिंसा : अविवेक के कारण

जो साधक स्वयं दक्षता-पूर्वक काम कर सकता है किन्तु वह स्वयं न करके किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसकी भूमिका उस काम के योग्य नहीं है, जो उस काम को विवेक के साथ नहीं कर सकता है, यदि आग्रहपूर्वक करवाता है तो ऐसी स्थिति में करने की अपेक्षा करवाने में ज्यादा पाप होता है।

किसी के घर नव-वधू आई। धनिक बाप की पुत्री होने के कारण वह मायके में घरेलू काम-काज नाममात्र को ही करती थी। अतः घर-गृहस्थी के काम में उसको निपुणता प्राप्त न होना स्वाभाविक था।

घरेलू काम-काज में निपुण न होते हुए भी कोई भी नव-वधू यह नहीं चाहती कि उसकी मौजूदगी में सास या ननद भोजन बनावें। अतएव अपने उत्तरदायित्व को पहचान कर बधू ने भोजन बनाने की रुचि प्रकट की और रसोईघर में जा पहुंची। परन्तु सास को यह मालूम था कि उसकी पुत्र-वधू भोजन बनाना नहीं जानती; अतः उसने बहू से कहा :—

—तू रहने दे बहू, मैं ही खाना बना लूंगी।

बहू—मेरे रहते हुए यह कैसे हो सकता है कि आप खाना बनाएं?

सास—अरी! मुझे मालूम है कि तू भोजन बनाना नहीं जानती; इसलिए रहने भी दे!

बहू—यह कैसे मालूम हुआ कि मैं भोजन बनाना नहीं जानती? इस दोष को सदैव के लिए दूर करने को मैं अभी भोजन बना कर दिखाए देती हूँ।

यह कह कर बहू भोजन बनाने में जुट गई, और आटा गूँथना शुरू कर दिया, किन्तु विचारों की अस्थिरता के कारण आटे में पानी अधिक पड़ गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि पानी के आधिक्य ने आटे का लचीलापन समाप्त कर दिया। इस दृश्य को सास गम्भीरतापूर्वक देख रही थी। भला इस अवसर पर वह चुप कैसे रहती? अस्तु, बुढ़िया बोली—"बहूरानी! मैंने पहले ही कहा था कि भोजन मैं ही बना लूंगी। क्योंकि तुझे भोजन बनाने का अभ्यास नहीं है। देख ले, तेरे हाथ से आटा पतला हो गया न! घर में और आटा भी नहीं है, जिससे आटे के पतलेपन को दूर किया जा सके।

सास के कथनानुसार अपनी अनुभवहीनता प्रमाणित हो जाने पर बहू सहसा सहम-सी गई। परन्तु किसी भी उपाय से पतले आटे का उपयोग करना ही था। अतः धीरज धारण कर विनम्रभाव से बोली—"तो माताजी! किस उपाय से इस पतले आटे को ठीक किया जा सकेगा?"

सास—"ऐसे पतले आटे के तो पूए ही बन सकते हैं, सो मैं बनाए देती हूँ।"

बहू—"इसके पूए तो मैं ही बना लूंगी। आप मेरे पास ही बैठी रहें और आवश्यकतानुसार संकेत देती रहें।" बहू के सादर निवेदन को स्वीकार कर बुढ़िया वहीं बैठी रही और पूए बनाने के लिए आटे को और पतला करने के लिए बहू को थोड़ा-सा पानी डालने को कहा। संकेत मिलते ही बहू ने पानी डालना शुरू किया और इसी सनक में इस बार भी पानी अधिक पड़ गया। इस बार आटे का रूप ही बदल गया। अर्थात् सफेद रंग का कोई पतला और तरल पदार्थ दिखाई देने लगा। आटे की इस दुर्दशा ने चाहे बहू को चिन्तित और खिन्नचित्त न बनाया हो, परन्तु बुढ़िया के मन को गहरी ठेस पहुंची और वह उसी गम्भीर भाव से बोली—"अरी

लक्ष्मी ! मैंने पहले ही कहा था कि तू अपनी चतुराई मत कर, किन्तु तू कब मानने वाली थी ! अब फैंकने के सिवाय इसका और कुछ नहीं बनेगा।"

बहू—"फैंकने का काम तो मैं बिना किसी के बताए ही कर लूंगी। भला, इसमें कौन-से शास्त्रीय ज्ञान तथा गुरु के उपदेश की जरूरत है ? यह कहते हुए आटे के बर्तन को उठा कर बहू उसे सड़क पर फैंकने चली और जब ऊपर की मंजिल की खिड़की के पास पहुँच गई, तब नीचे से बुढ़िया ने पुकार कर निर्देश दिया—"अरी ! तू जिद में इसे ले तो गई है, किन्तु भले आदमी को देख कर ही फैंकना।"

आज्ञाकारिणी पुत्रवधू इस अन्तिम अवसर पर सास के उपदेश का भला कैसे उल्लंघन करती ? वह किसी भले आदमी के आने और खिड़की के नीचे से गुजरने की प्रतीक्षा करती रही। इतने में ही कोई भला आदमी आता हुआ दिखलाई दिया, और ज्यों ही वह खिड़की के नीचे आया, त्यों ही बहू ने ऊपर से उसके ऊपर आटे का पानी डाल दिया।

सचमुच यदि कोई भला आदमी होता तो शायद उसकी ओर से इतनी उत्तेजना भी पैदा न होती। किन्तु दुर्भाग्यवश वह आदमी सज्जन कहलाने वाले व्यक्तियों में से न था। अपने को आटे के पानी से तरबतर पाकर वह उत्तेजित हो उठा और अपने स्वभाव के अनुसार बेसिर-पैर की अनर्गल बातें बकने लगा। उसकी उत्तेजनापूर्ण बकवास को सुन कर राह चलने वाले लोग इकट्ठे हो गये, और उस व्यक्ति को समझा-बुझा कर विवाद का निपटारा कर दिया।

आटे के भाग्य का अन्तिम फैसला करके जब नव-वधू ऊपर से नीचे आ गई तो सास ने पूछा—

"अरी पगली ! यह तूने क्या किया ? क्या मेरे बतलाने का यही संतोषजनक फल होना चाहिए था ?"

बहू बोली—"माताजी, व्यर्थ में क्यों बिगड़ती हो ? जैसा आपने बतलाया, वैसा ही तो मैंने किया। क्या आपने यह नहीं कहा कि भले आदमी को देख कर ही पानी डालना ?" बहू के इस मूर्खतापूर्ण कथन को सुन कर, सास ने अपना माथा ठोक कर गहरी सांस लेते हुए कहा—हाय रे भाग्य ! जो ऐसी सुलक्षणा पुत्र-वधू मिली।

एक पगडंडी

हाँ, तो उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य है कि—कोई स्त्री हो या कोई पुरुष सबकी जीवन-यात्रा का एक ही मार्ग है। ऐसा भूल कर भी नहीं है कि महिलाओं के लिए कोई अलग पगडंडी बनी हो, और पुरुषों के लिए कोई दूसरी। सभी के लिए केवल एक पगडंडी है, और वह है—'विवेक' की। यदि हमारा विचार सुस्थिर है, और विवेक अभीष्ट लक्ष्य-बिन्दु में केन्द्रित है, तो किसी कार्य को स्वयं करना अथवा दूसरों से करवाना, दोनों ही प्रकार के मार्ग निश्चितरूप से ठीक होंगे। विवेक के द्वारा ही पापों के प्रवाह से बचा जा सकता है। किन्तु जहाँ अविवेक का बाहुल्य है,

अज्ञान है, फिर भी मनुष्य आग्रहपूर्वक काम करता या करवाता है और यथाप्रसंग ब्रेक नहीं लगाता है, तो अधिक पापार्जन करता है।

जब शरीर पर नहीं, तो वचन पर ब्रेक कैसे रह सकता है? अस्तु, अविवेकी मनुष्य इस प्रकार काम करता है, जिससे ज्यादा हिंसा होती है और फिर उसकी प्रतिक्रिया पूरे वातावरण को अशुद्ध बना देती है। जहाँ अविवेक है, वहाँ करने में भी ज्यादा पाप है और कराने में भी ज्यादा पाप है। इसके विपरीत जहाँ विवेक है, वहाँ स्वयं करने में भी और दूसरों से कराने में भी पाप कम होता है।

एक बहिन जो विवेकवती है, यदि वह स्वयं काम करती है, तो समय पड़ने पर जीवों को बचा लेगी, चीजों का अपव्यय नहीं करेगी और चौके की मर्यादा को अहिंसा की दृष्टि से निभा सकेगी। सेठानी और हमारी बी०ए० तथा एम०ए० पास बहिनें स्वयं काम न करके यदि एक अनजान नौकरानी को काम सौंप दें, जिसे कुछ पता नहीं कि विवेक क्या है? वह रोटियाँ सेंक कर आपके सामने डाल देती है, पर, उसमें चौके की अहिंसा-सम्बन्धी मर्यादा की बुद्धि नहीं है। अहिंसा की संस्कृति के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विचारधारा उसे नहीं मिली। इस स्थिति में यदि वह भोजन बनाने के काम पर बिठा दी गई है तो समझिए कि कराने में ही पाप ज्यादा होगा। यदि कोई बहिन स्वयं विवेक के साथ कार्य करेगी, कदम-कदम पर अहिंसा का विवेक ले कर चलेगी और उसके अन्तर में दया एवं करुणा की लहर उद्बुद्ध होगी, तो उसे ख्याल होगा कि खाने वाले क्या खाते हैं और वह उनके स्वास्थ्य के अनुकूल है या प्रतिकूल? किन्तु उसने आलस्यवश स्वयं कार्य न करके विवेकशून्य नौकरानी के गले मढ़ दिया तो वह कब देखने लगी कि पानी छना है या नहीं, आटा देखा गया है या नहीं, कीड़े-मकोड़े पड़े हैं या नहीं? इस तरह वह चौके को संहार-गृह का रूप दे देती है। किसी तरह रोटियाँ तो तैयार हो जाती हैं और आपके सामने रख दी जाती हैं। यहाँ कराने में भी ज्यादा पाप होता है।

इस प्रकार सत्य का महान् सिद्धान्त आपके सामने आ गया है। इसके विरुद्ध और कोई बात नहीं कही जा सकती, और यह सिद्धान्त जैसे गृहस्थों पर लागू होता है, उसी प्रकार साधुओं पर भी। कल्पना कीजिए—किन्हीं गुरुजी के पास एक शिष्य है। गुरुजी को गोचरी-सम्बन्धी नियम-उपनियम, विधि-विधान, सबका परिज्ञान है और शिष्य को भिक्षा-सम्बन्धी दोषों का ज्ञान नहीं है। नियमों और विधानों को भी वह अभी तक नहीं सीख-समझ पाया है। वह गोचरी का अर्थ केवल माल इकट्ठा करना ही जानता है। ऐसी स्थिति में यह समझना कठिन नहीं है कि गुरुजी यदि स्वयं गोचरी करने जाते तो विवेक का अधिक ध्यान रख सकते थे। पर वे स्वयं गोचरी करने नहीं गये और विवेकहीन शिष्य को भेज दिया। उसे पता नहीं कि किसे, कितनी और किस चीज की आवश्यकता है? वह जिस घर से भिक्षा ले रहा है, वहाँ बूढ़ों और बच्चों के लिए पीछे कुछ बचा है या नहीं? रूखे प्राणियों की हिंसा का भी कोई विशेष

ध्यान नहीं है। यह शिष्य गोचरी में दोषों का भंडार ही ले कर आएगा। इस प्रकार स्वयं करने की अपेक्षा दूसरों से करवाने में ज्यादा हिंसा हो जाती है।

पाप की न्यूनाधिकता

भारतीय संस्कृति और उसमें भी विशेषतः जैन-धर्म की यह शिक्षा है कि हर काम विवेक से करना चाहिए। विवेक और चिन्तन हर काम में चालू रहना चाहिए। इस प्रकार किसी कार्य को स्वयं करने और दूसरों से करवाने में पाप की न्यूनाधिकता विवेक और अविवेक पर निर्भर करती है। विवेक के साथ 'स्वयं' करने में कम पाप है, जबकि अविवेकपूर्वक दूसरे अयोग्य व्यक्ति से कराने में अधिक पाप है। दूसरी ओर अविवेक से साथ स्वयं करने में अधिक पाप है, जबकि उसी कार्य को विवेक के साथ दूसरे योग्य व्यक्ति से कराने में कम पाप है। यह जैन-धर्म की अनेकान्त-दृष्टि है।

तीसरा करण अनुमोदन है। एक आदमी स्वयं काम नहीं करता, दूसरों से करवाता भी नहीं, केवल काम करने वालों की सराहना करता है। कहीं लड़ाई हुई, इतने जोर से कि सिर फट गये। एक तमाशबीन बाजार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक लड़ाई और सिरफुटौव्वल का समर्थन करता जाता है। वह कहता है—'वाह! आज बिना पैसे के कैसा बढ़िया तमाशा देखने को मिला! बड़ा मजा आया। बहुत अच्छा हुआ कि उसका सिर फटा और उसकी हड्डी का कचूमर निकल गया।' यह ध्यान देने की बात है—ऐसा कह कर लड़ाई का अनुमोदन करने वाला कितना कर्म-बन्ध कर रहा है? वह कितने घोर अज्ञान में फँस रहा है? उसने स्वयं लड़ाई की नहीं, दूसरों से करवाई भी नहीं, फिर भी सम्भव है, वह लड़ने वालों से भी अधिक कर्म बाँध ले। लड़ने वाले आवेश में लड़े हैं। उनकी हिंसा विरोधी की और अपराधी की हिंसा हो सकती है, और सप्रयोजन भी हो सकती है। किन्तु अनुमोदन करने वाला व्यर्थ ही पाप की गठरी सिर पर लाद रहा है। अपराधी की हिंसा तो श्रावक के लिए क्षम्य हो सकती है, परन्तु इस प्रकार के अनुमोदक की व्यर्थ हिंसा श्रावक के लिए कथमपि क्षम्य नहीं है। यहाँ करने और कराने की अपेक्षा अनुमोदन में अधिक हिंसा है।

जीवन में कोई व्यक्ति एकान्त पक्ष को ले कर नहीं चल सकता, क्योंकि कभी करने में तो कभी करवाने में और कभी अनुमोदन में ज्यादा पाप हो जाता है।

एक भाई की बात मेरे ध्यान में है। उसने अपने एक नौकर को फल लाने के लिए भेजा। नौकर ग्रामीण था, बालक था, अज्ञान था। वह सड़े हुए फल ले आया। वह ले तो आया, किन्तु उस पर हजार-हजार गालियाँ पड़ीं। उस भाई ने स्वयं बतलाया कि 'मुझे उस समय इतना आवेश आया कि दो-चार चाँटे भी उसके जड़ दिये।'

मैंने उस भाई से कहा—'तुमने ऐसे बालक को भेजा ही क्यों? जिसे ज्ञान नहीं था, खरीदने के विषय में जिसे कुछ भी विवेक नहीं था। अब कहते हो, गुस्सा आ गया, किन्तु उस समय अपनी गलती नहीं मालूम की कि मैं किसे भेज रहा हूँ?

तुम्हारी अपनी गलती से ही गुस्सा, आवेश और मारने-पीटने की मनोवृत्ति जगी, और फल फैंकने पड़े। दोष तुम्हारा था, किसी और का नहीं। तुम्हारे ही कारण इतना बवण्डर मचा। यदि विवेकपूर्वक तुम स्वयं काम करते तो इतनी गलत चीजें क्यों होतीं तुम्हें क्यों घृणा और आवेश होता ? और मार-पीट भी क्यों करनी पड़ती ?''

जीवन में इस प्रकार की जो साधारण घटनाएं होती हैं, उन्हीं से जीवन का निर्णय-सूत्र तैयार होता है और समझा जाता है कि विवेकपूर्वक काम करने से पाप कम होता है। अनजान से काम कराया तो इसने न जाने कितने जीवों की हिंसा की। इसके अतिरिक्त अपने और नौकर के मन में आवेश, घृणा आदि के कारण मानसिक हिंसा या भाव-हिंसा भी हुई।

जीवन के ये दृष्टिकोण कुछ नये नहीं हैं, बहुत पुराने युग से यों ही चलते आ रहे हैं। इस सम्बन्ध में जैन-धर्म के इतिहास-सम्बन्धी कुछ पुराने पन्ने मैं आपके सामने ला रहा हूँ, जिन पर विचार करने से पता चलेगा कि जैन संस्कृति ने जीवन में कभी कुछ ऐसे प्रश्न छेड़े हैं, जहाँ कहीं मनुष्य करनी की अपेक्षा करने में दोषी समझा जाता है और कहीं वह करने की अपेक्षा कराने में ज्यादा पाप का भागी होता है।

करुणापति बाहुबली

जैन इतिहास का पहला अध्याय भगवान् ऋषभदेव से प्रारम्भ होता है। वहीं से जीवन की कला उद्भूत होती है। भगवान् ऋषभदेव के समय में ही उनके बड़े पुत्र भरत के चक्रवर्ती बनने का प्रसंग आया। वे लड़ाइयां लड़ते रहे। भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व स्थापित हो गया। किन्तु उनके भाई ने उनका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया, तब भरत ने सोचा—जब तक भाई भी मेरे सेनाचक्र के नीचे न आ जाएँ, तब तक चक्रवर्त्ती का साम्राज्य पूरा न होगा। यह सोचकर भरत ने अन्य भाइयों के पास, खासकर बाहुबली के पास भी दूत भेजा। बाहुबली प्रचण्ड बल के धनी और अभिमानी थे। उन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भरत और बाहुबली की विशाल सेनाएँ मैदान में आ डटी। जब दोनों ओर की सेनाएँ जूझने को तैयार थीं, सिर्फ शंख फूँकने भर की देर थी कि बाहुबली के चित्त में करुणा की एक मधुर लहर पैदा हुई।

वैसे तो इस प्रसंग पर इन्द्र के आने की बात सुनी जाती है। बहुत-सी लड़ाइयों में इन्द्र को बुलाने के प्रसंग भी मिलते हैं। किन्तु इतिहास के मूल में यह बात नहीं है। कोई कारण नहीं कि लड़ाई में होने वाली हिंसा की कल्पना करके इन्द्र का अन्तःकरण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाए और बाहुबली सरीखे अपने जीवन की भीतरी तह में विरक्ति-भाव, अनासक्ति-भाव और करुणा-भाव धारण करने वाले के चित्त में इन्द्र के बराबर भी करुणा न हो। आचार्य जिनदास महत्तर ने आवश्यक

चूर्णि में इन्द्रों के आने का उल्लेख नहीं किया है। स्वयं बाहुबली के हृदय में ही करुणा के स्रोत का उमड़ना लिखा है; जिसे दिगम्बर-परम्परा भी मानती है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि बाहुबली ने देखा-भरत को चक्रवर्ती बनना है और मैं उसके पथ का रोड़ा हूँ। तब मेरा स्वाभिमान मुझे आज्ञा देता है कि भरत की आज्ञा स्वीकार न करूँ, क्योंकि वह अनुचित आज्ञा है। भाई को, भाई से भाई के रूप में सेवा लेने का अधिकार है। भरत बड़ा है, मैं छोटा हूँ। इस हैसियत से मैं हजार बार सेवा करने को तैयार हूँ। किन्तु मैं भाई बन कर ही आज्ञा उठाऊँगा, दास या गुलाम बन कर नहीं।

बाहुबली की वृत्ति में यही मूल चिन्तन था। उन्होंने सोचा—भरत है, जो चक्रवर्ती बनने को तैयार है; और मैं हूँ जो स्वाभिमान को तिलांजलि नहीं दे सकता। हम दोनों अपनी-अपनी बात पर अटल रहने के लिए ही तलवारें ले कर मैदान में आये है। अतः प्रश्न भरत का और मेरा है। बेचारी यह गरीब प्रजा क्यों कट-कट कर मरे, हम दोनों के अगड़े में हजारों-लाखों मनुष्य दोनों तरफ के कट मरेंगे, कितना भीषण नर-संहार होगा, न मालूम कितनी सुहागिनों का सौभाग्य-सिंदूर पुँछ जाएगा, कितनी हजार माताएँ अपने कलेजों के टुकड़ों के लिए विलाप करेंगी, कौन जाने कितने पिता अपने पुत्रों के लिए और कितने पुत्र अपने पिताओं के लिए हजार-हजार आंसू बहाएँगे ?

बाहुबली ने भरत के पास सन्देश भेजा—'आओ भाई ! इस लड़ाई का फैसला हम और तुम दोनों आपस में कर लें। यह उचित नहीं कि प्रजा लड़े और हम लोग अपने-अपने डेरों में बैठे दर्शकों की तरह लड़ाई देखते रहें। अच्छा हो, सिर्फ हम दोनों ही आपस में लड़ें और इस व्यर्थ के नर-संहार को समाप्त करें। इसका अर्थ हुआ—कराना नहीं, बल्कि स्वयं करना। कराने में जो विराट् हिंसा थी, उसे स्वयं करने में सीमित कर दिया गया। इस विचार से दोनों भाई लड़ाई के मैदान में उतर आए। आँखों का युद्ध हुआ, मुष्टि का युद्ध हुआ। इस सीमित युद्ध में भी अहिंसा की उल्लेखनीय सीमा यह थी कि मरना-मारना किसी को नहीं था, केवल जय और पराजय का निर्णय करना था। फिर यह निर्णय तो खुन की एक भी बूंद बहाए बिना उक्त तरीके से भी हो सकता था। संसार के इतिहास में वह सर्वप्रथम अहिंसक युद्ध था।

यहाँ जैन-धर्म का एक सुन्दर दृष्टिकोण परिलक्षित होता है, जिसे देख कर बाहुबली को हजार-हजार धन्यवाद देने पड़ते हैं। उनके मन में करुणा की वह उज्ज्वल धारा आई कि उन्होंने हजारों-लाखों आदमियों को गाजर-मूली की तरह कटने से बचा लिया। उन्होंने स्वयं लड़ने की अपेक्षा दूसरों को लड़वाने में अपने जीवन को अधिक मैला देखा। जैन-धर्म का वह युग-पुरुष जब युद्ध करवाने की अपेक्षा स्वयं युद्ध करने को उद्यत हुआ तो उसके उस महान् ऐतिहासिक निर्णय का अंग-अंग चमकने लगा।

आगे फिर जैन इतिहास में भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी का युग आता है, जिसे रामायणकाल भी कह सकते हैं। रामायण जैन-संस्कृति की दृष्टि से पद्मपुराण के रूप में है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी रामायण की कथा लिखी है और आचार्य विमल ने भी भगवान् महावीर के पांच-सौ वर्ष बाद जो विमल-रामायण लिखी गई है, वह प्राकृत भाषा में है। उसके पढ़ने से मालूम हो सकता है कि किसी युद्ध का सही फैसला किस प्रकार हो सकता है ?

बाली की अहिंसक नीति

एक ओर बाली है और दूसरी ओर रावण। बाली से अपना अधिकार मनवाने के लिए, उसे अपने सेवक के रूप में रखने के लिए रावण एक बड़ी सेना ले कर किष्किन्धा पर चढ़ जाता है। दूसरी तरफ से बाली की विशाल सेना भी डट जाती है, दोनों ओर के सेनापति इस इन्तजार में थे कि कब युद्ध का शंख बजे, तलवारें चमकें और रणभूमि रक्त-स्नान करे। उसी समय बाली युद्ध के मैदान में आ पहुंचा। सबसे पहले उसके मन में यह तर्क उत्पन्न हुआ कि 'आखिर इन दोनों जातियों के लड़-मर जाने से क्या होगा ? लाखों इन्सान मौत के घाट उतर जाएंगे। जय-पराजय का प्रश्न तो मेरा और रावण का है। यहां तो व्यक्तिगत दावा है और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा है। मैं और रावण विजेता के रूप में रहना चाहते हैं। इसमें इन गरीबों को क्या मिल जाने वाला है ? क्यों इन्हें सिर कटवाने के लिए मैदान में खड़ा कर दिया गया है ?'

ऐसा सोच कर बाली ने रावण के पास सन्देश भेजा—"तू बड़ा है और तेरी शक्ति की दुनिया पूजा भी करती है। फिर वह शक्ति वास्तव में है कहां ? तेरे अन्दर है या प्रजा में ? और इधर मेरे मन में भी महत्त्वाकांक्षा है। यदि मैं तुझे सम्राट् नहीं मानता, तो मेरी प्रजा इसके लिए क्यों उत्तरदायी हो ? अतः आओ, तुम और हम दोनों ही क्यों न लड़ लें ? प्रजा को अकारण क्यों लड़ाएं ?"

जैन रामायण कहती है कि बाली की बात स्वीकार कर ली गई। दोनों ओर की सेनाओं को तटस्थभाव से खड़ा कर दिया गया। रावण और बाली में ही युद्ध हुआ। इस युद्ध में रावण को करारी हार मिली।

जैनसाहित्य की ये कथाएं अर्थहीन नहीं हैं। इनका अर्थ भी साधारण नहीं है। इन कथाओं में युद्ध के अहिंसात्मक दृष्टिकोण का कुशलता के साथ चित्रण किया गया है। एक बुराई जब अनिवार्य हो जाये तो उसकी व्यापकता को किस प्रकार कम किया जाये, हिंसा की उन्मुक्त प्रवृत्ति को किस तरह सीमित करना चाहिये, यही इन कथाओं का मर्म है। इनसे साफ जाहिर होता है कि मनुष्य की हिंसा-प्रवृत्ति, करवाने की अपेक्षा स्वयं कर लेने के रूप में किस प्रकार सीमित कर दी जा सकती है, क्योंकि लड़वाना महान् आरम्भ की भूमिका है, जबकि लड़ना अल्पारम्भ की भूमिका है।

हिटलर : महान् हिंसक

जो हिटलर विश्व-युद्ध की भयंकर ज्वाला में भस्म हो गया, कहा जाता है—उसने युद्ध में अपने हाथ से एक भी गोली नहीं चलाई और एक भी सैनिक का अपने हाथ से खून नहीं बहाया। वह फौजों को ही लड़ाता रहा। तब क्या उसे पाप नहीं लगा या कम लगा? क्या पाप की गठरी केवल लड़ने वाले सैनिकों के ही सिर लदती है? हिटलर भी कह सकता था—"मैं तो अहिंसक हूँ। मैंने लड़ाई नहीं लड़ी, मैंने चाकू भी नहीं चलाया, खून की एक बूंद भी नहीं बहाई।" गाँव के गाँव नष्ट हो गए, शहर के शहर तबाह हो गए। फिर भी यदि हिटलर या स्टालिन यह कहें कि "हम तो लड़वाने वाले थे, लड़ने वाले नहीं। पाप लड़ने वालों को लगता है, लड़वाने वालों को नहीं"। क्या उनकी यह दलील किसी के दिल पर असर कर सकती है? क्या कोई भी समझदार इस तर्क को स्वीकार कर सकेगा? नहीं। वे खुद लड़े होते तो वहाँ शक्ति सीमित होती। जब दूसरों को लड़वाया, तभी लाखों-करोड़ों आदमी इकट्ठे किये गए, महीनों और वर्षों तक लड़ाई भी जारी रही। इस प्रकार स्वयं न लड़ कर दूसरों को लड़वाने के द्वारा युद्ध करने में बहुत विराट् हिंसा सामने खड़ी हो जाती है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म ने कहीं पर गृह-कार्य आदि दूसरों से करवाने की अपेक्षा स्वयं कर लेने में कम पाप माना है। कहीं करने की अपेक्षा करवाने में कम, और कहीं करने-करवाने की अपेक्षा अनुमोदन में कम पाप स्वीकार किया है। ये ऐसे दृष्टिकोण हैं, जिनकी सचाई चिन्तन की गहरी डुबकी लगाने पर ही स्पष्ट होती है, अन्यथा नहीं।

एक जज है। कत्ल का मुकदमा उसके सामने है। वह विचारों की गहराई में डुबकियाँ लगाता है और निरन्तर सोचता है। अपने कर्त्तव्य में किसी प्रकार की अवज्ञा भी नहीं करता है।

पुलिस अभियुक्त को पकड़ कर लाती है। वह चाहे वास्तविक अपराधी को लाई है, अथवा छान-बीन किये बिना ही किसी निरपराध को मौत के घाट उतारने के लिए पकड़ लाई है। किन्तु जज विचार करता है—"अपराधी भले ही छूट जाये, किन्तु किसी निरपराध को दण्ड नहीं मिलना चाहिए। जज का सिंहासन न्याय के अनुसार केवल दण्ड देने के लिए ही नहीं है, अपितु निरपराध को दण्ड से बचाने के लिए भी है।" इसलिए वकीलों की सहायता से खूब अच्छी तरह सोच-विचार कर जज ने छान-बीन की। अभियुक्त अपराधी सिद्ध हुआ और उसे कानून के अनुसार दण्ड भी मिला।

यहाँ विचार करना है कि अपराधी को दण्ड तो मिला, किन्तु क्या उसके प्रति जज का कोई व्यक्तिगत द्वेष था? नहीं! वह समाज का कानून अपराधी के सामने रखता है कि "तुमने अपना जीवन बेहद विकृत बना लिया है, अतः समाज नहीं चाहता कि तुम उसमें रहो। अब तुम्हें समाज से विदा हो जाना चाहिए।" इस प्रकार अपराधी

के प्रति जज के हृदय में घृणा या द्वेष न होने पर भी उसे मौत की सजा सुनानी पड़ती है। अपराधी जल्लाद के सुपुर्द कर दिया जाता है।

जल्लाद उसे ले कर चलता है। वह सोचता है—"इसने गुनाह किया है, फलतः समाज की ओर से सजा देने का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर आया है। इसके पाप का फल इसके सामने आ रहा है। मैं तो केवल आज्ञा-पालन के लिए हूं। मैं फांसी देने वाला कौन ? फांसी तो इसके दुराचरण ही दे रहे हैं।"

यहां एक हिंसा कर रहा है, दूसरा करवा रहा है और हजारों दर्शक फांसी पर झूलते अपराधी को देखने के लिए जमा हैं। उनमें से कुछ कहते हैं—"अच्छा हुआ जालिम पकड़ा गया ! अब देर क्यों हो रही है ? जल्दी ही तख्ता क्यों नहीं हटा दिया जाता ?" और इस खुशी में वे उछलते-कूदते हैं।

अब देखना यह है कि न्यायाधीश, जल्लाद और दर्शकों में से कौन अधिक पाप बांध रहा है ? जब मनोवृत्ति से ही पाप का गहरा सम्बन्ध है तो स्पष्ट है कि यद्यपि जल्लाद फांसी दे रहा है और न्यायाधीश दिला रहा है। फिर भी उन दोनों की अपेक्षा दर्शक अपनी क्रूर मनोवृत्ति के कारण अधिक पाप का बन्धन कर लेते हैं। न्यायाधीश और जल्लाद, यदि अन्दर में पूर्ण तटस्थ रह सकें, एकमात्र कर्त्तव्य-पालन की ही भूमिका पर खड़े रहें, व्यक्तिगत घृणा का स्पर्श भी मन में न होने दें, तो संभव है उनको पाप का स्पर्शमात्र भी न हो। परन्तु विवेकहीन दर्शक व्यक्तिगत घृणा की दल-दल में फंसे हुए हैं, अतः निश्चय ही वे पाप की तीव्रता से मलिन हो रहे हैं।

इस प्रकार जैनधर्म की विचारधारा इकहरी नहीं है। वह अनेकान्तदृष्टि से युक्त है। किन्तु कुछ लोगों ने परिस्थिति-विशेष का उचित विचार न कर, मनोभूमिका को ठीक तरह से न परखा और विवेक-अविवेक का वास्तविक विवेक भुला कर, एकान्त समझ लिया है कि करने या करवाने में ही अधिक पाप है ! किन्तु जो जैन-धर्म की अनेकान्तदृष्टि को समझ लेता है, वह कभी एकान्त का आग्रही नहीं बनता।

कृत, कारित और अनुमोदित के पाप की न्यूनाधिकता को समझने के लिए अनेकान्त-दृष्टि का प्रयोग करना आवश्यक है। साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि पाप की अधिकता या हीनता का प्रधान केन्द्र-बिन्दु यथाक्रम विवेक का न होना और होना ही है। □

अहिंसा के दो पक्ष : प्रवृत्ति और निवृत्ति-१ | ११

अहिंसा एक व्यापक और विराट् तत्त्व है। किसी की हिंसा न करना ही अहिंसा नहीं है, यह तो अहिंसा का एक प्राथमिक निवृत्ति—निषेध रूप है। अहिंसा की धारा इतने में ही रुद्ध नहीं है। वह निषेध (निवृत्ति) की भूमि पर विधि (प्रवृत्ति) का रूप ले कर आगे बढ़ती है और इस विधि में ही उसकी सार्थकता है। भगवान् महावीर की अहिंसा एक ओर से प्राणिमात्र के प्रति सेवा, दया, करुणा और क्षमा सिखाती है, पीड़ितजनों की पीड़ा दूर करने, उन्हें उचित सहयोग एवं सहकार देने का पाठ पढ़ाती है, अपने प्राप्त से स्वयं जीओ और दूसरों को अर्पण करके उन्हें जिलाओ की बात कहती है, वहाँ दूसरी ओर से क्या कहती है—किसी को कष्ट, दुःख या पीड़ा न पहुँचाओ, किसी को मारो-पीटो या सताओ मत, न किसी से वैर, द्वेष रखो, न बुरा व कठोर बोलो और न अशुभ चिन्तन ही करो। इस प्रकार महावीर की अहिंसा न एकांत निवृत्तिपरक है और न एकान्त प्रवृत्तिपरक। बहुत से लोग अहिंसाशब्द देख कर निवृत्तरूप ही होने की भ्रान्त धारणा बना लेते हैं, कि हिंसा न करो, किसी को मारो मत, झूठ न बोलो, चोरी न करो, व्यभिचार न करो, अन्याय और अत्याचार न करो। जीवन के व्यवहारक्षेत्र से आगे बढ़ कर जब वह अन्दर के भावजगत् को छूता है, तो क्रोध न करने को कहता है, माया और लोभ न करने का उपदेश करता है। अहंकार और मात्सर्य से भी निवृत्त होने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार जहाँ-तहाँ नकार ही नकार खड़े हैं, निषेध की ही घोषणा सुनाई देती है, इन्कार की ही आवाज उठ रही है। यह सब निवृत्ति का उपदेश है। इस प्रकार जिसकी आधारशिला निवृत्ति है, वह 'न करने के लिए' तो कहता है, किन्तु 'करने के लिए' कुछ नहीं कहता। मनुष्य के समक्ष परिवार, समाज और राष्ट्र का इतरदायित्व है, सेवा का कर्मक्षेत्र है, किन्तु निवृत्तिपरक धर्म इस ओर से उदासीन है। आज के निवृत्तिमार्गी कहते भी हैं कि समाज से हमें क्या लेना-देना है? वह सुधरे या बिगड़े, हमें इससे क्या? ये सब भ्रान्तियाँ जैन-दर्शन के केवल एक रूप को, एक पहलू को ही ले कर है। यदि दूसरे पहलू को भी देखा होता, तो यह सब कुछ भ्रान्तियाँ भी न होतीं।

निवृत्ति का हार्द

यह सत्य है कि महावीर ने निवृत्ति का उच्चतम आदर्श उपस्थित किया है। उनके प्रत्येक चिन्तन-चित्र में निवृत्ति का स्वर्णिम रंग भरा हुआ है। किन्तु दृष्टि जरा साफ हो, स्वच्छ हो और भावग्राही हो तो रंगों का ठीक विश्लेषण करने पर यह समझा

जा सकता है कि निषेधसूत्रों की कहाँ क्या उपयोगिता है ? निवृत्ति के स्वर में क्या मूल भावनाएँ ध्वनित हैं ? जब तक यह नहीं समझा जाएगा, तब तक निवृत्ति का वास्तविक हार्द समझ में नहीं आ सकेगा। महावीर एकान्तवाद की अति में नहीं जाते, वे जीवन की समग्र गति-स्थिति को अनेकान्त से संतुलित रखते हैं।

निवृत्ति और प्रवृत्ति जीवन के दो चरण हैं। पहला चरण गति करता है तो समय पर दूसरे स्थिर चरण को भी आगे बढ़ने की मिलती है। निवृत्ति, प्रवृत्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है। वह प्रवृत्ति के अगले चरण को गन्तव्यदिशा देती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रवृत्ति से पहले जो निवृत्ति की उपदेशधारा है, वह मानवीय भावों के अध्ययन के आधार पर प्रकटित हुई है। यह ठीक है, कि सामाजिक चेतना के अभ्युदय के लिए आप प्रवृत्त होते हैं, लोककल्याण के निमित्त प्रयत्नशील होते हैं, ऐसा करना ही चाहिए। किन्तु उससे पहले महावीर एक बात कहते हैं कि "यह देखो कि तुम्हारी प्रवृत्ति निवृत्तिमूलक है या नहीं ? तुम दान कर रहे हो, दीनदुखियों की सेवा के लिये कुछ कर रहे हो, किन्तु दूसरी ओर यदि शोषण का कुचक्र भी चल रहा है, तो इस दान और सेवा का क्या अर्थ ?" किसी का एक बोतल रक्त निकाल कर बदले में दो बूँद अपने रक्त का दान देना, यह महावीर की दृष्टि में दान नहीं है। सौ-सौ घाव करके एक दो घावों पर मलहमपट्टी करना, सेवा का कौनसा आदर्श है ?

अभिप्राय यह है कि व्यक्तिगत जीवन में जब तक निवृत्ति नहीं आती, तब तक समाज-सेवा की प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अपने मर्यादाहीन व्यक्तिगत भोगों और आकांक्षाओं से निवृत्ति ले कर समाज-कल्याण के लिए प्रवृत्त होना, जैनदर्शन का पहला नीतिधर्म है। व्यक्तिगत जीवन का परिशोधन करने के लिए असत्कर्मों से पहले निवृत्ति करनी होती है। जब जीवन में निवृत्ति आएगी तो जीवन स्वतः पवित्र और निर्मल होगा, अन्तःकरण विशुद्ध होगा और तब जो भी प्रवृत्ति होगी, वह लोकहिताय एवं लोकसुखाय होगी। जैनदर्शन की निवृत्ति का हार्द यही है कि व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति और सामाजिक जीवन में प्रवृत्ति। लोकसेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों एवं द्वन्द्वों से दूर रहे, यह जैनदर्शन की आचारसंहिता का पहला पाठ है। यही उसके निवृत्तिमार्ग का मर्म है।

प्रवृत्ति की सीमाएँ

प्रवृत्ति की भी अपनी कुछ सीमाएँ हैं। समाज-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करना ठीक है, किन्तु उसके पीछे भी आदर्श का आधार होता है, चरित्र-शुद्धि की सीमाएँ होती हैं। विचार कीजिए एक व्यक्ति किसी दीन-दुःखी की सेवा कर रहा है, परन्तु उसकी प्रसन्नता के लिए कुछ ऐसी बातें जरूरी हो रही हैं, जो सामाजिक चरित्र की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं, अवांछनीय हैं। यहाँ यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाए ?

कबीर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार उनके घर पर कुछ अतिथि आ गये। घर में आटा, दाल का जयगोपाल था। कबीर ने अपनी पत्नी 'लोई' से कहा—"कुछ व्यवस्था करो। अतिथि भूखे नहीं रहने चाहिए।" घर में तो कुछ था नहीं, किसी दूसरे से लाएँ तो किससे लाएँ! कैसे लाएँ? आखिर लोई ने कहा—"एक उपाय है, पर वह है गलत। एक सेठ का लड़का मुझ पर बहुत दिनों से मोहित हो रहा है, अभी तक मैंने उसे मुँह नहीं लगाया है, अपितु फटकारा है, कहो तो मैं उससे कुछ पैसा मांग कर ला सकती हूँ।"

"बहुत अच्छा उपाय बताया तुमने। अभी जाओ, झटपट ले आओ"—कबीर ने कहा। लोई श्रेष्ठिपुत्र के पास गई तो वह बहुत खुश हुआ और बोला—"मैं कितने दिनों से तुम्हारे इन्तजार में आँखें बिछाए बैठा हूँ। अच्छा हुआ, आज तुम आ गई!" लोई ने कहा—"आई तो हूँ, किन्तु अभी मुझे पैसे की बहुत आवश्यकता है, कुछ दोगे?"

सेठ के लड़के ने सहर्ष अपेक्षित पैसा दे दिया। और फिर आने का वादा करके लोई चली आई। प्राप्त पैसे से समागत अतिथियों की कबीर ने खूब सेवाभक्ति की। अतिथि लौट गए। अब वादा पूरा करने का सवाल था। कहते हैं—वर्षा हो रही थी, फिर भी कबीर खुद अपनी पत्नी को ले कर उसके घर पहुँचे। वचनपालन करने का दायित्व जो ठहरा। श्रेष्ठीपुत्र के मन पर इसका अच्छा प्रभाव हुआ, उसे सद्बुद्धि आ गई, और उसने लोई को माता का सम्मान दे कर विदा कर दिया। परन्तु प्रश्न है, सद्बुद्धि न आती तो?

कहानी की सत्यता और असत्यता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है। कहना केवल यही है कि यह भी एक मनःस्थिति है—सेवा और प्रवृत्ति के क्षेत्र की।

महावीर का दर्शन इस बात को स्वीकार नहीं करता, यहाँ वह एक अलग चिन्तन पर जा खड़ा होता है। वह कहता है कि आपका कर्त्तव्य है, आप समाज की सेवा करें, किसी दीन-दुःखी का दुःख-दर्द मिटाने के लिए अपनी सुख-सुविधाओं का बलिदान करें। अपने अधिकार का भोजन और वस्त्र तक भी अर्पण कर दें, और स्वयं भूखे और फटेहाल रह कर भी प्रसन्न रहें। पर, समाजसेवा के नाम पर अपना जो चरित्र है, जीवन की जो अच्छाइयाँ हैं, उन्हें दाव पर न रखें।

अपने चरित्र और जीवन को निर्मल रखते हुए जो कुछ दिया जाय, जो कुछ किया जाय, वह सेवा है, शुद्ध प्रवृत्ति है। इस प्रकार की प्रवृत्ति समाज के अभ्युदय की स्वर्णिम सोपानपंक्ति है। किन्तु जहाँ जीवन की पवित्रता का, चरित्र का त्याग करके धर्म एवं समाज के नाम पर कुछ अनर्गल जैसा करने का प्रश्न आता है, वहाँ जैन-दर्शन स्पष्ट कहता है कि यह मार्ग गलत है। जीवन का कोई भी कर्म यदि स्वयं अपवित्र और दूषित हो कर किसी के लिए कुछ उत्सर्ग करने को प्रस्तुत होता है, तो उस उत्सर्ग से अच्छाइयाँ जन्म नहीं ले सकतीं, पवित्रता की भावना का उदय नहीं हो सकता। और जिस सेवा या प्रवृत्ति में पवित्रता और श्रेष्ठता की आधारभूमि नहीं

रहती, वह सेवा और प्रवृत्ति जीवन में अवांछनीय है, समाज के लिए अशुभ है। इस प्रकार आप देखेंगे कि महावीर ने प्रवृत्ति और निवृत्ति का एक रूप निश्चित किया है, उनकी कुछ सीमाएँ बाँधी हैं।

अहिंसा की प्रवृत्ति—करुणा की प्रेरणा

विचार कीजिए—एक व्यक्ति को प्यास लगी है, गला सूख रहा है, वह ठंडा पानी पी लेता है, प्यास शांत हो जाती है। क्या इसमें कुछ पुण्य हुआ? कल्याण का कुछ कार्य हुआ? सातावेदनीय का कुछ बंध हुआ? कुछ भी तो नहीं। अब आप किसी दूसरे व्यक्ति को प्यास से तड़पता देखते हैं और आपका हृदय करुणा से भर आता है। आप उसे पानी पिला देते हैं। उसकी आत्मा शान्त होती है, प्रसन्न होती है और इधर आपके हृदय में भी एक शान्ति और सन्तोष की अनुभूति जगती है। यह पुण्य है, सत्कर्म है।

अब उक्त घटना की गहराई में जा कर जरा देखिए कि यह करुणा क्या है? यह निवृत्ति है या प्रवृत्ति? और पुण्य क्या है? व्यक्तिगत सुखभोग है या अन्य के प्रति आपका सद्बुद्धि से अर्पण? महावीर ने व्यक्तिगत भोगों को पुण्य नहीं माना है। किसी महत्त्वपूर्ण उदात्त ध्येय के अभाव में केवल अपनी सुखैषणाओं की पूर्ति के लिए जो आप प्रवृत्ति करते हैं, वह न करुणा है, न पुण्य है। किन्तु जब वह करुणा समाज के हित के लिए जागृत होती है, समाज की भलाई के लिए प्रवृत्त होती है, तब वह पुण्यकर्म एवं धर्म का रूप ले लेती है। महावीर की प्रवृत्ति का यही रहस्य है। समाज के लिए अर्पण, बलिदान और उत्सर्ग की भावना उनके प्रत्येक तत्त्वचिंतन पर छाई हुई है। उनके हर चरण पर समष्टि के हित का दर्शन होता है। अहिंसा तभी सच्ची अहिंसा होगी, जब किसी दुःखी को देख कर आपका अन्तःकरण करुणा से भर उठे। दया तभी सच्ची दया होगी, जब किसी को कष्ट में देख कर आपकी आँखों में आँसू छलछला उठें। जिसके हृदय में करुणा न हो, दूसरों के प्रति सहानुभूति न हो, उस मनुष्य में और पशु में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। अहिंसा ही मनुष्य और पशु में भेदरेखा है।

मैत्री : प्रवृत्तिरूप है

जैन-परम्परा के महान् उद्गाता अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने एक बार अपने शिष्य समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा था—**"मेत्तिं भूएसु कप्पए"**—प्राणिमात्र के प्रति मैत्री की भावना ले कर चलो।[1] जब साधक के मन में मैत्री और करुणा का उदय होगा, तभी स्वार्थान्धता के गहन अन्धकार में परमार्थ का प्रकाश झलकेगा। मैत्री की यह भावना क्या है? निवृत्ति है या प्रवृत्ति? आचार्य हरिभद्र ने मैत्री की व्याख्या करते हुए कहा है—**"परहितचिन्ता मैत्री"**—दूसरों के हित, सुख और आनन्द की चिन्ता करना मैत्री है। जिस प्रकार आपका अपना मन अपने लिए प्रसन्नता चाहता है, उसी प्रकार दूसरों के लिए भी प्रसन्नता की भावना करना, इसी का नाम मैत्री है। मैत्री का यह स्वरूप निषेधरूप नहीं, किन्तु विधायक है; निवृत्तिमार्गी नहीं,

किन्तु प्रवृत्तिमार्गी है। जब हम अपने समान ही दूसरों के जीवन का मूल्य और महत्त्व समझते हैं, अपनी ही तरह उससे भी स्नेह करते हैं, तो इसका यही उदात्त परिणाम आता है कि वह जब कष्ट होता है, तब उसको सहयोग देना, उसके दुःख में भागीदार बनना और उसकी पीड़ाएँ बाँट कर उसे शान्त और सन्तुष्ट करना—यह जो सहज प्रवृत्ति जगती है, मन में सद्भावों की स्फुरणा होती है, बस यही है मैत्री का उज्ज्वल रूप।

दान : प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप भी

भगवान् महावीर ने सातावेदनीय कर्म के बन्धहेतुओं की व्याख्या करते हुए बताया है कि संसार में जो प्राणी हैं, वे चाहे तुम्हारी जाति के हों, कुल के हों या देश के हों, अथवा किसी भिन्न जाति, कुल या देश के हों, उन सबके प्रति करुणा का भाव जागृत करना, उनके दुःख के प्रति संवेदना और सुख के लिए कामना करना, यह सातावेदनीय के बन्ध का प्रथम कारण है।

महावीर की धर्म-परम्परा का एक उज्ज्वल आदर्श है कि जब एक साधु भोजन लाता है, तो यह नहीं कि बस, लाया और स्वयं ही खा-पी कर साफ कर दिया। वह अपने से बड़े और छोटे सभी साथियों को पूछता है, प्रार्थना करता है कि मेरे इस लाये हुए भोजन में से आप कुछ स्वीकार करके मुझे अनुग्रहीत करें—"**साहू हुज्जामि तारिओ।**"[1]

कितना ऊँचा आदर्श है यह, समर्पण का? देखिए, निवृत्तिमार्ग के यात्रियों में भी इससे सामाजिक सम्बन्धों की कितनी मधुर भावना विकसित हुई है? इससे भी आगे कहा गया है कि 'जो साधु ऐसा नहीं करता, भोजन ला कर साथियों को निमंत्रित नहीं करता, अकेला ही खाने बैठ जाता है, वह असंविभागी है, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती'—"**असंविभागी न हु तस्स मोक्खो**"।[2]

कल्पना कीजिए—जो धर्म इतनी बड़ी प्रेरणा देता है, जिसके कण-कण में मानवता का अमृत छलक रहा है, उसके लिए यह कहना कि उसमें सामाजिकता का अंश नहीं है, सामूहिक चेतना का अभाव है, अपने में कितनी बड़ी बौद्धिक विडम्बना है।

श्रावक भी जब गृहीत तप का पारणा करने बैठता है तो उसकी भी यही परम्परा है कि उस समय आस-पास में जो भी उपस्थित हों, उन्हें भी भोजन के लिए सादर एवं साग्रह आमंत्रित करे। यदि कोई बिना पूछे बिना निमन्त्रण दिए ही खाना शुरू कर देता है तो वह स्वार्थपरायण अपने व्रत की पवित्रता को दूषित करता है।

---

१ दशवैकालिक
२ वही

इस परम्परा में भी समर्पण की एक उच्च भावना झलक रही है, और है सामाजिक जीवन के मधुर सम्बन्धों की महान् कल्पना ।।

सहृदयता का देवता

भगवान् महावीर का जीवन निवृत्ति का एक उत्कृष्टतम प्रतीक माना जाता है । उन्होंने जीवन में जो उग्र और निरपेक्ष साधना की, वह साधना के इतिहास में सर्वोत्कृष्ट आदर्श रूप है । बारह वर्ष के छद्मस्थ जीवन-काल में उनका आदर्श था—**'एगो चरे खग्गविसाणकप्पो'**—अर्थात् अकेले और सिर्फ अकेले ही साधना के महापथ पर बढ़ते जाना । महावीर साधनाकाल में अन्तर की गहराइयों में उतर कर आत्म-शोधन में लीन रहते थे । किन्तु उनके इस महान् निवृत्तिमय जीवन में भी हम उनकी सामाजिक चेतना को स्फुरित होते हुए देखते हैं ।

एक बार भगवान् महावीर, जबकि गोशालक उनके साथ था, विहार करते हुए कहीं जा रहे थे, उस समय वहाँ एक तपस्वी बड़ी घोर साधना कर रहा था । तापस की विशाल जटाओं से जुएँ भूमि पर गिर रही थीं और वह उन्हें सुरक्षा के लिए उठा कर फिर अपनी जटाओं में डाल रहा था । गोशालक ने यह देखा, तो खूब जोर से हँसा, और तापस को कुछ कहने लगा, इस पर तापस क्रुद्ध हो उठा, उसने गोशालक को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या छोड़ी, किन्तु करुणामूर्ति भगवान् महावीर ने तत्काल शीतलेश्या का प्रयोग कर उसे बचा लिया ।

महावीर के जीवन में सामाजिक भावना की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है । जब कोई उनके अपने शरीर पर क्रूर से क्रूर प्रहार करता है, तो वे उसे शान्त-भाव से चुपचाप सह जाते हैं । किन्तु जब कभी किसी दूसरे की आपत्ति उनकी नजरों से गुजरती है, तो उनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठता है और वे उसकी रक्षा के लिए तत्पर हो जाते हैं ।

दूसरा कारण बताया गया है—व्रती-संयमी और सदाचारी पुरुषों के प्रति अनुकम्पा का भाव रखना, गुणश्रेष्ठ व्यक्तियों का आदर सम्मान करना, उनकी सेवा भक्ति करना, उनकी यथोचित आवश्यकताओं की पूर्ति का समय पर ध्यान रखना ।

और तीसरा कारण है—दान । यहाँ आ कर सामाजिक चेतना पूर्णरूप से जागृत हो उठती है । आप अपने पास अधिक संग्रह न रखें, यह एक निषेधात्मक रूप है, किन्तु जो पास में है, उसका क्या करें ? उसकी ममता किस प्रकार कम करे ? इसके लिए कहा है कि 'दान करें' । मनुष्य ने जो अपने सुख-सुविधा के लिए साधन जुटाए हैं, उन्हें अकेला ही उपयोग में न ले, बल्कि उनका समाज के अभावग्रस्त और जरूरतमंद व्यक्तियों में यथोचित वितरण करे ।

दान का अर्थ यह नहीं है कि किसी को यों ही एक-आध टुकड़ा दे डाला कि दान हो गया । दान अपने में एक बहुत उच्च और पवित्र कर्त्तव्य है । दान करने से पहले पात्र की आवश्यकता का मन में अनुभव करना, पात्र के पीड़ाजन्य कम्पन के प्रति

अपने विचारों में भी अनुकम्पन होना और सेवा की प्रबुद्ध लहर उठना, दान का पूर्व रूप है। "जैसा मैं चेतन हूँ, वैसा ही चेतन यह भी है, चेतनता के नाते दोनों में कोई अन्तर नहीं है, इसलिए अखण्ड एवं व्यापक चैतन्य-सम्बन्ध के रूप में हम दोनों सगे बन्धु हैं, और इस प्रकार एक दो ही क्यों, सृष्टि का प्रत्येक चेतन मेरा आत्म-बन्धु है, मेरी बिरादरी का है"—यह उदात्त कल्पना-पक्ष आपके मानस-मानसरोवर को तरंगित करे और आप सहज स्नेहार्द्र बन्धुभाव से दान करें—दान अर्थात् संविभाग करें, बँटवारा करें, यह है दान की उच्चतम विधि। दान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—**"संविभागो दानम्"**—सम वितरण अर्थात् समान बँटवारा दान है। भाई-भाई के बीच जो बँटवारा होता है, एक-दूसरे को प्रेमपूर्वक जो दिया-लिया जाता है उससे न किसी के मन में अहं जगता है और न दीनता। चूँकि भाई बराबर का एक साझीदार एवं अपने समान ही सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता है, फलतः देने वाले को अहंकार का और लेने वाले को दीनता का शिकार होना पड़े, ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार आप जब किसी को कुछ अर्पण करें तो उसे "समविभागी" अर्थात् बराबर का बन्धु समझ कर जो उसके उपयुक्त हो, और जिस वस्तु की उसे आवश्यकता हो, वह प्रसन्नता के साथ अर्पण करें। बराबरी की भावना से जो दिया जाता है, उससे देने वाले के मन में लेने वाले को तुच्छ मानने की भावना नहीं उठती और न लेने वाले के मन में अपने प्रति दीनता का संकल्प ही जगता है।

दान निवृत्तिरूप भी है, और प्रवृत्तिरूप भी। वस्तु पर से अपने ममत्व का त्याग कर देना, निवृत्ति है। और जो प्रेमपूर्वक अर्पण किया जाता है, वह प्रवृत्ति है। इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का ही समन्वय दान में हो जाता है। लोभ की निवृत्ति हुए बिना दान का संकल्प नहीं जगता, इसलिए वह निवृत्ति रूप है। और उसमें जो दूसरे के सुख की भावना जागृत हुई है, करुणा और प्रेम की जो धारा उमड़ी है, वह प्रवृत्तिरूप है। उसमें सामाजिक चेतना का पवित्र स्रोत बहता दिखाई देता है।

समर्पण का उच्चतम आदर्श

भगवान् महावीर के उक्त चिन्तन में सामाजिक भावना के उच्चतम आदर्श के दर्शन होते हैं। व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में ही नहीं, किन्तु समष्टिरूप में भी देखा गया है। समाज के हृदय के साथ व्यक्ति का हृदय जुड़ा है, उसके संकल्पों के साथ उसके संकल्प बँधे हैं, और उसके सुख-दुःख के साथ उसके सुख-दुःख भी एकाकार होते प्रतीत होते हैं।

भगवान् महावीर का जीवन जैनधर्म की उदात्त परम्परा का महान् प्रतीक है। उनके जीवन के अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें उनकी सामाजिक और सार्वजनीन जन-चेतना के दर्शन किए जा सकते हैं। समाज, परिवार और व्यक्तिगत जीवन के कटु

---

३ भगवतीसूत्र १५ वाँ शतक

संघर्षों में पारस्परिक द्वन्द्वों एवं उलझनों में पड़े हुए व्यक्तियों को वे समय पर मार्ग-दर्शन करते हैं, उन्हें प्रबुद्ध करते हैं, उनकी समस्याओं को सुलझाते हैं और यथोचित पावन प्रेरणाएँ देते हैं।

आपने सुना ही होगा, राजगृहनिवासी महाशतक श्रावक अन्तिम धर्म-साधना में संलग्न थे। उस समय उनकी पत्नी जोकि आचार से हीन एवं पतित थी, महाशतक के साथ दुर्व्यवहार करने पर उतारू हो गई। महाशतक ने क्रुद्ध हो कर उसे दुर्वचन कहा, जिससे उसके हृदय को गहरी चोट लगी और वह भयाकुल हो उठी। भगवान् महावीर ने गणधर गौतम को बुला कर कहा कि—"गौतम! महाशतक से जा कर कहो कि वह श्रावक है, अन्तिम धर्मसाधना की स्थिति में है। उसे इस प्रकार दुर्वचन नहीं कहने चाहिए, जिससे किसी के हृदय को चोट लगे। इसकी शुद्धि के लिए वह आलोचना करे और यथोचित प्रायश्चित्त ग्रहण करे।"[४]

इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में भी जब कहीं कटुता पैदा होती है तो महावीर उसे शान्त करने की प्रेरणा देते हैं।

विचार कीजिए, प्रभु को ऐसी क्या आवश्यकता थी कि किसी के व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं में हस्तक्षेप करें? गौतम जैसे अपने प्रमुख शिष्य को समाधान के लिए भेजें। यदि वे नहीं भेजते तो उनको क्या दोष लगता था? और भेजा तो उन्हें क्या कुछ प्राप्त हो गया? वे तो कृतकृत्य हो चुके थे। इस प्रकार के प्रयत्नों में उनका अपना स्वयं का तो कोई हानि-लाभ नहीं था। किन्तु सत्य यह है कि धर्म, समाज एवं संघ की बागडोर वही महापुरुष सँभाल सकता है, जो स्वयं निष्काम और निर्मल हो, साधना के उच्च शिखर पर पहुँच चुका हो। परन्तु जब भी और जहाँ भी कहीं कोई त्रुटि देखे, भूल देखे, किसी को कर्तव्य-पथ से भटकते हुए देखे तो उसे यथावसर योग्य सूचनाएँ देता रहे, अन्धकार के क्षणों में प्रकाश देता रहे और मार्गदर्शन करता रहे।

विग्रह और व्यामोह का शमन

भगवान् महावीर के हृदय में विराट् मानवीय चेतना की धारा सहस्ररूपों में प्रवाहित थी। संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणियों के प्रति उनके मन में एक समान सहृदयता और करुणा भरी थी। जब राष्ट्र एवं समाज में कहीं भी, किसी पर भी विग्रह एवं द्वन्द्व के बादल मंडराते, तो उनका करुण-मानस उसे शान्त करने के लिए सक्रिय हो उठता था। अवन्ती के सम्राट् चण्ड-प्रद्योत ने कौशाम्बी पर घेरा डाल रखा था, सम्राट् शतानीक की मृत्यु होने पर उनकी पत्नी महारानी मृगावती को वह अपने अधिकार में ले लेना चाहता था, वह उसके रूप पर पागल हो उठा था और इसी व्यामोह में अन्धा हो कर उसने कौशाम्बी पर आक्रमण किया था। इसी प्रसंग में भगवान् महावीर कौशाम्बी में पधारते हैं, समवसरण में ही उनकी धर्मदेशना के फल-स्वरूप चण्डप्रद्योत से रानी मृगावती छुटकारा पा लेती है।

---

४ उपासकदशांगसूत्र

मान लीजिए, चण्डप्रद्योत के इस आक्रमणकाल में भगवान् वहाँ नहीं गये होते, तो क्या उन्हें कोई दोष लगता था ? क्यों वे साधु के लिए निषिद्ध युद्ध-क्षेत्र में[५] उग्र विहार करते हुए पहुँचते हैं और समाधान का पथ प्रशस्त करते हैं।

प्रश्न दोष का नहीं है। प्रश्न है—मानवहृदय की सामाजिक चेतना का। जब हृदय में समाज के हित की बलवती प्रेरणा उठती है, उसके कल्याण की उदात्त भावना जगती है, तब अपने व्यक्तिगत दुःख या सुख का प्रश्न वहाँ नहीं अटकता। यह तो एक सहज मानवीय भाव है, जो मनुष्य की आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। मानव आत्मा जितनी ही ऊँचाई पर पहुँचता है, यह मानवीय भाव उतना ही उच्चतम होता जाता है। भगवान् महावीर की आत्मा जीवन की समस्त ऊँचाइयों को पार कर चुकी थी, इसलिए यह मानवीय भाव भी वहाँ उच्चतम और परिपूर्णरूप में विकसित हो चुका था। अस्तु, यह कौशाम्बी का प्रसंग इस बात का साक्षी है कि भगवान् महावीर की प्रबुद्ध करुणा और सामाजिक भावना कितनी महान् थी और कितनी सक्रिय !

संदेह का निराकरण

भगवान् के निवृत्तिप्रधान जीवन में भी हम लोककल्याण की प्रवृत्ति और सामाजिक चेतना की बहुत बड़ी निर्मल झलक पाते हैं। एक ओर इतने बड़े धर्मसंघ का नेतृत्व, उसकी जिम्मेदारियाँ और साथ ही दूसरी ओर समाज के प्रत्येक अंग का निरीक्षण, उसकी उलझनों का समाधान, शंका और वहम का निराकरण, भूलों का शोधन और पारस्परिक विग्रह एवं द्वन्द्वों का उपशमन ! विश्वजनहिताय प्रवृत्ति की हजारों हजार तरंगें उनके जीवन-महासागर में एक साथ लहराती दिखाई दे रही हैं।

समाज की उलझनों और समस्याओं का कितनी दूर तक उन्होंने स्पर्श किया था, इसका एक उदाहरण जैनकथाओं में मिलता है। एक बार सम्राट् श्रेणिक के मन में अपनी पत्नी चेलना रानी के प्रति संदेह हो गया कि वह सती नहीं है। किसी अन्य पुरुष के प्रति आकर्षण है, उसके मन में। बस, सम्राट् समग्र नारीजाति के प्रति ही अपवित्रता के वहम के शिकार हो गये, और आदेश दे दिया कि चेलना और अन्य सब रानियों को जला कर भस्म कर दिया जाए।

एक निराधार वहम के कारण कितनी भयंकर दुर्घटना होने जा रही थी। समूचे अन्तःपुर को अग्नि की दहकती ज्वालाओं में भस्मसात् करने का कितना भयंकर हत्याकांड हो रहा था ! किन्तु भगवान् महावीर ने भटकते सम्राट् को सम्बोधित किया—"राजन् ! तुम भ्रान्ति में हो, व्यर्थ ही संदेहों के भँवर में फँस गये हो। महाराज चेटक की सातों ही पुत्रियाँ सती हैं। रानी चेलना का जीवन पवित्र और निर्मल है। वहम अज्ञान के कारण होता है। सत्य को जानोगे तो वहम को दूर होते

---

५ "संडिमं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए"

—दशवैकालिक

देर न लगेगी। तुम वहम के झंझावात में मत भटको। वहम भयंकर अनर्थ और विपदाओं का जनक है।"

सम्राट् घटना की वास्तविकता समझ गये, और एक भयंकर अनर्थ होते-होते रह गया।

झूठे वहम के कारण आज समाज में कितने विग्रह और कलह चल रहे हैं, कितनी गृहस्थियां उजड़ रही हैं, कितने परिवार इसकी चपेट में आ कर बर्बाद हो रहे हैं। समाज में एक सिरे से दूसरे सिरे तक यह भयानक रोग महामारी की तरह फैला हुआ है। पति-पत्नी एक-दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, पिता-पुत्र में वहम के कारण अनबन है, भाई-भाई में परस्पर अविश्वास है। वहम और संदेह के कारण समाज का जीवन नीरस हो रहा है, प्रेम के तार टूट रहे हैं, परस्पर अविश्वास और कलह का वातावरण छाया हुआ है। आज आवश्यकता है, प्रभु महावीर जैसे तत्त्व-ज्ञानियों की, जो अपने पवित्र हस्तक्षेप से समाज की भ्रान्त चेतना को समय पर सत्य का प्रकाश दे सकें।

भगवान् महावीर के जीवन का यह सामाजिक पक्ष कितना—महत्त्वपूर्ण और कितना विराट् है! समाज के हर अंग को वे छूते हैं। पारस्परिक कलह और विग्रह जब भी जो भी उसके सामने आते हैं, वे उन्हें सुलझाते हैं। पारिवारिक उलझनों का यथोचित कल्याणकारी समाधान उनके द्वारा होता है। राजकीय विग्रह के नाजुक प्रसंगों पर भी उनकी प्रज्ञामयी वाणी मुखर होती है और वहां भी शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित हो जाती है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति का मर्म

मैं समझता हूं, महावीर के निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म को समझने के लिये ये उदाहरण काफी हैं। जिन्हें शिकायत है कि जैनधर्म निवृत्तिप्रधान है, उसमें लोक-हितकर प्रवृत्ति के लिये कोई स्थान नहीं है, सामाजिक भाव का कोई रूप नहीं है, वे भगवान् महावीर के इन प्रवृत्तिमय जीवनप्रसंगों पर से उनके जीवन-दर्शन की वास्तविकता समझ सकते हैं।

जैनधर्म ने सामाजिक जीवन से कभी इन्कार नहीं किया, वह तो सदा ही सामाजिक जीवन के साथ इकरार करता आ रहा है। उसने ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म[६] आदि के रूप में समाज के प्रत्येक वर्ग का कर्त्तव्य सूचित किया है, प्राप्त उत्तरदायित्वों को स्वीकार करके उन्हें उचित और सुन्दर ढंग से निबाहने का संदेश दिया है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति की इस चर्चा में मैं पुनः एक बात दुहरा देता हूं कि इन

६ स्थानांगसूत्र १०वां स्थान

दोनों की अपनी जो सीमाएँ हैं, जो अपने क्षेत्र हैं, उन्हें भी यथार्थदृष्टि से समझना है। जीवन में निवृत्ति का भी उतना ही महत्त्व है, जितना प्रवृत्ति का। बिना निवृत्ति के एकान्त प्रवृत्ति एक आधारहीन अन्ध हलचल है, उनमें निर्माण जैसा पवित्र आदर्श नहीं रहता। और प्रवृत्तिशून्य निवृत्ति भी सिर्फ एक निष्क्रिय उदासीन व्यक्तिवादिता है। जब व्यक्ति केवल अपने ही ऐहिक सुख-दुःख में बँधा रहे, अपने ही व्यक्तिगत स्वर्ग और अपवर्ग के सुखों की कल्पना में दौड़ता रहे, तो यह एक प्रकार का स्वार्थीपन ही है, व्यक्तिगत सुख का राग है; अतः वह बन्धन है; फिर चाहे वह धार्मिक जीवन में हो या सामाजिक जीवन में। इससे व्यक्ति और समाज का कोई कल्याण नहीं हो सकता। जैनदर्शन जीवन में दोनों का समन्वय करता है। जैसा कि मैंने पहले कहा था—मर्यादाहीन व्यक्तिगत सुखों और स्वार्थों से निवृत्ति तथा सामाजिक हितों के लिए यथाप्रसंग यथोचित प्रवृत्ति अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भोगेच्छा से निवृत्ति और विश्वकल्याण के लिए उदात्त प्रवृत्ति—यही महावीर की निवृत्ति और प्रवृत्ति का मर्म है, यही महावीर का जीवनदर्शन है। □

१२ अहिंसा के दो पक्ष : प्रवृत्ति और निवृत्ति-२

'अहिंसा' शब्द के साथ जो निषेध जुड़ा हुआ है, उसे देखकर साधारण लोग और कभी-कभी कुछ विशिष्ट विचारक भी भ्रम में पड़ जाते हैं। वे समझ बैठते हैं कि 'अहिंसा' शब्द निषेध-वाचक है, और इसी कारण वे अहिंसा का अर्थ भी केवल 'निवृत्तिपरक' ही मान लेते हैं। इस भ्रम ने अतीतकाल में भी अनेक अनर्थ उत्पन्न किए हैं और आज भी वह अनेक लोगों को चक्कर में डाल रहा है। अतएव अहिंसा की विवेचना करते समय यह देख लेना नितान्त आवश्यक है कि क्या वास्तव में अहिंसा कोरा निषेध ही है, और अहिंसा के साधक का कर्त्तव्य 'कुछ न करने में' ही समाप्त हो जाता है; अथवा अहिंसा का कोई विधि-रूप भी है? और उसके अनुसार अहिंसा के साधक के लिए कुछ करना भी आवश्यक है?

वास्तविक अहिंसा

जैन-धर्म की वास्तविक अहिंसा क्या है? क्या वह अकेली निवृत्ति ही है? अर्थात्—क्या वह अलग खड़े रहने के रूप में ही है? इधर से भागे तो उधर खड़े हो गए, और उधर से भागे तो इधर आ कर खड़े हो गए? तब क्या साधक सर्वथा अलग-अलग कोने में खड़ा रह कर जीवन गुजार दे? यदि अहिंसा को कहीं से अलग हटना है, तो अलग हटने के साथ-साथ कहीं खड़ा भी तो रहना है या नहीं? कहीं प्रवृत्ति भी करती है या नहीं? अहिंसा का साधक जीवन के मैदान में कुछ अच्छे काम कर सकता है या नहीं? आज का भ्रान्त संसार इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर चाहता है। अहिंसा के साधकों को उक्त प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देना होगा, और निष्पक्ष शब्दों में देना होगा। मौन साधने से काम नहीं चलेगा। मानव को मानवता के उद्धार एवं कल्याण के लिए कोई ठोस कदम उठाना ही पड़ेगा। क्योंकि मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जन्म लेता है और समाज में ही रह कर अपना सांस्कृतिक विकास एवं अभ्युदय करता है। उस अभ्युदय के बदले वह समाज को कुछ देता भी है। प्रवृत्तिरूप धर्म के द्वारा समाजसेवा करना उसका प्रथम कर्तव्य है।

जो अहिंसा जीवन के कार्य-क्षेत्र से अलग हो जाती है और निष्क्रिय हो कर हर जगह से भागना ही चाहती है, जिस अहिंसा का साधक भाग कर कोने में दुबक जाता है और यह कहता है—'मैं तो तटस्थ हूँ और अहिंसा का अच्छी तरह पालन कर रहा हूँ!' तब क्या ऐसी अहिंसा किसी भी रूप में उपयोगी हो सकती है? यह अहिंसा की निष्क्रिय वृत्ति है और इसके साधक के जीवन में केवल निष्क्रियता ही आ सकती है।

अहिंसक प्रवृत्ति के बिना समाज का कोई कार्य चल नहीं सकता, क्योंकि प्रवृत्तिशून्य अहिंसा समाज में जड़ता पैदा कर देती है। प्रवृत्तिशून्य अहिंसा से मानव में असामाजिकता ही पैदा होगी।

यदि आपने कोरी निवृत्ति के चक्कर में आ कर शरीर को काबू में कर भी लिया तो क्या हुआ? मन तो अपनी स्वभावगत चंचलता के अनुसार कुछ-न-कुछ हरकत करता ही रहेगा। फिर मन को कहाँ ले जाएँगे? इसका अर्थ हुआ कि—सर्वप्रथम मन को साधना पड़ेगा। शास्त्रकार भी यही कहते हैं कि पहले मन को ही एकाग्र करो, मन को ही साधो। केवल मन को ही सांसारिक विषयों से अलग करो। चाहे जीवन भले ही संसार में उचित प्रवृत्ति क्यों न करे। किन्तु जीवन की उचित प्रवृत्ति कुछ और है, और मन की उच्छृंखल प्रवृत्ति दूसरी वस्तु है। अंकुश तो मन पर लगा रहना चाहिए। यदि मन पर काबू पा लिया, तो फिर कहीं भी भागने की जरूरत नहीं है।

कुछ लोगों का कथन है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ नहीं रह सकतीं। ऐसी दशा में कोई ठहरे या आगे चले? यदि आप कहें कि चलो भी और ठहरो भी, तो दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। दिन और रात, एक साथ नहीं रह सकते हैं। गर्मी और सर्दी एक जगह कैसे रह सकती हैं? अर्थात् दो परस्पर विरोधी चीजों को एक साथ कैसे रखा जा सकता है? किन्तु जैन-दर्शन के पास एक विशिष्ट प्रकार की चिन्तनप्रणाली है और उस अनुपम चिन्तनपद्धति से विरोधी मालूम होने वाली चीजें भी अविरोधी हो जाती हैं। जैसे दूसरी वस्तुओं के अनेक अंश होते हैं, उसी प्रकार अहिंसा के भी अनेक अंश हैं। अहिंसा का एक अंश प्रवृत्ति है, और दूसरा अंश है निवृत्ति। ये दोनों अंश सदा एक साथ ही रहते है। एक-दूसरे को छोड़ कर अलग-अलग नहीं रह सकते। जब आप प्रवृत्ति कर रहे हैं तो उस समय निवृत्ति उसके साथ अवश्य होती है। यदि प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति नहीं है तो उसका कोई मूल्य नहीं है। ऐसी प्रवृत्ति बंधन में डाल देगी। प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का संग होने पर ही प्रवृत्ति का वास्तविक मूल्य है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति : अहिंसारूपी सिक्के के दो पहलू

जैनदर्शन में अहिंसा के दो पक्ष हैं। 'नहीं मारना' यह उसका एक पहलू है और उसका दूसरा पहलू है—मैत्रीकरुणा और सेवा। यदि हम अहिंसा के सिर्फ नकारात्मक पहलू पर ही सोचें तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्रीसम्बन्ध रखना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी समुचित विचार करना होगा। जैनागमों में जहाँ अहिंसा के ६० एकार्थक नाम[1] दिये गये है, वहाँ इसे दया, रक्षा,

१ दया, खंती, बोही, रक्खा, समिई, अण्णा अभओ····आदि

—प्रश्नव्याकरणसूत्र, प्रथम संवरद्वार

अभय आदि के नाम से भी अभिहित की गई है। यदि प्रवृत्ति नहीं है तो अकेली निवृत्ति का न तो कोई मूल्य है और न ही कोई अस्तित्व ही। इसीलिए साधक के चारित्र की जो व्याख्या की गई है, उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति-दोनों को समान स्थान दिया गया है। चारित्र न तो एकान्त प्रवृत्तिरूप है, और न एकान्त निवृत्तिरूप। इस सम्बन्ध में कहा गया है—"अशुभ कार्यों से, बुरे संकल्पों से तथा कुत्सित आचरणों से निवृत्ति करना और शुभ में प्रवृत्ति करना तथा सत्कर्मों का आचरण करना ही चारित्र है।[२] साधक एक ओर से निवृत्ति (विरति) करे और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करे। असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करना चाहिए।"[3] असदाचरण से निवृत्त बनो और सदाचरण में प्रवृत्ति करो; यही प्रवृत्ति और निवृत्ति की सुन्दर एवं पूर्ण विवेचना है।

अनुकम्पादान, अभयदान, सेवा आदि-आदि अहिंसा के प्रवृत्तिप्रधान रूप हैं। यदि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक ही होती तो जैनाचार्य इस प्रकार का कथन कथमपि नहीं करते। 'अहिंसा' शब्द भाषा-शास्त्र की दृष्टि से निषेधवाचक अवश्य है, इस कारण बहुत-से व्यक्ति इस भ्रम में फंस जाते हैं कि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक है। किन्तु गहन चिन्तन करने के पश्चात् यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि अहिंसा के अनेक पहलू हैं, अनेक अंग हैं। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अहिंसा समाहित है। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक कार्य में जहाँ प्रवृत्ति हो रही है, वहाँ दूसरे कार्य से निवृत्ति भी होती है। जो केवल निवृत्ति को ही प्रधान मान कर चलता है, वह अहिंसा की आत्मा को परख ही नहीं सकता। वह अहिंसा की सम्पूर्ण साधना नहीं कर सकता। एक-दूसरे के अभाव में अहिंसा अपूर्ण है। यदि अहिंसा के इन दोनों पहलुओं को न समझ सके तो अहिंसा की वास्तविकता से हम बहुत दूर भटक जायेंगे।

जैनश्रमण के उत्तरगुणों में चारित्र के सन्दर्भ में ५ समितियों और ३ गुप्तियों का विधान है। समिति की मर्यादा प्रवृत्तिपरक है और गुप्ति की मर्यादाएँ निवृत्तिपरक। अतः गुप्ति का अर्थ है—निवृत्ति और समिति का अर्थ है—प्रवृत्ति। इससे भी स्पष्ट है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों अहिंसारूपी सिक्के के दो पहलू हैं।

ईर्यासमिति का अर्थ है—चलना। यहाँ चलने से इन्कार नहीं किया गया; किन्तु अविवेक से या अनुचितरूप से चलना ठीक नहीं है। जहाँ हजारों 'ना' हैं, वहाँ एक 'हाँ' भी है। चलने के साथ यदि हजारों 'ना' है, तो वहाँ एक 'हाँ' भी निश्चित

---

२ 'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।'

—आचार्य नेमिचन्द्र

३ "एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं ना संजमे य पवत्तणं॥

—उत्तराध्ययन ३१।२

रूप से लगा हुआ है। चलना अवश्य है; किन्तु असावधानी या प्रमाद से नहीं, बल्कि यतना से चलना है। ऐसा करना ही शुभ में प्रवृत्ति है और अशुभ से निवृत्ति है। बस, अशुभ अंश को निकाल देना चाहिए; और शुभ अंश को जीवन-व्यापार का लक्ष्य-बिन्दु बनाना चाहिए। फिर भी जीवन की अभीष्ट सफलता अभिनन्दन करती हुई दिखलाई देती है।

भाषा-समिति में बोलना बन्द नहीं किया गया है। वहाँ भी बहुत-से नकारों के साथ 'हकार' मौजूद है। क्रोध, माया, लोभ और आवेश आदि से मिश्रित वचन कभी मत बोलो, कर्कश शब्द मत बोलो, कठोर और मर्मवेधी शब्द भी मत बोलो। किन्तु बोलो अवश्य, बोलने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु बोलना विवेक-पूर्ण होना चाहिए, दूसरों का हितसाधक होना चाहिए। भाषा-समिति का अर्थ है—'साधक का भाषण हर हालत में हित, मित एवं सत्य हो।'

अब क्रमशः एषणा-समिति आती है। यदि जीवन है तो उसके साथ आहार का भी सम्बन्ध है। शास्त्र में यह नहीं कहा गया है कि आहार के लिए प्रवृत्ति ही न करो। यद्यपि उसके साथ हजारों 'ना' लगे हैं कि—ऐसा मत लो, वैसा मत लो। किन्तु फिर भी लेने के लिए तो कहा ही गया है। जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक सामग्री जनता से ग्रहण की जा सकती है, किन्तु ध्यान रहे—वह ग्रहण शोषणहीन हो, सद्भावनापूर्ण हो। 'स्व' की सुविधा के साथ 'पर' की सुविधा का सुविचार भी सतत जागृत रहना चाहिए।

इसी प्रकार आवश्यकता-पूर्ति के लिए काम आने वाली चीजों का रखना और उठाना बन्द नहीं किया गया है। साधु भी अपने पात्र को उठाते हैं और रखते हैं। कदाचित् दूसरी आवश्यक चीजों को उठाना-रखना बन्द भी कर दें, तब भी शरीर को तो उठाए और रखे बिना काम नहीं चल सकता। इसलिए न तो उठाने की कोई रोक-टोक है और न रखने की ही। पाबन्दी तो केवल असावधानी से उठाने पर, और असावधानी से रखने पर है। यदि किसी वस्तु को सावधानी के साथ उठाया या रखा जाए तो उसके लिए कोई निषेध नहीं है। इस प्रकार यदि बहुत-से 'ना' लगे हैं तो विवेक के साथ उठाने-धरने का एक 'हाँ' भी अवश्य लगा हुआ है। यह 'आदान-निक्षेपणसमिति' हुई।

अब **'परिष्ठापनसमिति'** को लीजिए। जब आहार किया जाएगा तो शौच भी अवश्य लगेगा। इसी प्रकार जब पानी पिया जाएगा तो पेशाब भी अवश्य लगेगा। यह तो कदापि सम्भव नहीं है कि कोई नियमित रूप से खाता भी चला जाए और पीता भी चला जाए, किन्तु उसके शरीर में मलमूत्र न बने और यथावसर उसका त्याग न करना पड़े। जब मल-मूत्र आदि का त्याग आवश्यक है, तो वह करना ही चाहिए। किन्तु अविवेक या असावधानी से नहीं, अपितु विवेक के साथ। मल-मूत्र आदि विसर्जन-योग्य पदार्थों का परिष्ठापन करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है

कि सर्वसाधारण जनता के स्वास्थ्य को हानि न पहुँचे, इधर-उधर गन्दगी न फैले, किसी को भी कुरुचि एवं घृणा का भाव न हो।

देखिए, जैनाचार्य इस समिति की व्याख्या करते हैं कि समितियाँ प्रवृत्ति-रूप भी हैं और निवृत्ति-रूप भी हैं। जहाँ समिति है, वहाँ गुप्ति भी होती है।[४]

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि जीवन के क्षेत्र में चाहे साधु हो या श्रावक; दोनों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति यथावसर समान रूप में आवश्यक हैं। अशुभ आचरण एवं अशुभ संकल्प से अलग रह कर शुभ में प्रवृत्ति करनी ही होगी। यदि हम शुभ सोचेंगे, शुभ बोलेंगे और आचरण भी शुभ करेंगे तो इस रूप में हमारी प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चलेंगी। हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि हमारे अशुभ कार्यक्रम में निवृत्ति का लक्ष्य शुभ में प्रवृत्ति करना है; और शुभकार्य में प्रवृत्ति का ध्येय अशुभ से निवृत्त होना है। जहाँ हजारों 'ना' हैं, वहाँ एक 'हाँ' भी लगा हुआ है। अतएव प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्परनिरपेक्ष हो कर नहीं रह सकती, और वस्तुतः रहना भी नहीं चाहिए। एक उदाहरण देखिए—

जब कोई आदमी घोड़े पर चढ़ता है, तो वह चलने के लिए ही चढ़ता है, इसलिए नहीं कि घोड़े की पीठ पर ही जम जाए। वह घोड़े पर चढ़ता है और उसे गति भी देता है, किन्तु साथ ही घोड़े की लगाम भी पकड़ लेता है। उसे जहाँ तक चलना है, वहीं तक चलता है और जहाँ रुकने की आवश्यकता महसूस होती है, वहाँ खड़ा भी हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि घोड़े पर चढ़ कर चलना प्रवृत्ति है, और जरूरत होने पर खड़ा हो जाना निवृत्ति भी है।

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण लीजिए—किसी सेठ ने यदि ऐसी मोटर ले ली है कि एक बार स्टार्ट कर देने पर वह स्वच्छन्द गति से ऐसी चलती है कि कहीं पर कभी रुकती ही नहीं है, तब क्या ऐसी विचित्र मोटर में कोई बैठेगा? निश्चित है, कोई नहीं। सामान्यतः मोटर ऐसी होनी चाहिए कि वह चले तो अवश्य, किन्तु जरूरत के समय उसे खड़ा भी किया जा सके और मार्ग की स्थिति के अनुसार धीमी भी की जा सके। निस्सन्देह उसी में आप बैठना पसन्द करेंगे। हमारा जीवन भी एक प्रकार का घोड़ा अथवा गाड़ी है, जिसे समय पर चलाना भी चाहिए और समय पर रोकना भी चाहिए। जीवन की गति न तो उन्मुक्त, मर्यादाहीन एवं उच्छृंखल ही होनी चाहिए, और न सर्वथा निष्क्रिय ही।

जैन-धर्म ने यह एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—जहाँ तक शुभ में प्रवृत्ति का अंश है वहाँ प्रवृत्ति है, और जहाँ अशुभ से निवृत्ति का अंश है, वहाँ निवृत्ति है। प्रवृत्ति और निवृत्ति; दोनों ही जगह अहिंसा की सुगन्ध महकती है।

---

४ पवियाराऽपवियाराओ समिईओ —स्थानांग सूत्र

तटस्थता या बचाव

एक आदमी किसी को मार रहा है या कोई स्वयं अपनी आत्म-हत्या कर रहा है। इसी समय दो आदमी आ पहुँचते हैं। उनमें से एक आदमी तो उस दीन-हीन की रक्षा के लिए तत्पर होता है और दूसरा तटस्थ हो कर अलग खड़ा रह जाता है। ऐसी स्थिति में तटस्थ खड़े रहने वाले को कहाँ पाप लग रहा है? वह स्वयं तो किसी को मार ही नहीं रहा है, जिससे कि उसे पाप लगे, वह तो केवल तटस्थभाव से खड़ा है। यदि दूसरा आदमी तटस्थ न रह कर बचाने की प्रवृत्ति करता है तो यहाँ भी प्रश्न आता है—तटस्थ रहने वाले निवृत्तिपरायण व्यक्ति को अधिक लाभ है या प्रवृत्ति करने वाले को?

जो लोग जीवन के हर क्षेत्र में तटस्थ ही रहना चाहते हैं, वे कदाचित् यही कहेंगे कि जो तटस्थ रहा है, उसने पाप नहीं किया और उसे हिंसा भी नहीं लगी। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में तटस्थ रहना—क्रियाहीन जीवन व्यतीत करना ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है और प्रवृत्ति करना अमुख्य लक्ष्य। किन्तु उनसे पूछा जा सकता है कि जैन-धर्म में जो दया या करुणा की बात कही गई है, क्या वह केवल तटस्थ रहने की बात है? उदाहरण के लिए—

एक साधु नदी के किनारे चल रहा है, जाते हुए फिसल गया, और नदी के प्रवाह में गिर कर डूबने लगा। उसके साथी दो साधु किनारे पर खड़े हैं। उनमें से एक साधु जो किनारे पर खड़ा है, वह तटस्थभाव की मुद्रा में खड़ा है। इस प्रसंग पर वह यह कहता है—मैंने धक्का नहीं दिया, मैंने संकल्प भी नहीं किया कि वह गिरे। वह गिरने वाला तो अपने आप गिर गया है और डूबने लगा है—इसमें मेरा क्या दोष? अस्तु, मैं तो अन्त तक तटस्थ ही रहूँगा। यदि पानी में जाऊँगा तो जल के जीवों की हिंसा होगी, और जल में रहने वाले छोटे-बड़े अनेक त्रस[५] जीवों की हिंसा भी होगी। ऐसा सोचकर वह तटस्थ खड़ा रहता है।।

परन्तु दूसरा साधु उसे बचाने के लिए नदी में उतर पड़ता है। डूबने वाला साधु अस्त-व्यस्त दशा में है। उसे बचाने की कोशिश करते समय पानी में तो हलचल अवश्य होगी और कितनी ही मछलियाँ तथा दूसरे अनेक जीव भयभीत एवं परेशान भी होंगे और कुछ तो मर भी जायेंगे। फिर भी वह उस डूबने वाले साधु को नदी से बाहर निकाल कर किनारे पर ले आता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन-से साधु को लाभ हुआ? अर्थात्—जो साधु अन्त तक तटस्थ था, वह लाभ में रहा, या जो तटस्थ न रह कर साथी साधु को बचाने के लिये नदी में उतरा, वह लाभ में रहा?

तटस्थ रहने वाला साधु कहता है—"नदी में गिरने वाले साथी साधु के पतन में मेरा कोई निमित्त नहीं था, अतः मैं गिरने के पाप का भागी नहीं हूँ। साथ ही मैं

५ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव स्थावर हैं। द्वीन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं।

उसे नदी से निकालने के लिये भी नहीं गया, अतः बचाने में जल-जीवों की तथा अन्य मत्स्य आदि त्रसजीवों की जो हिंसा हुई है, उससे भी मैं पूर्णतया मुक्त रहा हूँ। अतएव मैं अपनी तटस्थता के कारण बचाने वाले से कहीं अधिक अहिंसक हूँ।"

"जो साधु तटस्थ नहीं रहा और साथी साधु को बचाने के लिये नदी में उतरा, वह एक प्राणी को तो अवश्य बचा लाया, किन्तु एक की रक्षा के लिये कितने प्राणियों की हिंसा का भागी हुआ ?"

इस प्रकार यह जटिल प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि उक्त प्रसंग पर क्या तटस्थ रहना आवश्यक है या प्रवृत्ति करना ? इस विषय में भगवान् महावीर का आदेश तो यह कहता है कि जब इस प्रकार की विषम परिस्थिति आ जाए तो साधु दूसरे दुर्घटनाग्रस्त साधु को निकाले[६] और यदि साध्वी डूब रही है तो उसको भी निकाले किन्तु तटस्थ होकर न खड़ा रहे। इस प्रकार जैनागम का मूल उल्लेख है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिंसा और अहिंसा का जो स्थूलरूप वर्णित है, कर्त्तव्य उससे भी कहीं ऊँचा है।

कोई प्राणी हमारे सामने मर रहा है। सम्भव है, उस समय बाह्यरूप में हठात् निवृत्ति कर भी ली जाय; परन्तु ऐसे अवसर पर बचाने के संकल्प स्वभावतः आया ही करते हैं। फिर भी हम यदि उनको बलात् उपेक्षा ही करते हैं, रक्षात्मक प्रवृत्ति का प्रयोग नहीं करते हैं तो हमारे मन की दया कुचली जाती है और इस प्रकार अपने द्वारा अपने आत्मा की एक बहुत बड़ी हिंसा हो जाती है। इस आत्म-हिंसा को रोकना और उससे बचना अत्यधिक आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह तो स्पष्ट ही है कि बचाने के लिये पानी में प्रवेश करने वाले का संकल्प जल के जीवों को मारने का बिलकुल नहीं था, उसका एकमात्र इरादा तो डूबते हुए साधु को बचाने का ही था।

जैन-धर्म ने तटस्थता को महत्त्व अवश्य दिया है, किन्तु वह हर जगह और हर परिस्थिति में तटस्थ रहने का आदेश कदापि नहीं देता।

साधु को बचाने के लिये जल में प्रवेश करने वाले सहधर्मी साधु को पुण्य-प्रकृति का बंध हुआ या पाप-प्रकृति का ? अथवा उसे अन्ततः निर्जरा ही हुई ? यह बात तो ध्यान में रहनी ही चाहिए कि जब अन्तःकरण में अनुकम्पा जगती है और करुणा की लहर उत्पन्न होती है, तब मनुष्य दयाभाव में गद्गद हो जाता है और जब वह पूर्णतया गद्गद हो जाता है, तब असंख्य-असंख्यगुणी निर्जरा[७] कर लेता है। जब ऐसी स्थिति आती है तब हमारी भूमिका शुभसंकल्प में केन्द्रित होती है और जब हम तन्मयता के साथ किसी शुभसंकल्प में लीन होते हैं, तब निर्जरा के साथ-साथ

---

६ देखिये बृहत्कल्पसूत्र ६, ८।

७ पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करना, निर्जरा है।

पुण्य-प्रकृति का भी बंध हो जाता है। कल में प्रवेश करने से जो हिंसा हुई है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु मुख्य प्रश्न तो यह है कि उससे हुआ क्या? क्या वह पाप का मार्ग है अथवा पुण्य का या निर्जरा का है? इस स्थिति में जैन-धर्म तो यह कहता है कि जो साधु पानी में गया है, वह पानी के जीवों को मारने के लिए नहीं गया है और न वह मछलियों को ही पीड़ा पहुंचाने की भावना लेकर गया है; अपितु एक संयमी को बचाने की पवित्र भावना ले कर गया है। ऐसी स्थिति में यदि कोई हिंसा हो गई है, तो वह किसी अनर्थ की सिद्धि के लिए नहीं हुई है। किसी जीव की स्वतः हिंसा हो जाना एक बात है, और किसी की हिंसा करना दूसरी बात है। अनेक बार प्रायः हम गलती से कह देते हैं कि अमुक की हिंसा की गई है, किन्तु होने और करने के भेद को समझने का प्रयत्न नहीं करते और इसी कारण किसी की स्वतः हिंसा हो जाने पर उसे हिंसा का पापाचार समझ लेते हैं। स्वतः होने में और स्वयं करने में बहुत बड़ा अन्तर है और वह अन्तर भी बाहर में परिलक्षित होने वाले कार्य का नहीं, अपितु भावनाओं का ही विभेद है।

प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन

जैसा कि पहले कहा गया है कि साधु मकान को या जमीन को पूंजता है और पूंजते समय प्रायः जीव इधर से उधर होते हैं, घसीटे भी जाते हैं, और उन्हें परिताप भी होता है। किन्तु कोई भी उससे पाप का बंध होना नहीं कह सकता, क्योंकि वह परिताप स्वतः पहुंच गया है, दिया नहीं गया है। यदि ऐसा न माना जाए तो पूंजना भी पाप हो जाएगा। हमारे पुराने आचार्यों की कुछ ऐसी धारणाएँ हैं कि उपाश्रय को प्रमार्जित करने वाले साधु को बेले[८] का लाभ होता है। एक बार उपाश्रय पूंजने से असंख्य जीव मरते होंगे। ऐसा मत समझिए कि जो आँखों से दीखते हैं, वे ही जीव हैं, यहाँ पर हमारी स्थूलदर्शी आँखों का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि वे तो सिर्फ स्थूल जीवों को ही देखती हैं। भले ही आपका आँगन रत्न-जटित क्यों न हो, आपको एक भी जीव वहाँ दिखाई न देता हो; फिर भी यदि आप सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखेंगे तो वहाँ हजारों चलते-फिरते प्राणी दिखलाई देंगे। ऐसी दशा में प्रतिदिन सुबह और शाम के समय प्रतिलेखन करने की आज्ञा क्यों दी गई है? और उपाश्रय-भूमि का प्रमार्जन करना अनिवार्य क्यों बतलाया गया है?

प्रतिदिन का प्रमार्जन हिंसा-रूप है—ऐसा सोच कर यदि प्रमार्जन करना बंद कर दिया जाए तो क्या परिणाम होगा? फिर कल और परसों क्या होगा? जीव बढ़ते जाएँगे या घटते जाएँगे? जितनी-जितनी गंदगी बढ़ेगी, उसी अनुपात से जीवों की उत्पत्ति भी बढ़ती जाएगी। ऐसी स्थिति में आपको दो बातों में से किसी एक के लिए तैयार रहना चाहिए। या तो आप उस मकान में से अपने आपको हटा लें और

८ लगातार दो उपवास करना, बेला कहलाता है।

मकान छोड़ कर अन्यत्र चले जाएँ या चलने-फिरने और घूमने में जो हिंसा हो, उसके भागी बनने को तैयार रहें।

इस दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि हमें केवल वर्तमान की ही हिंसा-अहिंसा को नहीं देखना चाहिए, अपितु भविष्य की हिंसा-अहिंसा का भी व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए। बहुधा हमारी निगाह वर्तमान से ही चिपट कर रह जाती है और हम यह सोच लेते है कि यदि अभी प्रमार्जन करेंगे तो हिंसा होगी! किन्तु यदि आप प्रमार्जन नहीं करेंगे और मकान को यों ही गंदा रहने देंगे तो दिनो-दिन गंदगी बढ़ती ही जायगी। उस गन्दगी से असंख्य जीव उत्पन्न हो जायेंगे और सम्पूर्ण मकान जीवों से कुलबुलाता दिखलाई देगा। फिर इसका क्या परिणाम होगा? जब आप चलेंगे, फिरेंगे तो आपकी इस प्रवृत्ति से कितने जीव मारे जाएँगे? तो अब आप विचार करें कि प्रतिलेखन और प्रमार्जन केवल वर्तमान की ही हिंसा को नहीं रोकता है, अपितु भविष्य की हिंसा से भी बचाता है। भविष्य में जो भी हिंसा जिस रूप में होने वाली है, उसे सर्वप्रथम रोकना और जीवों की उत्पत्ति न होने देना, एकमात्र विवेक का तकाजा है। इसीलिए तो जैन-धर्म कहता है कि पहले विवेक रखो, स्वच्छता एवं सफाई रखो, और जीवों की उत्पत्ति न होने दो, तभी ठीक तरह हिंसा से बचाव हो सकता है। परन्तु खेद है कि आज का जैन-समाज केवल 'आज' होने वाली हिंसा का ही खयाल करता है और उससे बचना भी चाहता है, किन्तु वर्तमान के फलस्वरूप भविष्य में होने वाली महान् हिंसा के सम्बन्ध में कुछ भी विचार नहीं करना चाहता! बस, यही गड़बड़ी का मुख्य कारण है। यही मूल में भूल है।

प्रायः कुछ लोग कहा करते हैं—प्रतिलेखन करेंगे तो हिंसा होगी और प्रमार्जन करेंगे तो पाप होगा। हम उनसे पूछते हैं—'हिंसा और पाप क्यों होंगे?' तब वे कहते हैं—'जब पाप होता है, तभी तो आलोचना-स्वरूप ध्यान करते हैं! यदि पाप न होता, तो प्रतिलेखन करने के पश्चात् 'इरियावहिया' के रूप में आलोचना की क्या आवश्यकता थी?'

जो ऐसा कहते हैं, वास्तव में उन्होंने जैन-धर्म के हृदय को स्पर्श नहीं किया; तभी वे भ्रम में पड़ गये हैं। अब मैं पूछता हूँ कि आलोचना प्रतिलेखन की है या दुष्प्रतिलेखन की? वस्तुतः सिद्धान्त तो यह है कि इस सम्बन्ध में जो आलोचना की जाती है, वह प्रतिलेखन या प्रमार्जन की नहीं है, अपितु प्रतिलेखन या प्रमार्जन करते समय जो अयतना हुई हो, उसकी ही आलोचना है। प्रमार्जन तो किया हो, किन्तु उसे सावधानी के साथ नहीं किया हो। इसी प्रकार प्रतिलेखन किया हो, किन्तु वह भी ठीक तरह से नहीं किया हो; अर्थात्—इन क्रियाओं के करने में जो अशुभांश आ गया है, उसी की आलोचना की जाती है। यदि ऐसा न माना जाए तो क्या शास्त्र-स्वाध्याय करने से भी पाप लगता है? नहीं, ऐसा तो नहीं है। वह आलोचना स्वाध्याय की आलोचना नहीं है, किन्तु स्वाध्याय करने में यदि कोई असावधानी हुई हो, अशुद्ध उच्चारण किया गया हो, या कोई त्रुटि रह गई हो, तो उसकी ही आलोचना

है। इस प्रकार प्रतिलेखन के पश्चात् की जाने वाली आलोचना भी प्रतिलेखन की नहीं, अपितु ठीक तरह प्रतिलेखन करने की ही समझी जानी चाहिए।

जब इन बारीकियों पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाएगा तो स्वतः स्पष्ट हो जाएगा कि जैनधर्म ने जो कुछ भी कहा है उसे हमने विवेक-बुद्धि से नहीं समझा और न ही उसे व्यवहार में लाने की आवश्यकता अनुभव की। कुछ ऐसे भी लोग मिलते हैं जो बुहारी न देने के नियम बनाना चाहते हैं। यदि वे बना लें तो उसका परिणाम क्या होगा? सुबह से शाम तक घर और द्वार में गन्दगी फैली रहेगी। उस गन्दगी से कितने ही प्राणी उत्पन्न होंगे और कितने ही इधर-उधर से आ कर जमा भी हो जायेंगे। यदि आगे भी ऐसा ही होता रहेगा तो या तो घर को कीड़ों-मकोड़ों के लिए ही छोड़ देना पड़ेगा, या चार दिन बाद बुहारी लगा कर बहुसंख्यक जीवों की हिंसा का भाजन बनना पड़ेगा।

इस सम्बन्ध में जैन-धर्म की स्पष्ट घोषणा है कि साधु अपने निवास-स्थान एवं उपकरणों का प्रतिदिन प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करे, और यह निर्देशन केवल साधुओं तक ही सीमित नहीं, गृहस्थों के लिए भी है। यदि नियमित प्रतिलेखन और प्रमार्जन नहीं किया जाएगा, तो उससे होने वाले दो उपवासस्वरूप तप का लाभ भी नहीं होगा और घर की स्वच्छता भी नहीं रहेगी।। यह नहीं समझना चाहिए कि धर्मस्थान के प्रमार्जन से तो बेले के तप का लाभ होता है और अपने खुद के मकान का प्रमार्जन करने से बेले का लाभ प्राप्त न हो कर उल्टा पाप ही होता है! जैन-धर्म किसी स्थान-विशेष में धर्म नहीं मानता है, उसका धर्म तो कर्त्ता की भावना पर ही आश्रित है।

दृष्टि-परिवर्तन

जैन-धर्म दृष्टि-परिवर्तन की बात कहता है। वह कहता है कि यदि आप मकान की सफाई कर रहे हैं तो दृष्टि बदल कर कीजिए। सफाई करने में एक दृष्टि तो यही हो सकती है कि मकान साफ-सुन्दर दिखाई देगा, साफ-सुथरा मकान देख कर लोग आपकी प्रशंसा करेंगे। इस दृष्टि में शृङ्गार की भावना है। दूसरी दृष्टि यह है कि सफाई रखने से जीवों की उत्पत्ति नहीं होने पाएगी; फलतः जीवों की व्यर्थ की हिंसा से स्वतः बचाव हो जाएगा। साथ ही प्रमार्जन करते समय विवेक रखा जाए, अंधाधुन्धी न मचाई जाए, प्रमार्जन और सफाई के साधन भी कोमल रखे जाएँ, इतने कठोर न हों, जिससे उनकी चपेट में आकर जीव मारे जाएँ। यदि कोई जीव झाड़न में आ जाए तो उसे सावधानी के साथ अलग रख दिया जाए। इस प्रकार घर की सफाई करते समय यदि वर्तमान में भी विवेक-बुद्धि का प्रयोग किया जाए और भविष्य की अहिंसा का भी विचार किया जाए तो यहाँ धर्म होगा, पाप-कर्म की निर्जरा होगी।

एक बहन भोजन-पान आदि की समस्त सामग्री को खुला रख छोड़ती है। कहीं घी ढुल रहा है, तो कहीं तेल फैल रहा है, कहीं पानी में मक्खियाँ गिर रही हैं, तो

कहीं दाल में चीटियाँ घूम रही है ! दूसरी बहन विवेक के साथ सब चीजों को व्यवस्थित रूप में रखती है। सबको भलीभाँति ढक कर सही तरीके के साथ रखती है। ऐसी व्यवस्था करने में भी एक वृत्ति तो यह हो सकती है कि मेरी चीजें खराब न हो जाएँ और दूसरी वृत्ति यह हो सकती है कि जीवों की हिंसा न हो जाए, किसी प्रकार की अयतना न होने पाए। सावधानी दोनों जगह रखी जाती है, किन्तु दोनों में आकाश और पाताल के अन्तर जैसा बहुत बड़ा अन्तर है। पहली व्यवस्था में वृत्ति में मोह है, ममत्व है और स्वार्थ है। दूसरी व्यवस्था में वृत्ति में जीवों पर दया है, अनुकम्पा है। बस इसी भावना के भेद से ही तो फल में भी भिन्नता आती है। जहाँ मोह, ममता और स्वार्थ है वहाँ कर्म-बन्ध है; और जहाँ अनुकम्पा है, वहाँ धर्म है, निर्जरा है। अस्तु, जैन-धर्म कहता है कि अनुकम्पा की भावना से यतना करने पर भी चीज तो सुरक्षित रहेगी ही; फिर व्यर्थ ही मोह-ममता रख कर साधना के उच्चशिखर से नीचे क्यों उतरते हो ? काम करते समय, निर्जरा-भाव की जो पवित्रगंगा बह रही है, उससे क्यों वंचित होते हो ?

चीजें यदि अव्यवस्थित रहेंगी तो खराब होंगी, उनमें मक्खियाँ गिरेंगी और कष्ट पाएँगी, चीजें सड़ेंगी और असंख्य जीवों की हिंसा होगी। इस प्रकार तनिक-सी असावधानी महान् हिंसा की परम्परा को जन्म देती है। इस तरह जैन-धर्म दृष्टि-परिवर्तन की सिफारिश करता है। फिर चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, वह चाहे धर्म-स्थान में हो या अपने घर में, दृष्टि के बदलते ही सृष्टि भी बदल जाती है। काम करते हुए भी यदि धर्म-बुद्धि रखी जाती है तो निश्चित ही वह मोक्ष के मार्ग पर बढ़ाने वाली होती है। इस प्रकार जहाँ कहीं भी विवेकमय जीवन होगा, वहाँ प्रत्येक क्षण निर्जरा की जा सकती है।

जब किसी को बोलना आवश्यक हो तो बोलना चाहिए। जीभ पर ताला लगाए फिरने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु बोलने के साथ संयम सदैव अपेक्षित है। बोलते समय यह ध्यान रहना चाहिए कि उसके बोलने से किसी को चोट तो नहीं पहुँच रही है ? किसी का अनिष्ट तो नहीं हो रहा है ? किसी की कुछ भलाई भी हो रही है या नहीं ? यदि इस प्रकार '**भाषा-समिति**' का ख्याल रख कर बोला जा रहा है तो समझा जा सकता है कि निर्जरा हो रही है।

यदि चलने की जरूरत आ पड़ी है तो आदमी चल सकता है। जैनधर्म उसके पैरों को बेड़ियों से नहीं जकड़ता। वह सबके लिए पादपोपगमन[६] संथारे का विधान नहीं करता। वह तो यही कहता है चलते समय देख कर चलना चाहिए। वस्तुतः

६ जीवन के अन्तिम काल में समाधिमरण के लिए वृक्ष से टूट कर नीचे गिरी हुई शाखा के समान निष्क्रियरूप से एक स्थिति में रह कर आमरण-अनशन करना, पादपोपगमन संथारा कहलाता है।

विवेकयुक्त चलना ही गति-क्रिया की पवित्रता है। और उसके अनुसार ऐसी कोई भिन्नता भी नहीं है कि साधु देख कर चल रहा है तो उसे धर्म होगा और अन्य किसी से नहीं होगा ? देख कर चलने पर साधु की भाँति सामान्य व्यक्ति को धर्म होगा, निर्जरा होगी।

आवश्यकतानुसार साधारण व्यक्ति इधर की चीजें इधर से उधर रखते हैं और साधु भी अपनी वस्तुएँ यथास्थान रखता है, तो क्या पात्र आदि को संयमित ढंग से इधर से उधर रखने में साधु को ही धर्म होगा और दूसरों को नहीं ? कदापि नहीं। यदि विवेक रखा जाए और जीव-दया की सद्भावना स्थिर की जाए तो साधु के समान अन्य लोगों को भी निर्जरा अवश्य होगी।

जैन-धर्म का विधान है कि यदि अहिंसा की भावना रखी जाए, प्रतिक्षण मन के अन्दर दया की झंकार उठती रहे और इस प्रकार जीवन संमितिगय हो कर चलता रहे तो बाहर में कार्य की मात्रा 'एक' होने पर भी फल 'दो' मिल जाएँगे,[१०] अर्थात् व्यक्ति के दैनिक व्यवहार की सामग्री भी सुरक्षित रहेगी और साथ-साथ वह अहिंसा का अमृत भी पीता जाएगा। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यदि अहिंसा को खूली-लँगड़ी और एक कोने की दर्शनीय वस्तु बना कर रखने से वह जी नहीं सकती। निश्चय ही वह सड़ेगी और गलेगी। उसे क्रियात्मक रूप में जीवन के हर क्षेत्र में ले जाइए। यदि चलना है तो अहिंसा को उसमें जोड़ दीजिए। आप जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र में जो भी प्रवृत्ति कर रहे हैं, उस प्रवृत्ति के साथ अहिंसा के संकल्प को संयुक्त कर दीजिए। फिर देखिए आपकी प्रवृत्ति में एक नया जीवन और नया प्राण आ जाएगा। अपनी अन्तरंगवृत्ति को पवित्र बना डालिए, निर्जरा अवश्य होगी।

यदि किसी प्रवृत्ति में अहिंसा की दृष्टि नहीं जोड़ी गई है, तो वह हिंसा ही कहलाएगी, चाहे उसके कारण हिंसा हो रही हो या नहीं हो रही हो। क्योंकि प्रमाद-भाव स्वयं एक प्रकार की हिंसा है, और अप्रमाद-भाव अहिंसा है।

आत्मरक्षा

इसी सम्बन्ध में एक सुन्दर प्रकरण भी है—वर्तमान की अहिंसा के संतुलन में भविष्य की जो बड़ी हिंसा आने वाली है, उसे निमंत्रण दिया जाए या नहीं ? आचारांगसूत्र में एक प्रसंग आया है।[११]—एक पंच-महाव्रतधारी साधु है, जो विहार कर रहा है। पहाड़ों के बीच से एक सँकड़ी पगडंडी है। वह देख-देख कर चल रहा है, किन्तु अचानक ठोकर लग जाती है, पैर लड़खड़ा जाते हैं और वह गिरने लग जाता है। गिरते समय साधु क्या उपाय करे ? यदि वहाँ कोई वृक्ष है तो उसे पकड़ ले, बेल है तो उसे पकड़ ले और यदि कोई यात्री आ-जा रहे हों तो उनके हाथ के

---

१० 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा'

११ देखिये आचारांगसूत्र २, ३, २

सहारे भी ऊपर आ जाए; अर्थात्—ऐसी स्थिति में साधु वृक्ष का या लता का सहारा ले कर भी आत्मरक्षा कर सकता है।

शास्त्र का उपर्युक्त आत्मरक्षा सम्बन्धी विधान संक्षेप में अपनी बात कह कर विराम पा लेता है। किन्तु हमारी चिन्तन-धारा में अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं—जैन-साधु तीन करण तीन योग से हिंसा का त्यागी है। अतः उसे बेल या वृक्ष को छूने की आज्ञा नहीं है, क्योंकि उनको छूने से असंख्यजीवों की हिंसा हो जाती है। अस्तु, वह आत्मरक्षा के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा कैसे कर सकता है? साधु की प्राणरक्षा बड़ी है या अहिंसा बड़ी है? साधु के लिए जो ऊपर कहा गया है कि ऐसे अवसर पर वह वृक्ष आदि को पकड़ कर प्राण बचा ले, यह बात कहाँ तक ठीक है?

साधु को वृक्ष आदि पकड़ कर प्राण बचा लेने का विधान करने वाला यह पाठ आचारांग का है। उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। आचार्यों ने भी विचार किया है कि गिरते समय साधु जो वृक्ष आदि का सहारा ले कर ऊपर आता है, उसमें हिंसा नहीं, अपितु अहिंसा है। वह अहिंसा कहाँ से हो गई? निस्सन्देह साधु हिंसा के माध्यम से ऊपर आता है, किन्तु वह जीभ की लालसा से या मोह से प्रेरित हो कर नहीं आता है। जीवन-रक्षा के सम्बन्ध में तो बात यह है कि मस्तक पर नंगी तलवार भी क्यों न चमक रही हो, किन्तु साधु अपना धर्म नहीं छोड़ता। साधु के लिए हँसते-हँसते प्राणों का विसर्जन कर देना सहज है, किन्तु अहिंसाधर्म को छोड़ देना सहज नहीं। जब यह स्थिति है तो प्रश्न है कि फिर वृक्ष या बेल पकड़ने की स्वीकृति क्यों दे दी गई है? इसका मुख्य कारण यह है कि असावधानी से जब साधु गिर पड़ता है तो उसका शरीर बे-काबू हो जाता है। बे-काबू शरीर लुढ़कते-लुढ़कते कितनी दूर जा कर गिरेगा, यह कौन कह सकता है? जितनी दूर भी वह लुढ़कता जाएगा, उतनी ही दूर तक उसके शरीर-पिण्ड के द्वारा न जाने कितने एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा होगी। इसके अलावा गिरने और लुढ़कने पर यदि अंग-भंग हो गया तो जब तक वह साधु जीवित रहेगा, तब तक सड़ता रहेगा; उष्ण और शीत के प्रकोप से तथा हिंसक जानवरों द्वारा पीड़ित होने पर उसे आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान भी पैदा होंगे। यदि इसी दशा में उसकी मृत्यु होती है, तो उसके निर्मल भावों की आत्म-हिंसा होने से वह दुर्गति में ही जाएगा।

अतएव जिस वृक्ष का सहारा लिया गया है, वह जीवन के मोह और ममत्व से नहीं लिया गया है, वृक्ष या वृक्ष के आश्रित जीवों की हिंसा करने के लिए भी उसे नहीं पकड़ा गया है। उसके एक भी फल, फूल या पत्ते से साधु को कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु आगे होने वाली भयंकर हिंसा को बचाने के लिए ही उसने वृक्ष को पकड़ा है। इस विचार की स्पष्टता निम्नलिखित दृष्टान्त पर से समझी जा सकती है—

"कोई साधु जब बीमार पड़ता है तो दवा खाता है। क्यों खाता है? क्या शरीर की रक्षा के लिए? सम्भव है, किसी में आज यह वृत्ति भी हो, किन्तु शास्त्रकार

तो यह कहते हैं कि यह वृत्ति दोषपूर्ण है। वे दवा लेने की आज्ञा अवश्य देते हैं, किन्तु इसलिए नहीं कि तुम्हें शरीर-रक्षा के लिए औषधिसेवन करना है। उनका अभिप्राय तो यह है कि यदि दवा नहीं लोगे तो शरीर में बीमारी फैलेगी और एक दिन वह तुम्हें बुरी तरह जकड़ लेगी। इतना ही नहीं, आखिर तुम अपना सन्तुलन भी खो बैठोगे। फलतः तुम्हें आर्त-ध्यान होगा, रौद्रध्यान भी होगा और अनेकानेक दुस्संकल्प भी होंगे। इस दुराशापूर्ण विषम स्थिति से बचने के लिए ही दवा ली जाती है।

इस प्रकार यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि भविष्य की हिंसा को रोकने के लिए प्रतिलेखन किया जाता है, प्रमार्जन भी किया जाता है किन्तु यह सब क्षणभंगुर जीवन की लोलुपता से नहीं, अपितु आगे होने वाली विराट् हिंसा को रोकने के लिए किया जाता है।

जैन-धर्म अहिंसा के विषय में जो इस प्रकार विवेचन करता है और अहिंसा की दृष्टि को सामने रख कर प्रवृत्ति का विधान प्रस्तुत करता है; उसका मन्तव्य प्रवृत्ति का पूरी तरह परित्याग करना नहीं है, अपितु जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में अहिंसक दृष्टिकोण पैदा करना है। जीवन-व्यापार में प्रवृत्ति में कोई अविवेक या भूल होती है तो उसी के लिए 'मिच्छामि-दुक्कडं' दिया जाता है। इस प्रकार अब यह पूर्णतया स्पष्ट समझा जाना चाहिए कि 'अहिंसा' केवल निवृत्ति में ही नहीं है, अपितु प्रवृत्ति में भी विद्यमान है। □

१३ | अहिंसा की विधेयात्मक त्रिवेणी

पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व के भारत में हिंसा का उतना क्रूर और नग्न ताण्डव तो नहीं था कि मनुष्य के जीवन और विकास की संभावनाएँ ही समाप्त हो जाएँ, किन्तु राष्ट्रीय जीवन जैसा चाहिए, वैसा शान्त नहीं था। एक राज्य दूसरे राज्य के प्रति सदा आशंकित और भयभीत रहता था। अवन्ती का चन्डप्रद्योत जैसा तानाशाह अपनी असीम राज्य-लिप्सा और काम-लिप्सा के लिए उस समय पूरे पूर्व-दक्षिण भारत में बदनाम था। मगध, वत्स, पांचाल और सिन्धु-सौवीर तक के राजवंशों के साथ उसके युद्ध और आक्रमण की घटनाएँ अनेक बार घट चुकी थीं।

इधर मगध का महत्त्वाकांक्षी कूणिक भी अपने पिता बिम्बिसार की हत्या करके राज-सिंहासन पर बैठा। और कुछ ही दिनों बाद उसने वैशाली-गणराज्य के साथ वह भयंकर युद्ध छेड़ा कि उस समय का दक्षिण-पूर्व भारत का अपार वैभव युद्ध की लपटों में स्वाहा हो गया।

निरयावलिका और भगवती आदि सूत्रों से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर ने इन युद्धों का विरोध किया था। युद्धोन्माद में पागल होने वाले सैनिकों की इस अन्ध राष्ट्र-भक्ति को भी उन्होंने खुल कर चुनौती दी थी कि "युद्ध में मृत्यु प्राप्त करने वाला स्वर्ग में जाता है।"

वे जन्मतः राजकुमार थे, किन्तु राजाओं की इस अनियन्त्रित युद्ध-लिप्सा के साथ सदा उनका विरोध रहा। अनेक राजा व गणाधिनायक उनके भक्त भी थे, किन्तु उन्होंने उनकी नीति के साथ कभी भी सहमति नहीं की; अपितु कुछ बातों में तो सदा अपना असहयोग ही प्रगट करते रहे। राजवंशों के साथ मधुर-असहयोग का ही एक उदाहरण है कि उन्होंने कभी भी राजाओं के घर पर भिक्षा ग्रहण नहीं की। भिक्षुओं को भी उन्होंने राज-पिण्ड ग्रहण करने का निषेध कर दिया। बिना किसी विशिष्ट हेतु के राज-महलों में भिक्षुओं का आना-जाना भी निषिद्ध था।

और युद्ध से भी बड़ी आशंका यह थी कि मनुष्य नित्य-प्रति के अपने साधारण सामाजिक जीवन में भी आश्वस्त नहीं था। एक-दूसरे की हत्या, अंग-छेदन और धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण नरबलि, पशुबलि आदि के रूप में हिंसा के क्रूर दृश्य मानवीय चेतना को कम्पित करते रहते थे। महावीर ने यज्ञवाद का निरन्तर विरोध किया। यज्ञों में होने वाली नरबलि व पशुबलि को उन्होंने ब्राह्मण का कर्म नहीं, किन्तु म्लेच्छकर्म (अनार्यकर्म) कहा। जब देखा कि मानव की अवस्था यज्ञ के

साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध बनाए रखना चाहती है, तो जन-मानस के ज्ञाता महावीर ने यज्ञ को अध्यात्मिक रूप में प्रस्तुत किया और कहा—'इस यज्ञ में अपने मन के पशुओं (दुर्वृत्तियों) की ही बलि दो।'

भगवान् महावीर ने जीवन की शान्ति और विकास के लिए अहिंसा को तीन विधेयात्मक रूपों में व्यक्त किया—

१—**समता**
२—**प्रेम**
३—**सेवा**

प्रत्येक प्राणी को आत्म-तुल्य समझो, यह समता का पहला उद्घोष था और सामाजिक भावना का मूल आधार।

जो व्यक्ति निकट परिचय में आते हैं, उनके साथ विग्रह और विरोध मत करो। प्रत्येक व्यक्ति को अपना बन्धु समझो, और उसके साथ मैत्री-भावना का विकास करो। यह प्रेम का सन्देश था।

सेवा का तीसरा उद्घोष सामाजिक सम्बन्धों की मधुरता और आनन्द का मूल स्रोत है। जहाँ दो व्यक्तियों में परस्पर सहयोग नहीं, वहाँ सामाजिक सम्बन्ध कितने दिन टिकेंगे? सेवा के क्षेत्र में महावीर ने जो सबसे बड़ी बात कही, वह यह थी कि—"मेरी उपासना से भी अधिक महान् है—किसी वृद्ध, रुग्ण और असहाय की सेवा। सेवा से व्यक्ति साधना के उच्चतम पद तीर्थंकरत्व को भी प्राप्त कर सकता है।"

अहिंसा की यह त्रिवेणी शक्ति के अहंकार की कलुषता को धोती है, प्रेम और मैत्री की मधुरता सरसाती है, और सेवा-सहयोग की धरती को उर्वरा बना कर सर्वतोमुखी विकास की बहुमूल्य फसलें पैदा करती है।

समता और प्रेम के विविध रूप

जीवन की पवित्रता के लिए व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की शान्ति एवं समृद्धि के लिए अहिंसा एक अत्यन्त महत्त्व का मार्ग है; यही लोक के अभ्युदय का मन्त्र है।

हमारा जीवन दो परिधियों में बँधा हुआ है। 'स्व' और 'पर' में। एक ओर 'स्व' है, दूसरी ओर 'पर'। मनुष्य एक ओर 'स्व' को ले कर जीवन की यात्रा करता जा रहा है, सोचता है, जो कुछ भी है, वह सब उसके 'स्व' के लिए है। 'स्व' की सुख-शान्ति तथा समृद्धि ही उसके अपने लिए एकमात्र महत्त्व की चीज है।

दूसरी ओर 'पर' है। 'पर' उसके लिए पराया है, बेगाना है। 'पर' में उसकी कोई रुचि नहीं है, दिलचस्पी नहीं है। अपने सुख, समृद्धि तथा अभ्युदय के लिए 'पर' का बड़े से बड़ा, बलिदान लेने में वह हिचकिचाता नहीं। पराई झोंपड़ी में आग लगा कर अपने हाथ सेकने में उसे कोई ग्लानि या संकोच नहीं, बस यही 'स्व' और 'पर' के संघर्ष की जड़ है। यहाँ आ कर 'स्व' और 'पर' के बीच बहुत बड़ा भेद खड़ा हो जाता है।

संघर्ष की जन्मभूमि

मनुष्य के जीवन में प्रकृति की ओर से जो कष्ट एवं पीड़ाएँ आती हैं, वे तो बहुत ही अल्प एवं साधारण होती हैं, उनसे संघर्ष करना कोई कठिन नहीं है। किन्तु अधिकतर पीड़ाएँ 'स्व' और 'पर' की टक्कर से ही पैदा होती हैं। 'स्व' के विस्तार की कामना ही पीड़ाओं की जड़ है, वही संघर्ष की जन्मभूमि है। मनुष्य 'स्व' के सुख के लिए दूसरे के सुख को छीनना शुरू करता है। सोचता है—उसके सुख को लूट कर ही मैं सुखी हो सकता हूँ। किन्तु वह यह नहीं सोचता कि वस्तुतः देह की दृष्टि से तू भी तो 'पर' है। यह शरीर 'स्व' कहाँ है ? आत्मा से तो 'पर' ही है। यह भी तो आखिर 'स्व' के अभ्युदय में बाधक है। आत्मा के सिवाय सभी 'पर' है।

'स्व' की अनुभूति को यदि विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया जाए तो 'स्व' व्यापक बन जाता है ; 'पर' में स्व की अनुभूति जगने लगती है। संघर्ष यहीं समाप्त हो जाता है और अहिंसा का जन्म होने लगता है। जिस प्रकार मेरा 'स्व' पीड़ाओं से, चिन्ताओं से व्याकुल हो जाता है ; उसी प्रकार 'पर' भी पीड़ा और चिन्ताओं से व्याकुल होता है। जब तक मनुष्य 'पर' के चैतन्य की सत्ता स्वीकार नहीं करता, तब तक उसके हृदय से संघर्ष की भावनाएँ समाप्त नहीं होतीं; आक्रमण एवं दूसरे के सुख को लूटने की प्रवृत्ति खत्म नहीं होती और न पर के आनन्द की पवित्र भावना ही जग सकती है। जो दूसरों के जीवन में विघ्न डालना चाहता है, उद्वेग पैदा करना चाहता है; उसके स्वयं के जीवन में भी क्या विघ्न और उद्विग्नता नहीं आयेगी ?

पाप और हिंसा क्या है ? दूसरे की जीवन-यात्रा में बाधा उपस्थित करना ही तो पाप है, यही हिंसा है। इस हिंसा से दूर रहने का उपाय है—'समता', 'सर्वत्र सम-दर्शन'। भगवान् महावीर से पूछा गया—"भगवन् ! हम पापों से मुक्त होना चाहते हैं, किस मार्ग का अवलम्बन करें ?"

उन्होंने कहा—"जो[1] समस्त प्राणिओं को आत्मभाव से देखता है, जिसकी दृष्टि सम अर्थात् समतामय हो गयी है, जो हर आत्मा में अखण्ड चैतन्य का दर्शन करता है, और जिसने आश्रवों, एवं पापों के सब द्वार रोक दिये है, उस इन्द्रियविजेता को पाप कर्म नहीं बन्धता।

पापों से मुक्त होने का यह एक सही मार्ग है। कुछ लोग कहते हैं—'चलो, अमुक देवता की मनौती कर लो, उस देवी को बलि चढ़ा दो, पंडित को कुछ दान-दक्षिणा दे दो और भेंट-पूजा चढ़ा दो, बस पापों से मुक्ति हो जायेगी।'

मैं समझता हूँ, यह अपने आपसे आँखमिचौनी है। पापों से न कोई दैवी शक्ति

---

१ सव्वनयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पाव-कम्मं न बंधइ॥

छुटकारा दिला सकती है, और न कोई पोंडित, पण्डे, और तो क्या, स्वयं ईश्वर भी मनुष्य को उसके पाप से मुक्त नहीं कर सकता।

पाप करके पाप-फल से बचने की वृत्ति मनुष्य में बड़ी प्रबल है। शरीर पर घासलेट छिड़क कर आग लगा लेता है और कहता है—'भगवन्! जलाना मत!' जलने से घबराता है तो पहले शरीर में आग ही क्यों लगाई? पाप के परिणाम से बचने की यह भावना ही मनुष्य को भटका रही है। वह सोचता रहता है, पाप करके भगवान् से क्षमा माँग लेंगे।

मैंने एक बार एक मुस्लिम शायर की शायरी सुनी। वह बड़े ऊँचे स्वर में मस्ती से गा रहा था। उसका भाव था कि 'हे मुहम्मद! मैं गुनाह कर रहा हूँ। क्यों कर रहा हूँ, कि मुझे तेरा भरोसा है। तेरे भरोसे पर ही ये गुनाह किये जा रहे हैं। खुदा के यहाँ तू मुझे खड़ा मिलेगा और मेरे सब गुनाह माफ करवा देगा।'

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ इसे सुन कर। इस प्रकार की कल्पनाएँ तो संसार में बुराई और भ्रष्टाचार को और अधिक प्रोत्साहन देती है। भगवान् की दयालुता की ओट में संसार अपनी बुराइयाँ पालता रहता है। हजारों-हजार गुनाह करके, जीवन-भर पाप करके, दो घड़ी भगवान् की प्रार्थना कर ली, नमाज पढ़ ली, कि सब गुनाह और पाप माफ हो गए? भगवान् से कितना सस्ता सौदा कर रखा है आदमी ने?

भारत का आध्यात्मपक्षी दर्शन और चिन्तन कहता है—'तुम्हारी यह उपासना गलत है। क्षमादान का यह मिथ्या विश्वास तुम्हें भटकाता रहा है। प्रकाश की मनौती करने से कभी अंधकार खत्म हुआ है? दीपक की आरती उतारने से और उसको दण्डवत् नमस्कार करने से क्या वह आपके घर में प्रकाश फैला देगा? प्रकाश के लिए दीपक जलाना होगा। हिंसा के सामने अहिंसा का, असत्य के सामने सत्य का और वासना के सामने सत्य का दीपक जलेगा। तभी मन का अन्धकार मिट सकेगा।

भगवान् महावीर ने पाप से मुक्त होने का एक ही मार्ग बताया है और वह है—आश्रव को रोकना। आश्रव आत्मा के छिद्र हैं। इन छिद्रों से पाप झर कर आत्मा के छिद्र में प्रविष्ट होता है, आत्मा को कलुषित बनाता है। जब तक आश्रव को नहीं रोका जाता है, पाप से मुक्ति कैसे हो सकती है?

और आश्रव क्या है? हिंसा, झूठ, चोरी, वासना, परिग्रह, मिथ्यात्व, कषाय और प्रमाद आदि ही तो आश्रव हैं। आश्रव को रोकने का उपाय है—समता, आत्म-दर्शन। जब प्रत्येक आत्मा में चैतन्य का दर्शन होने लगता है, तब आत्म-दृष्टि स्फुरित होती है।

लोग परमात्मा के दर्शन की बात करते हैं। मैं कहता हूँ, जब तक आत्म-दर्शन नहीं होगा, परमात्म-दर्शन कैसे होगा? प्राणिमात्र के प्रति हमारी दृष्टि 'स्व' की होनी चाहिए। जो मेरा है, मेरा सुख है, वही सबका है, सबका सुख है और जो सबका सुख है, वही मेरा सुख है। यही आत्म-दृष्टि है। इस दृष्टि का जागरण होने से दूसरों को

पीड़ा देने की वृत्ति समाप्त हो जाती है। इस स्थिति में द्वैत नहीं होता। कोई पराया रहता ही नहीं, और जब पराया नहीं, तो फिर भय भी नहीं।[२] भय दूसरे से ही होता है, पराये से होता है। आप जगत में बैठे हैं और आपके मन में विश्वास है कि यहां दूसरा कोई नहीं, तो भय किस बात का? मन के आकाश में भय के बादल तब गहराते हैं, जब आपको लगता है कि यहाँ कोई पर है, दूसरा है—कोई मेरे से भिन्न है।

पर की कल्पना से भय होता है। भगवान् महावीर ने कहा है—आत्मा के लिए आत्मा दूसरा नहीं होता, 'पर' नहीं होता। 'एगे आया'—आत्मा एक ही है। यह अखण्ड चैतन्य की दृष्टि है, अद्वैत की भावना है। अद्वैत की इस भूमिका पर ही हिंसा और असत्य से आत्मा विरत हो कर अहिंसा और सत्य से अनुप्राणित होता है। हिंसा-रूप मिथ्याचारित्र, अहिंसारूप सम्यक्-चारित्र में परिणत हो जाता है और असत्य, सत्य का रूप ले लेता है। यही अध्यात्म की दृष्टि है।

दूसरी नैतिक दृष्टि है—प्रेम, जिसमें अहिंसा की भूमिका अद्वैत पर नहीं, किन्तु द्वैत पर टिकी होती है। पर यह द्वैत विभेदक नहीं हो कर समायोजक होता है, उसमें मित्रता और बन्धुता की भावना का आधार होता है। **'मित्ती से सव्वभूएसु'** और **'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'** जैसे सिद्धान्तों का जन्म इसी दृष्टि से होता है। जब समस्त प्राणी हमारे मित्र हैं, तो फिर शत्रुता और विरोध की कल्पना ही नहीं उठती।

जीवन में इस अद्वैत और मैत्री की दृष्टि का विकास होना बहुत आवश्यक है। हमारी धर्माराधना और अहिंसा का यही मूल आधार है।

मैं आपसे कह रहा था कि अखण्ड चैतन्य का दर्शन 'स्व' को विस्तृत करने से होगा। 'स्व' और 'पर' को दो भिन्न कोणों पर खड़ा रख कर नहीं, किन्तु उन्हें एकत्र करके देखने पर ही जीवन में सर्वत्र प्रेम, सद्भाव और समता का विकास होगा। यही हमारे जीवन के अभ्युदय की आधारभूमि है। यह अद्वैत या मैत्री ही हिंसा से मुक्ति का राजमार्ग है, यही 'स्व' (आत्मा) में स्थिर होने का उपाय है।

सेवा : अहिंसा का विधेयात्मक रूप

मानवजीवन अनेक विशेषताओं का केन्द्र है। असंख्य-असंख्य दुर्लभ सद्गुणों का पिण्ड है। हमारे साहित्य में और तत्त्वचिंतन में इसका जो महत्त्व है, वह इन्हीं विशेषताओं के कारण है। इस देह के आवरण में अनन्त चैतन्य का दिव्यरूप छिपा हुआ है। विराट् शक्तियों का केन्द्र इसी मानव-देह में है। इसीलिए भारतीय चिंतन ने कहा है—ईश्वर के जितने रूप हैं, उतने ही रूप मनुष्य के है। ईश्वरीय शक्ति जितनी व्यापक है, उतनी ही व्यापक एवं विराट् मानवचेतना भी है। यही कारण है कि मनुष्य को ईश्वर का रूप माना गया है।

---

२ द्वितीयाद् वै भयं भवति—उपनिषद्

सेवा : एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण :

अनेक गुणों के कारण मनुष्य-जीवन की महत्ता मानी गई है, उसमें एक महत्त्वपूर्ण गुण है—सेवा, जो अहिंसा की विधेयात्मक त्रिवेणी का एक अंग है। एक-दूसरे के प्रति सद्भाव, एक-दूसरे व्यक्तित्व का आदर, समस्याओं को सुलझाने में एक-दूसरे का सहयोग, स्नेह और समर्पण—ये सब सेवा के रूप हैं, ये अहिंसा और दया के ही विभिन्न पथ हैं।

भारतीय चिंतन ने एक बहुत बड़ी बात कही है। वह ईश्वर को मनुष्य के भीतर देखता है और मनुष्य की पूजा को ही ईश्वरपूजा मानता है। आप जिसे ईश्वर की पूजा कहते हैं, उस पूजा के ये विभिन्न माध्यम हैं।

व्यक्ति जब अलग-अलग इकाइयों में बँटा होता है, तो उसकी चेतना खंडित व क्षुद्र होती है, किन्तु जब व्यक्ति अखण्ड इकाई के रूप में समष्टि के साथ एकाकार हो जाता है, समष्टि में समाहित हो जाता है, तो उसकी चेतना अखंड व व्यापक रूप धारण कर लेती है। बूँद-बूँद जब तक अलग-अलग देखी जाती है, तब तक वह बूँद है, जब उसे सिंधु के साथ मिला दिया जाता है, तब बूँद सागर बन जाती है। व्यक्ति-चेतना को जब समष्टिचेतना के साथ मिला दिया जाता है, तो उसमें ईश्वरीय रूप जागृत हो जाता है। मेरे विचार में नानकीय शक्तियों का जो अखण्ड रूप है, जो समष्टिगत चेतना है, वही ईश्वरीय रूप है। उस समष्टिगत चेतना की पूजा-सेवा ही ईश्वर-सेवा का प्रतीक है।

समष्टि-चेतना—एक प्रकार से भावनात्मक चेतना है। यह तो सम्भव नहीं कि हम असंख्य-अगणित व्यक्तियों की व्यक्तिशः सेवा कर सकें, सेवा का यह व्यावहारिक रूप भी नहीं है। सागर में स्नान करने का मतलब यह नहीं होता कि सागर के सम्पूर्ण जल का स्पर्श किया जाए, हर बूँद और हर लहर को छुआ जाए। सागर के एक कोने पर कहीं भी स्नान करने से, कहीं भी डुबकी लगाने से सागर-स्नान का महत्त्व मिल जाता है। क्योंकि सम्पूर्ण सागर के साथ उसका भावनात्मक सम्पर्क है। समष्टि-चेतना से भी यही अभिप्राय है।

सम्पूर्ण समष्टिचेतना के साथ हमारा एक भावनात्मक सम्पर्क है, एक अखंड सद्भाव है। हमारे संकल्पों में—'**शिवमस्तु सर्वजगतः**' का विद्युत्-प्रवाह दौड़ता है। किन्तु इन संकल्पों का प्रारम्भ तो हमें क्रमशः व्यक्ति, परिवार एवं समाज से ही करना होता है। व्यक्ति की सेवा करते हुए भी व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप में नहीं, बल्कि समष्टि-रूप में देख कर चलना—यह हमारे संकल्प की विराटता है। संकल्प में जब इतनी विराटता होती है, तभी व्यक्ति की सेवा, मानव की पूजा, ईश्वर-सेवा एवं ईश्वर-पूजा का रूप ले सकती है।

सेवा : मनुष्य को ईश्वररूप में देखने की दृष्टि

रामायण में वशिष्ठ एवं राम का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संवाद आता है। महर्षि

वशिष्ठ भारतीय तत्वचिंतन के प्रतिनिधि हैं, धर्मों के अधिकारी प्रवक्ता हैं। उनसे राम भारतीय लोकजीवन के प्रतिनिधि बन कर पूछते हैं—"महाराज! ईश्वर की पूजा कैसे की जाती है?"

राम के प्रश्न के उत्तर में वशिष्ठ ने कहा—"जिस किसी भी रूप में, जिस किसी भी साधन से, जिस किसी भी प्राणी की आत्मा को तृप्त करना, बस यही ईश्वर की पूजा है"[3]

महर्षि वशिष्ठ का यह उत्तर भारतीय चिंतन का एक चमकता हुआ पृष्ठ है। इस उत्तर ने ईश्वर-पूजा के सम्बन्ध में चली आई धारणाओं को नई दृष्टि दी है। मानव-चेतना को ही क्या, प्राणिमात्र की चेतना को, बिना किसी भेद-भाव के, बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के ईश्वरीय प्रतिष्ठा दी गई है। ईश्वर की पूजा एवं भक्ति को विराट् रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मानवसेवा ही प्रभुसेवा

पीड़ित की सेवा तुच्छ नहीं है। वह एक महती उदात्त भावस्थिति है। रोगी, दीन, दुःखी, पीड़ित की सेवा को भगवान् की पूजा-उपासना से कम नहीं समझना है; अपितु अधिक ही समझना है। वह सर्वाधिक पवित्र कर्त्तव्य है।

इस सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति का यही स्वर, कुछ दूसरे रूप में महाश्रमण महावीर की वाणी से मुखरित हुआ है। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन्! एक व्यक्ति आपकी सेवा करता है, अपना सर्वस्व आपके चरणों में समर्पित कर देता है, और एक दूसरा व्यक्ति है, जिसे ग्लान, रोगी एवं अन्य पीड़ितों की सेवा करते हुए आपकी सेवा में आने की फुरसत भी नहीं मिलती है—तो इन दोनों में से आप किसको अच्छा मानेंगे, किसको धन्यवाद देंगे?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! जो व्यक्ति ग्लान, रोगी एवं पीड़ितों की सेवा करता है, उसे मैं साधुवाद देता हूँ।"[4]

गौतम के मन की गुत्थी नहीं सुलझी, उन्होंने पुनः पूछा—"भगवन्! ऐसा क्यों? कहाँ आपकी पूर्ण विकसित भगवच्चेतना, महान् आत्मा! और कहाँ वह सामान्य प्राणी! आपकी तुलना में उसकी सेवा का क्या महत्त्व है?"

प्रभु ने कहा—"गौतम! मुझे अपने देह की पूजा नहीं चाहिए। मैं तो सर्वसाधारण चैतन्य की सेवा को ही अपनी सेवा मानता हूँ। मेरी आज्ञा की आराधना ही मेरी आराधना है, मेरा दर्शन और मेरी सेवा-पूजा है।"[5]

३ "येन केन प्रकारेण, यस्य कस्याऽपि देहिनः
संतोष जनयेद् राम, तदेवेश्वरपूजनम्॥"—योगवाशिष्ठ
४ जे गिलाणं पडियरइ, से धन्ने। —आवश्यक हारीभद्री टीका
५ "आणाराहणं दसणं खु जिणाणं"। " " "

आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रभु महावीर की इस दिव्यवाणी को उन्हीं को सम्बोधित करते हुए वीतरागस्तोत्र में कहा है—[६] 'हे वीतराग प्रभो ! तुम्हारी पूजा-उपासना से तुम्हारी आज्ञाओं का परिपालन कहीं अधिक श्रेय है। और प्रभु की आज्ञा है—मैत्री और करुणा। इन्हीं का मूर्तरूप है—जनसेवा ! इसलिए कहा जाता है—'जनसेवा ही जिनसेवा' है।

भारतीय संस्कृति में सेवा का यह उद्घोष आप कहीं भी सुन लीजिए, चारों ओर प्रतिध्वनित होता सुनाई देगा। अहिंसा, करुणा और समता आदि जितनी भी साधनाएँ हैं, सेवा एवं समर्पण की साधना उन सब के मूल में रही है और वह हजारों-हजार रूपों में विकसित होती रही है। कहीं भी धर्म का स्वर आपको सुनाई देगा, वहाँ सेवा के स्वर की अनुगूंज अवश्य ही सुनाई देगी।

जैनदर्शन के प्रथम संस्कृत सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने इस संदर्भ में एक बड़ी ही महत्वपूर्ण स्थापना की है। उन्होंने कहा है—"एक दूसरे का सहयोग, सेवा करना चेतन का स्वभाव है, उसका लक्षण है, धर्म है।[७] प्रत्येक जीव एक दूसरे के सहयोग के प्रति सापेक्ष रहता है, एक दूसरे का आधार चाहता है।"

मानवदेहधारी जीव में यदि परस्पर सहयोग की आकांक्षा नहीं है, तो एक पत्थर में और उसमें क्या अन्तर है ? एक पत्थर के टुकड़े को यदि आप तोड़ते हैं, फोड़ते हैं, तो उसके पास में पड़े दूसरे टुकड़े में क्या कोई प्रतिक्रिया होती है ? कोई दया या संवेदना की स्फुरणा होती है कहीं ? किन्तु यदि एक जीवधारी पर आक्रमण होता है तो पड़ोसी जीवधारी की आत्मा अवश्य कंपित होती है, उसके मन में सुरक्षा की अनुभूति जगती है। यदि उसकी चेतना कुछ विकसित है, तो सहानुभूति की स्फुरणा भी उसमें होती है, सहयोग की भावना भी उसमें जन्म लेती है।

एक चैतन्य को अपने सामने पिटते देख कर, यदि पड़ोसी चैतन्य में कोई अनुकंपन नहीं होता है, तो मानना पड़ेगा कि उसकी चेतना विकसित नहीं है, यदि वह मानव भी है, तो उसमें मानवीय चेतना विकसित नहीं हुई है। उसमें प्राणों का परिस्पन्दन भले ही हो, किन्तु मानवीय चेतना का स्पंदन नहीं हुआ है।

जैनदर्शन ने प्रबुद्ध आत्म-चेतना को सम्यग्दर्शन की संज्ञा दी है। उस सम्यग्-दर्शन के लक्षण बताये गये हैं—'शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य। मैं आपसे उसके तृतीय लक्षण के सम्बन्ध में ही अभी कहूँगा कि जिस आत्मा में अनुकंपा का भाव नहीं है, करुणा की धारा नहीं है, किसी पीड़ित और संतप्त आत्मा को देख कर सहानुभूति की स्फुरणा नहीं होती है, तो उसमें सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है ?

६ तव सपर्यास्तवाज्ञा-परिपालनम् —वीतरागस्तुति
७ परस्परोपग्रहो जीवानाम् —तत्त्वार्थसूत्र

मैंने आपसे कुछ दिनों पहले बताया था कि जैनसंस्कृति में चार भावनाओं में दूसरी भावना है—प्रमोद! प्रमोदभावना का अर्थ है—दूसरे में सद्गुणों का विकास होते देख कर प्रसन्न होना। दूसरे सौन्दर्य को हँसते देख कर उसकी खुशी में स्वयं भी खुश होना, प्रमोदभावना है। वह मानव क्या, जो दूसरों में सद्गुणों के फूल खिलते देख कर कुम्हला जाए? दूसरे का विकास देख कर जिसमें उल्लास नहीं जगे, उस मानव और पशु में अन्तर ही क्या है?' हाँ, तो 'प्रमोद-भावना' मानव-चेतना की मुख्यधारा है। और उसके बाद है—'दुःखी जीवों के प्रति करुणाभावना! गुणी के प्रति अनुराग, और दुःखी पीड़ित के प्रति करुणा, स्नेह एवं सद्भाव! ये दोनों ही भावनाएँ मानव-चेतना की विराट् एवं व्यापक परिणति हैं। धर्म का मूल, जिसे हम सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह चेतना की विराट्ता में ही है। इसलिए करुणा एवं अनुकंपा को सम्यग्दर्शन का मुख्य लक्षण माना गया है।

सेवा जीवन को विराट् बनाती है

जब अपने पड़ोसी चैतन्य के प्रति हृदय में करुणा एवं अनुकम्पा का भाव जगता है, तभी व्यक्ति सेवा के लिए प्रेरित होता है। इसलिए सेवा को जीवन की विराट्ता का दर्शन माना गया है। सेवा से जनसंपर्क विस्तृत होता है। मनुष्य का जीवन क्षुद्र से विराट् बनता है।

जीने को तो संसार में कीड़े-मकोड़े भी जीते हैं। वे भी इधर-उधर रेंगते हुए अपने शरीर की आवश्यकतापूर्ति करते हैं, स्वयं को आपत्ति से बचाने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उनका जीवन केवल अपने तक ही सीमित है। यदि मनुष्य भी उनकी भाँति अपने सुख-दुःख की क्षुद्र अनुभूति में ही फँसा रहा, शरीर की कैद में ही पड़ा रहा, तो कीड़े के जीवन में और मनुष्य के जीवन में अन्तर क्या रहेगा?

पशु-पक्षियों में भी चेतना का सामान्य विकास होता है। स्वयं के जीवन के भरण-पोषण एवं संरक्षण के साथ अपनी सन्तान के जीवन, भरण-पोषण एवं संरक्षण की भावना उनमें होती है, किन्तु उस भावना को पारिवारिक एवं सामाजिक भाव नहीं कहा जा सकता। उनमें एक-दूसरे के प्रति स्नेह एवं समर्पण की उदात्त भावना का विकास नहीं है, संकट आ पड़ने पर अपने प्राण ले कर भागने की भावना तो उनमें है, किन्तु संकटग्रस्त के प्रति सहानुभूति जतलाने का सद्भाव कहाँ है? सहयोग का संकल्प उनमें नहीं है। मनुष्य की चेतना भी यदि केवल अपनी ही आपाधापी में लीन रहती है, तो मैं उसे पाशविक चेतना ही कहूँगा, मानवीय चेतना नहीं।

मैंने देखा है, मानव होने से ही किसी में मानवीय चेतना का विकास हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत से मानव मानव हो कर भी इतने क्षुद्र, इतने संवेदनहीन, व इतने क्रूर होते हैं कि पशु को भी मात कर जाते हैं। चेतना

---

८ क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्—सामायिकपाठ

को विराट् और व्यापक रूप से विकसित करने में संस्कृति एवं वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। जिस संस्कृति में जीवन के जितने विराट् संकल्प होंगे, जितने उदात्त आदर्श होंगे, हमारी चेतना को उतनी ही अधिक विराटता की प्रेरणाएँ मिलेंगी।

भारतीय संस्कृति में सेवा, समर्पण एवं सद्भाव के विराट् आदर्श प्रस्तुत किए गये हैं। यहाँ व्यक्ति का मूल्यांकन ऐश्वर्य एवं सत्ता के आधार पर नहीं, किन्तु सेवा एवं सद्गुणों के आधार पर किया गया है। हमारा तत्त्वचिंतन यह नहीं पूछता कि तुम्हारे पास सोने-चाँदी का कितना ढेर है? किन्तु वह तो पूछता है—'तुमने अपने ऐश्वर्य को जनजीवन के लिए कितना अर्पित किया है?' वह तुम्हारे पद और सत्ता को भी इसलिए कोई महत्त्व नहीं देता कि वह अपने आप में कोई बहुत बड़ी शक्ति है? किन्तु पद और सत्ता का महत्त्व मां इसी में माना है कि तुम जनसेवा के लिए उस प्राप्त शक्ति का कितना उपयोग कर सकते हो? एक आचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया है—हाथ का महत्त्व हीरे और पन्ने की अंगूठियाँ पहनने में नहीं, किन्तु दान में है। इस हाथ से तुम कितना अर्पण करते हो, जन-सेवा के लिए हाथों से कितना विनियोग करते हो, इसी बात से तुम्हारे हाथ का महत्त्व है।[९]

मानवशरीर का महत्त्व भी उसकी सुन्दरता एवं सुडौलता में नहीं, किन्तु यह शरीर जनसेवा के लिए कितना उपयोगी होता है, किसी दुखी के आँसू पोंछने के लिए वह कितना तत्पर रहता है—इसी बात पर शरीर का और समूचे जीवन का महत्त्व है।

मैंने आपसे बताया कि यों तो मानव-जीवन अनेक विशेषताओं का केन्द्र है। किन्तु इस जीवन की जो सबसे बड़ी विशेषता है, जिसके कारण मानव-जीवन अपने आपको कृतार्थ अनुभव कर सकता है, वह है—सेवा! सेवा हमारे क्षुद्र जीवन को विराट् रूप प्रदान करती है, हमारी सीमित चेतना को विकसित एवं व्यापक बनाती है और सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य को ईश्वररूप में देखने की दृष्टि मिलती है, सेवा से। आत्मा में परमात्मा का दर्शन होता है—सेवा से।

सेवा : मानवता का मधुरस

सेवाव्रती सबसे ऊँचा व्यक्ति माना जाता है! अखिल विश्व में तीर्थंकर का पद एक बहुत बड़ा पद है। स्वर्ग के इन्द्र और धरती के चक्रवर्ती तीर्थंकर के चरणों में ही नतमस्तक होते हैं। इन्द्र तीर्थंकर के चरणस्पर्श कर अपने को धन्य समझते हैं। और चक्रवर्ती तो उनके चरणों की धूल मस्तक पर लगाने के लिए लालायित रहते हैं। यह आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही प्रकार के ऐश्वर्य का पूर्ण केन्द्र है; पुण्यप्रकृतियों में यह सबसे महान् पुण्यप्रकृति है।[१०]

---

९ दानेन पाणिर्न तु कंकणेन

१० तीर्थंकरत्वं हि प्रधानभूतं सर्वेषु शुभकर्मसु।

—तत्त्वार्थ—राजवार्तिक ८।११।४४

तीर्थंकर कैसे बना जाता है ?

परन्तु यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि तीर्थंकर बना कैसे जाता है ? वह कौन-सी साधना है, जिसके द्वारा धरती का साधारण मानव प्राणी तीर्थंकर के सर्वोत्कृष्ट पद पर पहुँच जाए ? भगवान् महावीर ने कहा है—सेवा और शुश्रूषा (वैयावृत्य) के आधार पर तीर्थंकरपद भी प्राप्त किया जा सकता है।[११]

सेवा : अहं एवं सुख-वृत्ति का विसर्जन

मनुष्य बड़ा से बड़ा तथा कठोर से कठोर तप कर सकता है। एक आसन से बैठ कर हजारों मालाएँ फेर सकता है। शरीर एवं इन्द्रियों को निग्रह के नाम पर अपने को ध्वस्त कर सकता है, परन्तु सेवा करना सहज नहीं है। सेवा के लिए अपने अहं को मारना होता है, विनम्र होना होता है अपनी सुख-सुविधाओं को भी एक ओर ठोकर लगानी होती है। सेवा और बड़प्पन का अहंकार एक साथ नहीं चल सकते। सेवा और अपना वैयक्तिक सुख, अपना खुद का आराम एक साथ नहीं रह सकते। सेवा के लिए अपने को समर्पण करना होता है। और समर्पण में अपना जैसा कुछ शेष नहीं रहता है। इसीलिए कहा गया है—[१२] "सेवाधर्म परमगहन है, वह योगियों के लिए भी अगम्य है।"

यदि पिता कहीं बाहर जा रहा है। साथ में नन्हा बालक है, पिता की अंगुली का सहारा लिए है। इस स्थिति में पिता दण्डायमान तन कर सीधा चल सकता है क्या ? बालक को अंगुली का अपना सहारा दे कर साथ ले चलने के लिए पिता को झुक कर ही चलना होगा। सेवा भी अहं को झुका कर ही हो सकती है।

घर में कोई बीमार है, पीड़ा से व्याकुल है, वेदना से कराह रहा है, बार-बार करवट बदलता है। शरीर चाहता है-कोई उसे कोमल हाथों से सहलाए। कभी दवा तो कभी पानी अपेक्षित है। कभी मूत्रबाधा तो कभी शौच जाने का चक्कर है। इस स्थिति में रोगी की परिचर्या के लिए जो पास बैठा है, वह क्या करे ? खर्राटा ले कर सोए ? पलंग पर पड़ा-पड़ा आराम करे ? नहीं, यह नहीं हो सकता। रात के गहराते सन्नाटे में उसे अकेले बीमार के पास बैठे रहना होता है, जागना होता है, हर मिनट रोगी पर दृष्टि रखनी होती है। समय पर पानी देना, दवा देना, मल-मूत्र कराना, शरीर दबाना, मधुर और स्नेह-सिक्त वचनों से बार-बार सान्त्वना देना, धैर्य बँधाये रखना, रोगी का कोई एक काम होता है क्या ? रोगी बड़बड़ाता है, कभी-कभी तो इतना उत्तेजित हो जाता है कि परिचर्या करने वाले को ही गंदी गालियाँ तक

---

११ वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ

—उत्तराध्ययन २९।४३

१२. सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः

—नीतिकार

बकने लगता है। बहुत से विक्षिप्त स्थिति के रोगी तो मारने तक लगते हैं। परन्तु सच्चा परिचारक प्रशान्त महासागर बन जाता है। शिव की तरह प्रसन्नभाव से गरल-पान कर जाता है। यदि परिचारक बड़बड़ाने लगे, सेवा को आफत समझने लगे, स्वयं उत्तेजित होने लगे, तो क्या सेवा होगी? सेवा में दूसरे के सुख का ही ध्यान रखना होता है, अपने सुख का नहीं। सेवा के लिए अपनी सुख-वृत्ति को तिलांजलि देनी ही होगी। कभी कहा था किसी ने—**सुखार्थिनः कुतो विद्या।** और मैं इसके बदले कहता हूँ—**'सुखार्थिनः कुतः सेवा।"**

सेवा स्वयं तप है

इसीलिए सेवा को सबसे बड़ा तप कहा है। अपनी इच्छाओं का संयमन किये बिना कोई कैसे किसी की सेवा कर सकता है? सेवा में अपने लोभ एवं स्वार्थ को कम करना होता है; वैयक्तिक सुखवृत्ति का परित्याग करना होता है। और यह इच्छा का निरोध है। इच्छानिरोध और क्या है? तप ही तो है! **'इच्छानिरोधस्तपः'** और यह वैयावृत्य (सेवा) का तप कौन-सा तप है? बाह्यतप नहीं, अन्तरंग तप[13] है। बाहर में परिचर्या के होने से यह बाह्यतप होना चाहिए था; परन्तु अन्तर में इच्छानिरोध, वासनामुक्ति, निरहंकार-भावना आदि कुछ ऐसी परिणतियां है, सेवा की आन्तरिक चेतना में। फलतः सेवा[14] अन्तरंगतप की भूमिका में पहुँच जाती है।

तप से सेवा महान् है

पुराण की एक कथा के अनुसार एक बार स्वर्गलोक में एक आश्रम के वासी ऋषि-मुनियों का देवत्व के रूप में एक साथ जन्म हुआ। साथ ही उस आश्रम में रहने वाला एक अनपढ़, किन्तु सच्चे मन से दीन-दुःखियों की सेवा करने वाला एक सेवक भी मर कर वहीं देवता बना। नये आगन्तुक देवताओं के स्वागत-सम्मान हेतु पहले के देवताओं ने एक विराट् उत्सव का आयोजन किया। देवताओं ने तपस्वी ऋषि-मुनियों को सादे स्वर्णमुकुट भेंट दिये, किन्तु सेवक को रत्नजटित स्वर्णमुकुट भेंट में दिया। इस पर तपस्वी ऋषि क्रुद्ध हो कर कहने लगे—"बहुमूल्य रत्नजटित स्वर्णमुकुट के अधिकारी तो हम थे, किन्तु आप लोगों ने वह हमें न दे कर इस सेवक को कैसे दे दिया, जो कभी व्रत-उपवास आदि कुछ करता ही नहीं था। हमारी भांति कठिन तपस्या इसने कहाँ की?" देवों ने ऋषिमुनियों से कहा—'आप तपस्या करते थे, यह सत्य है, लेकिन यह व्यक्ति तपस्या तो नहीं करता था, पर दीन-दुखियों की सेवा में तो सदा रत रहता था। जिस किसी को कष्ट में देखता, उसे कष्ट से यथाशक्ति मुक्त करने

१३ प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९।२०

१४ 'अन्तःकरणव्यापारात्'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ९।२०।२

प्रयत्न करता था। इसके जीवन का उद्देश्य निष्कामभाव से दूसरों की सेवा करना था। योग, ध्यान और तप करना आसान है, पर किसी की सेवा करना उतना आसान नहीं है। अतः सेवा अपने आप में एक बड़ा तप है, एक बड़ी साधना है, तपस्या की अपेक्षा भी सेवा बड़ी है।"

अतिथि साक्षात् भगवान् है

आपको काफी तेज भूख लगी है, भोजन करने बैठे हैं, बहुत सुन्दर भोजन थाल में परोस कर सामने रखा है। इतने में ही कोई अतिथि एवं क्षुधातुर व्यक्ति आ जाता है। आप अपना प्राप्त भोजन सहर्ष उसे दे देते हैं, स्वयं भूखे रह जाते हैं। कोई बात नहीं, बाद में खा लूंगा, यह संकल्प भी नहीं है। संभव है—आपके लिए कुछ और रसोई में बचा भी न हो। यह सहर्ष भोजन देना, देने के बाद भी प्रसन्नता बनाए रखना, अपने आप में साधारण बात नहीं है। ऐसे समय में मन की यह उदार भावना असाधारण उदात्त भावना है। यह गृहस्थधर्म का बारहवां अतिथिसंविभाग व्रत है, जो सब व्रतों का शिरोमणिव्रत है, गगनचुंबी व्रत-प्रासाद (महल) का स्वर्णकलश है। भारतीय इतिहास का राजा रन्तिदेव ऐसा ही दाता था। देश में भयंकर दुष्काल पड़ा है। राजा सब कुछ प्रजा को अर्पण कर देता है। स्वयं भूखा रहता है, दूसरों को खिलाता जाता है। कहते हैं—लम्बे समय तक भूखे रहने के बाद राजा के लिए एक दिन भोजन जुटाया, इतने में ही सामने एक चाण्डाल आ खड़ा हुआ, भूख में व्याकुल, जर्जर शरीर, आँखों में अटके प्राण! जिस दुष्काल में उच्च-कुलीन ब्राह्मणों को भी कोई भोजन नहीं देता, वहाँ बेचारे शूद्र चाण्डाल को कौन भोजन देता? राजा रन्तिदेव ने चाण्डाल को देखा तो उसका सहर्ष स्वागत किया और अपना भोजन चाण्डाल को अर्पण कर दिया, दिये कर दिया—जैसे द्वार पर आए साक्षात् भगवान् की पूजा में भक्त नैवेद्य अर्पित कर देता है। पुराणकार कहता है—चाण्डाल के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् आए थे। ठीक ही कहता है वह। घर पर आया अतिथि न ब्राह्मण है, न चाण्डाल है, न और कुछ है; वह तो साक्षात् भगवान् है।[१४]

सेवा स्वर्ग और अपवर्ग से भी महान् है

भारत का तत्त्वदर्शन स्वर्ग और अपवर्ग (मुक्ति) से भी बढ़कर सेवा को मानता है। भारत के साधक को न स्वर्ग चाहिए, न मुक्ति चाहिए। उसकी तो एक-मात्र यही कामना है कि वह पीड़ितों की पीड़ानिवृत्ति के लिए अपने जीवन का एक-एक क्षण, अपने प्राप्त साधनों का एक-एक कण पीड़ितों की सेवा में अर्पण कर दे! राजा रन्तिदेव ने ही भावविभोर होकर कहा है[१५]—"मुझे धरती का चक्रवर्ती का

---

१४ 'अतिथिर्भगवान् स्वयम्।'

१५ "न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥"

राज्य नहीं चाहिए ; न चाहिए स्वर्ग और मोक्ष ! मेरी तो यही एक कामना है कि जो प्राणी—फिर वे कोई भी हों, कैसे भी हों—दुःख से तप्त हैं, मैं उनकी पीड़ा दूर करूँ, उन्हें सुख-शांति पहुँचाऊँ।"

बौद्धदर्शन के महान् आचार्य शान्तिदेव का कहना है—"वही बुद्ध होने वाला बोधि आत्मा है, जो यह भावना रखता है कि संसार के सभी प्राणियों की पीड़ा मैं स्वयं भोग डालूँ, ताकि सब प्राणी सुखी हो सकें। जब तक धरती पर, एक भी दुःखी प्राणी है, तब तक मुझे मोक्ष नहीं चाहिए। मेरा आनन्द पीड़ितों की सेवा में है, मुक्ति में नहीं।[१७]

भिक्षा में से भी भिक्षा

भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुसंघ में यह नियम प्रचलित किया था कि जो भिक्षु नगर में भ्रमण कर भिक्षा लाए, वह अपने स्थान पर आ कर उपस्थित साधुओं को विनम्रभाव से साग्रह निमन्त्रण करे कि प्रस्तुत भोजन में से आप यथारुचि ग्रहण कर मुझ पर अनुग्रह करें।[१८] आपका यह अनुग्रह मुझे भवसागर से पार उतारने वाला होगा। निमन्त्रण करने पर यदि कोई भोजन करना चाहे तो उसके साथ भोजन करे।[१९] उक्त उल्लेख कितना उदात्त है! नगर में घर-घर द्वार-द्वार घूमा है साधू! अपमान मिला है, तिरस्कार मिला है, बड़ी कठिनाई से कुछ मिल पाया है और इधर जोरदार भूख लगी है। सम्भव है दो-चार दिन से कुछ भी नहीं मिला हो, कुछ भी नहीं खाया हो। यदि तपश्चरण रहा, तो महीनों से अन्न-जल ग्रहण न किया हो। फिर भी प्राप्त भोजन में से दूसरों को साग्रह देना है। लेने वालों के द्वारा लेना अपने ऊपर भार नहीं, अनुग्रह समझना है। और अनुग्रह भी वह अनुग्रह, जो संसार-सागर से पार करने वाला है। बताया गया है कि 'निमंत्रित करते समय साधियों को जब प्राप्त भोजन दिखाए, तो हर अच्छी से अच्छी एक-एक चीज को निर्दिष्ट करके दिखाए, छिपाए नहीं। यदि छिपाता है और बिना निमन्त्रण किए खाता है, तो यह चोरी है। परस्पर के सहयोग एवं सेवाभाव का कितना उच्च आदर्श है! भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है[२०] कि जो प्राप्त सामग्री का उचित संविभाग नहीं करता है, साथियों में एवं जरूरतमंदों में समानभाव से वितरण नहीं करता है, वह मुक्ति-लाभ नहीं कर सकेगा।' और यह ध्यान में रखने जैसी बात है कि यह संविभाग है। संविभाग का अर्थ है—अपने प्रिय बन्धु के लिए बराबर का भाग, हिस्सा। यह कृपा नहीं है, जो कभी किसी असहाय बेचारे को सहायता देते लिए की जाती है। एक भाई दूसरे भाई को पिता की सम्पत्ति में से जब कुछ देता है तो क्या वह आज का तथाकथित दान है,

---

१७ 'मोक्षेणारसिकेन किम् ?'

१८ 'जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ।' —दशवैकालिक ५।१।९४

१९ 'जे इ तत्थ केई इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिंतु भुंजए।' —दशवैकालिक ५।२।९५

२० 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो' —दशवैकालिक ९।२।२२

दया है, करुणा है, क्या है ? यह सब कुछ नहीं है। यह अधिकार है—अपने भाई का, और वह बराबर के सम्मान से देना होता है। सम्पत्ति भी व्यक्ति की नहीं है, समाज की है। समाज का हर व्यक्ति बन्धु है। फलतः उसे देना दया अथवा करुणा नहीं। वह तो दायभाग है, अधिकार है। यह सिद्धान्त सेवा को सहयोग का रूप देता है, अधिकार की स्थिति में पहुँचाता है। समादर की भावना, जो सेवा का प्राणतत्त्व है, वह इसी भावना में सुरक्षित रहता है।

सेवा : गंगा की त्रिपथगा धारा

सेवा तप के तीन परिणाम होते हैं। सेवा एक है, किन्तु वह अन्दर में तीन धाराओं में त्रिपथगा गंगा की भाँति प्रवाहित है। अतः वह तीन-तीन काम करती है। अमुक अंश में सेव्य व्यक्ति के प्रति सुख-प्रदानरूप सहानुभूति का अंश होने से यह पुण्यास्रव है। वैयक्तिक सुखाभिलाषा एवं सुखसाधनों की इच्छा का निरोध होने से संवर है।[२१] और इसी में और अधिक भावविशुद्धिरूप आत्मलीनता, आत्मपरिणति होने से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा है। संवर और निर्जरा मुक्ति के द्वार है। द्वार क्या, स्वयं मुक्तिस्वरूप ही हैं अमुक अंश में।

सेवा महत्तर है

प्रातःकाल साधक गुरुचरणों में जब प्रत्याख्यान एवं तपश्चरण लेने को उपस्थित होता है, तब गुरुदेव यदि संघ में किसी रोगी आदि की परिचर्या के लिए उसकी आवश्यकता समझें तो उससे तप नहीं कराते हैं, सेवा का कार्य बताते हैं।[२२] अनशन आदि तप की अपेक्षा वह सेवा का तप महान् है, अतः शिष्य के लिए भगवान् महावीर का सन्देश ही नहीं, आदेश है कि वह तप न करके सेवा का कार्य करे। इतना ही नहीं, सेवा के लिए तो यहाँ तक बताया गया है कि साधक का पहले से उपवास आदि अनशन तप चालू हो, और इसी बीच यदि सेवा का कोई आवश्यक कार्य आ जाए तो तप को छोड़ कर सेवा का कार्य करना चाहिए। तपोभंग का कोई दोष नहीं होता, लाभ ही होता है।[२३] क्योंकि अनशनतप से सेवा का तप महत्तर है, महत्तर के लिए अल्प छूटता ही आया है।

सेवा : मानव-जीवन की विशेषता

विश्व में अनन्त प्राणी है। असंख्य स्त्री हैं, असंख्य नारक हैं, असंख्य पशु-पक्षी हैं। अन्यत्र कहीं भी सेवाधर्म का सौभाग्य प्राप्त नहीं है। नारक एक-दूसरे की क्या सेवा कर सकते है ? देव भी अधिकतर ऐसी ही स्थिति में हैं। क्योंकि न वहाँ परिवार

---

२१ आस्रवनिरोधः संवरः। —तत्त्वार्थसूत्र ९।१

२२ महतां—प्रत्याख्यानपालनवशाल्लभ्यनिर्जरापेक्षया बृहत्तरनिर्जरालाभहेतुभूतम्···
—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

२३ महत्तरकादेशेन भुंजानस्य न भंगः। —आचार्यनमिकृत प्रतिक्रमणवृत्ति

है, न समाज है। अतः वहाँ दूसरे को सहयोग देने जैसी स्थिति कहाँ है? पशु-पक्षियों की स्थिति भी अज्ञान की काली चादर के नीचे ढँकी है। उन्हें भी क्या पता कि सेवा क्या होती है, और वह कैसे करनी चाहिए? मानव-जीवन ही सेवा का आधारस्तम्भ है। मानव सामाजिक प्राणी है। वह शरीर के रूप में एक क्षुद्र इकाई अवश्य है, परन्तु भावना की दृष्टि से वह एक विराट् रूप को धर्ता है। मानव के आसपास परिवार है, समाज है, राष्ट्र है और हैं धार्मिक परम्परा, संस्कृति एवं सभ्यता। मानव की सद्-भावना उक्त विराट् जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। सबका सुख उसका सुख है, और सबका दुःख उसका दुःख है। वह अपनी उदात्त भावना के माध्यम से अपना सुख दूसरों को बाँटता है, और दूसरों का दुःख स्वयं बाँट लेता है। वह दुःख-सुख को बाँटता ही नहीं, अपितु दूसरों के लिए सुख का सृजन करता है, दुःख का परिहार करता है। दुःखमुक्ति है, ही भारतीय तत्त्वदर्शन का बीजमंत्र है। महर्षि कपिल यही बात कहते हैं।[२४] दुःख-मुक्ति स्वयं की ही नहीं, सब की अपेक्षित है। यही भारतीय जीवनदर्शन का सर्वोच्च ध्येय है। सेवा सर्वात्मवाद पर आधारित है। यह भारतीय साधना का महत्तम पुरुषार्थ है; जन-जीवन के समग्र दुःखों का सर्वांङ्गीण ध्वंस है।

इस प्रकार अहिंसा की विधेयात्मक त्रिवेणी—समता, प्रेम और सेवा में डुबकी लगा लेने पर मानव आत्मा से परमात्मा बन जाता है, विश्व का सर्वोच्च वन्दनीय और पूजनीय बन जाता है। □

---

२४ "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।" —सांख्यदर्शन

बंगलादेश के सन्दर्भ में—

१४ अहिंसा का युगसापेक्ष महत्त्व

अहिंसा मानव का सर्वोत्तम भूषण है। यह आंतरिक समता-भावना पर आधारित तत्त्व है। इसका अतिक्रमण करने वाला व्यक्ति वस्तुतः मानव कहलाने का अधिकारी नहीं। विश्व के समस्त प्राणी दुःख एवं पीड़ाओं से मुक्ति चाहते हैं। चाहे वे छोटे हों या बड़े, मानव हों अथवा पशु—सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता।[१] सबको सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय। सबको अपना जीवन प्यारा है।[२] जिस हिंसक-व्यवहार को एक अपने लिए पसन्द नहीं करता, दूसरा उसे क्योंकर चाहेगा? यही जिन शासन के कथनों का सार है, जो एक तरह से सभी धर्मों का सार है।[३] आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने जिस महाकरुणा (अहिंसा) का सन्देश विश्व को दिया था, आज भी उसकी महत्ता यथावत् अक्षुण्ण है, बल्कि यों कहना चाहिए, कि उसका महत्त्व आज के प्रजातांत्रिक विश्व-शासनयुग में और अधिक बढ़ गया है।

अहिंसा सिर्फ हिंसा नहीं करने का नाममात्र ही नहीं है, अपितु यह मैत्री, करुणा और सेवा की महान् साधना का अपर नाम है। हिंसा नहीं करना—यह तो अहिंसा का एक पक्ष है, समाज की दृष्टि से यह अधूरी साधना है। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्रीभाव रखना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी समुचित मनन करना होगा। जैन आगमों में जहाँ अहिंसा के साठ एकार्थक नाम दिए गये हैं, वहाँ वह दया, रक्षा, अभय आदि के नाम से भी अभिहित की गई है।[४]

---

१ सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
—दशवैकालिक सूत्र, ६।११

२ सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुहपडिकूला।
—आचारांग सूत्र, १।२।३

३ जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियगं जिणसासणयं॥
—बृहत्कल्पभाष्य ४५८४

४ दया, बोही, खंती, रक्खा, जयणा, अभओ, जण्णं, समिई आदि
—प्रश्नव्याकरण, प्रथम संवरद्वार

जैन आगमों, दर्शनों एवं साधना-पथों में ही अहिंसा को सर्वोपरि माना गया है, ऐसी बात नहीं, विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा को एक स्वर से स्वीकारा है।

बौद्धधर्म में अहिंसक व्यक्ति को आर्य (श्रेष्ठ पुरुष) कहा गया है। उसका अटल सिद्धान्त इसी भावना पर आधारित है कि मानव दूसरों को अपनी तरह जान कर न तो किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करे।[५] जो न स्वयं किसी का घात करता है न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, न दूसरों से जितवाता है, वह सब प्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता।[६]

वैदिक धर्मों में भी 'अहिंसा परमो धर्मः' के अटल सिद्धान्त को समक्ष रख कर उसकी महत्ता को स्वीकारा गया है। 'अहिंसा ही सबसे उत्तम एवं पावन धर्म है, अतः मनुष्य को कभी भी, कहीं भी और किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।'[७] जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं उसे दूसरों के लिए भी न करो।[८] इस नश्वर जीवन में न तो किसी प्राणी की हिंसा करो और न किसी को पीड़ा पहुँचाओ, बल्कि सभी आत्माओं के प्रति मैत्री-भावना स्थापित कर विचरण करते रहो। किसी के साथ वैर न करो।[९]

यही नहीं, अपने को लड़ाकू एवं बलिदानप्रिय धर्म की दुहाई देने वाले इस्लाम-धर्म के भीतर झाँक कर देखें, तो वह भी अहिंसा की नींव पर टिका हुआ प्रतीत होगा। इस्लामधर्म में भी कहा गया है—"खुदा सारी दुनिया (खल्क) का पिता (खालिक) है। दुनिया में जितने प्राणी हैं, वे सब खुदा के बन्दे (पुत्र) हैं। कुरान-शरीफ की शुरूआत में 'बिस्मिल्लाह रहिमानुर्रहीम' कह कर खुदा को रहम का देव कहा है, कहर का नहीं। हजरत अली साहब ने तो पशु-पक्षियों तक पर रहम करने को कहा है—'हे मानव, तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना।' कुरानशरीफ का एलान है कि 'जिसने किसी की जान बचाई—उसने मानो सारे इन्सानों की जिन्दगी बख्शी।'[१०]

---

५ सब्बे तसंति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥ —धम्मपद १०।१

६ यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जापये।
मित्तं सो सब्बभूतेसु वेरं तस्स न केनचीति॥ —इतिवुत्तक, पृ० २०

७. अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वरः।
तस्मात् प्राणभृतः सर्वान् मा हिंस्यान्मानुषः क्वचित्।
—महाभारत आदिपर्व १।११।१३

८. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

९. न हिंस्यात् सर्वभूतानि, मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व २७८।५

१०. व मन् अहया हा फक अन्नया अहयास जमीअनः। —कुरान शरीफ ५।३५

ईसाईधर्म को उद्बोधन देते हुए महात्मा ईसा ने कहा है—"तू तलवार म्यान में रख ले, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सब तलवार से ही नाश किए जाएँगे।" अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—'तुम अपने दुश्मन को भी प्यार करो, और जो तुम्हें सताते हैं, उनके लिए भी प्रार्थना करो'। यदि तुम उन्हीं से प्रेम करो, जो तुमसे प्रेम करते हैं, तो तुमने कौन मार्के की बात की ?'

यहूदीधर्म में कहा है—किसी आदमी के आत्म-सम्मान को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। लोगों के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बड़ा पाप है, जितना कि उसका खून कर देना। प्राणिमात्र के प्रति निर्वैरभाव रखने की प्रेरणा देते हुए यह कहा है कि—'अपने मन में किसी के प्रति वैर या दुर्भाव मत रखो।'

पारसीधर्म के महान् प्रवर्त्तक महात्मा जरथुस्त का कथन है कि—'जो सबसे अच्छे प्रकार की जिन्दगी गुजारने से लोगों को रोकते हैं, अटकाते हैं और पशुओं को मारने की सिफारिश करते हैं, उनको अहुरमज्द बुरा समझते हैं।'

ताओधर्म के महान् नेता—लाओत्से का संदेश है कि—जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करते, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ।

कांफ्यूत्सी ने कनफ्यूशियस धर्म का प्रवर्त्तन करते हुए कहा था—"जो चीज तुम्हें नापसंद है, वह दूसरों के लिए हर्गिज मत करो।"

कहने का तात्पर्य यह है कि विश्व का कौन-सा धर्म है जो खूँरेजी को दाद देता हो ? प्रायः सभी ने एकस्वर से प्राणिरक्षा, प्राणिमैत्री एवं आत्मवत् सर्वभूतेषु का सन्देश दिया है।

किन्तु खेद की बात है कि आज विश्व आँख मूँद कर भयंकर हिंसा को प्रश्रय दे रहा है। लाखों ही निरपराध व्यक्ति गाजर-मूली की तरह काटकर समाप्त किए जा रहे हैं। किसी की आँखें निकाली जा रही हैं तो किसी के हाथ-पैर काटे जा रहे हैं। किसी को संगीनों पर उछाला जा रहा है, तो किसी को जिन्दा ही जलाया जा रहा है। घायलों की मर्मांतक चीत्कारें दिल को दहला देती हैं। हजारों घर लूटे जा रहे हैं, जलाये जा रहे हैं। मौत नंगी हो कर नाच रही है। कुमारी कन्याओं एवं सती-सुहागिनों के साथ खुले आम बलात्कार किए जाते हैं—जिसे देख कर शर्म की आँखें भी शर्म से नीचे झुक जाती हैं और फिर उन्हें गोलियों से भून दिया जाता है, छातियाँ काट डाली जाती हैं, गुप्तांगों में संगीनें भोंक दी जाती हैं। और कुछ सुन्दरियों को बन्दी बना कर बेच भी दिया जाता है। इन्सान इन्सान नहीं रहा है, शैतान हो गया है, शैतान से भी बदतर !

सामूहिक रूप से अहिंसक प्रतीकार की आवश्यकता

आज के उक्त अमानवीय पैशाचिक कुकृत्यों को देखने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। भारत के ही निकट पड़ोसी बांगलादेश में, पाकिस्तान के क्रूर एवं हृदयहीन शासकों के हुक्म पर नित्यप्रति हो रहे उक्त कुकृत्यों को देखा जा सकता है। सैनिक पागल हो गए हैं। लगता है उनमें मानवता का कुछ भी अंश नहीं बचा

है। और यह सब हो रहा है देश, धर्म और संस्कृति की रक्षा के नाम पर! मानव-जाति पर कुछ अत्याचार भूतकाल में भी हुए हैं। इन्सान ने सुन्दर एवं मोहक आदर्शों के नाम पर कुछ कम कष्ट नहीं भोगे हैं। किन्तु पाकिस्तान बांगलादेश में जो कुछ कर रहा है, उसका उदाहरण इतिहास में खोजे नहीं मिल रहा है। आवश्यकता है-आज का प्रबुद्ध जनसमाज इन लोमहर्षक अत्याचारों की मुक्तभाव से भर्त्सना करे, प्रतिरोध के लिए एकजुट हो जाए। पाकिस्तान को अकल ठिकाने पर लाने के लिए कुछ और विशेष करने की अपेक्षा नहीं है। अपेक्षा है केवल सामूहिक रूप में नैतिक आक्रमण की, असहयोग की। पाकिस्तान को जो विश्व के राष्ट्रों से सहयोग मिल रहा है, शस्त्रास्त्र और आर्थिक रूप में, यदि वह बन्द कर दिया जाए तो पाकिस्तान तत्काल घुटने टेक सकता है। किन्तु खेद है, यह कुछ हो नहीं रहा है। धरती पर के अनेक राष्ट्र केवल अपने स्वार्थ की भाषा ही सोचते हैं, मानवता की भाषा में नहीं। विश्व के मानवतावादी बड़े-बड़े राष्ट्र यह सब अत्याचार मुंदी आँखों से देख रहे हैं, बहरे कानों से उस काले कारनामों की कथा सुन रहे हैं। रोज समाचारपत्रों के पृष्ठ के पृष्ठ रंगे होते हैं कि बंगलादेश में जघन्य हत्याकाण्ड हो रहे हैं, मानवता को लजा देने वाले अत्याचार हो रहे हैं, फलस्वरूप अपनी जान और इज्जत बचा कर भारत में लाखों ही स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चे शरण के लिए आ गये हैं, अब भी आ रहे है। किन्तु बड़े राष्ट्र हैं कि देख कर भी अनदेखा कर रहे हैं, सुन कर भी अन-सुना कर रहे हैं। ऐसा भी नहीं कि चुप हो कर निरपेक्ष बैठे हैं, अपितु विपरीतदिशा में चल रहे हैं। अमेरिका जैसा महान् राष्ट्र एक ओर भारत में आए पीड़ित बंगाली प्रवासियों के लिए लाखों डालर की सहायता दे रहा है, और दूसरी तरफ यह खबर भी है कि अमेरिका पाकिस्तान को शस्त्रास्त्रों से लदे जहाज भेज रहा है, भयानक हथियारों की मदद दे रहा है। ताज्जुब है कि एक ही देश एक तरफ घातक हथियार दे कर नर-संहार को बढ़ावा देता है, और दूसरी तरफ वही देश जान बचा कर भारत में भाग कर आए शरणार्थियों की रक्षा के लिए धन-प्रदान कर सहायता का हाथ बढ़ाता है? यह कैसी विचित्र विसंगति है। चाहिए तो यह था कि शस्त्रास्त्रों की सहायता तत्काल बन्द कर सर्वप्रथम पाकिस्तान की सैनिक जुंटा को होश में लाया जाता, उसके क्रूर इरादों को बदला जाता, पश्चात्ताप के लिए मजबूर किया जाता, और बंगलादेश की पीड़ित जनता के अधिकारों का उचित संरक्षण किया जाता, और फिर प्रवासी समस्त लोगों की जान-माल की रक्षा का प्रयत्न किया जाता, एवं उन्हें जल्दी ही अपनी प्रिय जन्मभूमि में वापस भेजा जाता।

कहने की बात नहीं कि बंगबंधु मुजीब को बांगलादेश की करोड़ों मुस्लिम, ईसाई, हिन्दू, बौद्ध जनता ने अपना नेता चुना था, मुजीब के अवामी दल को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान कर बांगलादेश में लोकतन्त्र की स्थापना की ओर कदम बढ़ाया था। राष्ट्रपति याह्या खां ने चुनाव से पूर्व वायदा किया था कि चुनाव के बाद सैनिक शासन समाप्त कर दिया जाएगा और जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में

पाकिस्तान का शासन सौंप दिया जाएगा। और इसी संदर्भ में जब बंगबंधु मुजीब के दल ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर लिया तो याह्या खाँ ने उन्हें पाकिस्तान का भावी प्रधानमन्त्री कह कर सम्बोधित भी किया था। किन्तु जल्दी ही वे सत्तालोलुप निरंकुश फौजी जनरलों के हाथों में खेल गए। और समझौतावार्ता का नाटक खेलते-खेलते शक्तिसंग्रह कर अचानक निरपराध जनता पर आक्रमण कर खून की होली खेलनी शुरू कर दी। पागलपन की भी एक सीमा होती है। किन्तु मालूम होता है—पाकिस्तान के मदमस्तिष्कविहीन शासकों में इसकी भी कोई सीमारेखा नहीं है। छहसूत्री कार्यक्रमों की सार्वजनिक घोषणा के आधार पर जिसने चुनाव लड़ा और भारी बहुमत से विजयी हुआ, फलस्वरूप जिसे पाकिस्तान का भावी प्रधानमन्त्री तक कहा जाता रहा, वह एक ही रात में देशद्रोही हो गया, गद्दार हो गया, और अब उसके लिए गुप्त सैनिक अदालत में इन्साफ का ड्रामा खेल कर फांसी का फंदा तैयार किया जा रहा है। यह विवेकभ्रष्टों का वह पतन है, जो शतसहस्रमुख होता है, जिसकी सीमारेखा नहीं होती।

आश्चर्य है—नाममात्र की हलचल के बाद विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्र चुप हैं। और इससे भी अधिक आश्चर्य है उन अहिंसा, दया और करुणा के उद्घोषक धर्म-गुरुओं पर, जिनकी दृष्टि में जैसे कुछ हो ही नहीं रहा है। कहाँ है वह अहिंसा, कहाँ है वह करुणा, कहाँ है वह मानवता, जिसके वे सब दावेदार बने हुए हैं? क्या धर्म मरने के बाद ही समस्याओं का समाधान करता है? इस धरती पर जीते जी कोई समाधान नहीं है उसके पास?

अहिंसा पर नये सिरे से विचार करने का अवसर आ गया है। लगता है अहिंसा के पास करने जैसा कुछ नहीं रहा है। वह सब ओर से सिमट कर एक 'नकार' पर खड़ी हो गई है। नकार की अहिंसा में प्राणवत्ता नहीं रहती, वह निर्जीव हो जाती है। अहिंसा का अर्थ अब हिंसा न करना है, वह भी एकांगी, स्थूल, दिखावाभर, साथ ही तर्कहीन! जीवनचर्या के कुछ अंग ऐसे हैं, जिनमें बाहर से तो अहिंसा जैसा लगता है, किन्तु अगल-बगल की—अन्दर की पृष्ठभूमि में झांक कर देखें तो हिंसा का नग्न नृत्य होता नजर आता है। दूसरी ओर अहिंसा हिंसा को सहने भर के लिए हो गई है। बर्बर अत्याचार हो रहा हो, दमन चक्र चल रहा हो, बेगुनाहों का कत्लेआम हो रहा हो, और हम अहिंसावादी चुपचाप यह सब सहन करते जाएँ, उफ तक न करें। और इस पर यश के ढोल पीटते जाएं कि हम कितने साधुपुरुष हैं, कितने क्षमा-शील संयमी हैं?

आज अहिंसा अन्याय एवं अत्याचार के विरोध में अपनी प्रचण्ड प्रतीकार शक्ति खो चुकी है। अहिंसा हिंसा को केवल सहन करने के लिए नहीं है। उसे हिंसा पर प्रत्याक्रमण करना चाहिए। गांधीजी के युग में ऐसा कुछ हुआ था, परन्तु जल्दी ही अहिंसा के इस ज्वलंतरूप पर पाला पड़ गया और अहिंसा ठंडी हो गई। आज

अहिंसा ठंडी हो गई है। आज के अहिंसावादी धर्मगुरु, अपने लाखों अनुयायी होने का दावा करते हैं। यदि सामूहिक रूप में अहिंसात्मक प्रतीकार के लिए ये लोग बांगला देश की सीमाएँ पार करें, और नंगी संगीनों के सामने छातियाँ खोल कर खड़े हो जाएँ, तो पाकिस्तान तो क्या, सारा विश्व हिल उठेगा। जब विश्व की ओर से उक्त हजारों लाखों बलिदानियों को ले कर पाकिस्तान पर सामूहिक नैतिक आक्रमण होगा तो पाकिस्तान का दम टूट जाएगा। पर, ऐसा नैतिक साहस है कहाँ आज अहिंसावादियों में! साग-सब्जी और कीड़े-मकोड़ों की नाममात्र की अहिंसा पाल करके ही आज के ये तथाकथित अहिंसावादी संतुष्ट हैं और अहिंसा की यह निर्माल्य प्रक्रिया अहिंसा के दिव्य तेज को धूमिल कर रही है। यदि आपकी अहिंसा विश्व के जघन्य हत्या-काण्डों का वस्तुतः कोई प्रतीकार नहीं कर सकती, तो फिर अहिंसा का दम्भ क्यों? फिर तो क्यों नहीं: यह स्पष्ट घोषणा कर देते कि हिंसा का उत्तर हिंसा ही है, अहिंसा नहीं। पर इतना भी साहस कहाँ है?

प्रत्यक्ष अहिंसक प्रत्याक्रमण की बात तो छोड़िए, आज तो ये मेरे धर्मगुरु साथी मौखिक विरोध भी नहीं कर रहे हैं। हजारों की सभा में उपदेश होते हैं, वही घिसे-पिटे शब्द, जिनमें कुछ भी तो प्राण नहीं। वर्तमान की समस्याओं को छूते तक नहीं। समग्र उपदेश जीवन के पार मृत्यु के दायरे में जा रहा है। इनके स्वर्ग और मोक्ष मरने पर हैं, जीते जी नहीं। होना तो यह चाहिए था कि हजारों धर्मगुरु प्रतिदिन के प्रवचनों में बांगलादेश के जातीय विनाश के सम्बन्ध में खुल कर बोलते, हिंसा के विरोध में वातावरण तैयार करते। कम से कम इतना तो हो सकता था, पर देखते हैं, इतना भी कहाँ हुआ है?

मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों और अन्य धर्म-स्थानों में करोड़ों—अरबों की सम्पत्ति जमा है। धर्मगुरुओं की प्रतिष्ठा के लिए आडम्बर के कामों में लाखों ही खर्च हो रहे हैं। यदि यह सब पीड़ितों की सेवा के लिए खर्च होता, तो कितना अच्छा होता? धर्म का वास्तविक रूप तो जनसेवा में है। यही तो सच्ची अहिंसा और करुणा है। देर तो हो चुकी है, फिर भी यदि कुछ साहसिक प्रयत्न प्रारम्भ किए जाएँ तो अहिंसा का तेजस्वी दिव्यरूप चमक सकता है। □

१५ द्रव्यहिंसा-भावहिंसा

अहिंसा को ठीक तरह समझने के लिए और उसके वास्तविक रूप को जानने के लिए सर्वप्रथम हिंसा को समझ लेना जरूरी है, क्योंकि हिंसा का विरोधी अहिंसा है। अहिंसा का साधारणतया अर्थ होता है, हिंसा का होना। हिंसा का विरोधीभाव वही हो सकता है, जिसके रहते हिंसा न हो सके। इस प्रकार अहिंसा की जो मूल व्याख्या है, वह सर्वप्रथम 'न' के ऊपर ही आधारित है। अतएव[1] अहिंसा को पूरी तरह समझने के पहले, हिंसा को समझ लेना ठीक होगा। और उस स्थिति में अहिंसा का ठीक-ठीक पता लग सकेगा।

महान तीर्थंकरों तथा जैनाचार्यों ने मूल में हिंसा के दो भेद किए हैं—(१) भाव-हिंसा और (२) द्रव्य हिंसा। उक्त भेदों का गहराई से अध्ययन मनन करने पर मालूम हुआ कि हिंसा-अहिंसा के यथार्थ विश्लेषण या पृथक्करण के लिए उन महापुरुषों ने संसार के सामने एक महत्त्वपूर्ण बात रख दी है।

भावहिंसा और द्रव्यहिंसा

शरीर से प्राणों का अलग होना—यह मरना है, हिंसा नहीं है। इस दृष्टि से जैनदर्शन ने हिंसा के दो रूप कर दिये हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। जहाँ मारने का संकल्प है, राग-द्वेष की भावना आई, और इस स्थिति में किसी प्राणी की हिंसा हो भी सकती हो, नहीं भी हो सकती हो, वह निश्चय में हिंसा है ही, उसे भावहिंसा कहा है। वह बन्धन है। किन्तु हिंसा का एक दूसरा रूप भी है और जिसकी व्याख्या बहुत गहरी है वह है द्रव्यहिंसा। द्रव्यहिंसा में किसी का प्राणघात तो होता ही है, किन्तु उक्त प्राणघात में जो निमित्त बनता है, वह मात्र शरीर बनता है, मन की प्रवृत्ति उसके साथ नहीं जुड़ती है, उस प्राणघात में राग-द्वेष का संकल्प नहीं रहता है, इसलिए वह बाहर में प्राणघात जरूर है, पर अन्दर में हिंसा नहीं है। उससे कर्मबन्ध नहीं हो सकता।

एक बात और विचारणीय है कि कर्मबन्ध मन से होता है या शरीर से। शरीर तो जड़ है, उसमें न विचार है, न अध्यवसाय है। अतः न उसमें राग है, न द्वेष है। शरीर यदि कर्मबन्ध कर सकता है, तब तो फिर हर जड़पदार्थ को कर्मबन्ध होता

---

१ 'हिंसाए पडुवियाए, अहिंसा पडुविया चेव।'

—दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन

रहेगा। पत्थर भी, काष्ठ भी—सभी कर्म बाँधते रहेंगे। जिस प्रकार शरीर से टकरा कर किसी जीव का प्राणघात हो सकता है, वैसे ही पत्थर से टकरा कर भी बहुत से प्राणी मरते हैं। जब पत्थर को हिंसा नहीं लगती, तो फिर शरीर को हिंसा क्यों लगेगी? वास्तव में हिंसा करने वाला तो राग-द्वेषग्रस्त मन है, केवल अकेला मन भी नहीं, केवल अकेला शरीर भी नहीं।

दूसरी बात है, कर्म का बन्ध किस कर्म से होता है? यह भी एक विचारने की चीज है। कर्मबन्ध न नामकर्म से होता है, न गोत्रकर्म से। नामकर्म से कर्म का बन्ध नहीं हो सकता, तो फिर शरीर तो नामकर्म की एक प्रकृति है, उसी का फल यह दृश्यशरीर है, उससे कर्मबन्ध कैसे होगा? आठ कर्मों में नया कर्मबन्ध करने वाला एक ही कर्म है और वह है—मोहकर्म। जब मोहकर्म होगा तभी नवीन कर्म का बन्ध हो सकेगा, अन्यथा नहीं। वीतरागी को इसीलिए तो कर्मबन्ध नहीं होता, इसलिए कि उनका मोहकर्म नष्ट हो गया होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस सम्बन्ध में एक गम्भीर बात कही है कि—"वस्तुतः अन्तर्मन में रागादि का होना ही हिंसा है।"

प्राणियों को मारना और जिलाना किसी के वश की बात नहीं है। अनन्त बलशाली तीर्थंकर भी किसी प्राणी को अपने आयुष्य से एक क्षण ज्यादा जिला नहीं सकते और न चक्रवर्ती और इन्द्र ही अपनी पूरी शक्ति लगा कर भी किसी प्राणी को आयुष्य से एक क्षण पहले मार सकते हैं। न कोई किसी को मार सकता है, और न कोई किसी को जिला सकता है। आप पूछेंगे, तब फिर हिंसा-अहिंसा की बात ही कैसी? जब कोई किसी को मार नहीं सकता, तो किसी की हिंसा भी नहीं हो सकती। और कोई किसी को जिला नहीं सकता, तो फिर दया-करुणा का आधार ही कुछ नहीं रह जाता। **'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।'** किसी को जिलाना, बचाना हमारी शक्ति के बाहर है, तो फिर दया-करुणा का उपदेश भी निरर्थक है।

अभिप्राय यह है कि किसी को मारना और जिलाना हमारे हाथ में नहीं है। किन्तु एक बात हमारे हाथ में जरूर है और वह है—मारने का संकल्प करना, जिलाने का संकल्प करना। हिंसा और अहिंसा की धारा इसी उत्स में से फूटती है। हमारे मन में जब किसी को मारने का संकल्प उठता है, किसी को त्रास और कष्ट देने की भावना जगती है, तब हिंसा की ज्वालाएँ दहकने लग जाती हैं। किसी की हिंसा हो या न हो, पर मन की दूषित भावना के कारण हम हिंसक हो गए, हिंसा कर चुके। और जब किसी प्राणी को दया और करुणा से प्रेरित हो कर जिलाने का संकल्प जगता है उसके लिए सुख और शान्ति की भावना हमारे हृदय में प्रस्फुटित होती है तभी से अहिंसा का दिव्यभाव हमारे हृदय में अवतरित हो चुका। भले ही हमारे प्रयत्नों से एक भी प्राणी न बच सका हो, किन्तु हमारी अहिंसा अपने आपमें जागृत हो गई। हमारी करुणा ही हमारी अहिंसा है। किसी को नहीं मारने का संकल्प अहिंसा का एक पक्ष

है। इसके दूसरे पक्ष को जब तक नहीं समझेंगे, तब तक अहिंसा की साधना पूर्ण नहीं होगी। यदि नहीं मारना ही अहिंसा की पूर्णता होती, तो वीतरागी पुरुषों ने करुणा और दया जैसे शब्दों का आविष्कार नहीं किया होता? जब दया और करुणा जैसे शब्द हमारे शास्त्र में लिखे गए हैं, तो उनका कोई अर्थ भी अवश्य है और वह अर्थ यही है कि प्राणिमात्र की सुख-शान्ति की मधुर भावनाएँ हमारे हृदय को सदा पवित्र और शान्त बनाए रखें।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बन्धन मोह में है, राग-द्वेष में है। राग-द्वेष की भावना से किसी का प्राणवध करना हिंसा है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमने अहिंसा को भी वस्तुनिष्ठ नहीं, भावनिष्ठ माना है।

भाव-हिंसा

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भावहिंसा क्या है? जब किसी की आत्मा में किसी के प्रति द्वेष जगा तो हिंसा हो गई तथा किसी भी रूप में असत्य का संकल्प, चोरी का संकल्प और व्यभिचार का दुर्भाव आया; इसी प्रकार कभी क्रोध, मान, माया और लोभ की भावनाएँ जगीं जो जीवन को अपवित्र बनाती हैं---तो हिंसा हो गई और इसे ही हम भावहिंसा कहते हैं।

भावहिंसा : स्वघाती शत्रु

भावहिंसा से सर्वप्रथम हिंसक का ही नाश होता है। यदि किसी के मन में क्रोध आया और ज्यों ही क्रोध ने उसे घर दबाया कि मन में आग लग गई और उसने किसी का सर्वनाश करने का विचार कर लिया। बस, जिस समय यह भाव आया कि हिंसा हो गई। दूसरे को मारना या उसको पीड़ा पहुँचाना, किसी के लिए हर समय शक्य नहीं होता। यदि कोई उससे दुर्बल होगा तो उसके सामने वह अपनी शक्ति का उपयोग कर सकता है। यदि वह उससे अधिक शक्तिशाली है, तब तो वह स्वयं जल कर रह जाएगा और अपने प्रतिद्वन्द्वी का कुछ बिगाड़ भी पाएगा। इस तरह वह बाहर से हिंसा करता है अथवा नहीं करता है, किन्तु खुद तो अन्दर ही अन्दर जलता ही रहता है।

कुछ बच्चे एक बच्चे को चिढ़ाते हैं और गन्दा कह कर उसका मजाक करते हैं। वह खिसिया कर कहता है—मैं गन्दा हूँ? अच्छा गन्दा ही सही। अब वह अपने हाथ में कीचड़ लेता है और दूसरे बच्चों पर उछालने के लिए उनके पीछे दौड़ता है। बच्चे तेजी से भाग जाते हैं और वह उन पर कीचड़ नहीं उछाल पाता। यदि उछाल भी देता है तो दूसरों पर कीचड़ पड़ी या न पड़ी, परन्तु उसका हाथ तो कीचड़ से भर ही गया! यदि कीचड़ उछालने वाला तेज दौड़ता है और दूसरों पर डाल देता है, तब भी उसका हाथ तो कीचड़ से भरेगा ही। और दूसरे बालक तेज हैं, और वह उन पर कीचड़ नहीं डाल पाता, तो वह अपना गन्दा हाथ लिए मन ही मन जलता है। इस

प्रकार दूसरों पर कीचड़ चाहे पड़े चाहे न पड़े, किन्तु उछालने वाला तो हर हालत में गन्दा हो ही जाता है।

शास्त्रकार यही बात बालजीवों के विषय में कहते हैं। अविवेकी जीव प्रायः बच्चों के जैसे खेल खेला करता है। वह अपने मन में दूसरों के प्रति बुरे भाव, बुरे संकल्प पैदा करता है, और उनके कारण अपने अन्दर मैल भर लेता है—अन्तःकरण को मलिन बना लेता है और आत्मा के गुणों की हत्या कर लेता है। क्रोध आया, तो क्षमा की हत्या हो गई; अभिमान आया, तो नम्रता का नाश हो गया; माया आई, सरलता का संहार हो गया; और यदि लोभ आया तो संतोष का गला घुट गया। असत्य का संकल्प आया तो सत्य की सुगन्ध भी समाप्त हो गई। इस प्रकार जो भी बुराई आत्मा में पनपती है, वह अपने विरोधी सद्गुण को कुचल डालती है।

रात को आना हो तो कैसे आए? दिन को जब तक कुचल न डाले या दिन जब तक समाप्त न हो जाए, और सूर्य की एक-एक किरण विलीन न हो जाए, तब तक रात कैसे आए? यदि रात हो गई तो इसका मतलब है कि दिन नष्ट हो गया है और सूरज छिप गया है।

मनुष्य जीवन में भी जब अमावस्या की रात आती है, अर्थात् हिंसा, असत्य आदि की काली घटाएँ उमड़-घुमड़ कर आती हैं, तो अहिंसा, सत्य और करुणा की जो ज्योति नष्ट हो जाती है। वहाँ दिन छिप जाता है और रात आ जाती है।

भाव-हिंसा आत्मा के गुणों की हिंसा कर डालती है। अब रह गई, दूसरों की हिंसा; सो वह देश, काल आदि पर निर्भर है। सम्भव है, कोई दूसरों की हिंसा कर सके, या न भी कर सके, किन्तु अपने आप तो जल ही जाता है।[२]

दियासलाई को देखिए। वह रगड़ खाती है और जल उठती है। स्वयं जल उठने के बाद घास-पात आदि को जलाने जाती है। वह खुद तो जल ही जाती है, भले ही दूसरों को जलाए या न भी जलाए। वह जलाने चली और हवा का झोंका आ गया तो बुझ जाने के कारण दूसरे को नहीं जला सकी, किन्तु अपने आप तो बिना जली नहीं रही।

इस प्रकार भाव-हिंसा अन्तरंग में तो जलन पैदा करती ही है। उसके बाद दूसरे प्राणियों की हिंसा करके द्रव्य-हिंसा में परिणत हो जाती है। द्रव्य-हिंसा कदाचित् हो या न हो, पर हिंसामय संकल्प के साथ भाव-हिंसा तो पैदा हो ही जाती है।

सबसे बड़ा शत्रु

शास्त्रकार कहते हैं कि इस जीवन में मूलभूत और सबसे बड़ी बुराई भाव-

---

२ स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥

—राजवार्तिक ७, १३।

हिंसा है और इसी से मनुष्य को सबसे बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ती है। उसे अपने अंदर के सबसे बड़े शत्रु का संहार करना होता है। राजर्षि नमि ने कहा है—'जीवन में कितनी ही बाहर की लड़ाइयाँ लड़ीं और कितना ही खून बहा और बहाया भी, किन्तु उनसे जीवन का सही फैसला नहीं हुआ। अब तो अपने विकारों और वासनाओं से लड़ना है।"[3] यदि इस संघर्ष में सफलता प्राप्त हो जाती है, तो बाहर के शत्रु आप ही आप शान्त हो जायेंगे। उन पर शाश्वत विजय पाने वाले सद्गुण अपने अन्दर ही विराजित हैं, इसलिए व्यक्ति अपने आप से लड़े। अपने से लड़ने का अर्थ है—अपने विकारों से और अपनी हिंसा-वृत्ति से लड़ना। द्रव्य-हिंसा की जननी, यह अन्दर की हिंसावृत्ति ही तो है।

द्रव्य-हिंसा

क्रोध, मान, माया, लोभ के कारण मन में किसी के प्रति द्वेष-भाव जगता है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति उसे पीड़ा पहुँचाना चाहता है। वह कड़वी बातें कहता है, गालियां देता है और इससे भी आगे बढ़कर शारीरिक कष्ट देने की कोशिश करता है। किसी को मारता है, किसी अस्त्र-शस्त्र से प्रहार करता है, जान से भी मार डालता है। जैसा कि हम लोगों ने अब तक देखा है कि मन के द्वेषभाव को भावहिंसा की संज्ञा देते हैं। पर, भाव-हिंसा के परिणामस्वरूप जो भी घटनाएँ घटती हैं, वे द्रव्य-हिंसा की कोटि में आती हैं। दार्शनिक या धार्मिक मान्यता के अनुसार यद्यपि हिंसा के दो रूप माने जाते हैं, साधारण जीवन में सामान्य धारणा ऐसी देखी जाती है कि द्रव्यहिंसा ही हिंसा है। अर्थात् हिंसा के नाम पर द्रव्य-हिंसा ही खड़ी होती है। मन में भले ही कोई कुछ विचार करे, लेकिन जब तक वह किसी को शारीरिक हानि नहीं पहुँचाता, तब तक वह हिंसा करने का दोषी नहीं समझा जाता। अतः धार्मिकता या दार्शनिकता के दृष्टिकोण से भावहिंसा प्रधान है और सामान्य मान्यता के अनुसार द्रव्य-हिंसा ऊँचा स्थान रखती है।

चौभंगी

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा को ले कर हिंसा के चार विकल्प किये गये हैं। आगम की परम्परा में उसे चौभंगी कहते हैं, वह इस प्रकार है—

(१) भाव-हिंसा हो, द्रव्य-हिंसा न हो।
(२) द्रव्य-हिंसा हो, भाव-हिंसा न हो।
(३) द्रव्य-हिंसा भी हो, भाव-हिंसा भी हो।
(४) द्रव्य-हिंसा न हो, भाव-हिंसा भी न हो।

---

३ अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ?
—उत्तराध्ययन सूत्र, ६, ३५

४ दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन।

कहीं ऐसा प्रसंग आ जाता है और बहुधा आता ही रहता है कि भाव-हिंसा हो, किन्तु द्रव्य-हिंसा न हो। जैसा कि अभी कहा गया है, अन्दर हिंसा की भावना जगी, हिंसा का विचार पैदा हो गया और अपने जीवन के दुर्गुणों और वासनाओं के द्वारा अपने सद्गुणों को बर्बाद कर लिया, तो भाव-हिंसा हो गई। किन्तु दूसरे का कुछ बिगाड़ नहीं हो सका, तो द्रव्य-हिंसा न होने पाई।

भाव-हिंसा : तन्दुलमच्छ का उदाहरण

प्रथम भंग जिसमें भाव-हिंसा तो होती है, पर द्रव्यहिंसा नहीं होती; उसे इस प्रकार समझा जा सकता है। महासागर में हजार-हजार योजन के विशालकाय मच्छ रहते हैं और मुंह खोले पड़े रहते हैं। जब वे सांस लेते हैं तब हजारों मछलियां उनके पेट में श्वास के साथ खिंची चली आती हैं और जब सांस छोड़ते हैं तो बाहर निकल जाती हैं। इस तरह प्रत्येक श्वास के साथ हजारों मछलियां अन्दर आती और बाहर जाती हैं। ऐसे किसी मच्छ की भौंह पर या किन्हीं आचार्यों के मतानुसार कान पर, तन्दुलमच्छ रहता है। वह कहीं भी रहता हो, उसकी आकृति चावल के बराबर होती है। वह सिर, आंखें, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियों से सम्पन्न होता है। उसके शरीर है और मन भी है। वह उस विशालकाय महामत्स्य की भौंह या कान पर बैठा-बैठा देखता है कि इस महामत्स्य की श्वास के साथ हजारों मछलियां भीतर जाती हैं और फिर बाहर निकल आती हैं, और वह सोचता है—"ओह! इतना बड़ा शरीर पाया है, इस भीमकाय मच्छ ने, किन्तु कितना मूर्ख और आलसी है! इसे होश नहीं है कि—हजारों मछलियां आईं और यों ही निकल गईं! क्या करूं, मुझे ऐसा शरीर नहीं मिला! यदि मिला होता तो क्या मैं एक को भी वापस निकल जाने देता?" किन्तु जब मछलियों का प्रवाह आता है तो वह दुबक जाता है, डर जाता है कि कहीं मैं झपट में न आ जाऊं! मर न जाऊं! वह कर कुछ भी नहीं पाता, किन्तु इस व्यर्थ की दुर्भावना से ही उसकी हजारों जिन्दगियां बर्बाद हो जाती हैं।

तन्दुल-मत्स्य मछलियों को निकलती देख कर हताश हो जाता है और सोचता है कि हाय, एक भी नहीं मरी! वह इन्हीं दुःसंकल्पों में उलझा रहता है और रक्त की एक बूंद भी नहीं बहा पाता। यहां तक कि वह किसी को एक चुटकी भी तो नहीं भर पाता। अन्तर्मुहूर्तभर की उसकी नन्ही-सी जिन्दगी है और इस छोटी-सी जिन्दगी में ही वह सातवें नरक की तैयारी भी कर लेता है।

डाक्टर और मरीज का उदाहरण

भाव-हिंसा को सुगमता से समझाने के लिए एक उदाहरण और प्रस्तुत है—

किसी डाक्टर के पास एक बीमार आया। इससे पहले वह अपनी चिकित्सा कराने के लिए जगह-जगह भटक चुका है और अपने जीवन की आशा भी लगभग छोड़ चुका है। डाक्टर के साथ उसका पूर्व-परिचय नहीं है। उसने डाक्टर से कहा—"मैं बीमार रहता हूं। कृपा करके मेरा इलाज कीजिए। मेरा होश-हवास भी ठीक नहीं

रहता है। इसलिए मेरी इस चार-पाँच हजार की पूँजी को आप अपने पास सुरक्षित रहने दें। रोग-मुक्त हो कर यदि जिन्दा रह गया तो मैं इसे ले लूँगा। यह बात किसी तीसरे को मालूम भी नहीं होनी चाहिए।"

डाक्टर ने इलाज शुरू कर दिया। एक दिन अचानक डाक्टर के मन में लोभ जाग उठा। वह सोचने लगा—यह रोगी यदि मेरे इलाज से नीरोग और स्वस्थ हो जायगा, तो अपनी पूँजी ले कर चलता बनेगा।।

जब मन में दुर्विचारों का शैतान जाग उठता है, तो कभी-कभी उसे शान्त करना कठिन हो जाता है। यह वह भूत है कि जिसे एक बार जगा दिया तो फिर उसे सुलाने का मन्त्र मिलना जरा मुश्किल हो जाता है।

डाक्टर के मन में पाप जगा और उसने रोगी से कहा—'लो, यह बड़ी बढ़िया और कारगर दवा है। आशा है इसके सेवन से तुम्हारी सारी बीमारी सदैव के लिए दूर हो जायगी।' यह कहते हुए उसने जहर का गिलास रोगी के सामने कर दिया। अर्थात्, धन के लोभ ने डाक्टर के मन को विषाक्त बनाया और फलतः रोगी को जहर दे दिया गया।

रोगी का रोग विष-प्रयोग से ही ठीक होने वाला था। इस सम्बन्ध में आयुर्वेदाचार्य भी कहते हैं—'**विषस्य विषमौषधम्**' अर्थात् जहर की दवा जहर है। रोगी के शरीर में जो जहर फैल गया था, वह जहर से ही दूर हो सकता था। अस्तु, डाक्टर ने जो जहर दिया, उससे शरीर का जहर नष्ट हो गया और रोगी नीरोग हो गया।

वह रोगी अब डाक्टर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हुआ कहता है—"डाक्टर साहब! आप तो साक्षात् ईश्वर हैं! आप जैसा दयालु और बुद्धिमान् दूसरा कौन होगा? मैं भटकते-भटकते परेशान हो गया था, जीवन से भी निराश हो चुका था। निस्सन्देह आपने तो मुझे नया जीवन दिया है! आपके इस उपकार के बदले में मेरी यह पूँजी बिल्कुल नगण्य है। अब उसे आप अपने ही पास रहने दीजिए।" इस प्रकार वह रोगी अपनी सबकी सब पूँजी डाक्टर को ही अर्पित कर देता है और जहाँ कहीं जाता है, डाक्टर की योग्यता का विज्ञापन करता है और उसका गुणगान गाता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ? डाक्टर ने तो बीमार को मार डालने के विचार से ही जहर दिया था। परन्तु उसे उलटा आराम हो गया। डाक्टर को चार-पाँच हजार रुपये मिले, रोगी के द्वारा प्रशंसा मिली, जनता में भी उसने कल्पनातीत प्रसिद्धि प्राप्त की और लोगों ने कहा कि—डाक्टर ने बीमार को नया जीवन दिया। परन्तु इस सम्बन्ध में शास्त्र क्या कहते हैं? शास्त्रों के अनुसार डाक्टर ने रोगी को जीवन दिया या मृत्यु? रोगी के नीरोग होने पर वह जीवन देने

के पुण्य का भागी है या विषप्रयोग के आधार पर मौत देने के पाप का भागी है ? उसने मनुष्य की हिंसा की है अथवा दया !'

इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन नहीं है। मनुष्य में यदि सामान्य विवेक हो तो भी वह इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि—भले ही डाक्टर, रोगी के प्राण न ले सका और रोगी नीरोग भी हो गया; फिर भी डाक्टर तो मनुष्य की हत्या के पाप का भागी ही है ! यद्यपि वहाँ द्रव्य-हिंसा नहीं है, फिर भी भाव-हिंसा अन्तर में स्थित है। क्योंकि डाक्टर के मन में तो हिंसा की भावना उत्पन्न हुई थी, फलतः उसी हिंसा-भाव के कारण डाक्टर हिंसा के पाप का भागी हुआ। इस दुष्कर्म के अनुसार डाक्टर ने रोगी को जहर नहीं पिलाया, बल्कि अपने आपको जहर पिलाया यथार्थ में उसने अपने आपको मार डाला। अपनी सद्भावना का, अपने सद्गुणों का, अपनी उच्चता का और कर्त्तव्य (Duty) का घात करना भी एक प्रकार का आत्म-घात ही है।

यह विचारधारा जैन-आगमों की है। भाव-हिंसा को भली-भाँति समझने के लिए उपरिलिखित दोनों रूपक बहुत उपयोगी हैं। यहाँ द्रव्य-हिंसा कुछ भी नहीं, अकेली भाव-हिंसा ही 'महतो महीयान्' है; यह तन्दुल-मत्स्य को सातवें नरक में ढकेल देती है।

उपर्युक्त दृष्टान्त के आधार पर अहिंसा के साधकों को इस भाव-हिंसा से सदैव बचना चाहिए, और तन्दुलमत्स्य के-से दुर्विकल्पों से तो अवश्य ही बचना चाहिए। अखिल विश्व की आत्माओं से संतों का यही कहना है कि—"तुम अकेले ही दुनिया-भर की सारी गति-विधि के ठेकेदार नहीं हो। किसी का जन्म-मरण तुम्हारे हाथ में नहीं है। फिर क्यों व्यर्थ ही किसी को मारने की दुर्भावना रखते हो ?"

दूसरे प्रकार का भंग यह है, जिसमें द्रव्य-हिंसा तो हो, किन्तु भाव-हिंसा न हो। एक साधक अपने जीवन की यात्रा तय कर रहा है। उस समय उसके मन में हिंसा नहीं है और हिंसा की वृत्ति भी नहीं है। यद्यपि वह सावधानी के साथ प्रवृत्ति करता है, फिर भी हिंसा हो जाती है। आखिर जब तक यह शरीर है, तब तक हिंसा रुक ही कैसे सकती है ! आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की तेरहवीं भूमिका तक भी अंशतः हिंसा होती रहती है। जब तक आत्मा और देह का सम्बन्ध है, तब तक यह कार्यक्रम चलता ही रहेगा। कोई बैठा है, और हवा का झोंका लग रहा है, इस स्थिति में भी असंख्य जीव मर रहे हैं। एक पलक का झपकना, यद्यपि अपने आप में एक अति-सूक्ष्म हरकत है, किन्तु उसमें भी असंख्य जीव मर जाते हैं।[५] इस प्रकार जब तक शरीर है, तब तक हिंसा चल रही है और वह भी तेरहवें गुणस्थान तक। यह बात कोई मन-गढ़न्त अपितु आगमों द्वारा प्रतिपादित है। भगवती-सूत्र के अनुसार केवल-

---

५ 'पक्ष्मणोऽपि निपातेन तेषां स्यात् स्कन्ध-पर्ययः।'

ज्ञानियों से भी काययोग की चंचलता के कारण कभी-कभी पंचेन्द्रिय जीवों तक की हिंसा हो जाती है।[६]

केवलज्ञानी विहार कर रहे हैं और बीच में कहीं नदी आ जाए तो क्या करेंगे? उत्तर स्पष्ट है, वे नाव में बैठेंगे। यदि नदी में पानी थोड़ा है तो विधि के अनुसार पैदल भी जल में से पार होंगे। वे चाहे नाव में बैठ कर चलें या पानी में उतर कर, परन्तु हिंसा से बचाव सर्वथा असम्भव है! नाव और पानी की तो बात क्या, एक कदम रखने में जो हरकत होती है, उसमें भी हिंसा हो जाती है।

इस संदर्भ में कर्म-बन्ध की बात भी आ जाती है। तेरहवें गुणस्थान वाले केवलियों को कौन-सी कर्म-प्रकृति का बंध होता है? उक्त नदी-संतरण आदि कार्य करते हुए भी वे सातावेदनीय का ही बंध करते हैं।[७] यह कैसी बात हुई? जीवन के द्वारा होती तो है हिंसा, किन्तु बंध होता है सातावेदनीय का! जिन जीवों की हिंसा हुई है, वे साता में मरे हैं या असाता में? वे कुचले गये हैं, चोट पहुंचने पर मरे हैं, अपने आप नहीं मर गये हैं। फिर भी आगम कहते हैं कि इस स्थिति में बंध होता है—सिर्फ पुण्यप्रकृति का ही, पापप्रकृति का नहीं। इस जटिल समस्या पर विचार करने की आवश्यकता है।

कषायभाव : हिंसा का मूलाधार

वास्तव में हिंसा कषायभाव में है। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है :— किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना अपने आप में हिंसा नहीं है, अपितु क्रोधभाव से, मानभाव से, मायाभाव से या लोभभाव से किसी जीव के प्राणों को नष्ट करना, हिंसा है। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा द्वेष आदि दुर्भाव यदि मन में हों और मारने की दुर्वृत्ति के साथ जीवों को मारा जाता हो या सताया जाता हो, तो वहां हिंसा होती है।[८] प्रमादपूर्वक, रागद्वेष की वृत्ति से किसी के प्राणों का नाश हिंसा है। किसी को मारना ही हिंसा की व्याख्या नहीं है।

६ अणगारस्स भंते। भावियप्पणो पुरओ जुग्गमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा कुलिमच्छाए वा परियावज्जिज्जा;

७ तस्स णं! इरियावहिया किरिया कज्जइ? संपराइया किरिया कज्जइ?
गोयमा! अणगारस्स णं भावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइआ कज्जइ।

—श्री भगवती-सूत्र, श० १८, उ० ८

८ 'प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा।'

—तत्त्वार्थसूत्र ७, ४३

मण-वयण-कायेहिं जोगेहिं दुप्पउत्तेहिं जं पाण-ववरोवणं कज्जइ सा हिंसा'

—दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन

जब किसी को मारने में मन का दुःसंकल्प जुड़ता है, रागद्वेष की भावना प्रेरक बनती है, तब हिंसा होती है। भले ही किसी के प्राण नहीं छूटें। किन्तु हमारा मन रागद्वेष के संकल्प से दूषित हो गया, तब भी हम हिंसक हो गए।

उक्त कथन का भावार्थ यह है कि हिंसा का मूलाधार कषायभाव है। अतः जो साधक कषायभाव में न हो, फिर भी यदि उसके शरीर से हिंसा हो जाती है तो वह केवल द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नहीं। द्रव्य-हिंसा, प्राण-नाशस्वरूप होते हुए भी हिंसा नहीं मानी जाती।[९] केवलज्ञानी की यही स्थिति है। वे राग-द्वेष की स्थिति से सर्वथा अलग हैं। उनके अन्दर किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भाव नहीं है, अपितु सर्वांगीण सद्भाव है। अतः उनके शरीरादि से होने वाली हिंसा, हिंसा नहीं है। केवली स्वभावतः हिंसा करते नहीं हैं, अपितु वह हो जाती है। इसीलिए उन्हें बाहर में हिंसा होते हुए भी एकमात्र साता-वेदनीय का बंध होता है।

शाब्दिक दृष्टिकोण से यहाँ पर दो प्रकार के शब्दों के प्रयोग देखे जा रहे हैं—'वे हिंसा करते नहीं, वह अपने आप हो जाती है। दूसरे प्रकार से इसे यों भी कह सकते हैं कि केवली जीवों को मारते नहीं, वे अपने आप मर जाते हैं। इन दोनों प्रयोगों में कितना बड़ा अन्तर है?

यतनापूर्वक गमन से हिंसा का पाप-बन्धन नहीं

एक साधु विवेकपूर्वक भिक्षा के लिए जाता है या कोई गृहस्थ विवेकपूर्वक गमनक्रिया करता है। उस समय उसके अंतस् में किसी भी जीव को मारने की वृत्ति नहीं है, फिर भी यदि मर जाते हैं, तो यही कहा जायगा कि वह जीवों को मारता नहीं है, किन्तु जीव मर जाते हैं। इस प्रकार के मर जाने में पाप-बंध नहीं है, किन्तु मारने में पाप-बंध है। इस सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु भी कहते हैं—'ईर्यासमिति से युक्त हो कर कोई साधक चलने के लिए पाँव उठाए और अचानक यदि कोई जीव उसके नीचे आ कर, दब कर मर जाए, तो उस साधक को उसकी मृत्यु के निमित्त से तनिक-सा भी बंध होना शास्त्र में नहीं बताया गया है। क्योंकि वह साधक गमन-क्रिया में पूर्ण-रूप से उपयोग रखने के कारण निष्पाप है।"[१०]

यही बात दिगम्बरपरम्परा के आचार्य वट्टकेर ने भी उद्घोषित की है—

---

९ यदा प्रमत्तयोगो नास्ति, केवलं प्राणव्यपरोपणमेव, न तदा हिंसा। उक्तं च-
वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ७, १३

१० उच्चालिअम्मि पाए इरियासमिअस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥७४८॥
न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
अणवज्जो उवओगेणं, सव्वभावेण सो जम्हा ॥७४९॥

—ओघनिर्युक्ति

'कमलिनी का पत्ता जल में ही उत्पन्न होता है और जल में ही उसका पोषण और विकास भी होता है, फिर भी वह जल से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह स्नेहगुण से युक्त है। इसी प्रकार समितियुक्त साधु जीवों के मध्य में विचरण करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके अन्तःकरण में करुणा का अखण्डस्रोत प्रवाहित है।"[११]

एक और सुन्दर उपमा के साथ आचार्य फिर इसी बात को स्पष्ट करते हैं—"घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। योद्धागण एक-दूसरे पर प्रखर बाणों की जलधारवत् वर्षा कर रहे हैं। परन्तु जिसने अपने वक्षस्थल को मजबूत कवच से ढँक रखा है, उसे क्या वे बाण घायल कर सकते हैं! कदापि नहीं। इसी प्रकार जो मुनि ईर्यासमिति के सुदृढ़ कवच से युक्त है, वह जीवों के समुदाय में निरन्तर विचरता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं हो सकता।"[१२]

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से नवीन पाप-कर्म का स्पर्श भी नहीं होता। इतना ही नहीं, अपितु पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय भी होता है। वही आचार्य कहते हैं—"जो मुनि यतना के साथ चल रहा है; जिसके चित्त में प्राणीमात्र के प्रति दया की भावना विद्यमान है, वह चलता हुआ भी नवीन कर्मों का बंध नहीं करता। इतना ही नहीं, अपितु वह पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा भी करता है।"[१३]

आचार्यशिरोमणि भद्रबाहु का भी ओघनिर्युक्ति में ऐसा ही कथन है—'गीतार्थ साधक के द्वारा यतनाशील रहते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाती है तो वह पाप-कर्म के बंध का कारण न हो कर निर्जरा का कारण होती है। क्योंकि बाहर में हिंसा होते हुए भी यतनाशील के अन्तर में भाव-विशुद्धि रहती है। फलतः वह कर्मनिर्जरा का फल अर्पण करती है।"[१४]

---

११ पउमिणि-पत्तं व जहा, उदएण ण लिप्पई सिणेहगुणजुत्तं।
तह वय-समिदीहिं ण लिप्पदि, साहू काएसु इरियंतो॥
—मूलाचार, पंचाचाराधिकार

१२ सर-वासेहिं पडंतेहिं जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साहू काएसु इरियंतो॥

१३ तम्हा चेट्ठिदुकामो, जइया तइया भवाहि तं समिदो।
समिदो हु अण्णं ण दियदि, खवेदि पोराणयं कम्मं॥
—पंचाचाराधिकार

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि॥
—समयसाराधिकार

१४ आ जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स,
सा होइ निज्जर-फला, अज्झत्थ-विसोहि-जुत्तस्स॥७५६॥

यदि किसी के मन के अन्तर्जगत् में अहिंसा का सागर लहरा रहा है, वहाँ कषायकृत दुर्भाव नहीं है, असावधानी भी नहीं है, अपितु जागरूकता है, फिर भी शरीर से हिंसा हो रही है, साधक किसी को मार नहीं रहा है, मरने वाले स्वतः ही मर रहे हैं तो इसके लिए शास्त्रकार कहते है कि वहाँ द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नहीं। यह दूसरा भंग है। जहाँ ऐसी स्थिति हो वहाँ द्रव्य-हिंसा होती है, भाव-हिंसा नहीं। द्रव्य-हिंसा को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए एक रूपक लीजिए—

किसी डाक्टर के पास एक बीमार आता है। उसके आमाशय में घातक फोड़ा है। डाक्टर पहले तो बीमारी का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करता है और निश्चय करता है कि फोड़े का आपरेशन करना अनिवार्य है। वह बीमार को सूचना दे देता है कि आपरेशन किये बिना काम नहीं चल सकता और आपरेशन है भी खतरनाक। बेचारा बीमार खतरा उठाने के लिए तैयार हो जाता है। तब डाक्टर, स्वयं अपने हाथों से, अत्यन्त सावधानी और ईमानदारी के साथ आपरेशन करता है। उसकी प्रत्येक सांस से मानो यही ध्वनि निकलती है कि बीमार किसी प्रकार अच्छा हो जाए। क्योंकि बेचारा वेदना का मारा, भरोसा करके मेरे पास आया है। गृहस्थी है और बाल-बच्चों वाला है। यदि इसकी जिन्दगी बच गई तो कितनों की ही जिन्दगी बच जाएगी। यदि यह मर गया तो सारा घर तबाह और बर्बाद हो जाएगा। इस प्रकार डाक्टर के मन में दया का प्रवाह उमड़ता है और करुणा का झरना बहता है। इस स्थिति में डाक्टर आपरेशन करता है, किन्तु करते-करते कहीं भूल हो जाती है। नस कट जाती है और खून की धारा बह उठती है। डाक्टर की करुणाभावना और भी अधिक जागृत होती है और वह खून का बहाव रोकने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है। परन्तु उसके प्रयत्न विफल हो जाते हैं और रोगी मृत्यु की शरण में पहुँच जाता है।

यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ? कहने को तो यही कहा जा सकता है कि डाक्टर के हाथ से रोगी की मृत्यु हुई है। यदि डाक्टर आपरेशन नहीं करता, तो रोगी को प्राणों से हाथ न धोने पड़ते। कोई-कोई यह भी कहते हैं—डाक्टर मूर्ख है, लापरवाह है, अनाड़ी है! रोगी के घर वाले भी उत्तेजित हो जाते है और डाक्टर को कोसते हैं। उसकी प्रैक्टिस को भी धक्का पहुँचता है और गली-गली में उसकी बदनामी होती है। दुनिया की बात जाने दीजिए, वह चाहे कुछ भी कहे। यहाँ सूक्ष्म-दृष्टि से यह देखना है कि इस सम्बन्ध में शास्त्रकार क्या कहते हैं?

शास्त्रकार कहते हैं कि डाक्टर मनुष्य की हिंसा के पाप का भागी नहीं है। उसने सद्भावना से, बीमार को शान्ति देने के शुभ संकल्प से और सावधानी के साथ कार्य किया है। बीमार तो स्वतः मरा है, डाक्टर ने उसे मारा नहीं है। इस प्रकार द्रव्य-हिंसा हुई है, भाव-हिंसा नहीं। इस स्थिति में डाक्टर को पुण्य ही हुआ, पाप

अंशमात्र भी नहीं हुआ। पुण्य-पाप का सम्बन्ध तो कर्ता के अन्तर्जगत् से है, बाह्य जगत् से नहीं।

इन दोनों दशाओं की तुलना करके देखने पर विस्मय-सा होता है। पहले भंग में भाव-हिंसा है, द्रव्य-हिंसा नहीं; और दूसरे भंग में द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नहीं। दोनों के परिणाम में और प्रयोग में कितना अन्तर है? एक, बाहर से हिंसक न होते हुए भी हिंसक है; और दूसरा, लोक-दृष्टि में हिंसक होते हुए भी अहिंसक है।

जो लोग अहिंसा को अव्यावहारिक कहते हैं, उन्हें इस सिद्धान्त पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए। जीवन-व्यापार में यदि हिंसा का दुःसंकल्प त्याग दिया जाए, निष्कषायत्व का भाव पूर्णरूप से अपना लिया जाए, तो हिंसा का परित्याग हो जाता है। जैन-धर्म मुख्यतः हिंसा की वृत्ति को छोड़ने के लिए ही कहता है। वह कहता है कि जितनी-जितनी हिंसा की वृत्ति कम होगी, अर्थात् कषाय की दुर्भावना जिस अनुपात में कम होती जायगी, उसी अनुपात में अविवेक भी कम होता जाएगा। इसके फलस्वरूप विवेक जागेगा और जीवन में पवित्रता की ज्योति उत्तरोत्तर जगमगाती दिखलाई देगी।

आचार्य भद्रबाहु ने उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए ओघनिर्युक्ति में कहा है। अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध में यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा। जो आत्मा विवेकी है, सजग है, सावधान है, अप्रमत्त है; वह अहिंसक है। इसके विपरीत जो अविवेकी है, जागृत एवं सावधान नहीं है, प्रमादयुक्त है; वह हिंसक है।'[१५]

तीसरा भंग है—भाव-हिंसा भी हो और द्रव्य-हिंसा भी हो। अर्थात्—हृदय की अन्तर्भूमि में मारने की वृत्ति आ गई, और बाहर में किसी को मार भी दिया। किसी को सताने की भावना भी उत्पन्न हुई, और उसे सताया भी गया। इस प्रकार की दोहरी हिंसा का फल भी भाव-हिंसा के समान ही जीवन को बर्बाद करने वाला है।

चौथा भंग है—न तो भाव-हिंसा हो, और न द्रव्य-हिंसा ही हो। परन्तु यह भंग हिंसा की दृष्टि से शून्य है। यहाँ हिंसा को किसी भी रूप में स्थान नहीं है। ऐसी सर्वाङ्ग परिपूर्ण अहिंसा अयोग एवं मुक्ति की अवस्था में होती है। जहाँ न तो मारने की वृत्ति है, और न मारने का कृत्य ही है, यह सर्वोच्च आदर्श की स्थिति है।

इस प्रकार, हिंसा की बारीकियों को भलीभाँति समझ जाने के बाद अहिंसा का स्पष्ट रूप अपने आप समझ में आ जाता है।

---

१५ आया चेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छओ एसो;
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥७५४॥

अहिंसा के संदर्भ में धर्मयुद्ध का आदर्श | १६

युद्ध होते हैं, किन्तु युद्ध का अर्थ यह नहीं कि सभी युद्ध एक-जैसे ही होते हैं। एक तो युद्ध वह होता है, जो धर्म के लिए लड़ा जाता है, इसे धर्मयुद्ध कहते हैं, दूसरा अधर्म के लिए लड़ा जाता है, जिसे अधर्मयुद्ध कहा जाता है। धर्मयुद्ध वास्तव में हिंसा का उतना नहीं, जितना कि अहिंसा का अंग है। बंगला देश की शरणागतरक्षा हेतु भारत जो युद्ध लड़ रहा है, वह धर्मयुद्ध ही है। इस सामयिक समस्या पर श्रद्धेय कविश्रीजी का ६-१२-७१ को दिया गया युक्ति-युक्त प्रवचन —सम्पादक]

अहिंसा और हिंसा की विवेचना बहुत पूर्वकाल से होती आ रही है। अब तक जितने भी मनीषी-विचारक हुए हैं, सभी ने इस पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है, किन्तु फिर भी बहुत बार लोग गड़बड़ा जाते हैं कि वास्तव में अहिंसा और हिंसा का सही रूप क्या है? मोटे तौर पर द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के दो रूपों में विभाजित करके हिंसा की विवेचना की जाती है। किन्तु हिंसा के वास्तव में चार रूप हैं—(१) द्रव्य-हिंसा—इसमें सिर्फ बाहर में हिंसा होती है, (२) भावहिंसा—इसमें भावनामात्र से हिंसा होती है, (३) द्रव्य-भावहिंसा—इसमें द्रव्य और भाव—दोनों प्रकार की हिंसा होती है, यह हिंसा का प्रचण्डरूप है। और (४) न द्रव्य+न भाव हिंसा—इसमें न अन्दर में हिंसा होती है, न बाहर में; और यह हिंसा का शून्य भंग अर्थात् प्रकार है! अतः यह चतुर्थरूप वस्तुतः अहिंसा ही है।

जैनदर्शन में अहिंसा का बोलबाला है। इसमें अहिंसा सर्वोच्च शिखर के रूप में दीप्तिमान है। जैनसाधना में इसका बड़ा विशद महत्व है। जैनधर्म-साधना का कण-कण अहिंसा से अनुप्राणित है। शास्त्रों के शास्त्र इस पर लिखे गये हैं। "पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय" एक ऐसा ही ग्रन्थ है, जिसमें हिंसा और अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि की रचनाओं में भी हिंसा और अहिंसा की गम्भीर विवेचना उपलब्ध है।

किन्तु विचारणीय बात यह है कि जब तक जीवन है, तब तक इसमें हिंसा तो रहती ही है। हिंसा का क्रम निरंतर चलता ही रहता है। चलने-फिरने में हिंसा है, खाने-पीने में हिंसा है। धरती पर असंख्य क्षुद्रातिक्षुद्र जीवाणु फिरते हैं, जिन्हें माइक्रो-स्कोप से स्पष्ट देखा जा सकता है, कदम रखते ही उनका संहार हो जाता है। हवा में भी

असंख्य सूक्ष्मकीटाणु हैं, जो शास्त्रोक्त आयुष्कार्मिक जीवों के अतिरिक्त हैं, शरीर से लगते हर झोंके के साथ उनका सर्वनाश होता रहता है। हर सांस में प्राणी मर रहे हैं। व्यक्ति के अपने शरीर में भी मांस, मज्जा, रक्त, मलमूत्र आदि में भी प्रतिक्षण असंख्य प्राणी जन्मते-मरते रहते हैं। प्रश्न है, इस स्थिति में हिंसा से कैसे बचा जा सकता है? अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है? जैनपरम्परा इसका उत्तर द्रव्य और भाव के द्वारा देती है। यदि साधक जाग्रत है, उसके मन में अहिंसा का विवेक-बोध है, हिंसा की वृत्ति या संकल्प नहीं है, तो वह बाहर में हिंसा होने पर भी अन्दर में अहिंसक ही है। यह भावशून्य द्रव्यहिंसा केवल बाह्य व्यवहार में कथनमात्र की हिंसा है, पापकर्म का बन्ध करने वाली हिंसा नहीं है। इस प्रकार हिंसा की भावना से मुक्त मनःस्थिति में द्रव्यहिंसा होने पर भी अहिंसाधर्म का परिपालन अक्षुण्ण है।

अहिंसाधर्म के परिपालन का एक दूसरा रूप और है। वह प्रवृत्ति में हिंसा और अहिंसा की मात्रा के आधार पर है। कल्पना कीजिए, कोई एक प्रवृत्ति है, जिसमें हिंसा की मात्रा कम है, किन्तु अहिंसा का भाग अधिक है, तो वह भी अहिंसा की साधना के क्षेत्र में आ जाती है। हिंसा और अहिंसा का केवल वर्तमान पक्ष ही नहीं, भविष्य पक्ष भी देखना आवश्यक है। यदि वर्तमान में हिंसा होती है, किन्तु उसके द्वारा भविष्य में अहिंसा की विपुल मात्रा परिलक्षित होती है, तो वह वर्तमान की हिंसा भी अहिंसा की साधक हो जाती है। इसके विपरीत यदि वर्तमान में अहिंसा अल्पमात्रा में है, किन्तु भविष्य में उससे प्रचुरमात्रा में हिंसा फूट पड़ने की स्थिति है, तो वह वर्तमान की क्षुद्र अहिंसा अहिंसा के साधनाक्षेत्र में नहीं आती है।

अहिंसा का सही रूप

गहराई से विचार करने पर हम देखते हैं कि हिंसा के दो रूप चल रहे होते हैं। एक लम्बी खूंखार हिंसा होती है और दूसरी, उस निर्दय एवं क्रूर हिंसा को रोकने के लिए एक छोटी हिंसा होती है। यहां यहीं विचारणीय है कि क्या हम दोनों को एक समान हिंसा कह सकते हैं? नहीं! स्पष्ट है कि एक लम्बी हिंसा अर्थात् एक बहुत बड़ी हिंसा को रोकने के लिए जो एक छोटी हिंसा होती है—भले ही इसमें प्रत्यक्षतः प्रचण्डहिंसा क्यों न होती हो—वह हिंसा की एकान्त श्रेणी में नहीं आ सकती। कल्पना कीजिए, शरीर में एक जहरीला फोड़ा हो गया है। उस फोड़े को साफ करना है। यदि उसे साफ नहीं किया जाता है तो सारा शरीर ही बर्बाद हो जाता है। एक अँगुली के जहर को निकाल कर पूरे शरीर को बचाना होता है। इसके लिए जरूरी होने पर उस विषदिग्ध अँगुली को काट कर शरीर से अलग भी कर दिया जाता है और पूरे शरीर को समाप्त होने से बचा लिया जाता है। अभिप्राय यह है कि एक छोटे अंग का विष, जो पूरे शरीर में फैल कर जीवन को ही नष्ट करने वाला हो, तो उस समय एक हाथ, एक पैर या एक अँगुली को काटे जानेका मोह नहीं किया जाता। यह नहीं सोचा जाता कि उसे काटा जाए या नहीं काटा जाए। स्पष्ट है, सारे शरीर को बचाने

के लिए एक अंग को काट दिया जाता है और सारे शरीर को बचा लिया जाता है। इस उदाहरण के सन्दर्भ में जैनदर्शन के अनुसार हमारी यह परम्परा है कि जहाँ बड़ी हिंसा होने वाली है, या हो रही हो, तो वहाँ छोटी हिंसा का जो प्रयोग है, वह एक प्रकार से अहिंसा का ही रूप है। अहिंसा इसलिए है कि वह एक बड़ी हिंसा को रोकने के लिए है। वह हिंसा तो है, लेकिन इस हिंसा के पीछे दया छिपी हुई है, उसके मूल में करुणा छिपी हुई है, और उसके पीछे एक महान् उदात्त भावना है कि यह जो बड़ी हिंसा हो रही है, उसे किसी तरह समाप्त किया जाए। इसी कारण इसको जैन-दर्शन के अन्दर आदर दिया गया है।

युद्ध, अहिंसा और नैतिक आदर्श

विचार कीजिए कि रावण सीता को चुरा कर ले जाता है। और विरोध में सीता के लिए रामचन्द्रजी लंका पर आक्रमण करते हैं। इस प्रकार एक भयंकर युद्ध हो जाता है। प्रश्न केवल एक सीता का है। और उसमें भी सीता को कोई कत्ल तो नहीं कर रहा था; सीता की कोई हिंसा तो नहीं हो रही थी। लेकिन विचारणीय तो यह है कि किसी को मार देना ही तो हिंसा नहीं कही जाती; बल्कि किसी के नैतिक जीवन को बर्बाद कर देना भी हिंसा है। क्योंकि अनैतिकता अपने आप में स्वयं हिंसा हो जाती है। विचार कीजिए, रावण ने एक सीता का अपहरण कर जो सामाजिक अन्याय किया है, यदि उस अन्याय को नहीं रोका जाता है, तो अन्याय जनमानस पर हावी हो जाता है, न्याय की प्रतिष्ठा ध्वस्त हो जाती है, और उसकी देखादेखी भविष्य में और भी अन्याय फैल सकता है। इस दृष्टि से किया गया अन्याय का प्रतिकार धर्म के क्षेत्र में आता है।

राजनीति के अन्दर दंड की जो परम्परा है, वह भी इसलिए है कि जो अन्याय और अत्याचार का दायरा बढ़ा होता है, फैलता जाता है, उस पर नियन्त्रण किया जाए, क्योंकि यदि उसे नियंत्रित नहीं किया जायगा तो वह निरन्तर फैलता ही चला जायगा। अतः उसको रोकने के लिए अमुक प्रकार के कदम उठाये जाते हैं, जिससे कि एक छोटे कदम के द्वारा, वह जो बड़े कदम के रूप में अन्याय, अत्याचार होने वाला है, उसको रोका जाए। प्रस्तुत प्रसंग में यदि केवल बाहर में ही स्थूलदृष्टि से देखा जाए तो यही कहेंगे कि राम ने एक सीता के लिए लाखों लोगों को मौत के घाट उतार दिया। यह तो बहुत बड़ी हिंसा हो गई! एक के लिए अनेकों का संहार! लेकिन नहीं, यह तो एक छोटी हिंसा है। और वह जो उचित प्रतिकार न करने पर अन्याय-अत्याचार अनर्गल रूप पकड़ता जाता, वह बड़ी हिंसा होती। तो, उस बड़ी हिंसा को रोकने के लिए ही युद्ध के रूप में यह छोटी हिंसा लाजमी हो गई थी। इसलिए राम की ओर से जो युद्ध लड़ा गया था, वह धर्मयुद्ध था। इसके विपरीत रावण की तरफ से जो युद्ध लड़ा गया, वह अधर्मयुद्ध था। युद्ध एक ही है; और इसमें दोनों ओर हिंसा हुई है, दोनों ओर से मारे गए हैं लाखों आदमी,

लेकिन एक धर्मयुद्ध माना जाता है और एक अधर्मयुद्ध माना जाता है। ऐसा क्यों माना जाता है ? ऐसा इसलिए माना जाता है कि राम के मन में एक उदात्त नैतिक आदर्श है। उनका युद्ध किसी अनैतिक धरातल पर नहीं है, किसी भोग-वासना की पूर्ति के लिए या राज्यलिप्सा के लिए नहीं है, बल्कि वह सतीत्व की रक्षा के लिए और अन्याय-अत्याचार की परम्परा को, जोकि जन-जीवन में बढ़ती जा रही है, रोकने के लिए है। इसी दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि यह जो वर्तमान में पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का युद्ध चल रहा है, उसका भी यथोचित विश्लेषण किया जाना चाहिए। विश्लेषण के अभाव में हमारे यहां कभी-कभी काफी भयंकर भूलें हुई हैं। और उनके दुष्परिणाम भारत को हजारों वर्षों तक भोगने पड़े हैं।

अहिंसा-सम्बन्धी गलत धारणाएँ

हमारे समक्ष हिन्दूसम्राट् पृथ्वीराज का ज्वलंत उदाहरण है। कहा जाता है कि जब मोहम्मद गौरी भारत पर आक्रमण करने आया, उस समय भारत की शक्ति इतनी सुदृढ़ थी कि वह हार कर चला गया। वह फिर आया और फिर पराजित हो कर लौट गया, फिर आया और फिर पराजित हुआ। इस प्रकार वह कई बार आया और पराजित हुआ। उस समय भारत की रणशक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। बड़े-बड़े रणबाँकुरे वीर थे यहाँ। अतः बारबार उसे यहाँ आ कर पराजित हो जाना पड़ा। किन्तु एक बार उसे पता लग गया कि ये जो हिन्दू हैं, गाय पर आक्रमण नहीं करते। अतः उस धूर्त ने क्या काम किया कि अपने नये आक्रमण में सेना के आगे गायों को रखा। आगे-आगे गायें चल रही थीं और पीछे-पीछे उसकी सेनाएँ युद्ध के लिए बढ़ रही थीं। अब यहाँ के वीर राजपूत धर्माधर्म की विचित्र उलझन में पड़ गये। हालांकि उनमें अद्भुत शक्ति थी लड़ने की; कई बार गौरी को हराया भी था। लेकिन इस बार वे गड़बड़ा गये कि भाई, युद्ध तो कर रहे हैं, लेकिन यदि किसी गाय को बाण लग गया और गाय मर गई तो गोहत्या का पाप लग जायेगा और यह बहुत बड़ा भयंकर पाप होगा। बस, इधर वीर राजपूत गायों को बचाने के विचार में उलझ गए और उधर शत्रु को तो कोई मतलब था नहीं इन बातों से। लड़ाई होती रही। गायों को बचाने के लिये राजपूत पीछे हटते रहे, निर्णायक प्रत्याक्रमण नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि आखिर राजपूत सेना, जो विजय प्राप्त कर सकती थी, जिसमें भरपूर ताकत थी लड़ने की और विजय प्राप्त करने की, वह पराजित हो गई और देश गुलाम हो गया।

यहाँ यदि आप विश्लेषण करेंगे ठीक तरह से, तो विचार करना पड़ेगा कि यह जो गो-हत्या के सम्बन्ध में चिन्तन था, वह कितनी गलत दिशा में था। वीर राजपूतों ने यह तो देखा कि वर्तमान में हमारे क्षणों से सम्भव है, कुछ गायें मर जाएँ, किन्तु उन्होंने भविष्य को नहीं देखा कि क्या होने वाला है ? आने वाले आक्रमणकारियों के लिए तो गाय-भैंस जैसा कुछ भी विचारणीय न था। यह सब तो उनके भक्ष्य ही थे। उन थोड़ी-सी गायों को मारने या बचाने के पाप-पुण्य का अथवा हिंसा-

अहिंसा का कोई मूल्य नहीं था, उनकी दृष्टि में। अतः वे पूरी शक्ति से लड़े और जीते। इस युद्ध के सम्बन्ध में आप विचार करके देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि उन थोड़ी-बहुत गायों को बचाने का क्या अर्थ रहा? कुछ गायों की रक्षा के काम में वे पराजित हो गए, देश गुलाम हो गया। इतिहास पर नजर डालिए, इसके बाद कितनी गो-हत्याएँ हुईं, कितनी मानव-हिंसाएँ हुईं और कितने अनाचार-दुराचार और कितने पापाचार हुए हैं? देश मिट्टी में मिलता चला गया और भारत की भव्य संस्कृति, सभ्यता, कल्चर (Culture) सब कुछ समाप्त होती चली गई। धर्म-परम्पराओं को कितनी क्षति पहुँची? धर्म-परम्पराओं को इस तरह से बर्बाद किया गया कि उनका निर्मल रूप ही विकृत हो गया। केवल गायों का ही सवाल नहीं रहा। हजारों माताओं और बहनों की बेइज्जतियाँ भी हुईं। यह हिन्दू-मुसलमान का सवाल नहीं है। इस प्रकार के सवालों में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है और न अपने आप में ये कोई अच्छे सवाल ही हैं। सवाल तो सिर्फ इतना है कि समय पर अन्याय का उचित प्रतिकार न करने से भविष्य में क्या होता है? हिन्दू हो या मुसलमान, कोई भी हो, अन्याय का प्रतिकार होना चाहिए, केवल वर्तमान की हिंसा या अहिंसा को न देख कर, उसके भविष्यकालीन दूरगामी परिणामों को देखना चाहिए। वर्तमान की सीमित दृष्टि कभी-कभी सर्वनाश कर डालती है।

राजा चेटक का धर्मयुद्ध

इस बड़ी और छोटी हिंसा के विश्लेषण को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं एक उदाहरण आपके समक्ष रख रहा हूँ—वह है कूणिक और चेड़ा राजा (राजा चेटक) के युद्ध का। भगवान् महावीर के समय का यह बहुत बड़ा भयानक युद्ध था, जिसका उल्लेख तत्कालीन धर्म-परम्पराओं के साहित्य में है। सुप्रसिद्ध वैशाली-गणतन्त्र के मान्य अध्यक्ष राजा चेटक एक महान् बारह व्रतधारी श्रावक थे। दूसरी ओर मगध सम्राट् कूणिक था, जिसने कि वैशाली पर आक्रमण किया था। उक्त युद्ध के मूल में एक शरणागत का प्रश्न था। प्रसंग यह है कि कूणिक अपने छोटे भाई के हक को छीन रहा था, उसकी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को हड़प रहा था। राजकुमार हल्ल-विहल्ल पर भय छा गया। वह अपने बचाव के लिए चेटक राजा के पास पहुँच गया, शरणागत के रूप में। कूणिक को जब यह मालूम हुआ कि वह वैशाली में चेटक-राजा के पास पहुँच गया है, तो उसने चेटक-राजा को यह कहलवाया कि—"तुम उसको यों का यों वापस लौटाओ, अन्यथा, इसके लिए तुम्हें युद्ध का परिणाम भोगना पड़ेगा।" राजा-चेटक ने शरणागत की रक्षा में युद्ध का वरण किया। भयंकर युद्ध हुआ, लाखों ही वीर काल के गाल में पहुँच गए। स्वयं चेटक-नरेश भी वीरगति को प्राप्त हुए। वहाँ प्रश्न था—एक शरणागत की रक्षा का। अगर राजा चेटक उस एक शरणागत को लौटा देता, भले ही उसके साथ कुछ भी करता क्रुद्ध कूणिक, तो लाखों ही लोगों के प्राणों की रक्षा हो जाती। यदि राजा चेटक हिंसा-अहिंसा का वैसा विश्लेषण करता, जैसा कि आजकल कुछ लोग

अपने मस्तिष्क में इस प्रकार की विचारधारा रखते हैं, तो उसके मुताबिक वह अवश्य ही राजकुमार को वापस लौटा देता। कह देता कि—"भाई, तू यहाँ चला तो आया है। लेकिन मैं तेरी रक्षा कैसे कर सकता हूँ? तेरी एक की रक्षा में, लाखों आदमी युद्ध में मारे जायेंगे। एक के बचाने में लाखों आदमी मारे जाने पर तो बहुत बड़ी हिंसा हो जायेगी।" परन्तु राजा चेटक ने ऐसा कुछ नहीं सोचा, ऐसा कुछ नहीं कहा। उसने शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध किया, जो महाभारत जैसा ही एक भयंकर युद्ध था।

अब सवाल यह है कि राजा चेटक जैसा व्रती श्रावक है, उसका हिंसा-अहिंसा से सम्बन्धित चिन्तन काफी सूक्ष्म रहा है, प्रभु महावीर की वाणी सुनने का कितनी ही बार उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह कोई साधारण नरेश नहीं है, तत्कालीन वैशाली के विशाल गणतन्त्र का चुना गया अध्यक्ष है। इसका अर्थ है कि वे अपने युग के एक महान् चिन्तनशील व्यक्ति थे। उन्होंने हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को व्यक्तियों की संख्या पर हल नहीं किया। उन्होंने अपने धर्म-चिन्तन के प्रकाश में स्पष्ट देखा कि यह शरणागत है, साथ ही निरपराध है, उसका कोई अपराध नहीं है, और उस निरपराध के हक को छीन रहा है मदान्ध कूणिक। अतः यह एक शरणागत का प्रश्न ही नहीं है, अपितु निरपराध के उत्पीड़न का भी प्रश्न है। और इस तरह से शरण में आये को, पीड़ित जन को यदि कोई वापिस लौटा दे, ठुकरा दे तो उसे कहाँ आश्रय मिलेगा? कल्पना कीजिए, एक इन्सान चारों तरफ से घिर जाता है, सब ओर से मौत आ घेरती है, भयंकर निराशा के क्षण होते हैं। उक्त निराशा के क्षणों में वह एक बड़ी शक्ति के पास पहुँचता है कि उसे शरण मिलेगी। लेकिन वहाँ उसे ठुकरा दिया जाता है, फिर दूसरी जगह जाता है, वहाँ से भी ठुकरा दिया जाता है। अब कल्पना कीजिए, उसको कितनी पीड़ा हो सकती है! उस समय उसका मन कितना हताश हो जाता है। आँखों से आँसू बह रहे हैं, पर कोई पूछने वाला नहीं कि क्या बात है, क्यों रोता है? स्पष्ट है, ऐसी स्थिति में दुनियाँ में न्याय का कोई प्रश्न ही नहीं रहा, किसी पीड़ित की रक्षार्थ करुणा और दया का कोई सवाल ही नहीं रहा। तो, इस तरह पीड़ित एवं अत्याचार से त्रस्त लोगों को समर्थ व्यक्ति भी धक्के देते रहें तो आपके इस अहिंसा और दयाधर्म का, इस धर्म और कर्मकाण्ड का क्या महत्त्व रह जाता है?

अभिप्राय यह है कि जीवन का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह एक का या हजार का सवाल नहीं है। यह एक व्यक्ति की हिंसा या दासता का सवाल भी नहीं है, बल्कि यह आदर्शों का सवाल है। यदि एक ओर एक उच्च आदर्श की हत्या होती है, दूसरी ओर आप हजार-लाख प्राणी बचा भी लेते हैं, तो उनका कोई मूल्य नहीं रहता है। क्योंकि आदर्श की हत्या सबसे बड़ी हत्या है। यदि आदर्श की हत्या हो जाती है, तो हजारों-लाखों वर्षों तक वह एक उदाहरण बनता चला जाता है, अन्याय और अत्याचार का। और इस प्रकार के उदाहरण यदि संसार में बढ़ जाएँ, तो फिर तो संसार की कोई स्थिति ही नहीं रहेगी।

वैशाली के उपर्युक्त युद्ध की एक बात विचारणीय यह है कि चेटक और कूणिक दोनों युद्ध करते हैं। दोनों ओर से हिंसा होती है, भयङ्कर नरसंहार होता है, लेकिन राजा चेटक भयंकर युद्ध में वीरगति प्राप्त करता है और मर कर स्वर्ग में जाता है। और राजा कूणिक विजेता होने के बावजूद भी जब मरता है, तो कहाँ जाता है? नरक में। क्या है कि एक ही चीज के दो विभिन्न परिणाम होते हैं? एक ही युद्ध लड़ा गया, लेकिन दो परस्पर विरोधी नतीजे कैसे आए? दोनों ने भरपूर हिस्सा लिया युद्ध में—दोनों बराबर के साझीदार हैं युद्ध के। और जब दोनों साझीदार हैं युद्ध के, तो फिर परिणाम भिन्न-भिन्न कैसे आ गए? नतीजे अलग-अलग कैसे आए? तो स्पष्ट है कि ये जो भिन्न-भिन्न नतीजे आये हैं, ये आये हैं हिंसा और अहिंसा के विश्लेषण के आधार पर। अभिप्राय यह है कि शरणागत की रक्षा करना धर्म है, क्योंकि वह भय से त्रस्त होता है, अन्याय से आक्रान्त होता है, मौत उसके सिर पर बुरी तरह मँडरा रही होती है। वह किसी के पास रक्षा पाने के लिए आता है। अब बात यह है कि उसकी रक्षा करना क्या है? एक आदर्श की रक्षा करना है, एक नैतिक पक्ष का समर्थन करना है। जो पीड़ित है, भय से त्रस्त है, दुःखित है, निरपराध है, बेचारे ने कोई दोष किया नहीं है, उसको आश्रय देना आवश्यक है। हमारी भारतीय परम्परा का यह आदर्श है बहुत बड़ा। और भारतीय परम्परा ही क्यों, सारी मानवता का आदर्श है यह। आप जिसे मानवता कहते हैं, जिसे इन्सानियत कहते हैं, यह उसका आदर्श है। तो, राजा चेटक ने इस आदर्श की रक्षा की, इसलिए वह स्वर्ग में गया। और कूणिक जो लड़ा, वह किसके लिए? अपने स्वार्थ के लिए अपने अहंकार के लिए और अन्याय-अत्याचार के द्वारा अपने भाई का हक छीन कर उसे बर्बाद करने के लिए, एक सर्वथा निकृष्ट आधार पर लड़ा है। अतः वह जैनशास्त्रानुसार नरक में जाता है। प्रश्न है—दोनों में से धर्मयुद्ध किसने लड़ा? राजा चेटक ने धर्मयुद्ध लड़ा। इसलिए वह स्वर्ग में गया है। और कूणिक ने भी युद्ध तो लड़ा, लेकिन वह अधर्मयुद्ध लड़ने के कारण नरक में गया है। यह बात यदि आपके ध्यान में स्पष्ट हो जाती है, तो विचार कीजिए कि हिंसा और अहिंसा के प्रश्न केवल बाहर में नहीं सुलझाए जाते हैं, वे सुलझाये जाते हैं अन्दर में, अन्दर के चिन्तन में। प्रवृत्ति का मूल वृत्ति में है, अतः वृत्ति में ही हिंसा-अहिंसा का विश्लेषण होना चाहिए।

शरणागतरक्षा : आज के सन्दर्भ में

जैसा कि आपने ऊपर राजा चेटक की शरणागतवत्सलता की बात देखी है, आज भी वह बात ज्यों की त्यों है आपके समक्ष। और तब तो केवल एक शरणागत का सवाल था, लेकिन अब तो एक करोड़ के लगभग प्रताड़ित, अतएव विस्थापित बंगाली शरणार्थियों का सवाल है। विचार कीजिए, इन शरणार्थियों में माताएँ भी हैं, बहनें भी हैं, बुड्ढे भी हैं, बच्चे भी हैं, बच्चियाँ भी हैं, नौजवान भी हैं। क्रूर पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा भयंकर मौत उन सबके सिर पर मँडरा रही है, और सिर्फ मौत ही नहीं

उनके नैतिक आदर्शों की भी हत्या हो रही है। मानवता को लज्जा देने वाले दुराचार हो रहे हैं, विभिन्न प्रकार के पापाचार हो रहे हैं। उन्हें एक पशु के समान भी नहीं समझा जा रहा है। यदि कोई पशु को मारता है, तो थोड़ी-बहुत दया तब भी रखी ही जाती है। पशुहत्या के सम्बन्ध में भी कुछ नियम हैं कि उनका क्रूरतापूर्ण वध नहीं होना चाहिए। लेकिन इन विस्थापितों के प्रति तो इतनी निर्दयता की गई कि घर-बार सब कुछ छोड़ कर वे यहाँ आए। क्यों आए? स्पष्ट है, भयत्रस्त व्यक्ति जाएगा कहाँ? वहीं तो जाएगा, जहाँ उसे शरण पाने का भरोसा होगा। कुछ लोग कहते हैं कि भारत सरकार ने, प्रधानमन्त्री इन्दिराजी ने गलती की, जो इन सबको अपने यहाँ रख लिया। न रखते, न झगड़ा होता और न युद्ध की नौबत आती। बेकार का सिरदर्द मोल ले लिया। मैं पूछता हूँ, बंगलादेश के विस्थापित यहाँ भारत में कैसे आए? पीछे से उन पर गोली चलाई जा रही थी। अतः प्राण-रक्षा के लिए भारत के द्वार पर आए। और किसी तरह से तो वे रुक नहीं सकते थे। यदि इधर से भी बन्दूक तान दी जाती कि खबरदार इधर आए तो! पीछे लौटो, नहीं तो गोली मार दी जाएगी! विचार कीजिए, ऐसी स्थिति में, जबकि पीछे से गोली चल रही हो और आगे से भी गोली चलने लगे, तो बेचारा शरणागत कहाँ जाए? क्या करे? ऐसी स्थिति में आपका धर्म क्या कहता है? आपकी मानवता क्या कहती है?

भारतवर्ष की संस्कृति और सभ्यता को आदिकाल से ही अपने इस शरणागत रक्षा के धर्म पर गौरव है। इसी पर हिन्दूधर्म को गौरव है, जैनधर्म को गौरव है और जितने भी अन्य धर्म हैं—सबको गौरव है। और, जिसके सम्बन्ध में हम सब लाखों वर्षों से बड़े-बड़े गर्वीले नारे लगाते आ रहे हैं तो, क्या अब वर्तमान स्थिति में भारत अपने उस शरणागतरक्षा के पवित्रधर्म को तिलांजलि दे दे? नहीं, यह नहीं हो सकता हिंसा और अहिंसा की गलत धारणाओं के चक्कर में उलझ कर जो धर्म बंगलादेश की प्रस्तुत समस्या से अपने को तटस्थ रखने की बात करते हैं, मैं पूछता हूँ, वे धर्म हैं, तो किसलिए हैं? उनका मानवीय मूल्य क्या है? क्या उनका मूल्य केवल यही है कि कीड़े-मकोड़ों को बचाओ, छापे-तिलक लगाओ, मन्दिर में घण्टा बजाओ, भजन-पूजन करो। यह सब तो साधना के बाह्यरूप भर हैं। यदि मूल में मानवता नहीं है तो यह सब मात्र एक पाखण्ड बन कर रह जाता है। सच्चा धर्म मानवता को विस्मृत नहीं कर सकता। कौन धर्म ऐसा कहता है कि द्वार पर आने वाले उत्पीड़ित शरणार्थियों का दायित्व न लिया जाए? उन्हें आश्रय न दिया जाए? कहा है कि एक व्यक्ति जो कि किसी को पीड़ित कर रहा है, वह तो पाप कर रहा है। लेकिन पीड़ित व्यक्ति अपनी प्राणरक्षा के लिए बहुत बड़े भरोसे के साथ से किसी के पास शरण लेने के लिए आए और यदि वह उस शरणागत की रक्षा के लिए प्रयत्नशील नहीं होता है, तो वह उस उत्पीड़क से भी बड़ा पापी है, जिसने कि अत्याचार करके उसको मार भगाया है। एक त्रस्त व्यक्ति विश्वास ले कर आपके पास आया है कि यहाँ उसकी सुरक्षा होगी और उसी विश्वास का आपकी ओर से यदि घात हो जाए, तो कल्पना कीजिए, उसकी

कितनी भयावह स्थिति होती है ! समर्थ होते हुए भी आपने उसके लिए कुछ किया नहीं, उलटा उसे धक्का दे दिया, तो यह एक प्रकार का विश्वासघात ही तो हुआ ! और विश्वासघात बहुत बड़ा पाप है। किसी को अभय देना, एक महान् धर्म है और अभय देने से किसी भयाक्रान्त को इन्कार कर देना, बहुत बड़ा अधर्म है। बंगलादेश के एक करोड़ के लगभग पीड़ित विस्थापितों को अभय दे कर भारत ने वह महान् सत्कर्म किया है, जो विश्व-इतिहास में अजर-अमर रहेगा।

यह बहुत बड़ी दैवी कृपा हुई कि बंगलादेश के पीड़ितों ने आपके ऊपर भरोसा किया। और, यह जानी हुई बात है कि भरोसा किसी साधारण व्यक्ति पर नहीं किया जाता। पास में अन्य देश भी थे, लेकिन उन्हीं पर कोई नहीं गया, सभी भारत में ही आए। क्यों आए ? इसका तात्पर्य यह है कि इसका गौरव उन्होंने एकमात्र आपको दिया। उनको भरोसा था कि यहाँ भारत में उनकी ठीक-ठीक रक्षा होगी। और इतना बड़ा विश्वास ले कर कोई जनता आए और फिर उसे आप ठुकरा दें, धक्का दे दें, तो यह कितना बड़ा पाप है ? आप भाग्यशाली थे कि आपसे यह पाप न हुआ। भारत की सांस्कृतिक परम्परा का उज्ज्वल गौरव आपके हाथों सुरक्षित रहा। आप वैयक्तिक तुच्छ स्वार्थों के अन्धकार में नहीं भटके। बहुत बड़ा दायित्व अपने ऊपर लिया और उसे प्रसन्नता से निभाया।

अभिप्राय यह है कि ऐसा समय इतिहास में कभी-कभी ही आता है। जैसा कि मैंने बताया, चेटक ने तो एक शरणागत की रक्षा के लिए इतना बड़ा भयंकर युद्ध किया, हिंसा हुई, फिर भी भगवान् महावीर कहते हैं कि वह स्वर्ग में गया और आपने तो लाखों-करोड़ों इन्सानों की रक्षा की है, और इसी कारण आपको यह युद्ध भी करना पड़ा है, अन्यथा आपके सामने तो युद्ध का कोई सवाल ही नहीं था। भारत की प्रधान-मन्त्री श्रीमती इन्दिरागान्धी, समूची राष्ट्रशक्ति को साथ लिए आज जो जूझ रही हैं, उसके मूल में उन्हीं पावन भारतीय आदर्शों की रक्षा का प्रश्न है। कहना तो यों चाहिये कि ढाई हजार वर्ष बाद इतिहास ने अपने आपको दुहराया है। यानी भगवान् महावीर के युग की वह घटना आज फिर से दुहराई जा रही है और यदि महावीर आज धरती पर होते तो क्या निर्णय देते इस सम्बन्ध में ? प्रभु महावीर आज धरती पर निर्णय देने को नहीं हैं, तो क्या बात है ? उनका जो निर्णय है, वह हमारे सामने है। आज जो फैसला लेना है, उनके द्वारा वह फैसला पहले ही दिया जा चुका है। इसका अर्थ यह है कि वर्तमान के नये केसों के फैसले में अतीत के पुराने जजों के फैसले निर्णायक होते हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान् महावीर ने जो फैसला दिया था कि राजा चेटक स्वर्ग में गया और कूणिक नरक में—बिलकुल स्पष्ट है कि यदि आज के इस संघर्ष को ले कर इंदिराजी के सम्बन्ध में पूछें तो प्रभु महावीर का वही उत्तर है, जो वे ढाई हजार वर्ष पहले दे चुके हैं। तात्पर्य यह है कि यह युद्ध शरणागतों की रक्षा का युद्ध है, अतः भारतीय चिन्तन की भाषा में धर्मयुद्ध है और

धर्मयुद्ध अन्ततः योद्धा के लिये स्वर्ग के द्वार खोलता है—'**स्वर्गद्वारमपावृतम्**'। यह वह केन्द्र है, जहाँ भारत के प्रायः सभी तत्त्वदर्शन और धर्म एकमत हैं।

मैं यह जो विश्लेषण कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ? इसका कारण यह है कि अहिंसा-हिंसा के विश्लेषण का दायित्व जैनसमाज के ऊपर ज्यादा है, चूंकि जैनपरम्परा का मूलाधार ही अहिंसा है। भगवान् महावीर ने अपने तत्त्वदर्शन में हिंसा और अहिंसा का विश्लेषण किस आधार पर किया है? भगवान् के अहिंसा-दर्शन की आधारशिला कर्त्ता की भावना है। बात यह है कि ये जो युद्ध होते हैं, हिंसाएँ होती हैं, आदमी मरते हैं, इन सबकी गिनती करने का कोई सवाल नहीं है। सवाल तो सिर्फ यह है कि आप जो युद्ध कर रहे हैं, वह किस उद्देश्य से कर रहे हैं? आपके संकल्प क्या हैं? आपके भाव क्या हैं? आपका आन्तरिक परिणाम क्या है? राम युद्ध करते हैं रावण से, राम का क्या संकल्प है? नारीजाति पर होने वाले अत्याचारों का प्रतिकार करना ही तो! राम के समक्ष एक सीता का ही सवाल नहीं है; अपितु हजारों पीड़ित सीताओं के उद्धार का सवाल है। राम एक आदर्श के लिये लड़ते हैं। और रावण जो युद्ध कर रहा है, उसका क्या संकल्प है? उसका संकल्प है वासना का, दुराचार का। श्रीकृष्ण के नेतृत्व में पांडव युद्ध कर रहे हैं; किसलिए? केवल अपने न्याय प्राप्त अधिकार के लिये। दूसरी ओर दुर्योधन भी युद्ध कर रहा है; किन्तु वह किस संकल्प से कर रहा है? पाण्डवों के न्याय-प्राप्त अधिकारों को हड़पने के लिए। इन सारी चीजों पर विचार करके यदि आप देखेंगे तो इन सबका निर्णय अन्तर्जगत् के अन्दर जा कर हो जाता है। अन्तर्जगत् के अन्दर क्या परिणाम है, यह है विचारणीय प्रश्न! जैसा कि मैंने पहले बताया है कि कभी द्रव्यहिंसा होती है, भावहिंसा नहीं होती। कभी भावहिंसा होती है, द्रव्यहिंसा नहीं होती। कभी दोनों ही होती हैं। उक्त चर्चा में भावहिंसा ही वस्तुतः हिंसा का मूलाधार है और भावहिंसा में भी हमें यह देखना पड़ेगा कि बड़ी हिंसा को रोकने के लिए, जो छोटी हिंसा की जा रही है, वह आवश्यक है या अनावश्यक? स्पष्ट है कि जीवन में कुछ प्रसंग ऐसे आते हैं कि वह बिलकुल आवश्यक हो जाती है। बहुत बड़े अत्याचार, अनाचार, दुराचार, अन्याय एवं अधर्म को रोकने के लिए विचारकों को छोटी हिंसा का आश्रय लेना ही होता है। समाज और राष्ट्र के प्रश्न का समाधान यों ही बेतुकी बातों से कभी नहीं होता है।

हिंसा केवल शरीर की ही हिंसा तक नहीं है। मन की हिंसा भी बहुत बड़ी हिंसा होती है। विचार कीजिए कि जब देश गुलाम हो जाए और जनता पराधीनता के नीचे दब जाए, तो ऐसी स्थिति में उसके शरीर की हिंसा ही नहीं, सबसे बड़ी मन की हिंसा भी होती है। पराधीन जनता का मानसिक स्तर, बौद्धिक स्तर, जीवन के उदात्त आदर्श, गुलामी के अन्दर इस तरह से पिस-पिसकर खत्म हो जाते हैं। नष्ट हो जाते हैं कि वह केवल एक मृत ढाँचाभर रह जाता है। पराधीन राष्ट्र के धर्मों,

परम्पराओं एवं संस्कृतियों के अन्दर से प्राण निकल जाते हैं, और वे केवल सड़ती हुई लाश भर रह जाते हैं। भारत यह सब देख चुका है।

गांधीयुग फिर दुहराया जा रहा है

सभी जानते हैं कि जब विदेशी आक्रमणकारियों के द्वारा भारत पर आक्रमण हुआ, तब देश कितना पददलित हुआ था ? कितने निम्नस्तर पर चला गया था और किस प्रकार हमारी नैतिक चेतना शमित हो गई थी ? यह जो फिर से दोबारा जान आई है देश के अन्दर, आप सबको मालूम है, यह गांधीजी द्वारा आई है। अन्याय-अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए आवाज उठी, जनता में नई प्रेरणाएँ जगीं, अहिंसा एवं सत्य के माध्यम से स्वतन्त्रता का युद्ध लड़ा गया और विश्व की एक बहुत बड़ी शक्ति—ब्रिटिश साम्राज्य को पराजित कर राष्ट्र स्वतन्त्र हुआ और सौभाग्य की बात है कि स्वतन्त्रता का युद्ध लड़ने वाला सेनापति अपने युग का एक महान् अहिंसावादी था। वह अहिंसावादी था और अहिंसा के मूल अर्थ को समझता था। वह अहिंसा के प्रचलित सीमित अर्थ तक ही नहीं रुका हुआ था, बल्कि वह अहिंसा को भूत, भविष्य वर्तमान के व्यापक धरातल पर परखता था।

अहिंसा के विस्तृत आयाम पर गांधीजी की दृष्टि थी। यही कारण है कि जब काश्मीर पर प्रथम पाकिस्तानी आक्रमण हुआ, तो उनसे पूछा गया कि काश्मीर की रक्षा के लिए सेनाएँ भेजी जाएँ या नहीं ? तो उन्होंने यह नहीं कहा कि 'सेना न भेजो, यह हिंसा है! यदि कुछ करना है, तो वहाँ जा कर सत्याग्रह करो।' ऐसा क्यों नहीं कहा उन्होंने ? इसलिए कि सत्याग्रह सभ्यपक्ष के लिए होता है। विरोधी भले ही हो, किन्तु सभ्यविरोधी सत्याग्रह जैसे सात्विक प्रयासों से प्रभावित होता है। परन्तु जो असभ्य-बर्बर होते हैं, उनके लिए सत्याग्रह का कोई मूल्य नहीं होता। खूंखार भेड़ियों के सामने सत्याग्रह क्या अर्थ रखता है ? ब्रिटिशजगत् कुछ और था, जिसके सामने सत्याग्रह किया गया था। वह फिर भी एक महान् सभ्यजाति थी ! किन्तु याह्याखाँ और उसके पागल सैनिकों के समक्ष कोई सत्याग्रह करे, तो उसका क्या मूल्य है ? याह्याखाँ का क्रूर सैनिकदल बांगलादेश में मासूम बच्चों का कत्ल करता है, महिलाओं के साथ खुली सड़कों तक पर बलात्कार करता है, गाँव के गाँव जला कर राख कर डालता है, हर तरफ निरपराध बच्चे, बूढ़े, नौजवान और स्त्रियों की लाशें बिछा देता है ! इसका मतलब यह कि वह युद्ध नहीं लड़ रहा है; वह तो हिंसक पशु से भी गई-बीती स्थिति पर उतर आया है। प्रश्न है, इस अन्याय के प्रतिकार के लिए क्या किया जाए ? अहिंसा की दृष्टि से विचार करें तो क्या होना चाहिए ? युद्ध या और कुछ ? क्रूर दरिंदों के समक्ष और कुछ का तो कुछ अर्थ ही नहीं रह गया है। युद्ध ही एक विकल्प रह गया है, यह आक्रमण नहीं, प्रत्याक्रमण है। और, जैसा कि चेटक और कूणिक का उदाहरण आपके सामने रखा कि चेटक युद्ध करके स्वर्ग में गया है, चूंकि उसने शरणागत की रक्षा के लिए आक्रमणकारी से धर्मयुद्ध लड़ा था, और

कूणिक युद्ध करके नरक में गया है, चूँकि उसने न्यायनीति को तिलांजलि दे कर अधर्म-युद्ध लड़ा था। आज आपके सामने ठीक वही प्रश्न यथावत् है कि आप भी शरणागतों की रक्षा के प्रश्न पर युद्ध के लिए ललकारे गए हैं, युद्ध करने को विवश किये गए हैं। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बड़े धैर्य से काम लिया है, करोड़ों विस्थापितों का वह भार उठाया है, जो देश के अर्थतन्त्र को चकनाचूर कर देता है। आठ-आठ महीने तक प्रतीक्षा की है, कि कुछ सुधार हो जाए, विश्व के प्रमुख राष्ट्रों को जा-जा कर सही स्थिति समझाई है। परन्तु जब कुछ भी परिणाम नहीं आया और पाकिस्तान की दुःसाहसी सैनिक टोली ने रणभेरी बजा ही दी, तो इन्दिराजी ने भी उत्तर में रणदुन्दुभी बजा दी है, भारत के नौजवान सीमा पर जूझ रहे हैं। युद्ध हो रहा है। भारतीय तत्त्वचिन्तन के आधार पर यह धर्मयुद्ध है और अंततः विजय धर्मयुद्ध की ही होती है। **"यतो धर्मस्ततो जयः"**—जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। **'सत्यमेव जयते, नानृतम्'** सचाई की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। □

श्रद्धेय कविश्रीजी का यह प्रवचन ६-१२-७१ को प्रातः ९ बजे हुआ था। और उसी दिन संसद में श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने ऐतिहासिक निर्णय के रूप में भारत द्वारा "बांगलादेश की मान्यता" की ऐतिहासिक घोषणा की थी।

आज स्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है। बांगलादेश स्वतन्त्र हो चुका है। युद्ध दोनों ओर से थम चुका है।।हम नवोदित धर्म निरपेक्ष राष्ट्र बांगला-देश की सर्वतोमुखी उन्नति की हार्दिक कामना करते हैं। और समय पर सर्वथा उचित निर्णय लेने के लिए प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधीजी का अभिनन्दन करते हैं, साथ ही देश के बहादुर जवानों पर गर्व करते हैं, जिन्होंने सत्य एवं न्याय की विजय के लिए संघर्ष किया।

—सम्पादक

१७ हिंसा की रीढ़ : प्रमाद

धर्म के दो रूप होते हैं—बाह्य; अर्थात् बहिरंग रूप, और आभ्यन्तर; अर्थात्—अन्तरंग रूप। बहिरंग रूप का अर्थ होता है—क्रियाकाण्ड, बाहर के आचार-विचार, रहन-सहन और जीवन में जो कुछ भी बाह्यरूप से करते हैं, वे सब काम। अन्तरंग रूप का अर्थ है—वह भावना या विचार, जिससे बाह्य आचार-विचार प्रेरित होता है। कोई भी साधक अपने आप में किस प्रकार की पवित्र भावनाएँ रखता है, किन उच्च विचारों से प्रेरित और प्रभावित होता है, उसमें जीवन की पवित्रता कितनी है, उसके अन्तरतर में धर्म का कितना उल्लास है, वहाँ दया और करुणा की लहरें कितनी उठ रही हैं? यह सब भीतर का रूप ही धर्म का अन्तरंग कहलाता है।

जब यह अन्तरंग दृष्टिकोण विशुद्ध एवं वास्तविकतावादी बन जाता है, अर्थात् दूसरों के संसर्ग या सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली विकृति या विभाव से परे हो कर आत्मा जब सर्वथा शुद्ध एवं स्वाभाविक परिणति की पवित्र भूमिका में पहुँच जाता है, तब यह धर्म कहलाता है।

बाह्य धर्म—परिवर्तनशील

बाह्य-धर्म को व्यावहारिक धर्म भी कहते हैं। इसके सम्बन्ध में जैन-धर्म की यह धारणा है कि वह प्रायः बदलता रहता है, स्थायी नहीं रहता। प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने युग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन के बाह्य नियमों में परिवर्तन करते रहते हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग में जैन साधुओं का रहन-सहन कुछ और रूप में था, और बाईस तीर्थंकरों के समय में क्रमिक परिवर्तन के फलस्वरूप दूसरे रूपों में प्रकट हुआ। फिर भगवान् महावीर आये। उन्होंने देश, काल तथा साधकों की बदली हुई वास्तविक स्थिति को सामने रख कर अपने पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ आदि द्वारा प्रचलित नियमों में अनेक परिवर्तन किये, जिनमें से कुछ हमें आज भी शास्त्रों में पढ़ने को मिलते हैं। जैसे भगवान् महावीर ने वस्त्रों के सम्बन्ध में यह प्रतिबन्ध लगाया कि साधुओं को सफेद रंग का ही वस्त्र पहनना चाहिए और वे भी अल्प मूल्य वाले ही हों, बहुमूल्य नहीं। जबकि उनसे पहले यह सैद्धान्तिक प्रतिबंध नहीं था। भगवान् पार्श्वनाथ के युग में जैन-साधु किसी भी रंग के एवं बहुमूल्य वस्त्र पहन सकते थे। भगवान् महावीर ने इस दिशा में न केवल वेष-भूषा के विषय में, बल्कि आहार और विहार के सम्बन्ध में भी अनेक प्रगतिशील एवं उपयोगी परिवर्तन

किए; जैसे—राजपिण्ड न लेना और एक ही स्थान पर निर्धारित अवधि से अधिक न रहना, आदि।

भगवान् महावीर के युग में साधुओं के लिए पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर का कार्यक्रम अलग-अलग बतलाया गया है।

साधु की दिन-चर्या चार प्रहरों में बाँट दी गई थी।[1] पहले प्रहर में स्वाध्याय करना; अर्थात्—पहला प्रहर सूत्र-स्वाध्याय में व्यतीत करना। दूसरा प्रहर उसके अर्थ का चिन्तन करने में, ध्यान में, तर्क-वितर्क में एवं जीवन के सूक्ष्म रहस्यों को स्पष्ट रूप से सुलझाने में गुजारना। इसी कारण पहला प्रहर 'सूत्र-पौरुषी' और दूसरा प्रहर 'अर्थ-पौरुषी' कहलाता था। यह दोनों सांकेतिक शब्द हैं, जिन्हें दुर्भाग्य से आज बिलकुल ही भुला दिया है और निष्कासित-सा कर दिया है। अतः इस शब्दावली का एक दिन जो बहुमूल्य महत्त्व था, वह हमारे ध्यान से निकल गया है।

तीसरे प्रहर में साधु को भिक्षा के लिए जाने का विधान था। इस विधान के अनुसार यह सैद्धान्तिक भाव था कि जब साधु गृहस्थ के घर जाए, तो ऐसी स्थिति में आए कि घर के सब लोग भोजन करके निवृत्त हो चुके हों। स्त्री, बच्चे और बूढ़े सभी खा-पी चुके हों, बचा हुआ भोजन अलग रख दिया गया हो जिसकी आवश्यकता न रह गई हो। ऐसे समय पर साधु भिक्षा के लिए जाए और उस बचे हुए भोजन में से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोड़ा-सा ले आए।

जिस समय गृहस्थ के यहाँ भोजन बन रहा हो या घर के लोग खा-पी रहे हों, उस समय साधु भिक्षा के लिए नहीं जाया करते थे। क्योंकि उस समय जा कर यदि साधु भिक्षा ले आता है तो सम्भव है कि घर वालों के लिए भोजन कम पड़ जाए और फिर दुबारा बनाने की अनावश्यक परेशानी उठानी पड़े।

भगवान् महावीर के पश्चात् कुछ काल तक यह विधान चला। उसके बाद आचार्य शय्यम्भव के युग में नया परिवर्तन हुआ। तीसरे प्रहर की भिक्षा का नियम सिमटने लगा, लोगों का रहन-सहन भी बदला। प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ तीसरे प्रहर तक भोजन पाने की स्थिति प्रायः नहीं देखी जाने लगी, अतः उस समय साधु के जाने पर भिक्षा देने वाले और लेने वाले दोनों को ही असुविधा होना स्वाभाविक हो गया। साधुओं से प्रायः गृहस्थ यही कहते थे—भोजन के समय पर तो आप आते नहीं, और समय बीत जाने पर आ कर व्यर्थ ही हमें चिन्तित करते हैं! यह भी कोई गोचरी है? जब इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो गई तो आवश्यकता ने आचार्यों को नया विधान बनाने की प्रगतिशील प्रेरणा दी, जिसके अनुसार नियम बना कि साधुओं को गाँव की प्रथा के अनुसार भोजन के ठीक समय पर ही भिक्षा के लिए निकलना चाहिए

---

१ पढम पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥ —उत्तराध्ययन, २६।१२

और गृहस्थों की स्थिति का ध्यान रखना चाहिए।[२] असमय में भिक्षा के लिए जाने से गृहस्थों को अप्रीति होगी, उनके चित्त में क्षोभ और तिरस्कार जागृत होगा और स्वयं को भोजन न मिलने पर साधु के मन में भी गांव वालों के प्रति तिरस्कार का भाव उत्पन्न होगा। इस प्रकार दोनों ओर के संकल्पों में गड़बड़ी हो जाएगी। अतएव विचारधारा से यह नया विधान प्रसारित किया गया कि जिस गांव में भोजन का जो निश्चित-सा समय हो, वही भिक्षा का समय भी निश्चित कर लिया जाए।

यह एक युगान्तरकारी परिवर्तन था। उक्त उदाहरणों की परछाईं में हम देखते हैं कि धर्म के बाह्यरूपों में तीर्थंकरों के युग से ले कर आचार्यों के युग तक लगातार परिवर्तन होते रहे हैं।

अन्तरंग धर्म

धर्म का अन्तरंग रूप उसके बहिरंग रूप से सर्वथा भिन्न होता है। उसमें कभी कुछ भी बदलने वाला नहीं है। वह अनन्त-अनन्त काल तक ज्यों का त्यों स्थायी रहने वाला है। वह जैसा वर्तमान में है, वैसा ही भूतकाल में भी था और भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। चाहे कितने ही तीर्थंकर आएँ और परिवर्तनकारी प्रेरणा भी प्रसारित क्यों न करें, किन्तु अन्तरंग में अंशमात्र भी परिवर्तन होने वाला नहीं है।

प्रतिवर्ष पतझड़ की ऋतु में वृक्षों के फल, फूल तथा पत्ते सब चले जाते हैं, किन्तु पतझड़ के बाद वह फिर नवीन कोपलों से सुहावना दिखाई देने लगता है। फिर उसमें फूल-फल लगते हैं, वह हरा-भरा और मनोरम हो जाता है। कुछ समय बाद फिर पतझड़ की ऋतु आती है और वह वृक्ष फिर ठूँठ-सा दिखाई देने लगता है। इससे स्पष्ट है कि वृक्ष बाहर में अपना रूप अवश्य बदलता रहता है, परन्तु अपने मूल रूप को नहीं बदलता। यदि वृक्ष का मूल रूप ही बदल जाए तो फिर फूलों, फलों और पत्तों के लिए वहाँ गुंजाइश कहाँ रहे?

उपर्युक्त कथन से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि प्रत्येक सत्य का एक स्थायी रूप होता है और शेष बदलता हुआ रूप। यदि सर्वदा स्थायी रहने वाला कुछ भी रूप न हो तो परिवर्तन होने वाला—बदलने वाला रूप किसके सहारे टिकेगा? क्या वह आधार-शून्य नहीं हो जाएगा?

इस प्रकार व्यावहारिक रूप में धर्म बदलता रहता है—उसे देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप तीर्थंकर बदल देते हैं और आगे होने वाले आचार्य भी द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के अनुसार उसमें यथासमय परिवर्तन ला देते हैं। किन्तु अन्तरंग धर्म कभी नहीं बदलता। वह सदैव एक-सा रहता है।

---

२ अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे।

—दशवैकालिक सूत्र ५, २, ४

अहिंसा-धर्म अन्तरंग धर्म है। वह निश्चय धर्म है। अहिंसा अपने आप में बदलने वाली सांसारिक वस्तु नहीं है। वह तो एक त्रिकाल स्थायी, सत्य एवं शाश्वत धर्म है। वह तो अनादि काल से चला आ रहा है, आज भी चल रहा है और अपनी सुनिश्चित गति से आगे भी चलता रहेगा।

जैन-धर्म के अनुसार आत्मा कभी नहीं बदलती।[3] शरीर अवश्य बदलता है; किन्तु आत्मा उसी रूप में स्थिर रहती है। वह किसी भी परिस्थिति में बदल नहीं सकती। अनन्त-अनन्त काल संसार में रहने के बाद भी आत्मा नहीं बदलती। यहाँ तक कि जब मोक्ष में जाना होता है, तब भी आत्मा का रूप वही होता है, जो पहले था। आत्मा तो सदा आत्मा ही रहेगी, वह कदापि अनात्मा नहीं हो सकती। हाँ, इस पंचभौतिक शरीर को किसी दिन ग्रहण किया जाता है, तो किसी दिन छोड़ भी दिया जाता है। इस प्रकार यह परम्परा सदैव जारी रहती है।

अहिंसा जैन-धर्म की आत्मा है। उसके मूल रूप में किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिवश किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकता। अतः जैन-धर्म को समझने के लिए पहले अहिंसा को भली-भाँति समझना चाहिए और अहिंसा को भली-भाँति समझने के लिए जैन-धर्म को सही दृष्टिकोण से देखना चाहिए। ये दोनों, मानों एक रूप हो गये हैं। इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

जब जैन-धर्म का प्रसंग आता है तो अहिंसा तुरन्त याद आ जाती है। इसी प्रकार जब अहिंसा का प्रसंग छिड़ता है तो तुरन्त जैन-धर्म की याद आती है। अस्तु, हम जैन-धर्म के साथ ही अहिंसा का भी स्मरण किया करते हैं। इस प्रयोजन में अकेले हम ही नहीं, अपितु हमारे अजैन साथी भी जब किसी प्रसंगवश अहिंसा को याद करते हैं, तो साथ-साथ जैन-धर्म को भी याद कर लेते हैं।

परन्तु अहिंसा-तत्त्व वास्तव में इतना सूक्ष्म है कि उसको ठीक-ठीक समझने में भूल और भ्रांतियाँ भी हो सकती हैं, क्योंकि सामान्य बुद्धि के लोग तो उसके स्थूल-रूप को ही पकड़ लेते हैं। उसका सूक्ष्मरूप उनकी बुद्धि की पकड़ में नहीं आता! अतएव अहिंसा के सम्बन्ध में तीर्थंकरों ने या आचार्यों ने क्या स्पष्टीकरण किया है? अहिंसा के कितने विभाग किये गए हैं? इत्यादि विषयों पर गहराई से विचार करने से ही अहिंसा का ठीक विचार हो सकता है।

अहिंसा के भेदों को समझने के लिए, पहले हिंसा के भेदों को समझना पड़ेगा। आखिर अहिंसा का निषेधरूप अर्थ है—हिंसा का न होना। अतः अब यह मालूम

---

३ आत्मा का परिवर्तन आत्म-रूप में ही होता है, जड़रूप में नहीं। यहाँ आत्मा के न बदलने का अर्थ है—आत्मा का आत्मत्वरूप से कभी नाश नहीं होता। वह सदा अखण्ड एवं अभेद्य रहती है।

करें कि हिंसा कितने प्रकार की है ? यदि कोई व्यक्ति जैन-धर्म के माध्यम से जानना चाहता है, तब तो उसे अहिंसा के अनन्त-अनन्त भेद ज्ञात होंगे। संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं, बल्कि अनन्त-अनन्त ! और वस्तुतः यह परिमाण ठीक भी है। कोई आदमी समुद्र के किनारे खड़ा है और उस समय ज्वार-भाटे के कारण समुद्र में जो लहरें उठती हैं और गिरती हैं, क्या उनकी गिनती की जानी सम्भव है ? यह घटना-चक्र तो दिन-रात निरन्तर चलता ही रहता है और इस प्रकार सारा समुद्र प्रतिपल लहरों में नाचता रहता है।

मन को भी समुद्ररूप में कल्पित किया जा सकता है। इस मन के समुद्र में भी प्रतिपल विचारों का ज्वार-भाटा उठता रहता है और उसकी लहरें हिलोरें मारा करती हैं। इस मन में भी दिन-रात, प्रतिपल, प्रतिसेकेंड, भावनारूपी लहरें उठती हैं और बैठ जाती हैं और फिर नए वेग से उठती हैं। उस समय ऐसा मालूम होता है कि हमारा मन मानो नाच रहा है। एक क्षण के लिए भी शान्त नहीं होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर जैन-जगत् के महान् एवं मर्मज्ञ विचारक श्री बनारसीदास ने कहा है—

एक जीव की एक दिन, दशा होइ जेतीक;
सो कहि न सकै केवली, सद्यपि जानै ठीक !

और मन की ही क्या बात है ? जहाँ मन नहीं है, वहाँ भी अध्यवसाय तो होते ही हैं और उनके द्वारा अमनस्क प्राणी के जीवन भी हर समय नाचते ही रहते है। एकेन्द्रिय जीव को मन नहीं होता, फिर भी वह कितने कर्म समय-समय पर बाँधता है; अर्थात् सात या आठ ! सात कर्म तो नियम से बँधने अनिवार्य ही हैं। समय बड़ा ही सूक्ष्म है। इस सूक्ष्म-सूक्ष्मतम समय में सात कर्मों के अनन्त-अनन्त परमाणु-स्कन्धों का आत्मा के साथ बँध जाना अध्यवसाय के बिना किसी भी रूप में संभव नहीं है। यह तो भलीभांति ज्ञात है कि बन्ध कब होता है ? जब आत्मा में कम्पन उत्पन्न होगा, हलचल होगी और उसके साथ क्रोध, मान, माया तथा लोभ के संस्कार जाग्रत होंगे—तभी कर्म-बन्ध होना सम्भव है। जब यह संस्कार नहीं रहते, योगों की हलचल से आत्मा में कम्पन नहीं होता, तब कर्म-बन्ध भी नहीं होता।

जब मन, वाणी और शरीर में कम्पन नहीं होता तो उस अवस्था में आत्मा पूरी तरह शान्त और स्थिर हो जाती है। आत्मा की वह दशा 'शैलेशी अवस्था' कहलाती है और वहाँ पूर्ण निश्चल अवस्था आ जाती है। दसवें गुणस्थान तक कषायों से तथा योगों से बंध होता है; और ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुण-स्थान में कषाय न रहने पर केवल योगों के द्वारा ही बंध होता है। चौदहवें गुणस्थान में कषाय और योग दोनों ही नहीं रहते, अतएव वहाँ अबन्धकदशा प्राप्त होती है। सिद्धों को भी कर्मबंध नहीं होता, क्योंकि वहाँ भी कषायों और योगों का अस्तित्व नहीं रहता है।

ऊपरकथित विवेचन से क्या आशय फलित हुआ ? हमारा मन, वाणी और शरीर भी समुद्र की भांति हिलोरें मारता है और उसमें निरन्तर हलचल मची रहती है। चाहे कोई जीव एकेन्द्रिय हो, द्वीन्द्रिय हो, त्रीन्द्रिय हो, चतुरिन्द्रिय हो अथवा पंचेन्द्रिय हो, परन्तु जब तक उसमें संसारी दशा का यौगिक अस्तित्व है, तब तक कम्पन होना अनिवार्य है।

नीचे की भूमिकाओं में चर्चित मन का प्रत्येक कम्पन हिंसा है। और जब कम्पन की कोई गिनती नहीं की जा सकती, तो हिंसा के भेदों की गणना भी कैसे की जा सकती है ? फिर भी स्थूल रूप से उनकी गणना की गई है। इस विषय की पूरी छान-बीन करके आचार्यों ने बतलाया है कि सामान्यबुद्धि तथा सामान्यदृष्टि वाला प्राणी हिंसा के अनन्तरूपों को स्पष्ट रूप से नहीं समझ सकता, फिर भी जो स्थूलरूप, जितने अंशों में समझ में आ सकें, उनको ध्यान में अवश्य रखना चाहिए।

हिंसा के तीन स्तर

सबसे पहले हिंसा के तीन स्तर हैं[४]—(१) संरम्भ, (२) समारम्भ और (३) आरम्भ।

जितनी भी बातें हैं, क्रियाएँ हैं या हरकतें हैं, वे सबसे पहले मन में जन्म लेती हैं और अध्यवसायों में अंकुरित होती हैं। हमारा सारा जीवन मानसिक अध्यवसायों द्वारा ही प्रेरित और संचालित होता है। अतएव वे अध्यवसाय ही मुख्यरूप से हिंसा की जन्म-भूमि हैं। इस प्रकार सबसे पहले हिंसा के विचार उत्पन्न होते हैं और फिर हिंसा करने के लिए सामग्री जुटाई जाती है।

इस स्थिति में हिंसा के विचारों का उत्पन्न होना 'संरम्भ' कहलाता है; और हिंसा के लिए सामग्री जुटाना 'समारम्भ' कहलाता है। इन दोनों क्रियाओं के बाद 'आरम्भ' का नम्बर आता है। 'आरम्भ' का क्रम हिंसा के प्रारम्भ से ले कर अन्तिम मार देने तक चलता है

इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए। अब देखना चाहिए कि हिंसा का जो संकल्प या प्रयत्न किया जाता है, वह क्यों किया जाता है ? उत्तर में कहना है कि—अन्तर्हृदय की दूषित भावनाओं की प्रेरणा से हिंसा का संकल्प होता है, हिंसा की सामग्री जुटाई जाती है और अन्त में उन्हीं भावनाओं से बल पा कर हिंसा करने का सक्रिय प्रयत्न किया जाता है।

प्रश्न उठता है, वे भावनाएँ क्या है ? उन्हें खोजने का प्रयत्न करना चाहिए। वे भावनाएँ चार प्रकार की हैं और वस्तुतः वे दुर्भावनाएँ हैं—क्रोध, मान, माया और

---

४ तुलना—

मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठामनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा॥ —धम्मपद

लोभ। जब कभी हिंसारूप दुष्ट प्रवृत्ति की जाती है तो उसके भाव—क्रोध से, मान से, माया से, अथवा लोभ से उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को चार प्रकार के कषाय कहते हैं। इन चारों कषायों के कारण ही संरम्भ-रूप हिंसा होती है, इन्हीं से समारम्भ-रूप हिंसा होती है और इन्हीं से अन्तिम आरम्भ-रूप हिंसा हुआ करती है। अतएव इन चारों के साथ संरम्भ आदि तीन का गुणन करने से हिंसा के बारह भेद बन जाते हैं। कषायों का रंग जितना अधिक गहरा होगा, उतनी ही अधिक हिंसा होगी और जितना रंग कम होगा, हिंसा भी उतनी ही कम होगी। अतः स्पष्ट है कि हिंसा की पृष्ठ-भूमि 'कषाय' है, जिसे सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

हिंसा के भेद-प्रभेद

जीव प्रायः कषाय से प्रेरित होकर ही हिंसा करता है। परन्तु हिंसा के मुख्य औजार हैं—तीन योग अर्थात्-मन, वचन और काय। यही तीन शक्तियां मनुष्य के पास हैं। जब मन पर, वचन पर और काय पर हरकत आती है, तभी हिंसा होती है। अतएव ऊपर कहे बारह भेदों का तीन से गुणन कर देने पर हिंसा के छत्तीस भेद हो जाते हैं।

मन, वचन और काय के भी तीन भेद हैं—स्वयं करना, दूसरों से करवाना और अनुमोदना करना। इन तीनों योगों के द्वारा हिंसा करने के तीन तरीके हैं, जिन्हें 'करण' कहते हैं। इनके साथ पूर्वोक्त छत्तीस भेदों को गुणित कर देने पर हिंसा के १०८ भेद निष्पन्न हो जाते हैं।

हिंसा की इन १०८ प्रकार की निवृत्तियों के उद्देश्य से ही आप १०८ दानों वाली माला जपते हैं।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सामान्यतः हिंसा से निवृत्ति पा लेना ही अहिंसा है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों हिंसा के इन भेदों से निवृत्त होता जाता है त्यों-त्यों वह अहिंसा के भेदों की साधना करता जाता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जितने भेद हिंसा के हैं उतने ही अहिंसा के भी हैं, और जितने भेद अहिंसा के हो सकते हैं, उतने ही हिंसा के भी समझने चाहिए।

इस प्रकार जब आप हिंसा और अहिंसा के निरूपण पर ध्यान देंगे तो ज्ञात होगा कि जैन-धर्म बड़ी सूक्ष्मता तक पहुंचता है, अन्तरतम की गहराई में चला जाता है। और उस गहराई को समझने के लिए साधक को अपनी बुद्धि तथा अपने विवेक को सतत साथ रखने की जरूरत है। अन्यथा वास्तविकता समझ में नहीं आ सकती।

हिंसा का अर्थ

उपर्युक्त प्रस्तावना से भलीभांति समझा जा सकता है कि हिंसा का अर्थ केवल मारना ही नहीं है, किन्तु हिंसा का संकल्पमात्र भी हिंसा है। किसी जीव को ले कर इधर से उधर कर देना, उसे इकट्ठा देना या एक जीव के ऊपर दूसरे जीव को

रख देना भी हिंसा है, और क्षणिक मनोरंजन के लिए किसी जीव को धूल से ढँक देना भी हिंसा है। यदि जीव आ-जा रहे हैं और स्वतन्त्ररूप से विचरण कर रहे हैं तो उनकी स्वतन्त्रता में रुकावट डालना भी हिंसा है। यहाँ तक कि किसी जीव को अकारण छू लेना भी हिंसा है। यह सब मर्यादाएँ सुप्रसिद्ध 'इरियावहिया' के पाठ में आ जाती हैं।

स्वतन्त्रता में बाधा नहीं

जैन-धर्म तो यही कहता है कि किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता में तुम बाधक मत बनो। उसके जीवन की जो भी भूमिका है, उसी के अनुसार वह क्रियाशील हो रहा है। यदि तुमने उसका रास्ता रोक दिया अथवा उसे छू दिया तो तुम हिंसा के भागी हो गए। इस रूप में अहिंसा-धर्म की सूक्ष्म व्याख्या सुनने को अन्यत्र नहीं मिलती।

अहिंसा-धर्म की इन बारीकियों को देख कर साधारण जनता सहसा आश्चर्य-चकित हो जाती है। क्योंकि मनुष्य अपनी जिन्दगी में हरकत तो करता ही है, वह आता भी है और जाता भी है। इस तरह कहीं न कहीं, और किसी न किसी जीव के गन्तव्य मार्ग में रुकावट आ ही जाती है। किसी न किसी को पीड़ा पहुँचे बिना नहीं रहती फलतः वह जीव भयभीत हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि आखिर किस प्रकार कोई व्यक्ति अहिंसक रह सकता है? यह प्रश्न सभी व्यक्तियों के समक्ष समानरूप से उपस्थित होता है। आखिर साधु से भी किसी प्राणी को पीड़ा पहुँच सकती है। यदि साधु के जल से भरे पात्र में मक्खी गिर जाती है; उसे निकालने के लिए पहले तो छूना ही पड़ता है और तब वह निकाली जाती है।

मान लें, एक प्राणी धूप में पड़ा है। अपंग होने के कारण वह इधर-उधर नहीं जा सकता। वह धूप का मारा तिलमिला रहा है और मौत के मुँह में जाने की तैयारी कर रहा है। कोई दूसरा व्यक्ति अपना उदारतावश उसे उठा कर एक जगह से दूसरी जगह रख देता है। निस्सन्देह उठाने वाले ने सोच-समझ कर ही और दया से प्रेरित हो कर ऐसा किया है, किन्तु कोई उससे कहता है कि 'जीव को एक जगह से दूसरी जगह रख देना भी हिंसा है।'[५] इस प्रकार जब किसी जीव की गति में बाधा पहुँचाना; और यहाँ तक कि उसे छूना भी हिंसा है, तो कोई प्रमार्जन-क्रिया कैसे कर सकते हैं?

यदि इसी दृष्टि से विचार किया जाएगा, तो कहीं पैर रखने को भी जगह न मिलेगी। जीवन-व्यापार का संचालन करना भी हिंसा के बिना सम्भव नहीं है। आखिर श्वास की हवा से भी तो सूक्ष्म जन्तुओं की स्वतन्त्र गति में बाधा पड़ती है।

---

५ ठाणाओ ठाणं संकामिअ।

इस सम्बन्ध में किसी ने एक आचार्य से प्रश्न किया—जल में भी जीव हैं और स्थल पर भी जीव है। आकाश में भी सर्वत्र अनगिनत जीव-जन्तुओं की भरमार है। इस तरह जब सारा संसार जीवों से व्याप्त है, कहीं एक इंच भी जगह खाली नहीं है, तो भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है ?[६]

अस्तु, जो प्रश्न आज पैदा होता है, वह पहले भी पैदा हुआ था। अभिप्राय यह है कि जब आप किसी कीड़े-मकोड़े को जाता हुआ देखते हैं और रजोहरण से प्रमार्जन करते हैं तो तनिक विचार कीजिए कि चींटियों का शरीर क्या है ? उनकी शरीराकृति बहुत छोटी-सी है। ज्यों ही आपका रजोहरण उन पर पड़ता है, वे भय-भीत हो जाती हैं। अपने दुःख को कल्पना वे स्वयं ही कर सकती हैं। कदाचित् आप तो यही कह सकते हैं—कौन बड़ा बोझा उनके ऊपर पड़ गया ? परन्तु जब उनके ऊपर रजोहरण पड़ता है तो उन्हें ऐसा मालूम होता है जैसे उन पर कोई पहाड़ टूट पड़ा हो। निस्सन्देह वे त्रस्त हो जाती हैं और जब घसीटते-घसीटते आप उन्हें दूर तक ले जाते हैं, तो उन कोमल शरीर वाली बेचारी चींटियों को ऐसा लगता है, मानो अब जिन्दगी का अन्तिम क्षण आ पहुंचा हो। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार भी कहते हैं—पृथ्वी पर रगड़ा हो या छूआ हो, अथवा एक-दूसरे पर डाला गया हो, तो यह सब हिंसा के ही विभिन्न रूप हैं।[७]

अहिंसा की भूमिका

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सब क्या है ? अहिंसा की भूमिका को हम किस प्रकार अपने जीवन में तय कर सकते हैं ? शुद्ध अहिंसक बनने के लिए कहीं यह तो अनिवार्य नहीं है कि इधर 'करेमि भंते' और 'अप्पाणं वोसिरामि' बोलें और उधर जहर की पुड़िया खा कर संसार से ही विदा हो जाएँ ? आखिर सर्वथा निश्चल कैसे रहा जा सकता है ? जब आत्मा संसार में रहता है और जीवन-व्यापार चलाना भी अनिवार्य है तो फिर पूरी तरह निश्चिन्त हो कर किस प्रकार मुर्दों की तरह पड़ा रहा जा सकता है ?

भगवान् महावीर छह मास तक हिमालय की चट्टान की तरह अचल खड़े रहे, किन्तु उसके बाद वे भी पारणा के लिए गए और हरकत शुरू हो गई। महीना, दो महीना और अधिक से अधिक छह महीना कायोत्सर्ग में बिताये जा सकते हैं, किन्तु फिर भी जीवन तो जीवन ही है। उसमें गमन-आगमन किए बिना जीवन का व्यापार चल नहीं सकता। फिर साधुओं पर तो एक जगह अनिश्चित समय तक ठहरने के

---

६ जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ? ॥

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७, १३

७ "संघाइया संपट्टिया"

लिए प्रतिबन्ध भी खड़ा है। साधुओं को निर्धारित समय से अधिक एक जगह ठहरना नहीं चाहिए। उन्हें तो ग्रामानुग्राम विहार करना ही चाहिए। जब यह स्थिति हमारे समक्ष है, तो हम विचार करना चाहते हैं कि अहिंसा और हिंसा की मूलभूमि कहाँ है ?

जब कोई जैन-धर्म के मर्मस्थल को स्पर्श करेगा तो एक बात ध्यान में अवश्य आएगी कि जितनी भी हरकतें होती हैं, जो भी काम किए जाते हैं या जो भी चेष्टाएँ उत्पन्न होती है, उन सबके मूल में हिंसा नहीं उठती है और न उनके मूल में कहीं पाप ही होता है। वे अपने आप में दोषयुक्त भी नहीं हैं। किन्तु उनके पीछे जो संकल्प हैं, भावनाएँ हैं, या कषाय हैं ; उन्हीं में हिंसा है और वही पाप भी है। अभिप्राय यही है कि जैन-धर्म के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—क्या खाने-पीने में भी पाप है ? तब वह उत्तर देता है कि—खाने-पीने में तो पाप नहीं है, किन्तु यह बतला दो कि उसके पीछे वृत्ति क्या है ? यदि खाने के पीछे अविवेक की भावना तो है, किन्तु कर्त्तव्य की भावना नहीं है; यदि तू खाना केवल खाने के लिये और स्वाद के लिए ही खाता है, और ऐसे खाने के बाद शरीर का क्या उपयोग करेगा—यह निर्णय नहीं किया है तो तेरा खाना हिंसा है। खाने के पीछे यदि विवेक है, यतना है और खाने के लिए ही नहीं खाता है; अपितु जीने के लिए खाता है और उसके पीछे खा कर सत्कर्म करने की भावना है तो ऐसा खाना धर्म है।

तप धर्म है या पारणा ?

अब समस्या उत्पन्न होती है कि—'तप' धर्म है या 'पारणा' ? किसी ने छह मास की तपस्या की और फिर एक दिन पारणा भी किया तो पारणे के दिन धर्म होता है या पाप ? औरों को तो जाने दीजिए, भगवान् महावीर को ही लीजिए। उन्होंने छह मास तक तप किया और फिर पारणा भी किया, तो पारणा के द्वारा उनकी आत्मा ऊपर उठी या नीचे गिरी ? तप-धर्म तो उन्होंने छोड़ दिया। फिर उसके पीछे क्या अभिप्राय है ? कौन-सी वृत्ति काम कर रही है ? उत्तर में यही कहना होगा कि—वह आत्मा, जो तप के द्वारा ऊपर चढ़ चुकी थी, पारणे के दिन उसे तप से भी आगे बढ़ना ही चाहिए था। पारणे के बाद फिर उन्होंने तप:साधना की और फिर पारणा किया। तब भी वे आत्म-विकास की मंजिल में आगे ही बढ़े। सारांश रूप में यही कहना पड़ेगा कि चाहे व्रत हो या पारणा, आत्मा की ऊर्ध्वगति ही होनी चाहिए।

भगवान् महावीर ने जब तप किया, तब भी उनकी आत्मा ऊपर उठी और पारणा किया तब भी ऊपर ही उठी। उनकी चारित्र-आत्मा वर्द्धमान थी, हीयमान नहीं। यदि किसी भूल अथवा भ्रांति-वश इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाएगा तो भगवान् महावीर के चारित्र को भी हीयमान मानना पड़ेगा।

प्रमाद : हिंसा का कारण

एक बार मालवा के एक बड़े शास्त्रीजी ने मेरे पास यह प्रश्न भेजा था कि

"भोजन करना प्रमाद की ही एक भूमिका है। प्रमाद के बिना भोजन नहीं किया जा सकता, बोला भी नहीं जा सकता और गमनागमन भी नहीं किया जा सकता। अतः जब कभी भोजनादि क्रियाएँ की जाती हैं तो आत्मा ऊँचे गुणस्थानों से नीचे उतर आता है, अप्रमाद से प्रमाद की भूमिका पर आ जाता है।"

मैंने उत्तर दिया कि—फिर तेरहवें गुणस्थान वाला केवली क्या करेगा? वह क्षायिक चारित्र का गुणस्थान है और देशोनकोटिपूर्व तक उत्कृष्ट स्थिति में एक-रस रहता है, उसमें न्यूनाधिक नहीं होता है। उस गुणस्थान वाले भूख लगने पर भोजन भी करते हैं, प्यास लगने पर पानी भी पीते हैं और आवश्यकता पड़ने पर गमनागमन भी करते हैं। वे उठने और बैठने की क्रियाएँ भी करते हैं। ये समस्त क्रियाएँ वहाँ होती हैं। यदि यह मान लिया जाए कि इन क्रियाओं में प्रमाद अवश्य आ जाता है, और प्रमाद की प्रत्येक क्रिया नीचे दर्जे की भूमिका है—तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि भगवान् महावीर की तेरहवें गुणस्थान की भूमिका भी ऊँची और नीची होती रहती थी। अब बतलाइए कि साधारण साधु की तुलना करने पर उनमें क्या विशेषता रह जाएगी?

हाँ, तो फिर जैन-धर्म का क्या दृष्टिकोण है? वह क्रिया करने में कोई पुण्य-पाप नहीं मानता है, बोलने आदि में पाप-पुण्य स्वीकार नहीं करता है। जैन-धर्म के मूल सिद्धान्त के अनुसार बोलने आदि के पीछे जो संकल्प है, उसी में पुण्य और पाप है। यदि उन क्रियाओं के पीछे कषाय है, तो वह पाप है; और यदि सद्बुद्धि है, तो धर्म है। यदि कोई साधक गमनागमन में विवेक रखता है और किसी प्रकार की असावधानी भी नहीं रखता है, किन्तु फिर भी हिंसा हो जाती है, तो वह हिंसा पाप-प्रकृति का बंध नहीं करती। इसी तरह यदि कोई श्रावक किसी क्रिया में यतना रखता है, किसी प्रकार भ्रमित भी नहीं होता, फिर भी कदाचित् हिंसा हो जाती है, तो वह भी पाप-प्रकृति का बंध नहीं करता। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा है—'जहाँ प्रमाद है, भूल है और अयतना है—वहीं पाप-कर्म है।'[८] इसके विपरीत जहाँ प्रमाद नहीं है, अविवेक नहीं है—अपितु अप्रमत्तता है, विवेक है, जागरूकता है, और यतना है—वहाँ कोई भी क्रिया क्यों न हो, वह अहिंसा है, कर्मबन्ध का हेतु नहीं है, अपितु वहाँ कर्मों की निर्जरा है।

यह जैन-धर्म का सही दृष्टिकोण है। जब हम इसे ध्यान में रखते हैं तो जैन-धर्म की जो आत्मा है, प्राण है—वह स्पष्टरूप से हमारे सामने झलकने लगता है।

प्रमार्जन : हिंसा या अहिंसा

पहले प्रश्न करते हुए कहा गया है कि—जब प्रमार्जन होता है, तब अहिंसा

८ "पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।"

—सूत्रकृताङ्ग-सूत्र

के स्थान पर हिंसा ही होनी चाहिए ; क्योंकि प्रमार्जन से जीव भयभीत होते हैं, त्रस्त होते हैं। किन्तु तनिक गहराई से विचार कीजिए कि वहाँ (प्रमार्जन के समय) जो प्रवृत्ति होती है, वह उन जीवों की दया के लिए होती है या हिंसा के लिए ? यद्यपि साधक दया के लिये ही प्रमार्जन करता है, किन्तु उन जीवों को यह पता नहीं होता कि वास्तव में ऐसी क्रिया उनके प्रति दया के कारण ही हो रही है। मान लें, माता अपने बच्चे को ऑपरेशन करवाने के लिए डाक्टर के पास ले जाती है और ऑपरेशन होता है, तब बच्चा माता को कितनी गालियाँ देता है और रोता है। किन्तु वहाँ माता की और डाक्टर की भावना क्या है ? यद्यपि प्रत्यक्ष में बच्चा भयभीत हो रहा है और न मालूम कितने प्रकार के दुःसंकल्प अपने मन में ला रहा है, फिर भी सिद्धान्ततः तो माता और डाक्टर को पुण्य-प्रकृति का ही बंध हो रहा है। क्योंकि उस क्रिया के पीछे डाक्टर और माता की दया एवं विवेक की पवित्र भावना काम कर रही है।

यदि चींटियों को खेल या मनोरंजन की दृष्टि से हटाया जाता है, तब तो पाप-कर्म का बंध अवश्य होता है, किन्तु किसी हिंसक दुर्घटना के अवसर पर रक्षा की दृष्टि से उन्हें हटाने में पाप नहीं है। इन बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि—जो हिंसा होती है, उसके मूल में यदि अविवेक का अन्धकार है, अयतना है तो वहाँ हिंसा है और पाप है। इसके विपरीत यदि विवेक का पूर्ण प्रकाश है और यतना की भी पूर्णता है—तो वहाँ सच्चा धर्म है और पुण्य है।

'आरम्भिया क्रिया' छठे गुणस्थान तक रहती है, सातवें गुणस्थान में नहीं रहती, क्योंकि प्रमाद छठे गुणस्थान तक ही मर्यादित है और सातवाँ गुण-स्थान अप्रमत्त अवस्था का है। किन्तु हिंसा (द्रव्य-हिंसा) तो तेरहवें गुणस्थान तक रहती है! फिर भी जहाँ अप्रमत्त अवस्था है, वहाँ हिंसा का पाप नहीं लगता। संक्षेप में इसका अर्थ इतना ही है कि अप्रमत्त अवस्था में और विवेकभाव में होने वाली हिंसा—पाप स्वरूप नहीं होती।

इसके विपरीत संसार के सकषाय तथा प्रमादी जीव चाहे हिंसा करें या न करें, किन्तु यदि उनके अन्दर यतना की वृत्ति और विवेक की ज्योति नहीं जगी, और साथ ही दूसरों की जिन्दगी को बचाने का उच्च संकल्प नहीं उठा, तो वे चाहे हिंसा करें तब भी हिंसा है, और चाहे हिंसा न करें तब भी हिंसा है। उदाहरण स्वरूप—एक धीवर सोया हुआ है और उस समय मछलियाँ नहीं पकड़ रहा है। क्या तब भी उसे 'आरंभिया क्रिया' लग रही है या नहीं ? हाँ, उसे अवश्य लग रही है, क्योंकि उसका हिंसा का संकल्प अभी समाप्त नहीं हुआ है! वह अभी कषायभावों में ग्रसित है। फिर वह चाहे हिंसा कर रहा हो या न कर रहा हो, हिंसक ही कहलाएगा।[६]

६ देखिए—ओघनिर्युक्ति, ७५२-५३ गाथा।

पं० आशाधरजी ने इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है—"जहाँ प्रमाद है; वहीं हिंसा है और जहाँ प्रमाद नहीं है वहाँ हिंसा भी नहीं है।"[१०]

इसी दृष्टि को अपनाते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि—यदि हम हिंसा और अहिंसा के तत्व को समझ लें तो जैन तो सम्प्रदायों में आज जो दया, दान आदि विषयों पर अशोभनीय संघर्ष चल रहे हैं, वे बहुत कुछ अंशों में समाप्त हो सकते हैं।

किसी जीव की रक्षा करना, किसी के मरने-जीने की इच्छा भी न करना; ऐसी अस्पष्ट बातों को ले कर और इन्हें तूल देते हुए हमारे कुछ साथी जो ऊपर ही ऊपर भटक-से रहे हैं, इसका प्रमुख कारण यही है कि उन्होंने हिंसा और अहिंसा का मर्म समझने का प्रयत्न नहीं किया है। उनकी मान्यता के अनुसार यदि धूप में पड़े हुए जीव को छाया में रख दिया तो हिंसा हो गई! किन्तु इस क्रिया के पीछे कौन-सी मनोवृत्ति काम कर रही है? इसका उन्होंने कोई विचार ही नहीं किया। यदि मनोवृत्ति-विशेष का विचार न किया जाए तो साधु अपने पात्र में पड़ी हुई मक्खी को भी कैसे निकाल सकते हैं? कैसे उसकी झिकनाई को राख से सुखा सकते हैं? शास्त्र तो किसी जीव को ढँकना भी पाप कहते हैं, फिर साधु उसे राख से क्यों ढँकते हैं?

वास्तविकता तो यह है कि जब मनोवृत्ति को भुला दिया जाता है और केवल शब्दों की ही धड़-पकड़ से काम लिया जाता है तो उसके फलस्वरूप हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व सामने आता है और संघर्ष पैदा होते हैं। इनसे बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम शास्त्रों की शब्दावली को ही पकड़ कर न रह जाएँ, बल्कि शब्दावली के सहारे उस तथ्य की आत्मा को खोजने का प्रयास भी करें। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के बाहरी कार्य को देख कर ही जल्दी में अपना कोई अभिमत न बना लें, अपितु उस कार्य के पीछे जो भावना छिपी हुई है उसे परखने का भी भरसक प्रयत्न करें। ऐसा करने वाला कभी भी भ्रम में नहीं पड़ता। यदि उसे कोई भ्रम होता भी है तो वह शीघ्र ही उससे मुक्त हो जाता है। □

१० म्लतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽम्बुन्नपि धीवरः।

—सागारधर्मामृत, ८२

१८ मानवता का भीषण कलंक

'अहिंसा' का रूप बहुत व्यापक है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विविध रूपों में हिंसा परिलक्षित होती है। जिस किसी भी क्षेत्र में और जिस किसी भी रूप में; जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, बाह्य या आन्तरिक हिंसा हो रही है, उस क्षेत्र में और वैसे रूप में हिंसा का व्यापक विरोध, प्रतिरोध एवं निरोध होना ही 'अहिंसा' है। इस दृष्टिकोण से देखने पर भलीभाँति ज्ञात हो सकेगा कि अहिंसा का स्वरूप बहुत व्यापक है और उसके रूप भी अनेक हैं। यही कारण है कि अहिंसा को अनेक वर्गों में विभक्त करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अहिंसा के विराट् स्वरूप का चिन्तन करते हुए यह संभव नहीं है कि उस पर पूर्ण प्रकाश डाला जा सके। फिर भी जब हमने अहिंसा के महत्व को स्वीकार किया है, उसके औचित्य को अपने जीवन का आदर्श माना है, और उसकी परिधि में रह कर ही जीवन-व्यवहार चलाने का सत्य संकल्प किया है; साथ ही यह भी मान लिया है कि अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति, समाज और विश्व का त्राण संभव है, तो हम पर यह कर्त्तव्य और दायित्व आ जाता है कि हम अधिक गहराई में उतर कर अहिंसा को समझें और दूसरों को भी समझाएं।

हिंसा के दो रूप

अहिंसा को भली-भाँति समझने के लिए पहले हमें हिंसा के दो रूपों पर विचार करना होगा। उनमें से एक रूप वह है, जिसे हम 'आन्तरिक' कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि एक हिंसा वह होती है—जो क्रोध, मान, माया, लोभ एवं वासना के रूप में भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। हम अपने ही कुप्रयत्नों से अपनी आत्मा की हत्या करते रहते हैं। उदाहरणस्वरूप—एक व्यक्ति दूसरे के बड़प्पन को नहीं सह सकता है। वह मन ही मन उसे देख कर जलता है और उस जलन में वह अपनी ही हिंसा कर लेता है। यदि किसी के सद्गुणों को देखता है और किसी की प्रशंसा सुनता है, तो भी वह मन ही मन जलता है और अपने अहंभाव में दूसरे के सद्गुणों को स्वीकार नहीं करता। इतना ही नहीं, बल्कि वह दूसरे के सद्गुणों से घृणा भी करने लगता है। ऐसा करने वाला एक प्रकार से अपनी आत्म-हत्या ही कर रहा है।

जब कोई आदमी बंदूक या पिस्तौल से अपने को गोली मार लेता है तो यह समझा जाता है कि आत्म-हत्या की गई है; परन्तु वह तो शरीर की हत्या है, आत्मा की नहीं। किन्तु मनुष्य जब किसी बुराई को अपने अन्दर डाल लेता है और उसी में

निरन्तर गलता है और सड़ता रहता है तो यह बंदूक या पिस्तौल से गोली मार लेने की अपेक्षा भी बहुत बड़ी हिंसा है, क्योंकि यह बुराई हमारे सद्गुणों का सर्वनाश कर डालती है। इस प्रकार भीतर ही भीतर होने वाली हिंसा 'आन्तरिक' है और यह भाव-हिंसा की परिचायिका है।

हिंसा का दूसरा रूप 'बाह्य' (बाहरी) है। वास्तव में हमारे अन्दर की ही बुराई बाहर की हिंसा को प्रेरित करती है।

इस प्रकार जैन-धर्म के अनुसार हिंसा के दो नाले हैं, दो प्रवाह हैं। एक अन्दर ही प्रवाहित होता रहता है, और दूसरा बाहर। हिंसा को यदि अग्नि कहा जाए तो समझना चाहिए कि हिंसा की अग्नि भीतर भी जल रही है और बाहर भी।

भ्रान्तियां

यदि इस दृष्टिकोण को सामने रखकर विचार करते हैं तो अहिंसा का सिद्धान्त बहुत व्यापक प्रतीत होता है। किन्तु यह जितना व्यापक है, उतना ही जटिल भी है। जो सिद्धान्त जितना अधिक व्यापक बन जाता है, वह प्रायः उतना ही अटपटा भी हो जाता है और साथ ही उलझ भी जाता है। यही कारण है कि जीवन-क्षेत्र में कभी-कभी अहिंसा के सम्बन्ध में भांति-भांति की विचित्र भ्रान्तियां देखी जाती हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि लोग कभी हिंसा को अहिंसा, और अहिंसा को हिंसा समझ बैठते हैं। इस प्रकार की भ्रान्तियों ने प्राचीन काल में और आधुनिक काल में भी अनेक प्रकार के मतमतान्तरों को जन्म दिया है। जहां सेवा है, अहिंसा है, करुणा एवं दया है, दुर्भाग्य से वहां हिंसा समझी जा रही है और एकान्त पाप समझा जा रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि सिद्धान्त के अनुसार जो वास्तविक 'अहिंसा' है, उसी को मनुष्य के भ्रान्त मन ने 'हिंसा' समझ लिया है।

इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हिंसा हो रही है, बुराई पैदा हो रही है और गलत काम से किसी को कष्ट पहुंचाया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप दूसरे प्राणियों के अन्दर प्रतिहिंसा की प्रतिशोधनकारी लहर पैदा हो रही है, किन्तु दुर्भाग्य से उसे 'अहिंसा' का नाम दिया जाता है। यही कारण है कि जब धर्म के नाम पर या जात-पांत के नाम पर हिंसा प्रदर्शित होती है, तो उसे हम अहिंसा समझ लेते हैं। इस तरह मानव-जाति का चिन्तन इतना उलझ गया है कि कितनी ही बार हिंसा के कार्यों को अहिंसा का, और अहिंसा के कार्यों को हिंसा का रूप दे दिया जाता है।

हिंसा और अहिंसा-सम्बन्धी इस प्रकार की उलझनें होने पर भी विचार तो करना ही होगा। बल्कि ये मुख्य उलझनें हैं; इसलिए इस विषय में क्रमशः विचार करना और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। हम इन विचारों पर अपने आप में चिन्तन कर लेना चाहते हैं। हालांकि हमारी बुद्धि बहुत सीमित है, किन्तु जहां तक शास्त्रों का सत्-सहयोग काम देता है और हमारा चिन्तन-मनन हमारी सहायता करता है, वहां तक

तो हमें आगे बढ़ना ही चाहिए। इसके विपरीत यदि हम शास्त्रों का सहारा न ले कर केवल अपनी बुद्धि और शुष्क तर्क के बल पर ही खड़े हो जाते है, तो हमें न तो शास्त्रों का ही उचित ज्ञान हो सकता है, न अपना ही पता रह सकता है और न हम देश तथा समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पूर्णरूपेण पालन कर सकते हैं।

इस प्रकार सामाजिक हिंसा का रूप स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। आपके सामने जो इन्सानों की दुनिया है उसके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? आप अपने पार्श्ववर्ती मनुष्यों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं? वह व्यवहार घृणा और द्वेष का है अथवा सम्मान और सत्कार का? वह दूसरों को घायल करने की क्रूरता है या घाव पर मरहम लगाने की उदारता?

इन प्रश्नों पर ईमानदारी के साथ विचार करना चाहिए। वह हिंसा, जो समुदाय के रूप में होती है, आज विराट् बन गई है। और इसके बावजूद भी अधिकांश लोग हिंसा करते हुए भी उसे हिंसा नहीं समझते। इस तरह आज के जीवन में एक बहुत बड़ी गलतफहमी फैल गई है।

चौड़ी खाई

एक अखण्ड मानव-जाति अनेकानेक जातियों, उपजातियों में बँट गई है और उसके इतने टुकड़े हो गए हैं कि यदि गिनने चलें तो गिनते-गिनते थक जाएँगे फिर भी पूरे भेद-प्रभेदों को गिन न सकेंगे। यद्यपि कहीं-कहीं एक जाति का दूसरी जाति के साथ ऊपर से प्रेमभाव मालूम होता है, किन्तु उनकी तह में ऊँच-नीच की चौड़ी खाई देखी जाती है। भीतर ही भीतर संघर्ष चलता रहता है। फलतः हर कोई अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझने का मिथ्या अहंकार प्रदर्शित करता है। बाहर के सुरभित फूलों में ही अन्दर-अन्दर काँटे बिछे होते हैं। यों तो जीवन में सब साथ-साथ चलते हैं और एक-दूसरे को सहयोग भी देते हैं, किन्तु मन के काँटे दूर नहीं होते और वे निरन्तर एक-दूसरे को चुभोते रहते हैं।

पारस्परिक जातीय संघर्ष

दूसरी साधारण जातियों का तो क्या कहना, ओसवाल और श्रीमाल जातियाँ जो एक डंठल के ही दो फूल के समान हैं, इनमें भी आपस में संघर्ष जारी है, फलतः कहीं-कहीं उन्हें परस्पर लड़ते भी देखा जाता है। ओसवाल और श्रीमाल परस्पर में अपने आप को ऊँचा और दूसरे को हीन समझ कर कभी-कभी एक-दूसरे के साथ रोटी और बेटी का व्यवहार भी तोड़ बैठते हैं। भीतर की जलन कभी-कभी विस्फोट के रूप में बाहर आ जाती है तो परिवार के परिवार लड़ पड़ते हैं और आपस के मधुर सम्बन्ध कटुता में बदल जाते है, सबके बीच विद्वेष की आग सुलग उठती है। यह आग ओसवालों में या अग्रवालों में, या दूसरी जातियों में जहाँ भी जल रही है, वहाँ बड़े-बड़े विचारक भी कभी-कभी उसमें हिस्सा लेने के लिए विवश हो जाते हैं और उसमें

कुतर्क का घी डाल कर बुझती शिखा को अधिक प्रज्वलित कर देते हैं। इस प्रकार जाति के नाम पर हिंसा होती है और इस पर हम सोचते हैं कि जो लोग अपने जाति-बान्धवों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करते हैं और उनसे लड़ते है, वे छह करोड़ शूद्रों या अछूतों के साथ इन्सानियत का सद्-व्यवहार किस प्रकार कर सकेंगे ?

धूत-अछूत

भगवान् महावीर ने जो कठिन साधना की और जब परिवर्तन का प्रवाह आया, तब बड़े-बड़े पुरोहितों ने अपनी उच्चता का अहंकार छोड़ दिया और भगवान् के चरणों में आ कर सारे भेदभाव भुला दिए। उनके दिलों में अपार करुणा प्रवाहित हो गई ; दया का सागर लहराने लगा। किन्तु खेद है कि उस महान् तत्त्व को आगे चल-कर स्वयं जैनों ने भी नहीं पहचाना, फिर दूसरों का तो कहना ही क्या ? दूसरों ने तो इस दिशा में हमारा सदैव विरोध ही किया है और निहित स्वार्थों की पूर्ति के लोभवश अछूतों का पक्ष लेने के कारण हमें भी एक प्रकार से अछूत करार दे दिया गया है।

एक समय की घटना है। मैं एक जगह ठहरा हुआ था। पास ही एक हलवाई की दूकान थी। वहाँ एक कुत्ता आया और मिष्टान्नों में मुँह लगाने लगा तो हलवाई ने डंडा उठाया और कहा—'दूर हट सरावगी !' यह शब्द सुन कर मैंने विचार किया —यह 'दूर हट सरावगी' क्या चीज है ? और इस हलवाई के मन में यह अप-प्रेरणा क्यों आई ? मेरा मन इतिहास के पन्ने उलटता गया। तब अन्त में मालूम हुआ कि किसी जमाने में हमने अछूतों के पक्ष में नारा लगाया था और कहा था कि इन्सान के साथ इन्सान का-सा व्यवहार होना चाहिए। इस पर हमें भी अछूत ही करार दे दिया गया था और सरावगी (श्रावक) को कुत्ते की पशु-श्रेणी में रखा गया था।

जब आप गहराई में उतर कर इस विषय में सोचेंगे तो मालूम होगा कि आप अपने को भले ही ऊँचा समझते हों, परन्तु दूसरे लोग आपको भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं, अपवित्र समझते हैं और चौके में बिठाने से परहेज करते हैं। यहाँ तक कि हम साधुओं को भी चौके में नहीं जाने देते। दिल्ली जैसे शहरों से दूर किसी देहात में जाने पर यही सुनना पड़ता है "अलग रहिए महाराज, हम बाहर ही ला कर दे देंगे।"

जब इस प्रकार की विपरीत भावनाएँ नित्यप्रति देखने को मिलती हैं, तो हम सोचते हैं कि इसमें जनता का दोष नहीं है। हम स्वयं भी तो इन्हीं संकीर्ण भावनाओं के शिकार हैं।

यहाँ तक कि आप जिन्हें नफरत की निगाह से देखते हैं, वे भी छूत-अछूत के भेदभाव से भरे हुए हैं। आप छोटी जाति से घृणा करते हैं और वह छोटी जाति भी अपने से छोटी समझी जाने वाली जाति से घृणा करती है। इस दुःखद दृश्य को देख-कर हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

देखा जाता है कि एक ऐसा रोग है, जो ऊपर से नीचे तक फैल गया है,

जड़ों में जम गया है। फलतः इसका पूरी तरह परिमार्जन करने के लिए बहुत बड़ी क्रान्ति की अपेक्षा है। इस जटिल प्रश्न को हल करने के लिए गाँधीजी को अपना बलिदान देना पड़ा। गोडसे के साथ उनका कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं था, किन्तु दूसरी जाति वालों से प्रेम करने के कारण ही उन्हें गोली का शिकार बनना पड़ा। गाँधीजी ही नहीं, हमारे अनेक पूर्वजों को भी इसी प्रकार के अनेक आत्म-बलिदान देने पड़े हैं।

हमारे अनेक साथी साधुओं में जातिगत या सम्प्रदायगत विचार घर किए हुए हैं, फलतः वे भी इन सामाजिक संकीर्णताओं में फँसकर जातिवाद का कट्टर समर्थन करते हैं। हमें उनके विचारों को माँजना है।

इस प्रकार की घृणा और द्वेष की भावना को जातिगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और समूहगत हिंसा का रूप दिया गया है। मनुष्य को मनुष्य के रूप में न देख कर जात-पाँत के नाते घृणा और द्वेष की संकुचित दृष्टि से देखना, हिंसा नहीं तो और क्या है?

इन्सान की आँखें

कभी-कभी मनुष्य अपने दैनिक नीरामय व्यवहार में भी उक्त जातीय विचारों के कारण भ्रमित हो जाता है। एक बालक ठोकर खा कर रास्ते में गिर पड़ता है और एक व्यक्ति उसे उठाने चलता है। जब उसे ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि उच्च होने का पता चलता है, तब तो वह उसे खुशी-खुशी उठा लेता है, परन्तु जब उसे यह मालूम होता है कि यह तो भंगी का बालक है तब उसका मन दुविधा में पड़ जाता है। वह उसे उठाए या नहीं? यदि कोई ऐसा उदारमना भाग्यशाली है, जो उसे उठा लेता है तो वह निश्चित ही आदर का पात्र है, ऐसा समझा जा सकता है, उसकी आँखों में मनुष्य की दृष्टि है। किन्तु जहाँ इन्सान की आँखें नहीं हैं, वहाँ आदमी दुविधा का शिकार हो जाता है और सोचने लगता है कि क्या किया जाए और क्या न किया जाए?

कोई कष्टपीड़ित या आपत्तिग्रस्त है, और दूसरा उसका उद्धार करने चलता है, किन्तु यदि वह जात-पाँत को पूछ कर चलता है, तब तो वह उसके कष्ट को कभी नहीं देख सकेगा, उसकी जात-पाँत को ही देख पाएगा। क्योंकि यह ऐसी विषमता है, जिसने हमारे सामाजिक जीवन को एक सिरे से दूसरे सिरे तक विकृत कर दिया है। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर का विचार एकदम स्पष्ट था। वे तो गुणों की पूजा करने वाले गुणग्राही थे, जाति की पूजा करने वाले नहीं। उनके पास ब्राह्मण आता है और यदि वह योग्य है तो उसका स्वागत होता है, क्षत्रिय है और उसमें गुण हैं तो उसका भी आदर होता है, और यदि कोई साधारण जाति में जन्म लेने वाला शूद्र या अछूत है, किन्तु अहिंसा और सत्य की सुगन्ध उसके जीवन में महक रही है तो शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य तो क्या देवता भी उसके चरण छूने को लालायित हो उठते हैं। अस्तु, देवता भी उसके लिए जय-जयकार के नारे लगाते हैं। और स्वयं भगवान् महावीर ने भी ऐसे लोगों का हृदय से स्वागत किया है।

चाण्डालपुत्र मुनि हरिकेशी

हरिकेशी मुनि के सम्बन्ध में आगमों में जो सुन्दर वर्णन है, वह जैनों के पास बहुत बड़ी सम्पत्ति है, एक बड़ी नियामत है और एक सुन्दर खजाना है ! हमने कितनी ही गलतियाँ की हैं और अब भी उनकी पुनरावृत्ति करते जा रहे हैं, किन्तु हमारे पूर्वज उन गलतियों के शिकार नहीं बने थे। उन्होंने मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचाना था, मनुष्य के गुणों की ही प्रशंसा की थी, धनवान् होने के नाते कभी किसी का आदर नहीं किया और जात-पाँत के लिहाज से भी कभी किसी का सत्कार-सम्मान नहीं किया। तभी तो उत्तराध्ययन में कहा गया है—हरिकेशी मुनि श्रेष्ठ गुणों के धारक और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले आदर्श भिक्षु थे। उनके गुणों का उल्लेख करने के साथ ही साथ शास्त्रकार इस बात का भी उल्लेख करने से नहीं चूके कि वह मुनि 'श्वपाक चाण्डाल' कुल में उत्पन्न हुए थे, बल्कि सबसे पहले इसी बात का उल्लेख किया है।[1] यह उल्लेख हमें शास्त्रकार के हृदय तक ले जाता है और इसके द्वारा हम समझ सकते हैं कि शास्त्रकार के मन में क्या भावना रही होगी ! जिनके नेत्र निर्मल हैं, वे इस उल्लेख में सम्पूर्ण भारतवर्ष की और विशेषतः जैनों की प्राचीन संस्कृति को भलीभाँति देख समझ सकते हैं।।

जीवन-यात्रा में कभी-कभी बड़ी अटपटी घटनाएँ आती हैं, सावधान रहने पर भी मनुष्य कदाचित् ठोकर खा ही जाता है और गिर भी पड़ता है, किन्तु सच्चा बहादुर वही है, जो गिर कर भी उठ खड़ा होता है और होश-हवास को दुरुस्त कर लेता है। हरिकेशी उन्हीं वीरों में से एक थे। कहीं भूल हो गई और गिर गए; यानी पूर्व-संस्कारों के कारण उन्हें चाण्डालकुल में जन्म लेना पड़ा, किन्तु उन्होंने अपने जीवन को और आत्मा को फिर संभाला और ऊपर उठ गए। जब वे गृहस्थ थे, सब ओर से उन्हें अनादर और धिक्कार मिला, किसी ने भी उनका सम्मान-सत्कार नहीं किया, किन्तु जब उन्होंने मन को साफ किया तो वही श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले जितेन्द्रिय भिक्षु बन गए।

इस सन्दर्भ में एक बार पण्डित लोग वाद-विवाद करते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं और जन्मगत जाति की उच्चता का यह दावा करते हैं कि मानव-सृष्टि में केवल ब्राह्मण ही पवित्र और श्रेष्ठ है। शास्त्रार्थ का दंगा चलता है और अन्त में हरिकेशी का गुणकृत ब्राह्मणत्व ही श्रेष्ठ प्रमाणित होता है। फलतः देव-दुन्दुभियाँ बजने लगती हैं और देवगण जय-जयकार की ध्वनि से पृथ्वी और आकाश को गुंजा देते हैं। रत्नों की वर्षा होती है, और साथ ही साथ सुन्दर विचारों की भी अमृतवर्षा होती है। उसी जयघोष के स्वरों में भगवान् महावीर ने कहा है—"प्रत्यक्ष में तुम देख सकते हो कि

---

१ सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसी भिक्खू जिइंदिओ ॥ —उत्त० १२, १

विशेषता तप में है, विशेषता गुण में है और विशेषता जीवन की पवित्रता में है। जाति में कोई विशेषता दिखाई नहीं देती, वह तो केवल उच्चता के अहंकार से पैदा होने वाली कोरी कल्पना है। हरिकेशी साधु चाण्डाल का लड़का था और उसने चाण्डाल के कुल में जन्म भी लिया था, किन्तु उसके ऐश्वर्य को देखिए! उसके यश:-सौरभ को परखिए कि देवगण भी उसका जयघोष कर रहे हैं।[२]

एक-एक शब्द में चिरन्तन सत्य की गंगा बह रही है। एक-एक शब्द में गुणों के प्रति अनुरागरस भरा है! शताब्दियों से इस गाथा में से अमृत का झरना बह रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से अपने भीतर उसे जमा लेने की शक्ति हम में नहीं रह गई है। हम उसे पढ़ते हैं और आगे चल देते हैं। विचारों के इस अमृत-निर्झर को हम अपने जीवन में नहीं उतार पाते हैं। शास्त्रकार कितने प्रभावशाली शब्दों में चुनौती देकर, मानो कह रहे हैं!

उत्तराध्ययन की यह पवित्र वाणी आज भी मौजूद है और हमारे पक्ष का पूर्णतः समर्थन करती है। जात-पाँत के विरुद्ध इससे बड़ा और क्या प्रमाण चाहिए? यदि इतने पर भी किसी को समझ नहीं आती, तो उसके लिए दूसरे प्रमाण भी क्या निरर्थक ही सिद्ध न होंगे?

यदि किसी ने नीची समझी जाने वाली जाति में जन्म ले भी लिया तो क्या हो गया? वह उसी जीवन में दूसरी बार फिर जन्म ले सकता है। दूसरा जन्म गुणों के द्वारा लिया जाता है, मनन और चिन्तन के द्वारा लिया जाता है। पुरुषार्थ एवं प्रयत्न के द्वारा अपने हाथों अपने जीवन का जो निर्माण होता है, वही सबसे बड़ा निर्माण समझना चाहिए। अलंकार की भाषा में वही दूसरा जन्म है।

सूतपुत्र दानी कर्ण

महाभारत में एक कथा आती है—कर्ण एक रथचालक बढ़ई का लड़का सूतपुत्र है, यह बात प्रसिद्ध थी। जब वह युद्ध के मैदान में उतरता है तो जन्म-जात क्षत्रिय उसका उपहास करते हैं और चिढ़ाते हैं कि—"आप यहाँ कैसे आ पहुँचे? यह तो युद्ध-क्षेत्र है। यहाँ तो तलवारों का काम है! अतः युद्धक्षेत्र में वही आ सकता है, जो तलवार का संचालन कर सकता हो, साथ ही जिसे इसका अधिकार भी प्राप्त हो, किन्तु सूत-पुत्र को तो युद्ध करने का अधिकार नहीं!!।" इस प्रकार का मजाक सुन कर भी वह दृढ़-संकल्पी और आत्म-विश्वासी वीर कर्ण तनिक सहमा और न शर्माया ही। वह उन जन्म-जात क्षत्रियों को ललकारता है।

हाँ, तो कर्ण युद्ध-क्षेत्र में पहुँच कर कहता है—"तुम जन्म-जात क्षत्रिय हो और

---

२ सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोवि।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढी महाणुभावा॥

—उत्तराध्ययन १२, ३७

तलवारों को सदियों से उठाते भी आ रहे हो। और इधर मैंने तो अपने कुल में, मात्र अपने पुरुषार्थ पर, बस यही एक तलवार उठाई है। किन्तु यही तलवार तुम्हें बतलाएगी कि युद्ध में किसकी तलवार ज्यादा चमकती है? उसने निर्भीकभाव से घोषणा की—"मैं सूत हूँ या सूत का लड़का हूं, तो क्या हुआ? मैं कोई भी हूँ, तुम्हें इससे क्या प्रयोजन है? पुराने जन्म के संस्कारों के कारण मैंने कहीं भी जन्म लिया है, उसे क्या देखते हो? अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न के द्वारा मैंने अपने जीवन का जो यह नव-निर्माण किया है; यदि साहस रखते हो तो इसे परखने की कोशिश करो। तुम लोग जन्म से क्षत्रिय हो, और मैं पुरुषार्थ-कर्म से क्षत्रिय बना हूँ। रण-क्षेत्र बतला देगा कि वास्तव में कौन सच्चा क्षत्रिय है?"[3]

कर्ण की इस ज्वलन्त वाणी को हमें अपने मन में सुरक्षित रख लेना चाहिए। कर्ण के इस निर्भीक भाव को हमें अपने अन्तःकरण की गहराई में ले जाना चाहिए कि—"कोई किसी भी जाति में पैदा हुआ हो अथवा रहता हो, किन्तु अपने गुणों के द्वारा वह ऊँचा उठ सकता है और पवित्र बन सकता है।"

वाल्मीकि पहले किस रूप में थे? दस्यु ही थे न! परन्तु जब उनका जीवन बदला तो आखिर उन्हें महर्षि के पद पर प्रतिष्ठित करना ही पड़ा। हरिकेशी कुछ भी रहे हों, किन्तु जब उन्होंने आदरणीय गुण प्राप्त कर लिए तो उनका आदर किया ही गया। आखिर, गुण कब तक ठुकराए जा सकते हैं? कभी न कभी तो उनकी चमक बाहर आएगी ही, और जीवन में दिव्य प्रकाश पैदा हो कर रहेगा ही।

जैनों में उच्चगोत्र और नीचगोत्र की बात चलती है। कुछ लोग इस विषय में पूछ लेते हैं और कई मन में ही घुटते रहते हैं। कोई पूछे या न पूछे, जब हम विचार-क्षेत्र में कूद पड़े हैं तो कभी-कभी कोने में और कभी मैदान में भी विचार कर ही लेते हैं। स्वयं विचार करके और जैन-शास्त्रों का अध्ययन करके जो कुछ संचय किया है, उस तत्त्व-ज्ञान को स्पष्टरूप से जनता के सामने रख देना और उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का सरसक प्रयत्न करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

यदि कोई प्रतिष्ठित माने जाने वाले कुल में पैदा हो गया है तो वह उच्च-गोत्रीय कहलाया और यदि अप्रतिष्ठित समझे जाने वाले कुल में उत्पन्न हो गया तो नीचगोत्रीय कहलाने लगा। इस सम्बन्ध में पहली बात जो ध्यान देने योग्य है, यह है कि कुल की प्रतिष्ठा क्या सदैव एक-सी रहती है? नहीं, वह तो उस कुल के व्यक्तियों के व्यवहार के द्वारा बदलती भी देखी जाती है। एक व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है, और इसके विपरीत किसी दूसरे व्यक्ति का नीच और गलत आचरण कुल की प्रतिष्ठा में धब्बा लगा देता है, सारी प्रतिष्ठा को धूल में मिला देता

---

३ सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा ममास्महम्।
दैवायत्तं कुले जन्म, ममायत्तं हि पौरुषम्॥

है। ऐसी स्थिति में किसी भी कुल की अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा कोई शाश्वत वस्तु नहीं है। वह तो जनता के विचार-कल्पना की चीज है, वास्तविक वस्तु नहीं है।

गोत्र-परिवर्तन

दूसरा प्रश्न यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नहीं ? मान लीजिए कि किसी को नीच गोत्र मिला है ; किन्तु उसने तत्त्व का चिन्तन और मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्चश्रेणी का आचरण प्राप्त किया है, तो उसी जीवन में उसका गोत्र बदल सकता है या नहीं ? यदि तर्क द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि गोत्र नहीं बदल सकता तो मुझे अपने विचारों को समेट कर एक कोने में डाल देना पड़ेगा। किन्तु यदि गोत्र का बदलना प्रमाणित हो जाता है तो आपको भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और बिना किसी आग्रह के हम सबको उसे अपनाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

कल्पना करें—एक उच्चगोत्री है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है, परन्तु आज वह बुरा काम करता है और मुसलमान बन जाता है। हालांकि मैं मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखता हूँ, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से उस रूपक को समझना चाहिए। यदि एक ओसवाल या अग्रवाल मुसलमान बन जाता है तो क्या आप उसे उस बदले हुए दूसरे रूप में समझते हैं या उसी पहले के रूप में स्वीकार करते हैं ? आप उसे दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। अर्थात् वह आपकी निगाहों से गिर जाता है और उसका गोत्र भी उच्च नहीं रह जाता है। अब आप उसे पहले की तरह अपने साथ बैठा कर एक साथ भोजन नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि न उच्चगोत्र स्थायी रहता है और न जन्मगत जातीय धारणा ही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहता है, तब तक उच्च बना रहता है और जब उसका पतन हो जाता है और वह अपने आचरण में एक बड़ी बुराई पैदा कर लेता है और तदनुसार किसी दूसरे रूप में बदला जाता है, तो इसे गोत्र बदलना ही कहा जा सकता है। पहले वह व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या और कुछ भी क्यों न रहा हो, किन्तु अब तो वह प्रत्यक्षरूप में बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

अस्तु, जो बात उच्चगोत्र के सम्बन्ध में है, वही बात नीचगोत्र के सम्बन्ध में क्यों नहीं स्वीकार करते ? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा—उच्चगोत्र बदल जाता है और नीचगोत्र बन जाता है तो दूसरा हिस्सा क्यों नहीं बदल सकता ? नीचगोत्र को उच्चगोत्र में बदलने से रोकने वाला कौन है ? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीचगोत्र बदल नहीं सकता और वह जन्मभर नीचा ही बना रहेगा, यह कहाँ का न्यायसंगत सिद्धान्त है ? जब उच्चगोत्र स्थायी नहीं रहता है, तब फिर नीचगोत्र किस प्रकार स्थायी रह सकता है ?

अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य बुराई का शिकार होता है, तब नीचगोत्र में

रहता है; और जब अच्छाइयाँ प्राप्त कर लेता है, तो वही 'भगतजी' के नाम से या और किसी अच्छे नाम से प्रसिद्ध हो जाता है।

अब जरा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी विचार करें। सिद्धान्त की मान्यता है कि साधु का गुणस्थान छठा है[४] और छठे गुणस्थान में नीचगोत्र का उदय नहीं होता। हरिकेशी नीचजाति में उत्पन्न हुए थे और साधु बन गए। अब प्रश्न यह है कि साधु बन जाने पर वह नीचगोत्र में रहे या नहीं? यदि वे नीचगोत्र में ही रहे तो उन्हें छठा गुणस्थान नहीं होना चाहिए और साधु का दर्जा भी नहीं मिलना चाहिए। किन्तु शास्त्र यह बतलाता है कि वे तो महामहिम मुनि थे और उन्हें छठा गुणस्थान प्राप्त था। छठे गुणस्थान में नीचगोत्र नहीं रहता है। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि हरिकेशी नीचगोत्र से बदल कर उच्चगोत्र में पहुँच चुके थे। तो अब आपको स्वयं ही यह फैसला करना पड़ेगा कि नीचगोत्र भी उच्चगोत्र के रूप में बदल जाता है। उच्च गोत्र और नीचगोत्र दोनों गोत्र-कर्म की अवान्तर प्रकृतियाँ हैं। अवान्तर प्रकृतियों का एक-दूसरी के रूप में संक्रमण हो सकता है। यह बात उस सिद्धान्त को जानने वाले भलीभाँति समझ सकते हैं।

हरिकेशी मुनि नीचगोत्र की गठरी अपने सिर पर रख कर छठे गुणस्थान की ऊँचाई पर नहीं चढ़े थे। यह बात इतनी ठोस और सत्य है कि जब तक कोई शास्त्र की प्रामाणिकता मानने से इन्कार न कर दे, तब तक वह इससे भी इन्कार नहीं कर सकता। यदि कोई शास्त्र के निर्णय को स्थायीरूप से कायम रखना चाहता है तो उसे उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र के आजीवन स्थायित्व की मान्यता को खत्म करना ही होगा।

गोत्र के साथ छुआछूत का सम्बन्ध नहीं

उच्च-गोत्र और नीचगोत्र का छुआछूत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। छुआछूत तो केवल लौकिक कल्पनामात्र है। जो कष्ट में पड़ा है और बेहोश हो रहा है, आप उसके पास खड़े-खड़े देखते हैं और अछूत समझ कर उसे हाथ नहीं लगा सकते, कोई भी सच्चा सिद्धान्त इस कारण का समर्थन नहीं करेगा। सच्चे शास्त्र इस निन्द्य व्यवहार का अनुमोदन कभी नहीं करते। जब हम छुआछूत के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि छुआछूत की कल्पना के साथ गोत्र-कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी जितने भी पशु हैं, उनको शास्त्रों के अनुसार आजन्म नीच-गोत्र रहता है। किसी भी पशु में उच्च-गोत्र नहीं माना गया है। यदि नीच-गोत्री होने मात्र से कोई अछूत हो जाता है तो सभी पशु अछूत होने चाहिए। गाय और भैंस भी अछूत होने चाहिए। किन्तु उनके दूध को तो आप हजम कर जाते

---

४ आध्यात्मिक विकासक्रम की भूमिकाओं में से एक सर्वविरतिरूप पूर्ण चारित्र की भूमिका, जो साधु की भूमिका कहलाती है।

हैं और फिर मनुष्य के लिए छुआछूत की बातें करते हैं ! जो घोड़े पर सवार होते हैं और हाथी पर बैठने में भी अपना सौभाग्य मानते हैं ! उस समय वे क्यों भूल जाते हैं कि ये पशु नीच-गोत्री हैं और इस कारण अछूत हैं—यदि इन्हें छुएँगे तो धर्म डूब जाएगा और जाति विजाति हो जाएगी।

कितने आश्चर्य और खेद की बात है कि पशुओं को छूने वाले, उनका दूध पीने वाले, उन्हें मल-मल कर स्नान कराने वाले और उन पर सवारी करने वाले लोग ही जब मनुष्य का प्रश्न सामने आता है तो नीच-गोत्र की बात कह कर और अछूतपन की कल्पना करके अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होते हैं; अपने विवेक का दिवाला निकालते हैं; न्याय और नीति का गला घोंटते हैं, और धर्म से दूर भागते हैं ! किन्तु सिद्धान्त की जो वास्तविकता है, उसी को सर्वतोभावेन अंगीकार करना, हमारा मुख्य कर्त्तव्य है।

सम्यक्त्वसम्पन्न चाण्डाल भी देवता

जैन-धर्म एक ही सत्य-संदेश ले कर आया है और वह सन्देश सद्गुणों का है। चाहे कोई कितना ही पापी क्यों न रहा हो, वह जब तक दुराचारी है, तभी तक पापी है। किन्तु ज्यों ही वह सदाचार की श्रेष्ठ भूमिका पर आता है, और उसके जीवन में सदाचार की सुगन्ध फैल जाती है तो वह ऊपर उठता है और उसके लिए मोक्ष का दरवाजा भी खुल जाता है। जैन-धर्म यह कभी नहीं कहता कि मोक्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को ही मिलेगा, और शूद्र के लिए मोक्ष के मन्दिर पर कड़ा प्रतिबन्ध है। इस सम्बन्ध में हमारे आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—"अगर कोई चाण्डाल से भी पैदा हुआ है, किन्तु उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो गई है तो वह मनुष्य नहीं, बल्कि देवता है ! तीर्थंकरदेव उसे देवता कहते हैं। उसके भीतर भी दिव्य ज्योति ठीक उसी प्रकार झलक रही है, जैसे राख से ढँके हुए अङ्गार में ज्योति विद्यमान रहती है और भीतर ही भीतर चमकती है।"[५]

मिथ्यादृष्टि देवता की तुलना में भी सम्यग्दृष्टि शूद्र कहीं अधिक ऊँचा है। यदि ऐसा न माना जाएगा तो सद्गुणों की प्रतिष्ठा समाप्त हो जाएगी। लोग जाति और सम्पत्ति को ही पूजेंगे और गुणों की उपेक्षा करेंगे, गुणों की कक्षा नीची हो जाएगी और उसके प्रति आदर का भाव भी समाप्त हो जाएगा।

जिस जाति में गुणों का आदर होता है, उसमें सद्गुण, सदाचार और अच्छाइयाँ सर्वत्र पनपती हैं। दुर्भाग्य से हम उच्च-जाति वाले तथाकथित सदाचारी नीच-जाति वालों को समाजसेवा और धर्मसाधना में भी अग्रसर नहीं होने देते और उन्हें मजबूर करते हैं कि वे वहीं के वहीं सर्वथा अलग-अलग खड़े रहें।

वेश्या के सदाचारी बनने पर भी घृणा

५ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्॥ —रत्नकरण्डश्रावकाचार:

एक घटना है—एक बार मैं विहार कर रहा था। धूप कुछ तेज पड़ रही थी, फलतः विश्राम कर लेना चाहा। रास्ते में एक तिबारा आया। तिबारे के सामने ही कुछ वृक्ष थे। विश्राम करने के लिए मैं उन वृक्षों की छाया में बैठने लगा तो साथ के एक श्रावक भाई ने कहा—"महाराज! आपको छाया में बैठना हो तो आगे बैठिए; यहाँ मत बैठिए!"

मैंने कहा—'यहाँ ऐसी क्या बात है?'

तब वह बोला—'आपको मालूम नहीं कि यह तिबारा, वृक्ष और कुँआ एक वेश्या की सम्पत्ति से बने हैं। वेश्या पहले वेश्यावृत्ति करती थी, किन्तु बाद में वह प्रभु की भक्त पुजारिन बन गई और जब ईश्वरभक्ति में लग गई तो उसने सोचा कि कुछ परोपकार का काम करूँ। इसी विचार से प्रेरित हो कर उसने वेश्यावृत्ति से कमाए हुए अपने धन से ये सब बनवाए हैं। जब ऐसे निकृष्ट धन से बनवाए गए हैं तो फिर आप सरीखे संत को यहाँ नहीं बैठना चाहिए।"

मैंने सोचा—'एक तरफ तो यह कहता है कि वेश्या बदल गई, भक्त बन गई और जब उसमें सद्बुद्धि जागृत हो गई तो उसने अपने पिछले आचरण के प्रायश्चित्त के रूप में यह सत्कार्य किया और दूसरी ओर यहाँ बैठने से भी परहेज करने को कहता है! दुर्भाग्य है हमारे समाज का कि सैकड़ों लोग उस कुँए का पानी भी नहीं पीते और तिबारे में बैठने तथा वृक्ष की छाया में विश्राम लेने में भी पाप समझते हैं! ऐसे अभागे लोगों को आप दान और पुण्य को नहीं करने देते। क्या उनका दान और पुण्य भी अपवित्र है? बस, आपके ही हाथ की कमाई पवित्र है, चाहे वह जनता का रक्त-शोषण करके ही क्यों न एकत्र की गई हो?

वास्तव में वेश्या की कमाई, गलत कमाई थी, किन्तु बाद में उसके अन्दर जब सद्बुद्धि जागृत हो गई और उसने प्रायश्चित्त के रूप में सारा धन सत्कर्म में लगा दिया, तो क्या हमें अब भी उससे घृणा करनी चाहिए?

वेश्या का पिछला जीवन पापमय अवश्य रहा, किन्तु जब उसने अपने जीवन को साध (मांज) लिया और वह उस पाप से मुक्त भी हो गई, तब फिर उससे घृणा करने वालों, उसे घृणा की दृष्टि से देखने वालों को क्या कहा जाए? ईर्ष्या और घृणा यदि पाप है, तो वे लोग वर्तमान में भी पाप में पड़े हुए हैं और आन्तरिक हिंसा के शिकार हो रहे हैं। विवेकशील पुरुषों की दृष्टि में तो उस वेश्या की अपेक्षा भी वे विचार-दरिद्र अधिक दया के पात्र हैं।

अभिप्राय यह है कि जहाँ ईर्ष्या है, द्वेष है, घृणा है, मिथ्या अहंकार है और मनुष्य के प्रति अपमान की हीन भावना है, वहाँ हिंसा है। जब हम हिंसा के स्वरूप पर विचार करें तो इस भयानक हिंसा को न भूल जाएँ और जब अहिंसा की साधना के लिए तैयार हों तो पहले इस आन्तरिक हिंसा को दूर करें, तभी चित्त पूर्णतः निर्मल होगा, समता की धारा में अवगाहन करेगा। कम से कम समग्र मानव-जाति को प्रेम एवं मैत्री की दृष्टि से देखेंगे, तभी हम सच्ची अहिंसा की आराधना कर सकेंगे। □

१६ वर्ण-व्यवस्थागत सामाजिक हिंसा

अब तक हिंसा और अहिंसा की जो व्याख्या की गई है, वह जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा-अहिंसा को ले कर की गई। अब हम एक दूसरे प्रकार की यानी परोक्ष हिंसा और अहिंसा पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

परोक्ष या सामाजिक हिंसा

हिंसा के दो प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्षहिंसा और (२) परोक्षहिंसा। प्रत्यक्ष हिंसा मनुष्य की समझ में जल्दी से आ जाती है, जब वह सोचता है कि आज एकेन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में से कौन और कितने मेरे हाथों से मारे गए हैं? किन्तु दूसरे प्रकार की जो परोक्ष हिंसा है, उसका रूप बड़ा व्यापक है और उसके सम्बन्ध में शीघ्र कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रायः उसकी तरफ ख्याल भी नहीं जाता। उसकी गहराई को लोग समझ भी कम ही पाते हैं। इस परोक्षहिंसा की ओर ध्यान दिलाने के उद्देश्य से ही इस नए प्रकरण का प्रारम्भ किया जा रहा है, जिसे सामाजिक हिंसा कहना उपयुक्त होगा।

कदाचित् पाठकों को यह शब्द नवीन-सा प्रतीत होगा और वे सोच सकते हैं कि यह कौन-सी नयी हिंसा आ टपकी है? किन्तु हिंसा का रूप एक नहीं है। हिंसा के विविध रूप हैं और अलग-अलग अगणित प्रकार हैं। हम ज्यों-ज्यों उन पर चिन्तन और मनन करेंगे, त्यों-त्यों जैनधर्म के अहिंसा-सम्बन्धी विचारों की सूक्ष्मता एवं व्यापकता का हमें ज्ञान होता जाएगा। तभी हम समझ सकेंगे कि जैन-धर्म विचारों की कितनी गहराई तक पहुँचा है।

सामाजिक हिंसा का मतलब क्या है? भारत का समाज और सामाजिक जीवन क्या है? वह कैसे बना है? जमीन के अनेक टुकड़ों को समाज नहीं कहते। मकानों का, ईंटों का या पत्थरों का ढेर भी समाज नहीं कहलाता; और न गली-कूचे का, या दूकान का या सड़क आदि का नाम ही समाज है। ब्यावर का समाज या दिल्ली का समाज जब कहा जाता है तो उसका अभिप्राय होता है—ब्यावर या दिल्ली में रहने वाला मानव-समुदाय।

एक समाज का दूसरे समाज के साथ कैसा व्यवहार है? कैसी पारस्परिकता है—सम्बन्ध मीठा है या कड़वा? एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ और एक मुहल्ले का दूसरे मुहल्ले के साथ घृणा और द्वेष का

सम्बन्ध तो नहीं चल रहा है ? यदि काली घृणा चल रही है तो वह 'सामाजिक हिंसा' कहलाएगी। इसी प्रकार यदि एक प्रान्त की दूसरे प्रान्त के साथ, और एक देश की दूसरे देश के साथ घृणा चल रही है तो वह भी एक प्रकार की 'सामाजिक हिंसा' ही कहलाती है।

जैन-धर्म एक विराट् धर्म है। जन-कल्याण के लिए वह महान् सन्देश ले कर आया है। उसका मूलभूत सन्देश यह है कि—"विश्व के जितने भी मनुष्य है, वे सभी मूलतः एक हैं। कोई भी जाति अथवा कोई भी वर्ग मनुष्य-जाति की मौलिक एकता को भंग नहीं कर सकता।" इस सम्बन्ध में आचार्य जिनसेन ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—"मनुष्य-जाति में जो अलग-अलग वर्ग दिखलाई देते हैं, वे बहुत कुछ कार्यों के भेद से धन्धों के भेद से हैं।"[1] कुछ त्रुटियों और भूलों के कारण भी चल रहे हैं। परिवर्तन ने समाज की परिस्थितियों को इतना बदल दिया है कि वह अखण्ड मानव-जाति आज खण्ड-खण्ड हो गई है और न जाने कितने वर्गों एवं वर्णों में विभाजित हो गई है।

वर्ग-व्यवस्था

भगवान् ऋषभदेव के समय में जब समाज की स्थापना की गई थी तो हमारी मान्यता के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ग या वर्ण कायम हुए।[2] इन वर्गों का एकमात्र आधार उद्योग-धन्धा था। समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही ये वर्ग स्थापित किये गये थे।

एक वर्ग का काम था कि वह समाज को शिक्षित करने के लिए अध्यापक का काम करे, जनता को सही रास्ता दिखलाने का प्रयत्न करे और यदि समाज में भूल और भ्रान्तियाँ उत्पन्न हों तो उन्हें उचित ढंग से ठीक करे। इस प्रकार यह वर्ग ब्राह्मणवर्ण कहलाया। आज की भाँति इस ब्राह्मणवर्ग को निमंत्रण दे कर जिमाने के लिए तैयार नहीं किया गया था और न यह कहने के लिए ही कि—"मैं बहुत ऊँचा एवं पवित्र हूँ और सब मुझसे नीचे हैं, अपवित्र हैं। संसार के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह देने का नहीं; सिर्फ लेने ही लेने का है।" इस मनगढ़न्त सिद्धान्त पर ब्राह्मणवर्ण की स्थापना नहीं हुई थी।

जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार शक्तिशाली लोग अशक्तों एवं असमर्थों का शोषण करना चाहते हैं। यदि शक्तिमान् लोग न्याय और अन्याय को कभी तोलते भी हैं तो उनकी तराजू अपनी बुद्धि होती है और बांट

---

१ 'मनुष्य-जातिरेकैव, जातिकर्मोदयोद्भवा।' —आदिपुराण

२ भगवान् ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र; ये तीन वर्ण स्थापित किए थे। तत्पश्चात् उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की।
—आचार्य जिनसेन-कृत आदिपुराण

अपने स्वार्थ का होता है। अपनी बुद्धि की तराजू पर, अपने स्वार्थ के बांटों से तोलने वाला कब न्याय-अन्याय को सही तौर पर तोल सकता है ? वह न्याय की रक्षा नहीं कर सकता और न उचित-अनुचित का विवेक के साथ विश्लेषण ही कर सकता है। इसीलिये समाज की स्थापना के साथ ही साथ राजनीति का भी प्रवेश हुआ। सबलों द्वारा निर्बल पीड़ित न किए जाएँ, दुर्बलों को भी जीवित रहने का उतना ही अधिकार है जितना कि बलवानों को, अतः उनकी समुचित रक्षा की जाए। इसी प्रयोजन से क्षत्रिय-वर्ग की स्थापना हुई और राजा उनका संरक्षक बन कर आया, पहरेदार के रूप में उसने आपको प्रस्तुत किया। क्षत्रिय-वर्ग और उनका मुखिया 'राजा' महलों में बैठ कर ऐश-आराम करने के लिए नहीं था,' अपितु इसलिए था कि देश के किसी भी कोने में जब अत्याचार होता हो और कोई वर्ग किसी दूसरे वर्ग द्वारा कुचला जाता हो तो वह अपने प्राणों की आहुति दे कर भी उसकी रक्षा करे। क्षत्रियों की स्थापना में यही दृष्टि प्रमुख थी। महाकवि कालिदास ने भी यही कहा है—[3] इसके बाद वैश्य-वर्ग स्थापित हुआ। वह इसलिए नहीं कि दुनियाभर का शोषण करके अपने ही पेट को मोटा बनाए और दुनिया की जेब खाली करके अपनी ही जेब भरता रहे। उसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि प्रजा को जीवन-निर्वाह की सामग्री सर्वत्र सुलभता से उपलब्ध हो। कोई वस्तु कहीं बहुतायत से पैदा होती है, कहीं कम, या कहीं होती ही नहीं है। जहाँ जो चीज बहुतायत से होती है वहाँ वह उपभोग के बाद भी पड़ी सड़ती रहती है, और जहाँ पैदा नहीं होती वहाँ के लोग उसके अभाव में असुविधा अनुभव करते हैं और कष्ट सहते हैं। इस विषम परिस्थिति को दूर करना और यथावश्यक सुविधाएँ सर्वत्र सुलभ कर देना, वैश्य-वर्ग का कर्त्तव्य था। इस कर्त्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करते हुए अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए वह उचित पारिश्रमिक ले लिया करता था। वैश्य-वर्ग की स्थापना में यही मूल उद्देश्य सन्निहित था।

चौथा शूद्र-वर्ग था, जिसका कार्य भी बड़ा महत्वपूर्ण था। समाज की सेवा करना ही उसका दायित्व था। उसकी सेवा की बदौलत समाज स्वस्थ रहता था और प्रजा का जीवन सुख-सुविधा के साथ व्यतीत होता था। शूद्र-वर्ग की स्थापना में किसी प्रकार की मानसिक संकीर्णता तथा हीनभावना काम नहीं कर रही थी। तब फिर यह कल्पना की जा सकती है कि वर्ण-व्यवस्था कायम करते समय शूद्र-वर्ग को यदि किसी भी अंश में अन्य वर्णों की तुलना में हीन माना गया होता, तो फिर कौन इस वर्ण-व्यवस्था में सम्मिलित होने को तैयार होता ? वस्तुतः उन समाजस्रष्टाओं में ऐसी कोई विकृत भावना नहीं थी। जैसे अन्यान्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य से

३ क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।

—रघुवंश महाकाव्य

कायम किये गए थे, उसी प्रकार यह वर्ग भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था।

सही मान्यता

प्राचीन साहित्य में ब्राह्मणों को 'मुख' कहा है। आमतौर पर यह उक्ति प्रचलित है कि—ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओं से, वैश्य की उत्पत्ति ब्रह्मा के हरु या पेट से, और शूद्र ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न हुए।[४]

आज ब्राह्मण-समाज इस बात को तो बड़े गौरव के साथ दोहराता है कि हम ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं, किन्तु इसके वास्तविक रहस्य को समझने का वह स्वप्न में भी प्रयत्न नहीं करता। ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का मूल अर्थ इतना ही है कि आप जो चिन्तन और मनन करते हैं, उसका उपयोग मुख द्वारा कीजिए। आप अपने ज्ञान को पवित्र वाणी के द्वारा प्रकाशित करके मानव-समाज की सेवा कीजिए! इस भ्रम में कदापि न रहिए कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से बाहर निकल पड़े हैं। जिस तरीके से अन्य लोग पैदा होते हैं, उसी तरीके से ब्राह्मण भी पैदा होते हैं। भला यह कौन नहीं जानता? मुख से पैदा होने की बात तो केवल रूपक है और उसका आशय इतना ही है कि ब्राह्मणों का मुख्य कर्त्तव्य शिक्षा-ज्ञान के द्वारा समाज की सेवा करना है। वह अलंकार जीवन की पवित्रता का सन्देश ले कर आया था।

क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजाओं से उत्पन्न हुए, यह भी आलंकारिक भाषा है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि क्षत्रिय-वर्ग अपनी भुजाओं के बल से निर्बलों की रक्षा करे, जो कि सबलों द्वारा सताये जाते हैं और जो अन्याय एवं अत्याचार के शिकार बन रहे हैं। जहाँ शोषकों के क्रूर हाथों से अन्याय-अत्याचार बरस रहे हों, वहाँ क्षत्रिय का हाथ चोट पहुँचाने के लिए नहीं; अपितु उन दुर्बलों को अपनी छाया प्रदान करने के लिए पहुँचना चाहिए।

हम लोग जो भोजन करते हैं, वह पेट में जमा हो जाता है। किन्तु पेट में जमा हुआ भोजन रस के रूप में सारे शरीर में पहुँचता है। ऐसा कदापि नहीं होता कि पेट में पहुँचा हुआ भोजन पेट में ही रह जाए और अकेला पेट ही उसे हजम कर जाए और किसी दूसरे अवयव को अणुमात्र भी न मिलने पाए। हमारे शरीर का प्रत्येक अवयव क्रिया कर रहा है, वह पेट में पहुँचे भोजन की बदौलत ही तो है! यदि पेट सम्पूर्ण शरीर को शक्ति न दे, तो हमारे शरीर का अस्तित्व टिक ही नहीं सकता। फिर जब शरीर ही नष्ट हो जाएगा तो क्या अकेला पेट टिक सकेगा? पेट की बदौलत यदि सम्पूर्ण शरीर टिका हुआ है तो सारे शरीर की बदौलत पेट भी टिका हुआ है।

---

४ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः,
उरू तदस्यासीद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत। —यजुर्वेद, पुरुषसूक्त

आशय यही है कि पेट में जो भोजन पहुँचता है वह रस, रक्त, मांस, चर्बी आदि के रूप में सारे शरीर को जीवन प्रदान करता है और शक्ति पहुँचाता है।

वैश्य-वर्ण समाज का उदर है। कृषि एवं वाणिज्य उसका मुख्य उद्योग बतलाया गया है। कृषि के द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुएँ उत्पन्न कर वाणिज्य के द्वारा उन्हें स्थानान्तरित करके सम्पूर्ण समाज को भोजन देना, शक्ति पहुँचाना तथा जीवित रखना उसी का कर्त्तव्य है। उसके इसी महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य को सुन्दर ढंग से प्रतिपादित करने के लिए यह कहा गया है कि वैश्य-वर्ण ब्रह्मा के पेट से उत्पन्न हुआ है।

हृदयहीनता

वैश्य-वर्ण की स्थापना का यह आशय कितना पवित्र था! किन्तु समाज का दुर्भाग्य है कि 'वैश्य' अपनी पवित्र प्रतिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सका। वाणिज्य के नाम पर वह लालच के चंगुल में बुरी तरह फँस गया। बंगाल और बिहार में जब भयानक दुर्भिक्ष फैला हुआ था, सर्वत्र हाहाकार मच रहा था, सड़कों पर चलते हुए भूखे बच्चे और बूढ़े इस तरह गिर जाते थे, जैसे झंझावात में वृक्ष की टहनियां! उसी समय में एक व्यापारी के विषय में मुझे बतलाया गया कि बड़ी तादाद में उसके पास चावलों का संग्रह था। उसने जगह-जगह से खरीद कर भारी स्टॉक जमा कर लिया था। उसके मुनीम बाजारों में चक्कर लगा कर आते और कहते—"तीस रुपया मन चावल बिकते है, क्या बेच दिए जाएँ?"

सेठ कहता—"अभी नहीं, प्रभु की कृपा हो रही है।"

मुनीमों ने कुछ ही दिनों बाद चालीस रुपया मन का भाव बतलाया।

सेठ बोला—"मन्दिर में घी के दीपक जलाओ।"

जब चावलों का भाव चढ़ते-चढ़ते सत्तर रुपया हो गया तो सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—"गोशाला में घास डलवा दो।"

कितना अज्ञान, कितनी जड़ता और कैसी हृदय-हीनता है! क्रूरता की कैसी काली कहानी है! इस मूढ़ स्वार्थपरता की भी कोई सीमा है! पर्याप्त भोजन होते हुए भी भुखमरी का तांडव है!! भूखों का भोजन चारों ओर से बटोर लिया गया है और जब भाव बढ़ते जाते हैं तो खुशियाँ मनाई जाती हैं, उल्लास का अनुभव किया जाता है। इस पर भी दौड़ते हैं धर्म करने के लिए!। मन्दिर में घी के दीपक जल रहे हैं! गोशालाओं में गायों को घास डलवाई जा रही है!! धर्म के आवरण में अधर्म को ढाँपने की कैसी दुस्साहसिकता है!!! मैं पूछता हूँ कि मंदिर में घी के दीपक तो जलेंगे, किन्तु किसके द्वारा? उनसे ही तो जलेंगे, जिनका अनमाना शोषण किया जा रहा है? इस प्रकार के दीपकों में घी नहीं, बल्कि भूखों की चर्बी जला करती है।

व्यापारी वर्ग संसार में इसलिए नहीं आया कि अर्थ-पिपासा की पूर्ति के लिए वह निरीह जनता का शोषण करे! पर आज तो यही हो रहा है। सेठजी की कोठी से

सड़क पर जूठन का पानी डाला जाता है और उस जूठन में मिले हुए चावलों के कणों को उठाने के लिए भूखे और गरीब, कुत्तों की तरह उन पर झपटते हैं। यह सारी स्थिति वे अपनी आँखों से देखते हैं, फिर भी उन्हें तरस नहीं आता। वे अपने हिसाब में मस्त रहते हैं—दो लाख से पाँच लाख हो गए, और पाँच लाख से दस लाख हो गए। मन्दिर में तो घी के दीपक जलाते हैं, किन्तु किसी भूखे को अन्न का दाना भी नहीं दिया जाता।

ठीक है, व्यापारी जब व्यापार करता है तो धन का संग्रह भी उसके पास होगा ही। परन्तु आचार्यों ने कहा है—'तू सौ हाथों से बटोर और हजार हाथों से बिखेर'[५] अर्थात्—संग्रह करने की शक्ति जो तुममें है, उससे दसगुनी शक्ति उस सम्पत्ति को बाँटने की होनी चाहिए। जब सौ हाथों से कमाने की शक्ति है तो हजार हाथों से बाँटने की शक्ति भी प्राप्त कर। जब इस ओर लक्ष्य नहीं दिया जाता है और स्वार्थ ही जीवन का एकमात्र केन्द्रबिन्दु बन जाता है, तो वहाँ सामाजिक हिंसा आ जाती है।

चौथा वर्ग शूद्रों का है। उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से मानी गई है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि आज तो 'शूद्र' शब्द घृणा और तिरस्कार का पर्यायवाची-सा बन गया है। शूद्र का नाम लिया कि लोगों की त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं और अपने आपको ऊँचा मानने वाले लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं। आप समाज-सेवा के अपने पवित्र दायित्व को भुला कर सिर्फ व्यक्तिगत लाभ के लिए काम करते हैं, जबकि अधिकांश शूद्र आज भी समाज-सेवा का कठिन उत्तरदायित्व सेवा के लिए ही वहन कर रहे हैं। किन्तु जब वे इन्सान की तरह आपके पास बैठना चाहते हैं तो आप उन्हें पास बैठाना भी नहीं चाहते। यह कितने आश्चर्य की बात है!

इन्सान को नहीं

आपकी मोटरों में कुत्ते और बिल्ली को तो जगह मिल सकती है। आपकी गोद में कुत्ते को स्नेहपूर्ण स्थान मिल सकता है। बिल्ली, भले ही कितने चूहों को मार कर आ गई हो, पर वह आपके चौके के कोने-कोने में बेरोक-टोक चक्कर लगा सकती है और आप उसे प्यार भी कर सकते हैं, किन्तु मानव-देहधारी शूद्र को यह हक हासिल नहीं है! इन्सान को इन्सान के पास बैठने का भी हक नहीं है! पास बैठने का हक देते हैं या नहीं, उसका फैसला बाद में करेंगे, किन्तु आप तो धर्मस्थान में भी उसे प्रवेश नहीं करने देते! जब ऐसी विषमता है तो मैं सोचता हूँ कि इससे बढ़कर और क्या सामाजिक हिंसा होगी कि एक ओर तो आप अपनी पवित्रता का ढोल पीटते रहें और दूसरी ओर दूसरों की छायामात्र से भी नफरत करते जाएँ।

एक जगह एक हरिजन भाई आता है और बड़े प्रेम से उच्च विचार ले कर

---

५ "शतहस्तं समाहर, सहस्रहस्तं संकिर।।"

आता है। उसने मांस खाना और मदिरा पीना छोड़ दिया है। वह जैन-धर्मानुसार अष्टमी और चतुर्दशी का व्रत भी करता है। आपके धार्मिक जीवन की प्रमुख क्रियाएँ—'सामायिक' और 'पौषध' भी वह करता है। सन्तों के दर्शन भी करता है। परन्तु जब वह व्याख्यान सुनने आता है तो उसे निर्देश दिया जाता है—'नीचे बैठ कर सुनो!'

वह बेचारा नीचे बैठ कर सुनता है और आप चौक की ऊँचाई पर बैठ जाते हैं। अब इसमें अन्तर क्या पड़ा? जो हवा उसे छूकर आ रही है, वह आपको भी लग रही है। तो अब आप ईश्वर के दरबार में फरियाद ले जाइए कि हवा हमें भ्रष्ट कर रही है, अतः उसे इधर बहने से रोक दीजिए! सूर्य का भी जो प्रकाश उस पर पड़ रहा है, वही आप पर भी पड़ रहा है! सन्त की जो वाणी उसके कानों में पड़ रही है, वही आपके कानों में भी पड़ रही है! शास्त्र का जो पाठ बोला जा रहा है वह इतना पवित्र है कि जिसकी कोई सीमा नहीं है। तो उस पाठ की पवित्र ध्वनि को आप अपने ही कानों में सुरक्षित रख लीजिए। दीवार खींच दीजिए, जिससे कि वह उद्घोष उसके कानों में पड़ कर अपवित्र न हो जाए। भला, यह भी कोई युक्तिसंगत बात है कि एक वर्ग अपनी मनमानी विशिष्टता को प्रदर्शित करने के लिए दूसरे वर्ग के समान अधिकारों पर अवांछनीय प्रतिबन्ध लगाए और सामाजिक नियमों का दुस्साहस के साथ उल्लंघन करे।

अस्पृश्यता

आज के इस प्रगतिवादी युग में भी ऐसे संकीर्ण विचार के लोग देखे जाते हैं कि यदि हरिजन आया और सन्त के पैर छू गया तो वे दूर खड़े-खड़े ही वन्दना कर लेते हैं और साधु के चरण नहीं छूएँगे, क्योंकि वे चरण अछूत जो हो गए हैं! किन्तु इसी बीच यदि कोई दूसरा आ गया और उसने चरण छू लिए तो वे सेठजी आए और उन्हीं चरणों को छू गए। बीच में दूसरे के छूने से शायद उनकी अछूत उतर गई और अब वे चरण छूने योग्य हो गए।

मैंने जब एक हरिजन भाई के साथ ऐसा व्यवहार होते देखा तो चेतावनी दी कि यह तो भगवान् महावीर की पवित्र वाणी का अपमान है कि एक हरिजन तो जूतियों में बैठकर सुने और आप अपनी मनमानी विशिष्टता के कारण दरियों पर बैठ कर सुनें। मेरी चेतावनी पर इन्होंने भगवान् महावीर की वाणी का आदर करके उक्त हरिजन बन्धु को दरी पर बिठलाना शुरू किया। फिर भी कुछ भाई तो ऐसे थे, जो उसे दरी पर बैठा देख स्वयं नीचे बैठ जाते और नीचे बैठे-बैठे ही व्याख्यान सुनते थे। इसमें भी कोई आपत्ति नहीं, परन्तु घृणा से किया हुआ यह त्याग भी वास्तविक नहीं है। आशा है, वे भाई भी धीरे-धीरे इस बात को भलीभाँति समझ जाएँगे।

आज का मानव अपने मन की संकीर्णता में कितना बुरी तरह उलझा हुआ है? भगवान् महावीर ने अपने युग में इस मानसिक संकीर्णता को सुलझाया था किन्तु वह

आज भी पूरी तरह नहीं सुलझ पाई। उनके बाद ढाई हजार वर्ष की लम्बी परम्परा गुजरी और आचार्यों ने समय-समय पर अस्पृश्यता का तीव्र विरोध भी किया, फिर भी वह उलझन आज तक भी बनी हुई है। दुर्भाग्य से कई ऐसे भी साधु आए, कि जिन्होंने जनता की रूढ़िवादी आवाज में आवाज मिला दी और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन देने लगे। जिसके लिए जैन संस्कृति को एक दीर्घ घोर संघर्ष करना पड़ा था, जिसके लिए वास्तिकता का उपालम्भ तक भी सहना पड़ा था। दुर्भाग्य से आज वही पवित्र संस्कृति घृणित अस्पृश्यतावाद के दलदल में फँस गई। यहाँ तक कि अस्पृश्यता के पक्ष में शास्त्र के प्रमाण भी आने लगे। कहा जाने लगा कि वह ऊँचा है, वह नीचा है और जो नीचा है वह अपने अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है। किन्तु शास्त्र ने आरम्भ में ही इतनी बड़ी बात कह दी थी कि—सब मनुष्यों की जाति 'एक' ही है।[६] मनुष्यों में दो जातियाँ हैं ही नहीं। फिर भी संकीर्णतावश उसमें उच्चता और नीचता खोजी जाने लगी। इस वर्ग-भेद ने अखण्ड मानवपरिवार को विभिन्न टुकड़ों में बाँट दिया और जातिमद ऐसा चढ़ा कि शास्त्रों की पवित्र आवाज क्षीण हो गई। हमने वास्तविकता को भुला दिया और अपने मिथ्याभिमान के कारण दूसरे मनुष्य का अपमान करने को उतारू हो गए।

यदि एक हरिजन भाई पवित्र विचारों का अनुयायी हो चुका है। वह भगवान् महावीर के उपदेशों को स्वीकार कर चुका है, उसके हृदय में जैन-धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा और अटूट प्रीति है, फिर भी एक जैन उसकी कोई परवाह नहीं करता और इन्सान की तरह बैठने का हक भी उसे नहीं देना चाहता। क्या यही आपका सहधर्मी-वात्सल्य है? भगवान् महावीर ने आपको सहधर्मी के साथ क्या ऐसा ही व्यवहार करना सिखाया था? जब वह सहधर्मी के प्रति ऐसा व्यवहार कर सकता है तो फिर दूसरों के साथ वह कटु व्यवहार क्यों न करेगा?

उत्तर प्रदेश में पहले ओसवाल और अग्रवाल एक दूसरे के यहाँ भोजन नहीं करते थे। समय और समझ के प्रभाव से अब कुछ ठीक-ठीक समझौता होता जा रहा है। यह संक्रामक रोग तो यहाँ तक फैला हुआ है कि ओसवालों और अग्रवालों में भी अनेक टुकड़े हो गए हैं और वे मूलतः एक वर्ग के होते हुए भी एक-दूसरे उपवर्ग के हाथ का भोजन नहीं करते।

वस्तुतः मध्यकालीन संस्कृति में कुछ ऐसी जड़ता आ गई थी कि वह सब जगह से हट कर एकमात्र चौके में बन्द हो गई। लोग न जाने कैसे समझ बैठे कि 'अमुक का छुआ खा लिया तो धर्म चला जाएगा।'

एक ओर अद्वैत के उपासक, उद्घोषक तथा बड़े-बड़े आचार्य वेदान्त के सूत्र भी जनता के सामने लाते रहे कि सारा संसार पर-ब्रह्म का ही रूप है—"एक ब्रह्म ही

---

६ "मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।"

सत्य है और संसार के अन्य सब रूप मिथ्या हैं।"[७] दूसरी ओर अछूत की छाया-मात्र से उनका ईश्वर और धर्म भागता है।

वेदान्त तो यह कहता है—पानी से भरे हजार घड़े रखे हैं। उनमें कुछ सोने के हैं, कुछ चांदी के हैं, कुछ पीतल और तांबे के हैं और कुछ मिट्टी के हैं। परन्तु उन सब में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब एक समान ही पड़ता है। इसी प्रकार संसार के सारे पदार्थों में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब समानरूप से पड़ रहा है।

हमारे साथी कितने प्रगतिवादी हैं? जब कभी वे धर्म-सम्बन्धी बातें करते हैं और उमङ्ग में आते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि सच्चा ब्रह्म-ज्ञान इन्हीं को मिल गया है और वे हिमालय के ऊपर बैठ गए हैं। किन्तु जब खान-पान की बात सामने आती है तो उनका ब्रह्म-ज्ञान न जाने कौन-सी कन्दरा में छिप जाता है? उस समय ऐसा लगता है, मानो उनकी एक टांग हिमालय की ऊँची चोटी पर है और दूसरी पाताललोक के अतल गह्वर में। वास्तविक प्रगति की ऐसी स्थिति नहीं होती। जीवन इस तरह प्रगति नहीं कर सकता।

इस प्रकार एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर या एक समूह का दूसरे समूह पर घृणा-द्वेष प्रदर्शित करना, सामाजिक हिंसा है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज बहुतेरे लोग सामाजिक हिंसा को पाप या अधर्म नहीं, बल्कि धर्म मानते हैं। गृहस्थों की तो बात दूर रही, साधु-समाज भी इस सामाजिक अपवाद से अछूता नहीं रहा है। उनकी गोचरी के विषय में भी यह खटराग चल रहा है। शास्त्रों की दिव्य सूचनाएँ हमें प्रकाश पर प्रकाश दे रही हैं, फिर भी साधु समाज कल्पित मान्यताओं के अन्धकार में बुरी तरह भटका हुआ है।

किसका पानी?

मेरे एक ब्राह्मणभक्त हैं। वे मिल-मालिक भी हैं। पहले वे जैन-धर्म के कट्टर विरोधी समझे जाते थे, किन्तु जब वे मेरे सम्पर्क में आए तो उनका वह विरोध नहीं रहा। कार्यक्रम के अनुसार मैं जहाँ कहीं होता हूँ, बहुधा वे भेंट के लिए आया करते हैं। जब वे एक बार बिहारप्रान्त से लौट कर आये तो बोले—"महाराज, धर्म का तो नाश हो गया! धर्म नाम का कोई चिन्ह अब रहा ही नहीं!"

मैंने पूछा—"क्या बात हुई?"

वे बोले—"कुछ पूछिए ही नहीं! स्टेशन पर मैंने पानी माँगा तो पानी वाले ने कहा—लीजिए! मैंने पूछा—कैसा पानी है? तब उसने कहा—पीने का साफ पानी है। मैंने फिर पूछा—अरे भाई, साफ तो है, पर है कैसा? वह बोला-ठंडा है साहब!' विवश हो कर मुझे पूछना ही पड़ा—'किसका पानी है?' उसने धीरे से कह दिया कि कुएँ का है और ताजा है। फिर मुझे साफ शब्दों में कहना ही पड़ा—मैंने

---

७ 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।'

कुएँ या तालाब का नहीं पूछा है—मैं पूछता हूँ कि यह पानी हिन्दू का है या मुसलमान का ? तब वह बोला—पानी कौन होता है साहब ? पानी न तो हिन्दू होता है और न मुसलमान ही; पानी तो पानी है। अतएव आप यह पूछ सकते हैं कि पानी नदी का है, तालाब का है या कुएं का ? ठंडा है या गरम है ? साफ है या गन्दा है ? किन्तु पानी न तो हिन्दू है और न मुसलमान।" तो महाराज, जब उसने यह कहा तो मैंने पानी लिया ही नहीं। दो, चार स्टेशनों तक मैं प्यासा ही रहा। आखिर कब तक प्यासा रहता ? जब नहीं रहा गया तो अन्ततः वह पानी पीना ही पड़ा।'

मैंने उन सज्जन से पूछा—"अब क्या करेंगे ?"

वे बोले—'गङ्गाजी जाएंगे और स्नान करके शुद्ध हो जाएंगे।'

मैंने कहा—"गंगाजी जाने से क्या होगा ? वह पानी तो अन्दर चला गया और पेशाब के द्वारा बाहर भी निकल गया। और आपकी मान्यता के अनुसार तो संस्कार चिपक ही गये हैं। फिर आप क्या करेंगे ? और भाई, इस जमीन पर चलना कब छोड़ेंगे, क्योंकि इसी पर शूद्र भी चला करते हैं ? शूद्रों की चली जमीन पर चलने से भी तो बुरे संस्कार चिपक जाते हैं न ?"

जब उन्हें विचार आया तो गम्भीरभाव से बोले—"क्या वे पुरानी परम्पराएं गलत थीं ?" मैंने कहा—हाँ, ऐसी परम्पराएं निस्सन्देह गलत और निराधार हैं।

मानसिक दुर्बलता

अपनी गलतियों को, चाहे वे एक हों या हजार, सबके सामने हम स्पष्टतः स्वीकार करेंगे। दुर्भाग्यवश साधुओं में भी यह मानसिक दुर्बलता है, जो उन्हें आगे नहीं बढ़ने देती। गृहस्थों की गलतियां और भूलें उन्हें भी तंग कर रही है। इसके परिणामस्वरूप समाज विभिन्न टुकड़ों में बंट गया है और उसके कारण होता ऐसा है कि हम अनेक बार धर्म-स्नेहियों का भी यथोचित आदर नहीं कर पाते। कई वर्ष हो जाते हैं, वे मांस और शराब को हाथ तक नहीं लगाते। हमारे प्रत्येक धार्मिक आयोजन में भी शामिल होते हैं, फिर भी उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता। यहां तक कि पानी और रोटी का भी सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी हम जैन-धर्म के विश्वधर्म होने का दावा करते हैं और गर्व के साथ कहते हैं कि नरक में, स्वर्ग में और तिर्यञ्च-योनि में भी सम्यक्त्वी भाई हैं, जो जिनधर्म का पालन कर रहे हैं।

एक ओर तो हमारा यह सांस्कृतिक सौहार्द एवं व्यापक दृष्टिकोण है, और दूसरी ओर हमारा यह संकीर्ण मनोभाव और क्षुद्र व्यवहार है। क्या दोनों में अंशमात्र भी सामंजस्य है ? नरक और स्वर्ग के धर्मात्माओं की, स्वधर्मी भाइयों की बातें करने वाले अपनी ही बगल में बैठे इन्सान को, जो कि धर्माराधन कर रहा है, अपनाने में ही हिचक जाते हैं। अरे, उसको तो स्वधर्मी बन्धु के रूप में गले लगाना चाहिए। यदि आपके हृदय में उसके प्रति अंशमात्र भी प्रेम नहीं जगा, अपितु उसे दुरदुराते ही रहे, तो समझना चाहिए कि आपके हृदय में अभी तक धर्म के प्रति सच्चा प्रेम जागृत नहीं

हुआ है। जो धर्म से प्रेम करता है वही सच्चा धर्मनिष्ठ है और वह धर्मात्माओं से प्रेम किए बिना कभी नहीं रह सकता।

जाति नहीं, पानी चाहिए !

इस प्रसंग में बुद्ध के एक शिष्य 'आनन्द' की बात प्रस्तुत की जा सकती है। 'आनन्द' किसी गाँव में गये तो उन्हें प्यास लग आई। उन्होंने देखा कि एक बालिका कूएँ पर पानी भर रही है। वे उसके पास पहुँचे और उससे कहा—"बहन, पानी पिला दो।"

बालिका ने कहा—"मैं चाण्डाल की कन्या हूँ।"

उस बालिका के इस स्पष्ट कथन के उत्तर में आनन्द ने बहुत ही सुन्दर बात कही है। इतनी सुन्दर और आदर्शयुक्त कि २५०० वर्षों में फिर कभी वैसी बात सुनने को नहीं मिली। 'आनन्द' ने अपने स्वाभाविक सहजभाव से कहा—"बहन, मैंने जाति तो नहीं माँगी, केवल पानी माँगा है। मुझे तुम्हारी जाति नहीं पीना है, पानी पीना है !" आनन्द के इस आदर्शपूर्ण स्पष्टीकरण से शूद्र बालिका का जाति-संकोच विलीन हो गया और उसने पानी पिला दिया।

आनन्द ने आनन्दपूर्वक पानी पिया। शूद्र बालिका सोचने लगी—"भारतवर्ष में क्या अब भी ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जो जाति नहीं, पानी पूछते हैं। और तब उस बालिका ने साहस के साथ पूछा 'क्या भूतल पर कोई ऐसी जगह भी है, जहाँ हम भी दूसरों की भाँति बैठ कर अपना जीवन प्रशस्त कर सकें ?"

आनन्द ने कहा—"क्यों नहीं ? सम्पूर्ण भूमण्डल पर प्रत्येक जाति और वर्ण का समान अधिकार है। जहाँ एक ब्राह्मण जा सकता है, वहाँ तुम भी जा सकती हो। बुद्ध के समवसरण में जितना आदर एक ब्राह्मण को मिलता है, उतना ही चाण्डाल को भी मिलेगा।

अन्त में वह चाण्डालकन्या बुद्ध की शरण में जाती है और भिक्षुणी बन जाती है।

जब ऐसी आदर्श की बातें आती हैं तो निःसन्देह हृदय गद्गद् हो जाता है। हम अपने जैन-संघ की गौरव-गाथाएँ भी सुनते और जानते हैं कि उसने भी कितना उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण अपनाया था। महात्मा हरिकेशबल और मुनिवर मेतार्य की कथाएँ जैन-धर्म और जैन-संघ की अतिमूल्य एवं उज्ज्वल कथाएँ हैं, जो हमें आज भी प्रकाश दे रही हैं। किन्तु दुर्भाग्य से हमने अपनी आँखें मूँद ली हैं और कूपमण्डूक की भाँति हम अन्धकार में ही अपना कल्याण खोज रहे हैं। हमने अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर कभी नजर नहीं डाली। जिसका दुःखद परिणाम यह हुआ कि इस सामाजिक हिंसा से आज भी हम चिपके हुए हैं। समय और परिस्थितियों के परिवर्तन ने अब हमारे सामने गहराई से सोचने और समझने का सुअवसर प्रदान किया है। जिसका सदुपयोग इस रूप में करना है कि हम सत्य के दिव्यप्रकाश में प्रचलित सामाजिक परम्पराओं को देखें, उनकी शव-परीक्षा करें और उनके अभिशापरूप सामाजिक हिंसा से बचने की चेष्टा करें। ☆

घृणा : समग्र समाज में व्याप्त हिंसा का मूल | २०

संसार में दो प्रकार के विष हैं—एक विष वह है, जो बाहर में रहता है। और दूसरा विष वह है, जो हमारे भीतर में रहता है। जो विष बाहर में रहता है, उसके हजारों रूप हैं, हजारों नाम हैं, मनुष्य को मौत देना उसका काम है; वह संसार को अनेक रूपों में मौत बांटता रहता है। पर, सारे संसार भर के जहरों को एकत्र करके यदि इनका विष-तत्त्व निकाल लिया जाए, मारने की शक्ति को एक बिन्दु में केन्द्रित कर दिया जाए, तब भी वह हमारे अन्दर के जहरों की तुलना में एक नगण्य बिन्दुमात्र होगा। अन्दर के जहर की एक बूंद के बराबर भी संसार के समस्त जहरों की शक्ति नहीं है। इतना भयंकर है भीतर का यह हलाहल जहर!

बाहर का विष कब मारता है? जब वह प्रयोग में लिया जाता है, खाया जाता है। किन्तु अन्दर का यह हिंसारूपी जहर तो प्रतिक्षण और प्रतिपल मारता रहता है और वह हिंसारूपी विष द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि अनेक रूपों में प्रकट होता रहता है तथा मानव-जाति को अपनी विषज्वालाओं से दग्ध करता रहता है। इस जहर के लाखों-करोड़ों ही क्यों, असंख्यरूप हैं। कभी वह पारिवारिक जीवन में आता है तो कभी जातिगत जीवन में, तो कभी साम्प्रदायिक रूप में और कभी राष्ट्रीय रूप में आता है। कभी किसी रूप में, तो कभी किसी रूप में, वह मानव-जाति के विनाश का परवाना ले कर आता है। अपने भयंकर परिणामों से वह संसार को त्रस्त-ध्वस्त कर डालता है। अन्दर के जहरों में एक घृणा का जहर है, जो सबसे भयानक जहर है। इसे कालकूट जहर कह सकते हैं। घृणा और नफरत के जहर ने संसार में जो विनाश-लीला की है, उसका चित्र आँखों के सामने आते ही हृदय कंपित हो उठता है, मस्तिष्क शून्य हो जाता है।

व्यक्ति के प्रति घृणा, वैर को जन्म देती है, हिंसा को बढ़ावा देती है। दूसरों की बदनामी, तोड़-फोड़, निन्दा यह सब घृणा के कुपरिणाम हैं। जीवन और जगत् में जब इसकी जहरीली हवाएँ फैलती हैं तो संसार को जला डालती हैं। भाई-भाई के बीच दीवारें खड़ी कर देती हैं, पिता-पुत्र के बीच गहरी खाइयाँ पैदा हो जाती हैं। मनुष्य इसके प्रभाव में पड़ जाता है तो अपना और अपने परिपार्श्व में आने वाले परिवार, समाज और धर्म तथा देश का विनाश करता चला जाता है, प्रेम, सौहार्द एवं मानवता के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। अतएव भगवान् महावीर के दर्शन ने कहा है—'घृणा जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। जिसने घृणा पर विजय पा ली

उसने संसार पर विजय पा ली। घृणा पर विजय पाने वाला विश्व का सबसे बड़ा विजेता है।"

बुराई घृणा से नहीं, प्रेम से मिटती है

घृणा कब और क्यों पैदा होती है? इस प्रश्न पर जब विचार करते हैं, तो ऐसा लगता है कि यह एक प्रकार का मानसिक उन्माद है, एक दुराग्रही वेग है, जो विनाश के मार्ग पर बह रहा है, मानवजीवन को बर्बाद कर रहा है।

जीवन में बुराइयाँ और गलतियाँ होती हैं, भूलें होती हैं और उनका परिमार्जन भी किया जाता है, प्रतिवाद भी किया जाता है, उन्हें सुधारने के प्रयत्न भी होते हैं। जब रोग है, तो उसे दरगुजर नहीं किया जा सकता, उसका प्रतिकार और उपचार करना ही पड़ेगा। बुराई के साथ संघर्ष करने का मनुष्य को अधिकार है और यदि वह अधिकार छीन लिया जाए तो संसार में रावणों का राज्य छा जाएगा। मनुष्य की नैतिकता और सच्चरित्रता का फिर कुछ भी मूल्य नहीं रह पाएगा। जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाएगा और एक दिन धीरे-धीरे वह समाप्त ही हो जाएगा। अतएव भूलों के साथ संघर्ष तो होना चाहिए और वह जीवट के साथ होना चाहिए। मनुष्य अपनी भूलों से संघर्ष करे, अपनी बुराइयों से लड़े। यदि बुराई परिवार में है तो उसे सुधारने के लिए कटिबद्ध रहे। समाज का क्षेत्र तो भूलों का एक केन्द्र ही बन रहा है। व्यक्तियों के जीवन की बहती हुई अनेक भूलें वहाँ आ कर एकत्र हो जाती हैं। यदि समय पर उनका परिहार या परिष्कार नहीं किया जाए तो समाज में अव्यवस्था, अशान्ति और अनास्था का वातावरण पैदा हो जाता है।

हम भूलों को परिष्कृत करने की बात करते हैं, इससे पहले अपने परिष्कार की बात भी सोच लेनी चाहिए। जिस व्यक्ति, परिवार या समाज की भूलों की हम बात करते हैं, उनके प्रति हमारे मन में घृणा का भाव तो नहीं है? व्यक्तिगत द्वेष या घृणा से प्रेरित हो कर तो हम उसकी ओर अंगुली नहीं उठा रहे हैं? यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यदि मन में घृणा है तो बुराई साफ नहीं होगी, भूलों का सुधार नहीं हो सकेगा, अपितु और अधिक गंदगी फैलेगी, भूलें और अधिक उलझ जाएँगी। नफरत से कभी बुराई मिटती नहीं, बल्कि और अधिक बढ़ती है। वस्त्र पर लगे खून के दाग को धोने का यह तरीका नहीं है कि उसे खून से साफ किया जाए। खून का दाग खून से नहीं, अपितु पानी से साफ किया जाता है। आग को आग से नहीं बुझाया जाता, वह पानी से बुझाई जाती है। बुराई में एक और बुराई डाल कर हम उसे मिटाना चाहें, तो वह मिट नहीं सकेगी, बल्कि एक के बाद एक बुराइयों की एक लम्बी परम्परा खड़ी होती चली जायेगी। इसलिए बुराई को मिटाने का प्रयत्न करने से पहले यह देखना चाहिए कि हमारे मन के किसी एक कोने में वह गन्दगी छिपी तो नहीं है, जिसे हम बाहर से मिटाना चाहते हैं। यदि भीतर में कहीं गन्दगी दबी रही, तो बाहर की सफाई निरर्थक होगी।

घृणा से किया गया त्याग, त्याग नहीं

भगवान् महावीर का दर्शन इस सम्बन्ध में एक बहुत ही विलक्षण बात कहता है। आप किसी वस्तु का त्याग करते हैं, उससे अपना रागात्मक सम्बन्ध तोड़ते हैं, पर यदि वह त्याग किसी घृणा या द्वेष से प्रेरित हो कर करते हैं, तो वह मानसिक शुद्धि का हेतु न हो कर उलटा पतन का कारण बन जाता है। त्याग का अर्थ वस्तु का प्रयोग न करना ही नहीं है, अपितु उसके साथ आपकी मनोवृत्ति कैसी है, आपका मानसिक लगाव किस प्रकार का है, यह भी मुख्य बात है। मान लीजिये, परिवार में किसी से झगड़ा हो गया, एक दूसरे से तन गए और ऐसे तने कि बोलना भी बन्द कर दिया। चाहे भाई-भाई हो या पति-पत्नी परस्पर 'अबोला' हो गया। अहंग्रस्त क्रोध में दिन-भर चुपचाप पड़े रहे, किसी से कुछ बोले नहीं, किसी से कुछ कहा नहीं, तो यह क्या मौनव्रत की साधना हुई? यह कलहजनक 'अबोला' का मौन क्या आत्मा की विशुद्धि का कारण हो सकता है? भगवान् महावीर ने कहा है, यदि क्रोधवश किसी से अनबन हो गई हो, अबोला हो गया हो, तो सबसे पहले उस मौन को तोड़ कर क्षमायाचना करो। क्रोध या द्वेष के कारण किया हुआ कोई भी त्याग त्याग नहीं है, कोई भी 'पच्चक्खाण' पच्चक्खाण नहीं है, राग का त्याग वीतरागभाव से होना चाहिए, द्वेष-भाव से नहीं। द्वेषभाव से किया गया राग का त्याग कर्मबन्ध का हेतु है। अतः वह आत्मशुद्धि का साधक नहीं, अपितु बाधक है।

'विवित्तचरिया'—एकान्तवास तप है, किन्तु किसी से कलह एवं झगड़ा करके यदि कोई कमरा बन्द करके सो जाए, एकान्त में कहीं अकेला चुपचाप पड़ा रहे, तो क्या इसे विवित्तचरिया कहेंगे? क्या वह एकान्तवासरूप तप कहा जायेगा? इस प्रकार कलह में एकान्तवास होगा भी कहाँ? आदमियों से दूर रहे, भीड़ से दूर रहे, पर, मन के विकारों से तो घिरे रहे, क्रोध और घृणा के भाव तो आत्मा से चिपटे रहे। यह एकान्तवास नहीं है। आत्मा की शुद्धि का कारण नहीं है। मौन हो, उपवास हो, या एकान्तवास हो, यदि ये सब घृणा, क्रोध एवं द्वेषबुद्धि से किये जाते हैं, तो देहदण्ड हो सकते हैं, कष्ट एवं दुःख हो सकते हैं, पर तप नहीं हो सकते, त्याग नहीं हो सकते, उससे कर्मों की निर्जरा नहीं होती। अपितु कर्मों का तीव्रबन्ध होता है, पूर्व स्थिति से भी भयंकर।

त्याग, राग-द्वेष से परे हो कर

आध्यात्मिक क्षेत्र में जैसे कि राग से बच कर चलने को कहा है, वैसे ही द्वेष से भी बच कर चलने का उपदेश दिया है। दोनों से ही दूर तटस्थवृत्तिपूर्वक चलना है, ग्रहण और त्याग दोनों ही तटस्थभाव से होने चाहिए। जो भी प्रवृत्ति करो, वह वस्तुनिष्ठ नहीं, उपयोगितानिष्ठ हो कर करो। उपयोग करने में न राग का भाव होना चाहिये और न द्वेष का। वस्तु के साथ राग का भाव जुड़ा रहा तो उपयोग में आने के बाद भी उससे राग नहीं छूटेगा। वस्तु छूट जाने पर, आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर

भी मनुष्य उसके साथ यदि रागपूर्वक चिपटा रहता है, तो फिर वह उपयोग आनन्द की जगह संताप और कष्ट का कारण बन जाता है।

भोजन किया जाता है। किसलिए ? भूख की निवृत्ति के लिये। भूख लगी तो भोजन कर लिया, भूख शान्त हुई तो उससे निवृत्त हो गए। भोजन की उपयोगिता भूख-निवारण के लिये है या भोज्यवस्तु की स्वादिष्टता के लिए ? भूख-निवारण के लिये भोजन करना नैतिक है, किन्तु स्वाद्या राग के वश हो कर भोजन करना अनैतिक है। भूख मिटाने के लिये खाने वाला व्यक्ति जब तक जरूरत होती है, खाता रहता है, जब देखता है कि अब जरूरत नहीं है, तो तुरन्त भोजन बन्द कर देता है। कितने ही स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ क्यों न हों, वह नहीं खाएगा। किन्तु जब भोजन आवश्यकता एवं उपयोगिता की दृष्टि से हट कर राग की दृष्टि से जुड़ जाता है तब वह जरूरत न होने पर भी खाया जाता है : पेट मना कर रहा है महाराज ! बस कृपा करो, अब जगह नहीं है, पर वह खाता चला जाता है। उससे पूछिए इतना क्यों खाते रहे, तो कहेगा—"क्या करें भाई ! अच्छी चीज थी, खाते चले गये, जीभ से छूट नहीं सकी।" मतलब यह कि भूख तो नहीं थी, जरूरत भी नहीं थी, किन्तु चीज स्वादिष्ट थी, इसलिये छोड़ नहीं सके, ज्यादा खा गये, और अब कष्ट पा रहे हैं। यह राग का लक्षण है। इसी प्रकार द्वेष से भी कष्ट उठाना पड़ता है। भोजन करने बैठे हैं, पर उसी समय किसी पर क्रोध आ गया, अथवा वस्तु स्वादिष्ट न होने से उसी पर द्वेष उमड़ पड़ा। ग्रास मुँह में डाल तो रहे हैं, पर वह बाहर आ रहा है, निगला नहीं जा रहा है। मन में संताप हो, द्वेष की आग दहक रही हो, तो भोजन चल नहीं सकता। आधे पेट ही आप उठ जाते हैं, भूखे रह जाते हैं तो यह भूखा रहना भी कोई तप नहीं हुआ, उपवास नहीं हुआ। दोनों ही जगह दोष है, राग में भी और द्वेष में भी ! राग और द्वेष से परे हो कर तटस्थभाव से जो किया जाता है, वह धर्म है, त्याग है।

इस प्रकरण में दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार भोजन ग्रहण करने में राग और द्वेष निमित्त बनते हैं, उसी प्रकार भोजन छोड़ने में भी बन सकते हैं। भोजन का त्याग किया जाता है तो किसलिए ? जैनदर्शन ने एक विलक्षण बात कही है कि ज्ञानी पुरुष (साधक) भोजन करते हुए भी कर्म निर्जरा करता है। आप पूछेंगे—यह कैसे ? यही तो साधना है। जिस कार्य को करते समय दूसरे हजारों-लाखों मनुष्य कर्मबन्ध करते हैं, उसी कार्य को करते हुए साधक आत्मा की शुद्धि करता चला जाता है इसमें बाह्य कार्य का महत्त्व नहीं, अपितु अन्दर में कर्म में अकर्म की साधना का महत्त्व है। साधक भोजन करता है, तब भी आत्मा की शुद्धि के लिए, और छोड़ता है, तब भी आत्मा की शुद्धि के लिए। क्यों ? यही कि न उसके करने में राग है और न उसके छोड़ने में द्वेष ! राग-द्वेष से मुक्त हो कर वह सिर्फ उपयोगिता और आवश्यकता की दृष्टि से कर रहा है, इसलिए आत्म-साधक का भोजन करना भी धर्म कहा गया है। साधना का ही एक अंग माना गया है।

जिस प्रकार राग से वस्तु का अधिक उपयोग किया जाता है उसी प्रकार राग से प्राप्त वस्तु का उपयोग नहीं भी किया जाता है। उपयोग में लाएँगे तो वस्तु खराब हो जाएगी, अतः उसको सँभाल कर, सहेज कर रखने की भावना भी राग से ही सम्बद्ध रहती है। इस प्रसंग में मुझे स्व० श्रीगणेशप्रसादजी वर्णी का एक संस्मरण याद आ रहा है। श्रीवर्णीजी जैनसमाज के एक अच्छे गम्भीर चिन्तक रहे हैं। उनसे मेरा निकट का सम्पर्क रहा है, बड़े ही सरल उदार एवं भव्य प्रकृति के मानव थे वे। उन्होंने अपनी एक बात सुनाई थी कि एक बार अपनी माँ[1] के साथ चाँदी के बर्तनों की दुकान पर चले गये। चाँदी के बर्तन देखे तो लेने के लिए मन चंचल हो उठा। माँ ने समझाया कि भोजन करने के लिए तो काँसे और पीतल के साधारण बर्तन ही चलते हैं, और वे ही काम में आते हैं, चाँदी के बर्तनों का क्या उपयोग है? पर नहीं माने, आखिर ले ही आए। लाकर चाँदी के बर्तनों को सन्दूक में बन्द करके रख दिया। माँ ने कहा—"बेटा, लाओ न, काम में लाएँ चाँदी के बर्तन। जब लाए हो तो उनका उपयोग करो, पड़े-पड़े क्या काम आएंगे?" तो बोले—"माँ, अभी जो चमक है चाँदी की; वह काम में लेने से खराब हो जाएगी। इसलिए काम में लेने का मन नहीं हो रहा है।"

माँ ने कहा—"पहले तो अनावश्यक बर्तन लेने नहीं चाहिए थे और जब ले लिए तो उनका उपयोग करना चाहिए। संदूक में बन्द करके किसलिए रखे हैं? तुम नहीं लाते हो तो मैं निकाल कर ले आती हूँ! वह खाना खाने के लिए ही तो है, पूजा करने के लिए तो नहीं?"

मन की यह विचित्र स्थिति है। राग में प्रयोग किया भी जाता है और नहीं भी। अच्छी और सुन्दर चीज को काम में न ला कर सँभाल-सहेज कर रखने की जितनी प्रवृत्ति है, वह सब राग के ही कारण है। राग से वस्तु पर ममत्व का आवरण छा जाता है और मनुष्य वस्तु को शरीर से भी अधिक प्रिय मान बैठता है। जिस प्रकार राग से भोग भी होता है और त्याग भी, उसी प्रकार द्वेष से भी यदि त्याग होता है तो भोग भी होता है। राग और द्वेष की भावना से ग्रस्त हो कर किया गया भोग जिस प्रकार संतापकारी है, उसी प्रकार त्याग भी संक्लेश और कष्ट का कारण बन जाता है।

ये विष-बीज किसने बोए?

जब तक दर्शन की इस धुरी को नहीं समझ लिया जाता कि घृणा से त्याग करना त्याग नहीं है, जब तक तटस्थवृत्ति का उदय नहीं होता, तब तक धर्म और दर्शन की चर्चाएँ करके भी, त्याग और क्रियाकाण्ड की गहराइयों में डूब कर भी उसमें सूखे ही रहेंगे।

मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि—हमारे सामने धर्म और दर्शन

---

१ धर्ममाता थी, सगी माता नहीं।

की इतनी ऊँची धारणाओं, इतने महान् आदर्शों के रहते हुए भी घृणा और द्वेष का विष इतने भयंकर रूप में क्यों फैला हुआ है? एक धर्म-सम्प्रदाय दूसरे धर्म-सम्प्रदाय से घृणा और नफरत करता है, विग्रह एवं संघर्ष करता है। हजारों वर्षों से साथ-साथ रहते हुए भी हम एक-दूसरे को अभी तक अच्छी तरह समझ नहीं सके हैं। भाई और पड़ोसी की दृष्टि से देख नहीं सके हैं। आखिर **"मित्ती मे सव्वभूएसु"** का पाठ बोलने वाले जैन और **"मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे"** का मन्त्र-जप करने वाले वैदिक परस्पर एक-दूसरे के प्राणों से क्यों खेले? बुद्ध के धम्मपद ने **"नहि वेरेण वेराणि, समंतीध कदाचन"** का शंखनाद करके भी अपने अनुयायियों को घृणा, और द्वेष के अंधकार से बचाने में कुछ नहीं किया? यह सब क्यों, और कैसे हुआ?

साम्प्रदायिक हिंसा का जहर

मध्ययुग में जैनों और बौद्धों पर जो अत्याचार हुए, उसकी कहानियाँ पढ़ कर आज भी मन संत्रस्त हो जाता है। उस समय के जो उल्लेख मिलते हैं, उनमें यह आदेश दिया मिलता है कि "हिमालय से ले कर रामेश्वरम् तक कोई भी जैन और बौद्ध मिले तो उसे मौत के घाट उतार दिया जाए। यह कितना उग्र एवं नृशंस रूप है घृणा का? इतिहास के पन्ने साक्षी हैं कि पुष्यमित्र के समय में यह आदेश प्रसारित किया गया था कि जो एक बौद्धभिक्षु का सिर काट कर लाएगा, उसे सौ स्वर्ण मुद्राएं पुरस्कार में दी जाएँगी।" प्रश्न है—ये विष-बीज क्यों बोए गए? इसका एक ही उत्तर है—मनुष्य के अन्दर की घृणा और नफरत ही इसका मूल कारण है। घृणा ने ही मनुष्य को मनुष्य से लड़ना सिखाया, उसका सिर काटना सिखाया; भाई को भाई का खून बहाना सिखाया; खूनी हाथों के पैरों के नीचे कुचल कर भले ही मर जाए, पर प्राण बचाने के लिए भी पास के जैन मन्दिर में न जाए,[1] यह पाठ किसने सिखाया? किसी जैन, बौद्ध या शैव, वैष्णव ने नहीं, अपितु उस घृणा-राक्षसी ने, जो धर्म एवं जातीयता के नाम से मनुष्य के अन्दर छिपी बैठी थी और नररक्त के लिए जिसकी जीभ सदा लपलपाती रहती थी।

सत्य, अहिंसा का सिद्धान्त जितना जैनों को प्रिय था, उतना ही बौद्ध और वैदिकों को भी प्रिय था। किसी ने उस पर गहराई से चिन्तन-मनन किया है और किसी ने कुछ स्थूल पहलुओं पर ही, यह बात दूसरी है, किन्तु प्रेम, सदाचार, अहिंसा दया और करुणा का संदेश प्रत्येक धर्म ने दिया है। फिर उनमें यह राक्षसी विचार क्यों जन्म ले रहे हैं, कहीं जैनों की होली चल रही है, तो कहीं बौद्धभिक्षुओं के सिर के लिए स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कार में दी जा रही हैं। कहीं शैव और वैष्णव ही एक-दूसरे पर निर्मम प्रहार कर रहे हैं। एक वृन्त के ही फूल एक-दूसरे को काट रहे हैं। यह लड़ाई, यह विग्रह, यह आपस की कटुता और संघर्ष किस आधार पर चले हैं? बस

---

१ हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्

एक ही उत्तर मिलता है—घृणा और विद्वेष। हजारों वर्षों से सबने एक-दूसरे के प्रति यही घृणा का प्रचार किया है।

जातिवाद के नाम पर हिंसा का विष

भारत में धर्म और दर्शन ने एक ओर बड़ी ऊँची-ऊँची बातें की हैं। हर आत्मा को परब्रह्म का रूप माना है। हर जीव को ईश्वर का अंश माना है। किन्तु खेद है, दूसरी ओर यह भी कह डाला कि—"यदि कोई शूद्र भूल से भी वेदमंत्र का उच्चारण कर दे, तो उसकी जीभ काट ली जाए। पास गुजरते हुए किसी शूद्र के कानों में वेदमंत्र की ध्वनि भी पड़ जाए तो उसके कानों में खौलता हुआ शीशा डाल दिया जाए।" और यह सब एक ऐसे विद्वान् मनीषी आचार्य के मुँह से कहलाया गया है, जो मुक्तकंठ से कह रहा है कि—'प्राणिमात्र में ईश्वर के चैतन्य का प्रतिबिम्ब है। जिसकी दृष्टि में हर जीव ईश्वर का अंश है। अंश क्या, ईश्वर ही है।' और इन सब आदर्श वचनों पर संसार आज भी मुग्ध है। किन्तु आश्चर्य है, ये ही महापुरुष अन्यत्र किसी के जीवन की पवित्रता की बात नहीं पूछ रहे हैं, व्यक्ति की आत्मिक शुद्धि का और तत्त्वज्ञान का कोई मूल्य नहीं है उनकी दृष्टि में। सिर्फ एक ही बहाव में बहे जा रहे हैं बेडस तिनकों की तरह, और वह बहाव है—**अर्थहीन जातिपाँत के नाम पर मनुष्य को मनुष्य के प्रति घृणा का। हमारी बौद्धिक चेतना दो** विरोधी धाराओं में बह रही है, जिसका कोई समाधान नहीं मिल रहा है।

गुरुवाद के नाम पर हिंसा का विष

मध्ययुग का हमारा इतिहास मनुष्य के इन लज्जास्पद आचरणों से इतना गंदा हो गया है कि कुछ पूछिए नहीं। जैन समाज में ही इतने खण्ड एवं प्रखण्ड हैं जो नगण्य-से भेदों के आधार पर आज वज्रकाय बन गए हैं। हम देखते हैं—एक ही गुरु के दो शिष्य परस्पर गुरु-भाई प्रतिद्वन्द्वी की तरह अखाड़े में उतरते हैं, विग्रह करते हैं और अपनी सम्प्रदाय अलग से खड़ा करते हैं, तो किस आधार पर? अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा के सिवाय उनके पास और क्या आधार हो सकता है? उनके पास संसार को देने के लिए साम्प्रदायिक घृणा के सिवाय और क्या होगा? भगवान् महावीर का उपदेश उन्हें इस प्रकार चेले बटोरने के लिए कहता है क्या? गृहस्थवर्ग पर भेड़-बकरियों की तरह अपनी-अपनी सम्प्रदाय की छाप लगाने के लिए कहता है क्या? भगवान् महावीर का उदात्त धर्म इन प्रपंचों से सर्वथा परे है। उसका आधार गुणीजनों की बिना किसी अपने-पराये के विभेद के प्रशंसा है, निन्दा नहीं। अपने दोषों की आलोचना है, पराई निन्दा नहीं।

प्रतिष्ठा का प्रश्न अवश्य महत्त्वपूर्ण है। संभव है, वह किसी को अपेक्षित हो, पर वह प्रतिष्ठा सात्त्विक होनी चाहिए, अपने कर्त्तव्य और त्याग के आधार पर मिलनी चाहिए। दूसरों की प्रतिष्ठा के भव्य महल को गिरा कर, जिस किसी भी तरह उनकी प्रसिद्धि की ईंटों को तोड़-फोड़ कर अपनी प्रतिष्ठा का महल खड़ा करने

की चेष्टा घातक है। एक-दूसरे की निन्दा का कुचक्र चल रहा है, कभी प्रत्यक्ष तो कभी परोक्ष, दिगम्बरों और श्वेताम्बरों की कड़ाइयाँ आप देख ही रहे हैं। एक-दूसरे को मिथ्यादृष्टि कहता है, जैनाभास कह कर सम्बोधित करता है। श्वेताम्बरों में भी स्थानकवासी और तेरापंथी घृणा के आधार पर ही तो अब तक लड़ते रहे हैं। 'भेषधारी', 'मिथ्यात्वी' और 'पाखण्डी' के सिवाय कौन से शुभ शब्दों का प्रयोग हुआ है एक-दूसरे के लिए? प्रायः सब अपनी-अपनी महत्ता को प्रस्थापित करने के लिए दूसरों को नीचा दिखाते आए हैं।

घृणा और द्वेष के ये बीज जब धर्म-सम्प्रदायों में पनपे तो उनका जहरीला प्रभाव समाज पर भी पड़ा। समाज और जातियाँ परस्पर घृणा की शिकार हुईं, एक जाति ने दूसरी जाति के प्रति विष उगला, घृणा फैलाई! घृणा की ये बातें कहावतों में आज भी चली आ रही हैं—"बनिये के लिए स्थान-स्थान पर ब्राह्मण के मुँह से कहलाया गया कि वह चोर है, झूठा है; पानी छान कर पीता है मगर खून अनछाना ही पी जाता है"—"**पानी पीवै छाण लोही अणछाण्यो पीवै**"। बनिये के मुँह से ब्राह्मण को भी कहा गया—'कि वह पेटू है, बुद्धिहीन होता है '**ब्राह्मण सप्पमपाट।**' इस प्रकार निन्दात्मक कहावतें एक जाति ने दूसरी जाति के प्रति जनता में फैला रखी है। और इसके परिणामस्वरूप परस्पर संघर्ष की चिनगारियाँ उछलती रही हैं, आपस में एक-दूसरे के शत्रु बनते रहे हैं। जहाँ एक-दूसरे वर्ग के प्रति विषाक्त वायुमंडल बना हुआ है वहाँ प्रेम और भ्रातृभाव के स्वस्थ विचार किस प्रकार जन्म ले सकते थे, राष्ट्रीय एकता और संगठन की नींव किस आधार पर टिक सकती थी?

पारिवारिक जीवन में हिंसा

धर्म-सम्प्रदायों और जातियों के मनों का यह विष परिवार के बीच भी अपना जहरीला प्रभाव डाले बिना नहीं रहा। नाते-रिश्तेदारियाँ, जोकि परस्पर स्नेह और प्रेम के सूत्र में बँधी होती हैं, उनमें भी कटुता, अविश्वास और घृणा के बीज डाल दिए गए। निन्दा के प्रहारों से मामा, भानजा और जँवाई को भी नहीं छोड़ा गया। किसी को मतलबी और धरखाऊ बतलाया, तो किसी को दशवाँ ग्रह भी बना डाला। 'जामाता दशमो ग्रहः'। मतलब यह कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जिधर देखो उधर घृणा के काँटे ही काँटे बिछा दिए गए हैं। द्वेष और अविश्वास की विषैली हवाएँ भर कर जीवन के स्नेह और सौहार्द को खत्म कर दिया गया है। माताओं के प्रति भी कहा गया है कि "सौतेली 'माँ' माँ नहीं है। उसके मन में तो स्नेह और प्रेम होता ही नहीं! वह तो पहली के बच्चों को डाइन की तरह घूरती रहती है।" इस प्रकार की बातें बच्चों के समक्ष कही जाती हैं और उनके स्वच्छ मन में सौतेली माँ के प्रति स्नेह-सद्भाव के स्थान में अनादर एवं घृणा का विष भरा जाता है।

एक वृद्ध सज्जन मेरे पास बैठे थे। इतने में एक बच्चा आया तो उसे बड़े प्रेम से अपने पास ले लिया। सिर पर हाथ फिराते हुए इतना स्नेह जताने लगे कि मैंने सोचा—कितना प्रेम और स्नेह है इनके मन में! इतने में मुँह बना कर वे महाशय बोले—"महाराज! कितना अच्छा लड़का है! पर बिचारे का भाग्य फूट गया, माँ मर गई। अब सौतेली माँ है। कुछ भी सँभाल नहीं रखती। अच्छी तरह खाना भी नसीब नहीं है, कितना दुबला हो गया है!" मैंने सोचा—यह प्यार और दया की भाषा में बच्चे के दिल में अभी से घृणा के काँटे क्यों बो रहा है, माँ के प्रति अभी से नफरत क्यों पैदा कर रहा है? क्या सभी सौतेली माँ बुरी होती हैं? जब तक संसार में सुमित्रा जैसी सौतेली माँ का आदर्श जीवित है, तब तक क्यों यह सोचा जाता है कि सौतेली माँ मिल गई तो तकदीर ही फूट गई!

रामायण का प्रसंग कितना मार्मिक है! जब राम वन जाने की तैयारी कर रहे हैं। राम वन को जा रहे हैं और सुमित्रा खड़ी देख रही है कि राम अकेले ही क्यों जा रहे हैं? लक्ष्मण कहाँ रह गया? वह भाई के साथ वन में क्यों नहीं जा रहा है? तभी लक्ष्मण आ जाते हैं और माता को नमस्कार करके राम के साथ वन में जाने की आज्ञा माँगते हैं, तो सुमित्रा कहती है—"बेटा! तू इतनी देर कहाँ रहा? राम वन को जा रहे हैं और तू अभी तक घर में बैठा है?" लक्ष्मण कहते हैं—"मैं माता कौशल्या को नमस्कार करके अब आपकी आज्ञा लेने आया हूँ माँ!" तो सुमित्रा कह उठी—"मेरी तो आज्ञा कभी से हो गई है। जल्दी जा, देर न कर। राम के साथ वन में रहते हुए यह मत समझना कि "मैं व्यर्थ ही जंगल में भटक रहा हूँ। मेरे माता-पिता यहाँ नहीं हैं। राम को तू अपने पितातुल्य समझना। पिता के प्रति पुत्र की जो आदर और भक्ति होनी चाहिए, उसी भक्ति और आदर की दृष्टि से राम को देखना। और मेरे प्रति जो तेरा मातृस्नेह और श्रद्धा है, वही स्नेह और श्रद्धा सीता के प्रति रखना। सीता को सीता नहीं, माँ सुमित्रा समझना और वन को अयोध्या मानना।"[२]

मैं पूछता हूँ—यह कौन बोल रही है? एक सौतेली माँ बोल रही है, जो अपने प्राणों से प्रिय पुत्र को सौतेले भाई के साथ निर्जन वनों की ठोकरें खाने के लिए भेज रही है? क्या वह यह नहीं कह सकती थी—'राम जाए तो जाए, तुझे क्या पड़ा है? तू वहाँ उसके साथ वनों में क्यों मारा-मारा फिरता है?" पर नहीं, सुमित्रा के हृदय का स्नेह, प्रेम और सौहार्द राम और लक्ष्मण को दो सौतेले भाई नहीं, सगे भाई समझता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोग किसी माँ की अच्छाई को नहीं देखते, सुमित्राओं को नहीं देखते, वह तो एक रूढ़ि से सौतेली माँ की बुराइयों का ही प्रचार

---

२ "रामं दशरथं विद्धि, मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि, गच्छ पुत्र! यथासुखम्॥"

करते चले आ रहे हैं। गंगाजल को सिर पर नहीं डालते, नाली का गन्दा जल ही उछाल रहे हैं।

संसार में एक ओर सूर्यकान्ताएँ जन्म लेती हैं, तो दूसरी ओर सीता और सावित्री भी तो जन्म लेती हैं। क्या हम सीता-सावित्री की उज्ज्वल परम्परा को भुला कर सूर्यकान्ता का ही ढिंढोरा पीटते रहें कि—संसार के पतियो, सावधान रहना। कहीं ये पत्नियाँ सूर्यकान्ता की तरह तुम्हें जहर न खिला दें, गला न घोंट दें! क्या यही जहर सुरक्षित है—हमारे पास जनमानस में फैलाने के लिए? अमृत की एक बूंद भी नहीं, जिससे किसी का कुछ भला हो सके। संसार को इसी प्रकार घृणा और द्वेष की दहकती ज्वालाओं में जलाते रहने का ही उपदेश है हमारे पास? मैं कहता हूँ, जीवन में यह घृणा का जहर जब तक रहेगा, तब तक भाई-भाई, पिता-पुत्र, पति-पत्नी कोई भी सुख और स्नेहपूर्वक नहीं रह सकेंगे। सब एक-दूसरे को घृणा और विद्वेष की दृष्टि से देखेंगे, और देखेंगे परस्पर जानलेवा दुश्मन की निगाह से।

धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर हिंसा

ये दूर की बातें जाने दीजिए। गाँधीजी को कैसे मारे गए? पिस्तौल की गोली से? नहीं-नहीं, गाँधीजी के प्रति गोडसे के मन में जो नफरत का भूत सवार था, उसी ने वहाँ गोलियाँ गाँधीजी को मारीं! गाँधीजी का हत्यारा गोडसे नहीं, बल्कि वही घृणा और विद्वेष थी, जो हिन्दुस्तान की नसों में युगों-युगों से भरी गई है। जिसका जहर कभी भी मनुष्य को उन्मत्त और पागल बना डालता है। हिन्दुस्तान के दो टुकड़े किसने करवाए? जिन्ना ने या अँग्रेजों ने? न जिन्ना ने और न अँग्रेजों ने। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच छाई हुई जातीय घृणा और विद्वेष ने ही भारत के दो टुकड़े कर डाले। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का बँटवारा धर्म के आधार पर नहीं, अपितु धर्म के चोले में छिपी हुई घृणा और विद्वेष के आधार पर हुआ है। इसीलिये अलग हो कर भी आज तक ये शान्ति से रह नहीं सके हैं। बँटवारे के समय क्या-क्या अत्याचार हुए हैं, कैसे-कैसे हत्याकांड हुए हैं—आप से छिपे नहीं हैं! हजारों-लाखों नौनिहाल बच्चे, जो अभी न हिन्दू बने थे, न मुसलमान, अभी तो वे अविच्छिन्न जीवन की यात्रा प्रारम्भ ही कर रहे थे कि उनके इसलिए टुकड़े-टुकड़े कर डाले कि वे हिन्दू और मुसलमान के घर में पैदा हो गए थे। हजारों अबलाओं को जीते जी अग्नि में होम दिया गया, सिर्फ इसलिए कि वे हिन्दुओं की पुत्रियाँ थीं, या पत्नियाँ थीं। क्या यह सब जिन्ना और अँग्रेजों ने सिखाया था? यह उसी घृणा-राक्षसी का नग्न-नृत्य था, उसी विद्वेष के विषैले परिणाम थे, जो धर्म के पवित्र नाम पर वर्षों से जनजीवन में फैल रही थी।

सभी हिंसाओं के मूल : घृणा और विद्वेष

आज भी जो कभी धर्म के नाम पर, मन्दिरों तथा गुरुद्वारों के नाम पर, प्रान्तों तथा जातियों के नाम पर गालियाँ चल रही हैं, छुरे चल रहे हैं, तोड़फोड़ हो रही है, आग लगाई जा रही है, यह सब क्या है? घृणा और विद्वेष की आग फैलाने

वालों के ही ये हथकंडे हैं। क्रूरता और नृशंसता का यह खूनी इतिहास जब भी कभी लिखा गया है, घृणा और विद्वेष की कलम से ही लिखा गया है। संसार को बर्बाद करने वाला, उसका सर्वनाश करने वाला यदि कोई जहर है, तो वह यही घृणा का जहर है। यह घृणा और विद्वेष का जहर मानव-जाति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी मारता चला आ रहा है, हजारों-लाखों वर्षों तक मानव-जाति को आग की भयंकर लपटों में झुलसाता आ रहा है।

समग्र समाज में व्याप्त इस हिंसा से मुक्त हों

जीवन में जब तक परिवारों, समाजों, जातियों, सम्प्रदायों, वर्गों या प्रान्तों में पारस्परिक घृणा, द्वेष, वैरविरोध, तिरस्कार आदि कषायभाव नहीं मिटेंगे, तब तक यह भावहिंसा (सामाजिक हिंसा) नहीं जाएगी। इस भावहिंसा से मुक्त हुए बिना अहिंसा की वास्तविक आराधना नहीं हो सकेगी और न ही तब तक शान्ति और स्नेह की सरिता समाज में बह सकेगी। अतः व्यापक सामाजिक जीवन में प्रेम, सौहार्द और शान्ति के लिए आवश्यक है कि हम इस जहर को अपने हृदय से मुक्त करें। हम घृणा और वैर के व्यापारी नहीं, अपितु शान्ति और प्रेम के देवदूत बन कर रहें। □

२१ | जातिवाद : सामाजिक हिंसा का अग्रदूत

जीवन में हिंसा का रूप एक ही नहीं होता है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। वह सामाजिक, राष्ट्रीय धार्मिक तथा अन्य क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में देखी जाती है। अतएव जहाँ कहीं और जिस किसी भी रूप में हिंसा हो रही है, उसे वहाँ उसी रूप में समझने की आवश्यकता है। इसके बिना अहिंसा के राज-मार्ग पर ठीक तरह से चला नहीं जा सकता। अपने बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा जो अन्धकार को अन्धकार समझ लेता है और साथ ही यह भी जान लेता है कि वह अन्धकार जीवन को प्रगति की प्रेरणा देने वाला नहीं है, वह प्रकाश में आने का प्रयत्न कर सकता है और फिर अपनी जीवन-यात्रा अच्छी तरह तय भी कर सकता है। जहाँ अन्धकार है वहाँ भाँति-भाँति की गड़बड़ी पैदा होती रहती है। घर में चोरों के घुस आने पर घर वाले लड़ने को तैयार होते हैं, चोरों से, किन्तु लाठियाँ बरसाने लगते हैं, अपने ही घर वालों पर।

हिंसा : एक अन्धकार

अन्धकार में अपने-पराये का कोई भेद मालूम नहीं देता। इस प्रकार के अन्धकार को जीवन न मान कर मृत्यु का सन्देश समझना चाहिये। सफल जीवन के लिए तो दिव्य प्रकाश ही चाहिए। हिंसा भी एक प्रकार का अन्धकार है और आज वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है। किन्तु यह निश्चित है कि जब तक यह जीवन को किसी भी रूप में स्पर्श किये रहेगा, तब तक जीवन का सही मार्ग नहीं मिलेगा। अतएव यदि प्रकाश में प्रवेश करना है, तो इसके लिये अन्धकार का भी समुचित ज्ञान प्राप्त करना होगा। जब तक हम हिंसा के अन्धकार को भलीभाँति न समझ लें, तब तक अहिंसा के प्रकाश की उज्ज्वल किरणें हमें प्राप्त नहीं हो सकतीं।

ये विकल्प तुच्छ हैं, हिंसाजनक हैं

जैनधर्म एक अध्यात्मवादी धर्म है। उसकी सूक्ष्मदृष्टि मानव-आत्मा पर टिकी हुई है। वह दृष्टि मनुष्य के शरीर, इन्द्रिय, आकृतिवेष, लिंग, वंश और जाति—इनकी दीवारों को भेदती हुई, सूक्ष्म आत्मा को ग्रहण करती है। वह आत्मा की बात करता है, आत्मा की भाषा बोलता है। सुख-दुःख के विकल्प, उच्चता-नीचता के मान-दण्ड और यहाँ तक कि लोक-परलोक की चिन्ता से भी परे, वह शुद्ध अध्यात्म की बात करता है। इसका मतलब यह है कि संसार के जितने भी बाह्य विकल्प हैं, ऊँच-नीच के, चाहे वे जाति की दृष्टि से हों, चाहे धन की दृष्टि से हों, शासन-अधिकार की दृष्टि से हों अथवा अन्य किसी भी दृष्टि से हों, वहाँ ये विकल्प तुच्छ पड़ जाते हैं, ये सब

धारणाएं उसकी दृष्टि से निष्प्राण-निर्माल्य एवं निरर्थक हैं। आत्मा के साथ इन धारणाओं का कहीं कोई मेल नहीं बैठता। भले ही पश्चाद्वर्ती व्यक्तियों ने कुछ ब्लेकमेल किया हो, किन्तु जैनधर्म के महान् उद्गाता भगवान् महावीर के वचनों का जो महाप्रकाश हमें मिला है, उसके आलोक में देखने से पता चलता है कि जैनधर्म का शुद्ध रूप आत्मा को छूता है। जाति, सम्प्रदाय, वंश और लिंग का 'ब्लेकमेल' सांठ-गांठ करने वाले, जैन धर्म की आत्मा के साथ अन्याय कर रहे हैं।

अमीर-गरीब—सबमें समान आत्मा है

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, अपने जीवन में जो विलक्षण कार्य किये, वे इस बात के साक्षी हैं कि जैनधर्म का स्वदेश आत्मा को जगाने का सन्देश है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक की आत्मा में कोई भेद नहीं है। उसके समक्ष जितने आत्म-गौरव के साथ एक कुलीन ब्राह्मण आ सकता है, उतने ही गौरव के साथ एक नीच और अन्त्यज कहा जाने वाला शूद्र चाण्डाल भी आ सकता है। वह ब्राह्मणकुमार इन्द्रभूति गौतम का स्वागत करता है, तो श्वपाक पुत्र हरिकेशबल और चाण्डालसुत महर्षि मेतार्य का भी उसी भाव और श्रद्धा के साथ स्वागत, सम्मान एवं आदर करता है। आत्मा किसी भी परिस्थिति में चल रही हो, किसी नाम, रूप और जाति की सीमाओं में खड़ी हो, पर उसमें भी वही आत्मज्योति जल रही है, जो तुम्हारे भीतर भी है। भगवान् महावीर ने कहा—'तुम्हारे सामने कोई आता है तो तुम उसकी आत्मा को देखो, उसे जागृत करने का प्रयत्न करो। उसके नाम, रूप आदि में मत उलझो। तुम आत्मवादी हो तो आत्मा को देखो। शरीर को देखना, नाम, रूप, जाति को देखना, शरीरवादी या भौतिकवादी दृष्टि है। आत्मवादी इन प्रपंचों में नहीं उलझता है, उसकी दृष्टि में तेज होता है। अतः वह सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप को ग्रहण करता है, स्थूल पर उसकी दृष्टि नहीं अटकती। वह सूक्ष्म तत्त्व को पहचानता है और उसी का सम्मान करता है।'

भगवान् महावीर के, जो प्राचीनतम भाषा में उपदेश प्राप्त होते हैं, वे बहुत कुछ आज भी आचारांग में उपलब्ध हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से वह सब आगमों में प्राचीन है और महावीरयुग के अधिक निकट प्रतीत होता है। उसमें एक स्थान पर कहा गया है—"तुम्हारे सामने यदि कोई सम्राट् आता है, जिसके पीछे लाखों-करोड़ों सेवकों का दल खड़ा है, धन-वैभव का अम्बार लगा है, स्वर्ण-सिंहासन और शासन-शक्ति उसके पीछे है, यदि उसे उपदेश देने का प्रसंग आता है, तो उसके धन और शक्ति पर दृष्टि न डालो, उसके सोने के महलों की तरफ नजर मत उठाओ, बल्कि उसे एक भव्य समझ कर उपदेश करो। और, यह देखो कि उसकी सुप्त आत्मा जागृत हो, उसमें विवेक की ज्योति प्रज्वलित हो। बस, यही ध्येय रख कर उपदेश करो, और निर्भीक हो कर करो।"[1]

---

१ "जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ,
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ।"

"और, यदि तुम्हारे समक्ष कोई दरिद्र भिखारी गली-कूचों में ठोकरें खाने वाला श्वपाक या अन्त्यज चाण्डाल, जो संसार की नजर में नीच कहा जाता है, वह भी आ जाए, तो जिस प्रकार से तथा जिस भाव से सम्राट् को उपदेश दिया है, उसी प्रकार से और उसी भाव से उस तुच्छ और साधारण श्रेणी के व्यक्ति को भी देखो, उसके बाहरी रूप और जाति पर मत उलझो। यह देखो कि वह भी एक भव्य आत्मा है, और उसकी आत्मा को जागृति का सन्देश देना हमारा धर्म है।"

आप देखेंगे कि जैनधर्म का स्वर कितनी ऊँचाई तक पहुँच गया है! साधारण जनता जिस प्रकार एक सम्राट् और एक श्रेष्ठी के प्रति सम्मान और सभ्य भाषा का प्रयोग करती है, एक कंगाल भिखारी और एक अन्त्यज के प्रति भी जैनधर्म उसी भाषा और उसी सभ्यता का पालन करने की बात कहता है। जितनी दृढ़ता और निर्भयता मन में होगी, सत्य का स्वर भी उतना ही स्पष्ट एवं मुखर होगा। अतः भिखारी और दरिद्र के सामने तुम जितने निर्भय और स्पष्टवादी हो कर सत्य को प्रकट करते हो, उतने ही निर्भय और दृढ़ बन कर एक सम्राट् को भी सत्य का सन्देश सुनाओ। तुम्हारा सत्य और सुदृढ़ सत्य स्वर्ण की चमक के सामने अपनी तेजस्विता कम न होने दे, सोने के ढक्कन से उसका मुँह बन्द न हो जाए। जैसा कि ईशोपनिषद् में कहा गया है—"सोने के पात्र से सत्य का मुँह ढका हुआ है।"[२] सम्राट् और तुम्हारे बीच में सम्राट् के धन और वैभव, शक्ति और साम्राज्य का विचार खड़ा मत होने दो। और न दरिद्र और तुम्हारे बीच में दरिद्र की नगण्यता एवं तुच्छता का क्षुद्र विचार ही खड़ा हो। दोनों की आत्मा को समान समझो, अतः दोनों को समानभाव से धर्म का संदेश दो, निर्भय और निरपेक्ष हो कर, निष्काम और कूटस्थ हो कर।

जाति नहीं, चरित्र ऊँचा है

मैं आपसे कह रहा था—जैनधर्म शरीरवादियों का धर्म नहीं है। अष्टावक्र स्मृति के शब्दों में कहूँ तो वह 'चर्मवादी' धर्म नहीं है। वह शरीर, जाति या वंश के भौतिक आधार पर चलने वाला 'पोला धर्म' नहीं है। अध्यात्म की ठोस भूमिका पर खड़ा है। वह यह नहीं देखता कि कौन भंगी है, कौन चमार है और कौन आज किस कर्म तथा किस व्यवसाय में जुड़ा है? वह तो व्यक्ति के चरित्र को देखता है, पुरुषार्थ को देखता है और देखता है उसकी आत्मिक पवित्रता को।

जाति-वंश-धर्म-भाषागत अहंकार : हिंसा का मूल

भारतवर्ष का इतिहास, जब हम देखते हैं, तो मन पीड़ा से भारी हो जाता है। और, हमारे धर्म एवं अध्यात्म के प्रचारकों के चिन्तन के समक्ष एक प्रश्नचिन्ह लग जाता है कि वे क्या सोचते थे? और कैसा सोचते थे? प्राणि-मात्र में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखने वाले भी श्रेष्ठी और दरिद्र की आत्मा को, ब्राह्मण

---

२ 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापि हितं मुखम्'। —ईशोपनिषद्

और चाण्डाल की आत्मा को एक दृष्टि से नहीं देख सके। उन्होंने हर वर्ग के बीच भेद और घृणा की दीवारें खड़ी कर दीं। शूद्र की छाया पड़ने से वे अपने को अपवित्र समझ बैठते थे। क्या इतनी नाजुक थी उनकी पवित्रता, कि किसी की छाया-मात्र से वह दूषित हो उठती? कोई भी शूद्र धर्मशास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकता था! क्या धर्मशास्त्र इतने पोचे थे कि शूद्र के छूते ही वे भ्रष्ट हो जाते? जरा सोचें तो लगेगा कि कैसी भ्रान्त धारणाएँ थीं कि जो शास्त्र ज्ञान का आधार माना जाता है, जिससे प्रवाहित होने वाली ज्ञान की धारा अन्तरंग के कलुष को, अनन्त-अनन्त जन्मों के पापों को धो कर स्वच्छ कर देती है, प्रकाश जगमगा देती है, संसार को दासता और बन्धनों से मुक्त करके आत्म-स्वातन्त्र्य और मोक्ष के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने में समर्थ है, वह शास्त्र और उसकी ज्ञानधारा उन्होंने एक वर्ग के हाथों में सौंप दी और कह दिया कि दूसरों को इसे पढ़ने का अधिकार नहीं। पढ़ने का अधिकार छीना सो तो छीना, उसे सुनने तक का भी अधिकार नहीं दिया। जो शूद्र पवित्र शास्त्र का उच्चारण कर दे, उसकी जीभ काट दी जाय, और जो उसे सुन ले, उसके कानों में खौलता हुआ सीसा डाल कर शास्त्र सुनने का दण्ड दिया जाय! कैसा था यह मानस? मनुष्य-मनुष्य के बीच इतनी घृणा! इतना द्वेष! जो शास्त्र महान् पवित्र वस्तु मानी जाती थी, उसमें भाषा को ले कर भी विग्रह पैदा हुए। एक ने कहा—संस्कृत देवताओं की भाषा है, अतः उसमें जो शास्त्र लिखा गया है, वह शुद्ध है, पवित्र है और प्राकृत तथा अन्य भाषाओं में जो भी तत्त्वज्ञान है, शास्त्र है, वह सब अपवित्र है, अधर्म है; तथा दूसरे ने प्राकृत को ही महत्त्व दिया। उसे ही देवताओं की भाषा माना, पवित्र माना। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ इतिहास के पृष्ठों पर आज भी अंकित हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मनुष्य के अन्दर जाति, वंश, धर्म और भाषा का एक भयंकर अहंकार जन्म ले रहा था और ऐसा अहंकार, जो संसार में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए दूसरों की श्रेष्ठता, प्रतिष्ठा और सम्मान को खण्ड-खण्ड करने पर तुल गया था। दूसरों की प्रतिष्ठा का महत्त्व गिरा कर प्रतिष्ठा एवं श्रेष्ठता के महल, उन खण्डहरों पर खड़ा करना चाहता था। उन्होंने मनुष्य के सम्मान का, उसकी आत्मिक पवित्रता का और आत्मा में छिपी दिव्यज्योति का अपमान किया, उसकी अवमानना की और उसे नीचे गिराने एवं लुप्त करने की अनेक चेष्टाएँ कीं। उन्होंने चरित्र का, सदाचार का मूल्य जाति और वंश के सामने गिरा दिया। इस प्रकार अध्यात्मवाद का ढिंढोरा पीट कर भी वे भौतिकवादी बने रहे। भगवान् महावीर ने यह स्थिति देखी, तो उनके अन्दर में क्रान्ति की लहर लहरा उठी, उनके अन्तःस्फूर्त स्वर गूंज उठे—[3]श्रेष्ठता और पवित्रता का आधार जाति नहीं है, बल्कि मनुष्य का अपना कर्म है, अपना आचरण है। कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। वैश्य और शूद्र भी

३ "कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

कर्म के आधार पर ही होता है। संसार में कर्म की प्रधानता है। समाज के वर्ण और आश्रम कर्म के आधार पर ही विभक्त हैं। इसमें जाति का कोई कारण नहीं है। मनुष्य की तेजस्विता और पवित्रता उसके तप और सदाचार पर टिकी हुई है, न कि जाति पर ?[४] 'जाति का कोई कारण नहीं दीख रहा है।' मनुष्य कर्म के द्वारा ऊँचा होता है, जीवन की ऊँचाइयों को नापता है और कर्म के द्वारा ही नीचे गिरता है, पतित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में मानव के मन में—जातिवाद और वर्गवाद का जो एक काँटों का घेरा खड़ा हो गया था, उसे जैनधर्म ने तोड़ने की कोशिश की, मनुष्य-मनुष्य और आत्मा-आत्मा के बीच समता एवं समरसता का भाव प्रतिष्ठित करने का सक्षम प्रयत्न किया।

जैनधर्म ने आपको सन्देश दिया है कि 'प्रत्येक आत्मा समान है। तुम यह भावना मन से निकाल दो कि कोई व्यक्ति जन्म (जाति) से ऊँचा या नीचा है, बल्कि यह सोचो कि उसकी आत्मा कैसी है ? प्रश्न जाति का नहीं, आत्मा का करो। आत्मा की दृष्टि से वह शुद्ध और पवित्र है या नहीं, इस प्रश्न पर विचार करो।

पूर्वाचार्यों ने विश्व की आत्माओं को समत्व दृष्टि देते हुए कहा है कि—संसार की समस्त आत्माओं को हम दो दृष्टियों से देखते हैं—एक द्रव्यदृष्टि से और दूसरी पर्यायदृष्टि से। जब हम बाहर की दृष्टि से देखते हैं, पर्याय की दृष्टि से विचार करते हैं, तो संसार की समस्त आत्माएँ अशुद्ध मालूम पड़ती हैं। चाहे वह ब्राह्मण की आत्मा हो अथवा शूद्र की आत्मा; यहाँ तक कि तीर्थंकर की ही आत्मा क्यों न हो, वह जब तक संसार की भूमिका पर स्थित है, अशुद्ध ही प्रतीत होती है। जो बन्धन है, वह तो सबके लिए ही बन्धन है। लोहे की बेड़ी का बन्धन भी बन्धन है और सोने की बेड़ी का बन्धन भी बन्धन ही है। जब तक तीर्थंकर प्रारब्ध-कर्म के बन्धन से परे नहीं होते हैं, तब तक वह भी संसार की भूमिका में होते हैं, और संसार की भूमिका अशुद्ध भूमिका है। आत्मा जब विशुद्ध होती है पर्याय की दृष्टि से भी विशुद्ध होती है, तब वह मुक्त हो जाती है, संसार की भूमिका से ऊपर उठ कर मोक्ष की भूमिका पर चली जाती है। इस प्रकार तीर्थंकर और साधारण आत्माएँ संसार की भूमिका पर पर्याय की दृष्टि से एक समान हैं। आप सोचेंगे, तो पायेंगे कि जैनधर्म ने कितनी बड़ी बात कही है। जब वह सत्य की परतें खोलने लगता है, तो वहाँ किसी का भेद नहीं मानता, सिर्फ सत्य को स्पष्ट करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य रहता है।

यदि हम द्रव्यदृष्टि से आत्मा को देखते हैं—तो द्रव्य अर्थात् मूलस्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा ज्ञानमय है, शुद्ध एवं पवित्र है। जल में चाहे जितनी मिट्टी मिल गई हो, कोयले का चूरा पीस कर डाल दिया गया हो, अनेक रंग मिला दिये गए हों, जल कितना ही अशुद्ध, अपवित्र और गन्दा क्यों न प्रतीत होता हो, पर यदि

---

४ "न दीसई जाइविसेस कोई"

आपकी दृष्टि में सत्य को समझने की शक्ति है, तो आप समझेंगे कि जल अपने आप में क्या चीज है ? जल स्वभावतः पवित्र है या मलिन ? वह मलिनता और गन्दगी जल की है या मिट्टी आदि की ? यदि आप इस विश्लेषण पर गौर करेंगे तो यह समझ लेंगे कि जल जल है, गन्दगी गन्दगी है। दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ है, एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी, अभिन्न सम्पर्क में रहते हुए भी दोनों अलग-अलग हैं। इसी प्रकार अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ कर्म का सम्पर्क चला आ रहा है, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध जुड़ा आ रहा है, पर वास्तव में आत्मा आत्मा है, वह कर्म नहीं है। और, कर्म जो पहले था, वह अपनी उसी धुरी पर आज भी है, उसी स्थिति में है, वह कभी आत्मा नहीं बन सका है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मूलस्वरूप की दृष्टि से विश्व की प्रत्येक आत्मा पवित्र है, शुद्ध है। वह जल के समान है, उसमें जो अपवित्रता दिखाई पड़ रही है, वह उसकी स्वयं की नहीं, अपितु कर्म के कारण है—असत् कर्म, असत् आचरण और असत् संकल्पों के कारण है।

आत्मा परम पवित्र है

यह बात जब हम समझ रहे हैं कि आत्मा की अपवित्रता मूल आत्मा की दृष्टि से कर्म के कारण है, तब हमें यह भी सोचना होगा कि वह अपवित्र क्यों होती है और फिर पवित्र कैसे बनती है ?

हमारे मन में जो असत् संकल्प की लहरें उठ रही हैं, दुर्विचार जन्म ले रहे हैं, घृणा, वैर और विद्वेष की भावनाएँ जग रही हैं, वे असत्कर्म की ओर प्रवृत्त करती हैं। अपने अहंकार की पूर्ति के लिए मनुष्य संघर्ष करता है, इधर-उधर घृणा फैलाता है। इस प्रकार लोभ और स्वार्थ जब टकराते हैं, तब विग्रह और युद्ध जन्म लेते हैं। वासना और व्यक्तिगत भोगेच्छा जब प्रबल होती है, तो वह हिंसा और अन्य बुराइयों को पैदा करती है। आज के जीवन में हिंसा और पापाचार की जो इतनी वृद्धि हो रही है, वह मनुष्य की लिप्सा और कामनाओं के कारण ही है। ऐसा लगता है कि संसारभर के पाप आज मनुष्य के अन्दर आ रहे हैं और सर्पण की तरह अपने नये-नये रूपों से संसार को आक्रांत करना चाहते हैं। मनुष्य इतना क्रूर बन रहा है कि अपने स्वार्थ के लिए, भोग के लिए वह भयंकर से भयंकर हत्याएँ कर रहा है। और, इस कारण कभी-कभी इस पर सन्देह होने लगता है कि उसके हृदय भी है या नहीं ? एक जमाना था, जब देवी-देवताओं के नाम पर पशु-हत्या की जाती थी, मूक और निरीह प्राणियों की बलि दी जाती थी। युग ने करवट बदली, अहिंसा और करुणा की पुकार उठी और वे हत्याकांड काफी बन्द हो गए। पर, आज जिस उदर देवता के लिए लाखों पशु प्रतिदिन बलि हो रहे हैं, क्या उसे कोई नहीं रोक सकता ? पहले देवताओं को खुश करने के लिए पशु-हत्याएँ होती थीं, आज इस देवता (?—या राक्षस ?) के भोजन और खाने के नाम पर पशु-हत्या का चक्र चल रहा है। आज का सभ्य मनुष्य भोजन के नाम पर अपने ही पेट में जीवित पशुओं

की कब्र बना रहा है। कहना चाहिए, वह आज पशुओं की जीवित कब्र पर ही सो रहा है। यह भयंकर पशु-संहार तब तक नहीं रुक सकता, जब तक मनुष्य के अन्दर शुद्ध देवत्व जागृत न हो, शुद्ध दृष्टिकोण न जागे, संसार के प्रत्येक जीवधारी में अपने समान ही आत्मा के दर्शन न करे।

मनुष्य की भोगेच्छा आज इतनी प्रबल हो रही है कि उसकी बुद्धि कर्त्तव्य से चुंधिया गई है। अहंकार जागृत हो रहा है, फलतः वह सृष्टि का सर्वोत्तम एवं सबसे महान् प्राणी अपने को ही समझ रहा है। उसकी यह दृष्टि बदलनी होगी, आत्मा की समानता का भाव जगाना होगा। उसे यह अनुभव कराना होगा कि जिस प्रकार की पीड़ा तुझे अनुभव होती है, वैसी ही पीड़ा की अनुभूति प्रत्येक प्राणी में है। किन्तु यह एक विचित्र बात है कि हम सिर्फ उपदेश दे कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, अध्यात्मवाद और अध्यात्मदृष्टि का गम्भीर विश्लेषण करके उसे छोड़ देते हैं, विचारों से उतर कर अध्यात्मवाद आचार में नहीं आ रहा है, मुँह से बाहर निकल रहा है, मन की गहराई में नहीं उतर रहा है। जब तक अध्यात्म की चर्चा करने वालों के जीवन में इसका महत्त्व नहीं आँका जायेगा, तब तक अध्यात्म को भूत-प्रेत की तरह भयानक समझ कर डरने वालों को हम इस ओर आकर्षित कैसे कर सकेंगे? इसके लिए आवश्यक है कि हमारी धर्म-दृष्टि, हमारा अध्यात्म, पहले जीवन में मुखर हो। इसका प्रकाश हमें अपने जीवन से शुरू करना चाहिए, तभी हमारी अध्यात्मदृष्टि की कुछ सार्थकता है, अन्यथा नहीं।

जातिभेद शरीर में नहीं दीखता

गत प्रवचन में सामाजिक हिंसा का विवेचन करते हुए बतलाया था कि 'मनुष्य जाति एक है और वह प्राणि-संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है। मनुष्य का जीवन बहुत बड़े सौभाग्य से प्राप्त होने वाली एक बहुमूल्य निधि है। जैनशास्त्र और दूसरे शास्त्र भी यही कहते हैं कि देवता बनना आसान है, किन्तु मनुष्य बनना कठिन है। चौरासी लक्ष जीव-योनियों में भटकते हुए बड़ी कठिनाई से मनुष्य का चोला मिलता है। इन्सान की ऊँचाई, वस्तुतः बहुत बड़ी ऊँचाई है।

ज्यों ही मानव-जीवन की महत्ता का विचार हमारे मन में आता है, त्यों ही एक अतिमहत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने उपस्थित हो जाता है। प्रश्न यह है कि—मनुष्य का मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए? मनुष्य यदि मनुष्यता का मूल्य समझता है तो उसे दूसरे मनुष्यों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए?

इन्सान का चोला मिल जाने पर भी इन्सान को यदि इन्सान की आत्मा नहीं मिली, हाथ-पैर आदि अवयव इन्सान के मिल गए; किन्तु यदि भीतर हैवानियत ही भरी रही तो यह बाहर का मानवीय चोला किस काम का? घृणा, द्वेष, अहंकार—ये सब पशुता की भावनाएँ हैं, मनुष्यता की नहीं। मनुष्य के चोले में भी यदि ये

सब भावनाएँ भरी हैं, तो समझ लेना चाहिए कि वहाँ वास्तविक मनुष्यता नहीं आ पाई है।

मानव-जाति का विभाजन

अखण्ड मानव-जाति पहले-पहल उद्योग-धन्धों की भिन्नता के कारण अनेक टुकड़ों में विभक्त हुई। कहना तो यह चाहिए कि मनुष्य जाति की सुविधा के लिए ही उद्योग अलग-अलग रूपों में बाँटे गये थे और अलग-अलग पेशा करते हुए भी मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं था। किन्तु जब अहंकार और द्वेष की भावनाएँ तीव्र हुईं तो धन्धों के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्गों में ऊँच-नीच की भावना अंकुरित होने लगी। फिर वह फूली और फली। इसके जहरीले फल सर्वत्र फैले और उन्होंने मानव-जाति की महत्ता और पवित्रता को नष्ट कर दिया। मनुष्य समझ बैठे कि अमुक धन्धा करने वाला वर्ग ऊँचा है और अमुक धन्धा करने वाला वर्ग नीचा।

क्या वह भेदभाव यहीं खत्म हो गया? नहीं, वह बढ़ता ही चला गया और एक दिन उसने बहुत विचित्र एवं विकृत रूप ग्रहण कर लिया। धीरे-धीरे धन्धों की बात उड़ गई और जन्म से ही उच्चता और नीचता, पवित्रता और अपवित्रता की बात जोड़ दी गई।

जब तक धंधे का प्रश्न था, समस्या विकट नहीं थी और भेद-भाव भी स्थायी नहीं था, क्योंकि मनुष्य इच्छा होते ही अपना धंधा बदल भी सकता था। किन्तु जन्म कैसे बदले? परिणाम यह हुआ कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करने वाली फौलादी दीवारें खड़ी कर दी गईं और मानव-परिवार का संगठन छिन्न-भिन्न हो गया। निस्सन्देह उसी विघटन का यह दुःखद परिणाम है कि आज 'शान्ति' और 'प्रेम' के स्थान पर 'अशान्ति' एवं 'घृणा' का साम्राज्य है।

पवित्रता जन्म से या कर्म से?

हमारे सामने आज यह जटिल प्रश्न उपस्थित है कि इस सम्बन्ध में जैन-धर्म क्या प्रकाश देता है। वह 'जन्म' से पवित्रता मानता है या 'कर्म' से? किसी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के कुल में जन्म ले लिया तो क्या वह जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो गया? और क्या जन्ममात्र से उसमें श्रेष्ठत्व आ गया? अथवा ब्राह्मण आदि बनने के लिए और तदनुरूप उच्चता प्राप्त करने के लिए क्या कुछ कर्त्तव्य-विशेष भी करना आवश्यक है?

इन्सान जन्म से क्या ले कर आया है? वह हड्डी और माँस का ढेर तो ही साथ में लाया है! क्या किसी की हड्डियों पर 'ब्राह्मणत्व' की, किसी के माँस पर 'क्षत्रियत्व' की या किसी के चेहरे पर 'वैश्यत्व' की मोहर लगी आई है? या ब्राह्मण किसी और रूप में, और दूसरे वर्ण किसी और रूप में आए हैं?

आखिर, शरीर तो शरीर ही है। वह जड़पुद्गलों का पिण्ड है। उसमें जाति-

पाँति का किसी भी प्रकार का कोई नैसर्गिक भेद नहीं है। यह मृत्-पिण्ड तो आत्मा को रहने के लिए मिल गया है और कुछ समय के लिए आत्मा रहने के लिए उसमें आ गया है। वस्तुतः यह अपने आप में पवित्र या अपवित्र नहीं है। पवित्रता और अपवित्रता का आधार आचरण की शुद्धता या अशुद्धता है। आचरण ज्यों-ज्यों पवित्र होता जाता है, त्यों-त्यों शुद्धता भी बढ़ती जाती है। इसके विपरीत अपवित्रता के आचरण से अशुद्धि ही बढ़ती जाती है।

यह आवाज, आज की नई आवाज नहीं है। भारत में जब जन्मगत उच्चता और नीचता की भावनाएँ घर किए बैठी थीं, तब भी विचारक लोग प्रायः यही कहते थे और तब से आज तक भी वे यही कहते आ रहे हैं। निस्सन्देह उस आचरणमूलक उच्चत्व की प्रेरणा का ही तो यह फल प्रकट हुआ है कि इन्सान ने किसी भी उच्च या नीच जाति में जन्म लिया हो, फिर भी उसने श्रेष्ठ होने और उच्चता प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न किया। उसने विचार किया कि मैं जन्म से उच्च नहीं बन गया हूँ। यदि मैं सत्प्रयत्न करूँगा, जीवन को सदाचार के पथ पर अग्रसर करूँगा, और अपनी प्राप्त सामग्री को अपने आप में ही समेट कर नहीं रखूँगा; बल्कि दूसरों के कल्याण में भी उसका यथाशक्ति उपयोग करूँगा तो जीवन की पवित्रता को प्राप्त कर सकूँगा।

वह पवित्रता शुभ कर्म द्वारा ही प्राप्त होगी, जन्म से नहीं; यह आवाज भारत की जनता के हृदय में निरन्तर गूँजती रही और भारतीय जन-समाज उस पवित्रता की ओर दौड़ भी लगाता रहा। जो ब्राह्मण के कुल में जन्मा था, वह भी दौड़ा और जो क्षत्रिय-कुल में पैदा हुआ था, वह भी दौड़ा। क्योंकि उसे मालूम था कि पवित्रता अकेले जन्म लेने से नहीं आएगी, उसे तो उच्च कर्त्तव्यों द्वारा ही प्राप्त करना होगा। वह प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

एक श्रावक इन्सान के रूप में ही जन्म लेता है और एक साधु भी इन्सान के रूप में ही जन्म लेता है। क्या श्रावक का 'श्रावकपन' और साधु का 'साधुपन' शरीर के साथ ही आया था? नहीं, शरीर उसे साथ में लाद कर नहीं लाया। उसे तो आचरण और साधना के द्वारा यहाँ पर ही प्राप्त करना होता है।

पुरुषार्थ

इस प्रकार उस युग में कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न रहा हो, प्रायः सभी ने पुरुषार्थ की साधना के द्वारा ही अपेक्षित पवित्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसे पाने के लिए सदाचार के पथ पर निरन्तर दौड़ लगाते रहे। किन्तु दुर्भाग्य और परिस्थितियों के प्रकोप से विचार उलट गये और ऐसी विचित्र धारणा बन गई कि ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेने मात्र से 'पवित्रता' प्राप्त हो गई और जैनकुल में जन्म लेने मात्र से ही 'जैनत्व' मिल गया। जब इस प्रकार जन्म लेने मात्र से पवित्रता मिल जाने का विचार रूढ़ हो गया तो फिर नैतिक पवित्रता के लिए

कौन प्रयत्न करता ? और पवित्रता के लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही क्यों अनुभव की जानी चाहिए ? इस सम्बन्ध में हमारे यहाँ कहा गया है कि यदि गाँव के बाहर खड़े हुए अकौवा (आकड़े) के पौधे की टहनियों पर ही शहद का छत्ता मिल जाए तो नदी-नालों को कौन लाँघे ? पर्वतों पर जा कर कौन टक्करें खाए ?[1] क्योंकि पुराने जमाने में शहद के लिए पर्वत पर टक्करें खानी पड़ती थीं और बहुत कठिनाई से शहद प्राप्त किया जाता था।

मनुष्य का स्वभाव है कि पुरुषार्थ के बिना ही यदि इच्छित वस्तु मिल सकती हो तो फिर कोई पुरुषार्थ क्यों करेगा ? यह एक लोक-स्वभाव के सिद्धान्त की बात है। हम साधु भी जब अनजान गाँवों में गोचरी के लिए जाते हैं, तब यदि सीधे रूप में अनायास ही कुछ घरों से गोचरी मिल जाए और गोचरी के लिए कदम बढ़ाते ही 'पधारिये महाराज' कहने वाले खड़े मिल जाएँ तो व्यर्थ ही दूर-दूर के गली-कूचों में चक्कर क्यों लगाते फिरेंगे ? जगह-जगह भटक कर अलख क्यों जगायेंगे ? कथन का अभिप्राय यही है कि जब सहजरूप से, गम्भीर पुरुषार्थ किए बिना ही साधु-मर्यादा में इच्छित वस्तु मिल जाती है तो व्यर्थ ही दूर नहीं जाने वाले हैं। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए इतना पुरुषार्थ करना पड़े कि सारा जीवन ही उसके लिए खर्च कर देना आवश्यक हो, किन्तु वही चीज अब बिना पुरुषार्थ के ही प्राप्त हो जाए तो किसे पागल कुत्ते ने काटा है जो उसके लिए दूर-दूर भटकता फिरे, कठिनाइयाँ झेलता रहे और साधना की मुसीबतें उठाए ?

इस मानव-स्वभाव के अनुसार जब से हमने पवित्रता का सम्बन्ध जन्म के साथ जोड़ दिया, तभी से मानवीय सद्गुणों को ऊँचाई प्राप्त करने के सभी प्रयत्नों में शिथिलता आ गई। वहीं से जनता का नैतिक पतन आरम्भ हुआ। तभी से मनुष्य इतना गिरा कि ऊँचा उठ ही नहीं सका।

गणिका

वैदिक धर्म में एक कहानी आती है। एक वेश्या थी, जिसकी कोई जाति-पाँत नहीं होती। वह संसार की उलझनों में उलझी हुई थी। उसने एक तोता खरीद लिया और उसे 'राम-राम' रटाना शुरू किया। केवल इसलिए कि आने वालों का मनोरंजन हो। इस सम्बन्ध में पुराणकार कहते हैं—जब वह वेश्या मरी तो यम के दूत भी उसे लेने आए और विष्णु के दूत भी। यम के दूत तो नरक का यह परवाना ले कर आए थे कि इसने दुनियाभर के पाप किए हैं और अपनी तथा दूसरों की तरुणाई को नरक की नाली में डाला है, इस कारण इसे नरक में ले जाना है।

परन्तु विष्णु के दूत उसे स्वर्ग में ले जाने का परवाना ले कर आये थे। वे उसे

---

१ "अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतं व्रजेत्?"

स्वर्ग में इसलिए ले जाना चाहते थे कि वह प्रभु की भक्त है। वह तोते को 'राम-राम' रटाती रही है, अतः उसकी सीट स्वर्ग में रिजर्व हो चुकी है।

इस प्रश्न को ले कर दोनों तरफ के दूतों में संघर्ष हो गया। यम के दूतों ने कहा—'तुम करते क्या हो? पागल तो नहीं हो गए? अरे यह तो वेश्या है, दुराचारिणी है! भला, इसको स्वर्ग में कौन बुला सकता है?'

विष्णु के दूत कहने लगे—'इस वेश्या ने जो अनगिनत 'राम-राम' बोला है; क्या वह सब व्यर्थ ही जाएगा? राम के भक्तों के लिए तो स्वर्ग में स्थान निश्चित है, नरक कदापि नहीं। भगवान् विष्णु इसे स्वर्ग में बुला रहे हैं।'

यमदूत बोले—'तुम बड़े नादान मालूम होते हो! इसने 'राम-राम' कहाँ जपा है? यह तो सिर्फ तोते को ही रटाती रही है और वह भी इसलिए कि इसका अनैतिक व्यवसाय सफलता के साथ चलता रहे! यदि तुम इतने सस्ते भाव में आदमी को स्वर्ग में ले जाओगे तो स्वर्ग को भी नरक बना डालोगे।'

आखिर, यम के दूतों और विष्णु के दूतों में संघर्ष छिड़ गया। किन्तु विष्णु के दूत बलवान् थे, अतः उन्होंने यम-दूतों को भगा दिया और वेश्या को स्वर्ग में ले गए। इस कथानक की पुष्टि में कहा भी गया है—

"सुआ पढ़ावत गणिका तारी।"

इसी तरह किसी तीर्थ में पहुँचने मात्र से यदि स्वर्ग मिल जाए तो फिर कोई कर्त्तव्य क्यों करे? मुंह से भगवान् का जरा-सा नाम ले लिया और स्वर्ग में सीट रिजर्व हो गई! बस, छुट्टी पाई, कैसा सीधा और सस्ता उपाय है। धर्म और स्वर्ग जब इतने सस्ते हो जाएँ, तब कौन उनके लिए बड़ा मूल्य चुकाए? क्यों प्रबल पुरुषार्थ किया जाए? साधना का संकट भी कौन झेले?

मानव-समाज में यह जो भ्रमपूर्ण धारणा फैली हुई है, उसी का यह परिणाम हुआ कि पवित्रता स्वयं नीचे गिर गई और पवित्रता के स्थान पर मनुष्यों के हृदयों में, अहंकार, द्वेष, घृणा आदि विकार पैदा हो गए। इसके लिए भगवान् महावीर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—"तुम जो संस्कृत-भाषा और प्राकृत-भाषा आदि के मनचाहे फब्बारे अपने मुख से छोड़ रहे हो और यह समझ भी रहे हो कि इनका पाठ कर लेने मात्र से ही मोक्ष मिल जाएगा, वस्तुतः यह एक भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सारे संसार की नाना प्रकार की विद्याएँ और भाषाएँ सीख लेने पर भी तुम्हारा परित्राण नहीं हो सकता। यदि तुम कल्याण चाहते हो और निर्वाण पाने की उत्कट अभिलाषा भी रखते हो तो तुम्हें सदाचरण करना पड़ेगा।[२] एक उदाहरण देखिए—

---

२ भणंता अकरेन्ता य, बन्ध-मोक्ख-पइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं॥
न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
विसन्ना पाव-कम्मेहि, बाला पंडियमाणिणो॥ —उत्तराध्ययन ६, ९-१०।

कोई बीमार किसी वैद्य से एक नुस्खा लिखवा लाए, जिसमें उत्तम से उत्तम औषधियाँ लिखी हों और उसे सुबह-शाम पढ़ लिया करे, तो क्या उसकी बीमारी दूर हो जाएगी ? नहीं, नुस्खा पढ़ लेने मात्र से बीमारी दूर नहीं हो सकती। यदि कहीं ऐसा पाया जाए, तब तो यह भी माना जा सकता है कि शास्त्रों के पाठ रट लेने और उगल देने से ही पवित्रता प्राप्त हो जाती है; किन्तु ऐसा होना कभी सम्भव नहीं है, और न होगा ही। एक साधक ने कहा है—'जो भी शास्त्र मुझे पढ़ना है, उसे मैं जीवन से पढ़ूँगा, केवल जीभ से ही नहीं पढ़ूँगा, भला, जिह्वा के उच्चारण मात्र से क्या होने वाला है ? आयुर्वेद की पुस्तकों को रट लेने और चरक तथा सुश्रुत को सीख लेने मात्र से कोई नीरोग नहीं हुआ है।[3] हजार वर्ष तक रटते रहिए तब भी उससे साधारण-सा बुखार और जरा-सा सिर-दर्द भी दूर नहीं होगा, उल्टा शरीर गलता जाएगा और सड़ता जाएगा।

जैसे इस बात को हम सभी भली-भाँति समझते हैं कि आयुर्वेद को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से रोग दूर नहीं होता। यही बात संसार के धर्म-शास्त्रों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। जितने भी धर्म-शास्त्र हैं, सब हमारी चिकित्सा करने के लिए ही हैं। जिस प्रकार आयुर्वेद से शरीर की चिकित्सा-विधि जानी जाती है, उसी प्रकार धर्म-शास्त्र से मन और आत्मा की चिकित्सा का ज्ञान होता है। हमारे भीतर जमी हुई वासना और विकार ही मन और आत्मा की बीमारी हैं। किसी को क्रोध की, किसी को मान की, किसी को माया की, और किसी को लोभ की विभिन्न बीमारियाँ सता रही हैं। किसी भी धर्म-शास्त्र को ले लीजिए, उसमें इन सभी बीमारियों की चिकित्सा का समुचित विधान है, परन्तु उन शास्त्रों को रट लेने मात्र से कुछ भी हाथ लगने वाला नहीं है। शास्त्रों को व्यावहारिक जीवन में उतारने से ही लाभ हो सकता है। हरिश्चन्द्र की कहानी पढ़ने या सुनने मात्र से सत्यवादी नहीं बना जा सकता, किन्तु हरिश्चन्द्र के सत्याचरण का अनुसरण करने से ही सत्यवादी बन सकेंगे।

आपने सुदर्शन की कथा तो सुनी होगी ? भला, उसने अपने जीवन की पवित्रता के लिए क्या नहीं किया ? सती सीता और सती मदनरेखा ने कितनी आपत्तियाँ सहन कीं ? फिर भी वे सही रास्ते को पकड़े रहे और उसी रास्ते पर दृढ़ता के साथ कदम बढ़ाते गए ! इसीलिए वे इतिहास के पृष्ठों में आज भी अमर हैं।

अभिप्राय यह है कि जीवन की उच्चता और पवित्रता की मंजिल पर जो भी पहुँच चुके हैं और जिनकी स्तुति तथा आराधना करके हम अपने आपको आज भाग्यशाली समझते हैं वे केवल पुरुषार्थ के द्वारा ही महान् बने थे। बड़ी-बड़ी साधनाओं के

३ कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत् ?
चिकित्सापाठमात्रेण, न हि रोगः शमं व्रजेत् ॥

—बोधिचर्यावतार

बल पर ही उन्होंने सफलता पाई थी। वे अहिंसा और सत्य के आदर्श आचरण के द्वारा ही महत्ता, गुरुता, उच्चता और पवित्रता को प्राप्त कर सके थे। जन्म से किसी को पवित्रता और उच्चता प्राप्त नहीं हुई, और हो भी कैसे सकती है ? साधना के सिवाय महत्ता प्राप्त करने का और कोई मार्ग नहीं है।

जो लोग अमुक कुल में जन्म लेने मात्र से पवित्रता-प्राप्ति के भ्रम में हैं, वे अपने आपको और दूसरों को भी धोखे में रखते हैं। जो धन को ही उच्चता प्राप्त करने का साधन मानते हैं, वे भी गलत मार्ग पर चल रहे हैं। इन गलत विचारों का नतीजा यह हुआ है कि समाज से उच्च चारित्र का प्रायः लोप-सा हो गया है और जन-जीवन से सदाचार और सत्य के चिन्ह भी धूमिल हो गए हैं। आज एक ही व्यापक मनोवृत्ति सर्वत्र दिखाई दे रही है और वह यह कि—यदि बड़ा बनना है तो खूब धन कमाओ, तिजोरियाँ और तहखाने भरो ! जो जितनी बड़ी धनराशि का स्वामी होगा, उतना ही बड़ा माना जायेगा !! इस तरह परमात्मा की उपासना का तो केवल नाम रह गया है और सर्वत्र धन की उपासना होने लगी है; चाहे न्याय से मिले या अन्याय से, किसी की जेब काटने से मिले या गला घोंटने से; बस, धन मिलना चाहिए। यदि धन मिल गया तो बड़प्पन मिल गया; समाज में और बिरादरी में सम्मान बढ़ गया और ऊँचा आसन भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार धन ने आज भगवान् का आसन छीन लिया है और पूँजी ने प्रभु का रूप धारण कर लिया है। वस्तुतः भगवान् का नाम ले कर लोग धन की ही उपासना में लीन हो रहे हैं।

उच्चता को नापने का आधार : धन

समाज में जो गुरुकुल, विद्यापीठ, विद्यालय या विश्वविद्यालय चल रहे हैं, उनका मुख्य उद्देश्य विद्या-प्रसार के द्वारा अविद्या का उन्मूलन करना है, जिससे कि मानव-समाज सभी प्रकार के दुराचारजन्य सामाजिक अपवादों से सर्वथा मुक्त हो कर मनुष्यत्व की अभिवृद्धि, व्यक्तित्व का विकास तथा चारित्र का निर्माण कर सके। सत्-शिक्षा के द्वारा जब मनुष्य तथाकथित सद्गुणों का समुचित संग्रह कर लेता है, तब उसकी अन्तःप्रेरणा धार्मिक अनुष्ठान की ओर स्वतः प्रेरित हो जाती है। परन्तु उनके प्रबन्ध-अधिकारी भी धन की पूजा से ऊँचे नहीं उठ पाते। जब कभी इन शिक्षा-संस्थाओं में कोई उत्सव या समारोह होता है तो सर्वप्रथम पूँजीपतियों की तरफ ही अधिकारी वर्ग की याचक-दृष्टि दौड़ती है। सभापति बनाने में शिक्षा-ज्ञान को कोई मापदण्ड नहीं बनाता। यह जानने की कोई परवाह भी नहीं करता कि वह जनता को क्या देने चला है या सिर्फ धन की ही आग ले कर खड़ा है ! आज बड़प्पन के नाप-तौल का एकमात्र मापक धन रह गया है। जिसके पास ज्यादा धन है, वही ज्यादा बड़ा है। हजार बार प्रयत्न करके शिक्षा-संस्थाओं के अधिकारी उसी धनिक के पास जाएँगे, उसे ही सभापति बनाएँगे। उसके आचरण के सम्बन्ध में कुछ मालूम भी नहीं करेंगे और यहाँ तक कि उसके सम्पूर्ण दुराचरणों पर पर्दा डाल देंगे, उसके समस्त दुर्गुणों को प्रशंसा के फूलों के ढेर से ढँक देने की भरसक कोशिश करेंगे।

परन्तु दुर्गुणों की दुर्गन्ध क्या कभी प्रशंसा के फूलों की सुगन्ध से पवित्र हो सकती है ? ऐसा सोचना भी जड़-बुद्धि का परिचायक है। गहराई से विचार करना चाहिए कि एक जगह मैला पड़ा है। किसी ने उसे फूलों से ढँक दिया है। थोड़ी-सी देर के लिए दुर्गन्ध भले ही छिप गई है, किन्तु आखिर तक वह छिपी नहीं रहेगी और वह गन्दगी फूलों को भी गन्दा करके ही रहेगी। सदाचार-विहीन व्यक्ति के विषय में भी यही बात है। फिर जो व्यक्ति दुराचारी ही है; उसे केवल धन की बदौलत सम्मान दे कर और उसके अभिनन्दन में मानपत्र भेंट करके आप भले ही सातवें आसमान पर चढ़ा दें, किन्तु इससे वह अपनी या समाज की भलाई नहीं कर सकेगा। वह उस सम्मान को पा कर अपने दुर्गुणों के प्रति अरुचि और असन्तोष अनुभव नहीं करेगा, अपने दोषों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखेगा, उनके परित्याग के लिये भी तत्पर नहीं होगा, अपितु अपने दोषों के प्रति उत्तरोत्तर सहनशील ही बनता जाएगा। इस प्रकार यदि उसके दोषों को और आचरणहीनता को प्रकारान्तर से प्रतिष्ठा मिलेगी तो समाज में वे दोष घर कर जाएँगे।

कथन का आशय यही है कि आज समाज में व्यक्तित्व को नापने का मापक 'पैसा' बन गया है। जिसके पास जितना अधिक 'पैसा' है, वह उतना ही बड़ा आदमी है। साधारण आदमी, जिसके पास पैसा नहीं है, किन्तु जीवन की अपेक्षित पवित्रता है, अच्छे विचार हैं और विवेक-बुद्धि है, क्या उसे कभी कुर्सी पर बैठे देखा है ? सभापति बनते देखा है ? समाज में आदर पाते देखा है ? यह बात रहस्यपूर्ण इसलिए है कि समाज में 'धन' की कसौटी पर ही बड़प्पन को परखा जाता है और सदाचारी निर्धन की कोई पूछ नहीं होती।

मैंने तो अनेक बार देखा है और आए दिन इस तरह की अशोभनीय घटनाएँ हर कोई भी देख सकता है। एक व्यक्ति के घर में सुन्दर और सुलक्षणी पत्नी मौजूद है, सारी व्यवस्था है और गृहस्थी की गाड़ी भी ठीक-ठीक चल रही है, किन्तु उसने किसी तरह पैसा कमा लिया तो तुरन्त दूसरा विवाह कर लिया। समाज में कुछ हल-चल हुई तो किसी सभा या समिति को दस-बीस हजार रुपया फेंक कर सभापति बन गए। बस, सारी काली करतूतों पर खलदार (धन) की सफेद कलई पुत गई और समस्त दुर्गुण छिप गए। समाज के वायुमण्डल में जितनी हवाएँ उसके प्रतिकूल चल रही थीं, सब अनुकूल दिशा में बहने लगीं और उसे वही पहले-सा आदर-सम्मान मिलने लगा। उसकी पहली पत्नी अपनी आज की दशा पर कोने में बैठी किस तरह आँसू पोंछ रही है और उसकी क्या व्यवस्था चल रही है ? उधर दूसरी पत्नी क्या-क्या गुल खिला रही है ? इन सब बातों को अब कोई नहीं पूछता।

हाँ तो, अभिप्राय यही है कि आज मनुष्य के सामने उच्चता को नापने का मापक केवल धन रह गया है। जिसने धन कमा लिया, वही श्रेष्ठ बन गया। धन यदि न्याय से प्राप्त किया जा सकता है तो अन्याय से भी प्राप्त किया जाता है। पर, क्या

सद्बुद्धि और सदाचार भी कभी अन्याय से प्राप्त किये जा सकते हैं ? इन्हें प्राप्त करने का एक ही मार्ग है और वह है काँटों का मार्ग। जो अपने जीवन को जितना-जितना कठिन मार्ग पर बढ़ाता जाएगा वह उतना ही ऊँचा उठता जाएगा। सत्य और सदाचार की राह पर जाने वालों को सूली की सेज मिलेगी और उन्हें अपना सारा जीवन काँटों का मार्ग तय करने में ही गुजारना पड़ेगा।

आमतौर से जब कोई अपरिचित व्यक्ति सामने आता है तो यह प्रश्न किया जाता है—कौन हैं आप ? वह शीघ्र ही उत्तर देता है—ब्राह्मण हूँ, या क्षत्रिय हूँ, या वैश्य हूँ, या अग्रवाल अथवा ओसवाल हूँ। परन्तु यह ब्राह्मणपन आदि क्या किसी की आत्मा के साथ अनादिकाल से चला आ रहा है ? क्या यह क्रम अनन्त-काल तक इसी तरह चलता जाएगा ? जब मोक्ष प्राप्त होगा, तो जाति की इन गठरियों को क्या वहाँ भी सिर पर लादे हुए लेता जाएगा ?

जाति की निस्सारता

यद्यपि वैदिक धर्म जाति-पाति का प्रमुख समर्थक समझा जाता है, पर वहाँ भी ऐसे उदात्त विचार प्रचुरमात्रा में मिलते हैं, जिनमें जाति या वर्ण की निस्सारता प्रकट की गई है। गुरु और शिष्य का एक छोटा-सा संवाद इस प्रकार आता है—

संसार-सागर से पार जाने की इच्छा रखने वाला कोई मुमुक्षु शिष्य किसी गुरु के पास जाता है। गुरु उससे पूछते हैं—'सौम्य, तुम कौन हो ? और क्या चाहते हो ?'

शिष्य—'मैं ब्राह्मण का पुत्र हूँ। अमुक वंश में मेरा जन्म हुआ है। मैं संसार-सागर से तिरना चाहता हूँ।'

गुरु—'वत्स, तुम्हारा शरीर तो यहीं भस्म हो जाएगा; फिर संसार-सागर में किस प्रकार तिरोगे ? नदी के इसी किनारे पर जो भस्मीभूत हो गया हो, फिर वह तिर कर उस किनारे पर कैसे पहुँच सकता है ?'

गुरु के इस प्रकार कहने पर शिष्य का ध्यान आत्मा की ओर उन्मुख हुआ। उसने कहा—'देव, मैं अलग हूँ और शरीर अलग है। मृत्यु आने पर शरीर ही भस्म होता है, मैं अर्थात्—आत्मा नहीं, क्योंकि वह तो नित्य है। वह भस्म नहीं होगा। केवल शरीर ही जन्म धारण करता है, मरता है और वह मिट्टी भी बन जाता है। शस्त्र उसे छेद सकते हैं, अग्नि उसे जला सकती है, पर आत्मा तो सनातन है। जिस प्रकार पक्षी घोंसले में रहता है, उसी प्रकार मैं (आत्मा) भी इस शरीर में रहता हूँ। जैसे पक्षी एक घोंसला छोड़कर दूसरे घोंसले में रहने लगता है, मैं भी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता हूँ। केवल शरीर ही आते और जाते रहते हैं, किन्तु मैं (आत्मा) ज्यों का त्यों अविचल रहता हूँ।'

इस प्रकार शिष्य ने जब शरीर और आत्मा का स्पष्ट भेद समझ लिया तो गुरु कहते हैं—'वत्स, तुम ठीक कहते हो। तुम शरीर नहीं, वस्तुतः आत्मा हो। तुम घोंसला

नहीं, वास्तव में पक्षी हो। फिर तुमने पहले मिथ्या भाषण क्यों किया था कि मैं ब्राह्मण हूँ और अमुक वंश में मेरा जन्म हुआ है?'

अन्त में, शिष्य भलीभांति समझ जाता है कि—'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह विचार गलत है और जब तक जाति का अभिमान बना रहेगा, तब तक आत्मा संसार-सागर से नहीं तिर सकती।

जाति-कुल का मद त्याज्य है

जैनपरम्परा में भी जाति और कुल के मद को त्याज्य बतलाया गया है और जब तक इनका मद दूर नहीं होता, तब तक साधक की दृष्टि सम्यक् नहीं हो सकती। परन्तु इस तथ्य को साधारण जनता कब समझती है?

अनेकान्तवाद की मजाक

कहा जा सकता है कि जैनधर्म अनेकान्तवादी धर्म है। वह जाँत-पांत को भी मोक्ष का कारण मान सकता है। पर ऐसा कहना अनेकान्त की मजाक बनाना है। क्या अनेकान्तवाद यह भी सिद्ध कर देगा कि आदमी के सिर पर सींग होते भी हैं और नहीं भी होते हैं? यदि कोई कहे कि सींग नहीं होते तो क्या वह एकान्तवादी बताया जाएगा। कोई यह प्रश्न करे कि साधु के लिए व्यभिचार करना अच्छा है या बुरा है तो क्या यहाँ भी अनेकान्तवाद का आश्रय ले कर ऐसा कहा जा सकता है कि व्यभिचार करना अच्छा भी है और बुरा भी है? यदि कोई साधु पैसा रखता है और कोई कहता है कि यह गलत चीज है तो क्या यहाँ भी अनेकान्तवाद का प्रदर्शन होगा?

वास्तव में अनेकान्त का सिद्धान्त सच और झूठ को एक रूप में स्वीकार कर लेना नहीं है। जिन महापुरुषों ने अनेकान्त की प्ररूपणा और प्रतिष्ठा की है, उनका आशय यह नहीं है। उन्होंने अनेकान्तवाद को भी अनेकान्तवाद कह कर इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है कि हम 'सम्यक् अनेकान्त' को तो सहर्ष स्वीकार करते हैं, किन्तु मिथ्या 'अनेकान्त' को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार **'सम्यक् एकान्त'** को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु 'मिथ्या एकान्त' को अस्वीकार करते हैं।[४]

प्रश्न हो सकता है कि यदि जैन-धर्म में जाति और कुल का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है, तो शास्त्र में "जाइसंपन्ने" और "कुलसंपन्ने" पाठ क्यों आये हैं? इस प्रश्न पर सूक्ष्मबुद्धि और विवेक शीलता के साथ विचार करना है।

जातिकुल-सम्पन्नता : शुद्ध संस्कार व वातावरण से

"जाइसंपन्ने" और "कुलसंपन्ने" का अर्थ यह है कि संस्कार और वातावरण से

---

४ "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात् ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥"

—आचार्य समन्तभद्र

कोई 'जातिसंपन्न' और 'कुलसंपन्न' हो सकता है। कोई जाति ऐसी होती है, जिसका वातावरण प्रारम्भ से ही ऐसा बना रहता है कि उस जाति में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति मांस नहीं खाता और मदिरा-पान नहीं करता। ऐसी जाति में यदि कोई प्रगति तथा विकास करना चाहता है तो वह जल्दी आगे बढ़ सकता है, क्योंकि उसे प्राथमिक तैयारी के उपयोगी साधन अपने समाज के वातावरण में ही मिल जाते हैं। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति का वह महत्त्व मांस न खाने और मदिरा न पीने के ही कारण है, उस जाति में जन्म लेने से नहीं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं, जो मांस-मदिरा का सेवन न करने वाली जाति में जन्म ले कर भी संगति-दोष से मांस-मदिरा का सेवन करने लगते हैं। उनके लिए जाति का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता है।

यह समझना निरी भूल है कि केवल वातावरण के द्वारा ब्राह्मण का लड़का बिना पढ़े ही संस्कृत का ज्ञाता बन सकता है। हजारों ब्राह्मण ऐसे भी हैं जो पथ-भ्रष्ट हो कर दर-दर भटक रहे हैं और प्रथमश्रेणी के वज्र-मूर्ख हैं। उनमें शूद्र के बराबर भी संस्कृति, सदाचार और ज्ञान नहीं है। इसी यही निष्कर्ष निकलता है कि जातिगत वातावरण या संस्कार एक सीमा तक ही व्यक्ति के विकास में सहायक होते हैं, सर्वांङ्ग विकास इनसे नहीं होता।

बहुतेरे ओसवाल, अग्रवाल और जन्म के जैन अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण गाँव के गाँव दूसरे धर्मों के अनुयायी हो गए। जब हम वहाँ पहुँचे तो मालूम हुआ कि तीस-तीस वर्ष हो गए; और जैन-धर्म का कोई उपदेशक वहाँ पहुँचा ही नहीं। उन्हें जैसा वातावरण मिला, विवश हो कर वे वैसे ही बन गए। जब उनमें भी जाति के संस्कार आ रहे थे, फिर वे कहाँ भाग गए? वास्तव में उन्हें जातीय संस्कार तो मिले थे, किन्तु अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण वे पथ-भ्रष्ट होने के लिए विवश हुए।

इसके विपरीत मनुष्य का जन्म किसी भी जाति में क्यों न हुआ हो, यदि वातावरण अनुकूल मिल जाए तो मनुष्य प्रगति कर लेता है। इस प्रकार जाति को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता है; क्योंकि हड्डी, मांस और रक्त में कोई फर्क नहीं है। वह तो प्रत्येक जाति में एक समान ही होता है।

जैन-धर्म के अनुसार दया, अहिंसा या कोई दूसरे पवित्र गुण हड्डियों में रहते हैं या आत्मा में? और एक जाति में जन्म लेने वाली सभी आत्माएँ यदि एक-से सद्-गुणों से सम्पन्न हैं तो उनमें विभिन्नता क्यों दिखाई देती है? पवित्र जाति में जन्म लेने वाली सब आत्माएँ पवित्र क्यों नहीं होतीं? जाति-भेद के कारण जिसे अपवित्र कहा जाता है, उस जाति में जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र क्यों नहीं होते? महात्मा हरिकेशी जाति से चाण्डाल थे; उन्हें अपने माता-पिता से कौन-से उच्च संस्कार मिले थे? क्या वे हड्डियों में पवित्रता ले कर जन्मे थे? नहीं, उनके जीवन का मोड़ चिन्तन, मनन और सुन्दर वातावरण से हुआ, जन्मगत जातीय संस्कारों से नहीं। वास्तव में मनुष्य वातावरण से बनता है और वातावरण से ही बिगड़ता भी है। मनुष्य के उत्थान

और पतन के लिए यदि किसी को महत्त्व दिया जा सकता है तो वह 'वातावरण' ही है। जातिगत जन्म के आधार पर पवित्रता या अपवित्रता मानना बहुत बड़ी भूल है।

जैन-धर्म की परम्परा में देखा जाता है कि शूद्र भी साधु बन सकता है और वह आगे का ऊँचा से ऊँचा रास्ता तय कर सकता है। सैकड़ों शूद्रों को मोक्ष प्राप्त होने की कथाएँ आज भी मौजूद हैं। कथन का अभिप्राय यह है कि हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य साधु बन कर भी जीवन की पवित्रता कायम नहीं रख सके; फलतः वे पथ-भ्रष्ट हो गए; तो फिर 'जाइसंपन्ने' होने से ही क्या लाभ हुआ? इसके विपरीत हरिकेशी और मेतार्य जैसे शूद्र पवित्र एवं अनुकूल वातावरण में आ कर यदि जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सके और मुक्ति के अधिकारी भी बन सके तो 'जाइ-संपन्ने' न होने पर भी कौन-सी कमी उनमें रह गई? प्रश्न होता है कि जैन-धर्म किस को वन्दनीय और पूजनीय मानता है?

जाति-कुल से सम्पन्नता का रहस्य

'जाइसंपन्ने' और 'कुलसंपन्ने' पदों में जाति और कुल का अर्थ यह नहीं है, जिसे आजकल सर्वसाधारण लोग जाति और कुल के रूप में समझते हैं। ओसवाल या अग्रवाल आदि टुकड़े शास्त्र में जाति नहीं कहलाते। शास्त्र में जाति का अर्थ है—'मातृ-पक्ष' और कुल का अर्थ है—'पितृ-पक्ष'।[५]

जिस माता के यहाँ सुन्दर वातावरण होता है, उसके बालक का निर्माण सुन्दर होता है। जिस प्रकार माता के उठने-बैठने, खाने-पीने और बोलने आदि प्रत्येक कार्य का बच्चे पर अवश्य ही असर पड़ता है, इसी प्रकार कुल अर्थात्—पितृ-पक्ष का वातावरण भी अच्छा होना चाहिए। जिस बालक के मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का वातावरण ऊँचा, पवित्र और उत्तम होता है, वह बालक अनायास ही अनेक दुर्गुणों से बच कर सद्गुणी बन सकता है।

हालांकि एकान्तरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा बालक सद्गुणी ही होगा। कई जगह अपवाद भी पाए जाते हैं। फिर भी आमतौर पर यह होता है कि जिस बालक के माता और पिता का पक्ष सुन्दर, सदाचारमय वातावरण से युक्त होता है और जिसे दोनों तरफ से अच्छे विचार मिलते हैं, वह जल्दी प्रगति कर सकता है और वही 'जातिसम्पन्न' तथा 'कुलसम्पन्न' कहलाता है।

इसके लिए ऐसा कोई सुनिश्चित नियम नहीं है कि जिसकी जाति; अर्थात्—मातृ-पक्ष (अर्थात्—ननिहाल) उत्तम वातावरण वाला है, उसका व्यक्तित्व उत्तम ही होगा; और जिसका मातृ-पक्ष गिरा हुआ होगा, उसका व्यक्तित्व भी गिरा हुआ ही होगा। किसी बालक और युवा पुरुष का व्यक्तित्व इतना प्रबल और प्रभावशाली होता है कि उस पर मातृ-पक्ष और पितृ-पक्ष का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वह स्वयं ही अच्छे या बुरे वातावरण का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार कभी-कभी उल्टे पासे

---

५ "जातिर्मातृपक्षः, कुलं पितृपक्षः॥

भी पड़ जाते हैं। बहुतेरे ऐसे व्यक्ति भी होते हैं कि उनके लिए चाहे कैसा ही वातावरण तैयार किया जाए, वे उसमें आते ही नहीं, अपितु सदैव उसके प्रतिकूल ही चलते हैं।

हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को बदलने के लिए भरसक प्रयत्न किये थे। उसने सोचा था कि जैसा नास्तिक और राक्षस मैं हूं, प्रह्लाद को भी वैसा ही बना लूं। इसे ईश्वर का नाम सुनने को भी न मिले। इसके लिए हिरण्यकश्यप ने कितना अथक प्रयत्न किया? किन्तु प्रह्लाद ऐसे प्रगाढ़ संस्कार ले कर आया था कि वह बदल नहीं सका, उसकी ईश्वर-भक्ति में कोई दखल नहीं दे सका और वह अपनी दिशा की ओर निरन्तर बढ़ता ही गया। इस प्रकार प्रह्लाद उस दैत्य के कुल में भी देवता के रूप में आया था। उग्रसेन के यहां कंस का जन्म लेना प्रह्लाद के सर्वथा विपरीत उदाहरण है। कंस के समान और भी अनेक व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिनके माता-पिता के यहां का वातावरण बहुत उत्तम रहा, उत्तमता बनाए रखने के लिए अथक प्रयत्न भी किए गए, किन्तु फिर भी ऐसे बालकों ने जन्म लिया कि उन्होंने अपने आचरण से सब को अपचित्र बना दिया और अपनी जाति और कुल के उज्ज्वल मस्तक पर कालिमा पोत दी।

अस्तु, अभिप्राय यही है कि मातृ-पक्ष (ननिहाल) और कुल (पितृ-पक्ष) का वातावरण यदि पवित्र है तो व्यक्ति जल्दी प्रगति कर सकता है। यही 'जातिसम्पन्न' और 'कुलसम्पन्न' का रहस्य है।

शास्त्र में जीवों का वर्गीकरण करने के लिए भी 'जाति' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके अनुसार शास्त्रकारों ने संसार के समस्त जीवों को पांच जातियों में विभक्त किया है। वे जातियां हैं—एकेन्द्रिय-जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पंचेन्द्रिय-जाति। शास्त्र के इस वर्गीकरण के हिसाब से प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र हो, एक ही पंचेन्द्रिय-जाति में आता है।

इस प्रकार जब शास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया जाता है तो मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेदभाव नहीं रह जाता। फिर भी कुछ लोगों ने एक वर्ग को जन्म से ही पवित्र और श्रेष्ठ समझ लिया है, चाहे उसका आचरण कितना ही निम्न स्तर का क्यों न हो! दूसरे वर्ग को जन्म से ही अपवित्र और नीच मान लिया गया है, चाहे उसका आचरण कितना ही उत्तम क्यों न रहा हो। इस प्रकार जो वांछनीय उच्चता सदाचार में रहनी चाहिए थी, उसे जाति या वर्ण में कैद कर दिया गया है। वस्तुतः यही सामाजिक हिंसा है। इस प्रकार की सामाजिक हिंसा व्यक्ति से किसी भी अंश में कम भयानक नहीं है। आज भी अधिकांश लोग इस हिंसा के शिकार देखे जाते हैं। हिंसा के स्वरूप का विचार करते समय इस सामाजिक हिंसा को भूल नहीं जाना चाहिए। अन्यथा, यह भयंकर हिंसा साधक जीवन को खोखला कर देगी और अहिंसा के पालन का भ्रम रहेगा, अहिंसा के नाम पर वहां आन्तरिक (संकल्पी) हिंसा हो जायगी।

□

पवित्रता से सामाजिक अहिंसा की प्रतिष्ठा | २२

जब कभी हम अपने जीवन के अन्तरंग में पहुँचते हैं और अपने जीवन के मर्म को छूने की चेष्टा करते हैं तो प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि जीवन की पगडंडियाँ भिन्न-भिन्न नहीं हैं। सब की एक ही राह है और वह है—जीवन की पवित्रता। बाहर में भले ही हम अलग-अलग रूप में चलते हैं और अलग-अलग रूप में अपनी मंजिल भी तय कर रहे हैं—सम्प्रदाय के रूप में, धर्म, मत, पंथ और जातियों के रूप में बाहर की राहें बहुत-सी हैं, किन्तु, जीवन के अन्दर की राह तो एक ही है।

पवित्रता की राह

जीवन की पवित्रता के पथ पर जो पथिक हैं, वे अपना उत्थान करते हैं। जो इस राह के राही नहीं हैं, वे बाहर में चाहे जैसा जीवन बिताएँ, अन्तरंग में यदि पवित्रता की भावना नहीं है, तो जीवन-विकास की सही दिशा में दृढ़ता के साथ कदम नहीं बढ़ा सकते।

वस्तुतः अहिंसा ही पवित्रता की सबसे बड़ी एवं सुनिश्चित पगडंडी है। हमें जो मनुष्य-जीवन मिला है वह सुगमता से नहीं मिला है; अपितु पूर्व-जन्म के संचित पुण्य-कर्मों तथा कठिन साधना के प्रतिफल में मिला है। अतः इसकी सार्थकता के लिए उस पर विचार करना जरूरी है कि इसकी उपयोगिता तथा उद्देश्य क्या है? हमें इस जीवन का उपयोग संसार के कल्याण के लिए करना है, जनता के दुःख-दर्द को कम करने के लिए करना है, अपने जीवन को सद्गुणों की सुगन्ध से पूर्ण कर दुनिया में फैली सामाजिक कुरीतियों की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए करना है; अथवा हमें इस नर-जन्म के द्वारा संसार की प्रगति में रोड़े अटकाना है और समाज की कठिनाइयों में अपनी ओर से एक नई बढ़ा कर कठिनाइयों के जाल को सुदृढ़ करना है?

कांटे चुन कर अलग करो

इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर का एक ही सुनिश्चित मार्ग है जिसके लिए उन्होंने कहा है—"तुमने जो जीवन पाया है उसका उपयोग प्राणि-संसार की अन्तरंग और बाह्य; दोनों ही तरह की समस्याओं को सुलझाने के लिए करो। यदि समस्याएं पारिवारिक भूलों से पैदा हुई हैं तो उन भूलों की खोज करो। यदि वे समाज की भूलें हैं तो उन्हें भी ठीक करो। इसी प्रकार से तुम्हारे देश में या आस-पास के संसार

में जो भूलें या गलतियां हो गई हों और जिसके कारण मानव-जीवन में कांटे पैदा हो गए हों, उनको भी एक-एक करके चुनना और जीवन-मार्ग से अलग करना है। जीवन-मार्ग को स्वयं अपने लिए और दूसरों के लिए भी साफ एवं सुदृढ़ बनाना ही मनुष्य जीवन का मूल ध्येय है।"

इस प्रकार अहिंसा अपनी महती उपयोगिता के अनुसार फूलों की राह है, कांटों की नहीं। कहने को तो हमें कठिनाई मालूम होती है और जब-जब हम अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते हैं और चलते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि यह जीवन की सहज सुखद राह नहीं है। किन्तु यह निश्चित सा है कि जीवन यदि चलेगा तो अहिंसा के मार्ग पर ही चलेगा। हिंसा के द्वारा जीवन में कठिनाइयां ही बढ़ती हैं, उसके द्वारा किसी कठिनाई को किसी भी अंश में हल कर सकना बिलकुल सम्भव नहीं है।

जैन-धर्म का सन्देश

जैन-धर्म संसार को एक सन्देश देने के लिए आया है कि—'जितने भी मनुष्य हैं, वे चाहे संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक कहीं भी क्यों न फैले हों, सब मनुष्य के रूप में एक हैं। उनकी जाति और वर्ग मूलतः अलग-अलग नहीं हैं। उनका अलग-अलग कोई समूह नहीं है। विभिन्न जातियों के रूप में जो समूह आज बन गए हैं, वे सब विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों को ले कर ही बने हैं। आखिर, मनुष्य को जिन्दगी गुजारनी है, तो उसे पेट भरने के लिए कोई न कोई उपयोगी धन्धा करना ही पड़ता है। कोई कपड़े का व्यापार करता है, कोई अन्न का व्यापार करता है, कोई दफ्तर जाता है और कोई कुछ और कर लेता है। यह तो जीवन की सामान्य समस्याओं को को हल करने के सामान्य तरीके हैं। किन्तु इन तरीकों के विषय में मनुष्य ने जो पवित्रता और अपवित्रता के भाव बना लिए हैं कि—अमुक जाति पवित्र है और अमुक जाति अपवित्र है, यह कैसी अज्ञता है? इस सम्बन्ध में तो ऐसा कहा जा सकता है कि यह कोरा मिथ्या अहंकार है, और कुछ भी नहीं है।

वृत्तियां

मनुष्य के जीवन में अपने आपको श्रेष्ठ और ऊंचा समझने की एक वृत्ति है; और वह वृत्ति छोटे से छोटे में, प्रत्येक नौजवान में और बूढ़े में भी एक-सी देखी जाती है, जिसके कारण जहां कहीं वह अपने अभिमान को चोट खाते देखता है, वहीं वह सही मार्ग से विचलित हो जाता है और आपे में नहीं रह पाता। किन्तु भारतवर्ष में कुछ लोगों में एक बात और पाई जाती है। वे अपने आपको तुच्छ और दीन-हीन समझने की ही मनोवृत्ति से घिरे रहते हैं। वे अपने में दुनियाभर के पाप और बुराइयां समझ कर चलते हैं। इसी भावना का यह दुःखद परिणाम है कि ऐसे लोग जब चलते हैं, सब रोते और गिड़गिड़ाते हुए दिखाई देते हैं। उनमें आत्म-विश्वास नहीं होता। आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति के प्रति उनके मन में दृढ़ आस्था का

अभाव रहता है। फलतः मानव की यह हीन वृत्ति अभीष्ट लक्ष्य की ओर दृढ़ता से कदम बढ़ाने में सदैव बाधक होती है।

अहम्

मनुष्य के भीतर जो 'अहम्' है अर्थात् 'मैं' है, वह स्वयं आत्मा है। आप 'अहम्' को अलग नहीं कर सकते, 'मैं' को त्याग नहीं सकते 'अहम्' को त्याग करने का विचार करने वाला तो आत्मा है, और आत्मा भला आत्मा का त्याग कैसे कर सकता है? त्याग करने वाला और जिसे त्याग करना है, अर्थात्—त्यागी और त्याज्य वहाँ दोनों एक ही हैं। अतएव अपने 'अहम्' को त्यागना न तो शक्य है, और न वाञ्छनीय ही है। अपने आपको उत्कृष्ट समझने की बुद्धि शुद्धरूप में यदि आपके अन्दर उत्पन्न हो जाएगी, तो वह आपके जीवन में अनेक अच्छाइयों का स्रोत बहा देगी। किन्तु जब वही 'अहम्' विकृत और दूषित रूप में आपके अन्दर उदित होता है तो आपको गिरा देता है। अपने आपको श्रेष्ठ समझने के कारण जब अपनी उच्चता का प्रदर्शन करने के लिए दूसरों को नीचा समझने की वृत्ति अन्तःकरण में उत्पन्न हो जाती है और तदनुसार दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, और फलतः उनको अपवित्र भी मान लिया जाता है, तो समझना चाहिए कि 'अहम्' शुद्ध रूप में नहीं जगा है। वह पूर्णतः विकृत और दूषित हो गया है। वह जीवन को ऊँचा नहीं उठाएगा और पवित्र भी नहीं बनाएगा।

जब कोई दूसरों को नीचा समझ कर ही अपनी उच्चता मान लेता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसके अन्दर अपनी कोई उच्चता नहीं है और मनमानी उच्चता पर उसने अपने को संतुष्ट कर लिया है। बस, वही संतोष उसका प्रबल शत्रु है। वह अपने आपको आगे बढ़ने से रोकता है और ऊँचा भी नहीं चढ़ने देता। अतः निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि उसके जीवन में उच्चता और अपवित्रता यदि सचमुच आने वाली है तो वह दूसरों को नीच और अपवित्र समझने से कभी नहीं आएगी; बल्कि वह स्वयं नीचे गिरता जाएगा और एक दिन अपने आप को अधःपतन के गर्त में पाएगा।

आत्म-विश्वास

जैन-धर्म मनुष्य के सामने सदैव यही सन्देश रखता आया है—"मनुष्य! तू अपने को पवित्र समझ और श्रेष्ठ मान! तू, संसार में भूलने, भटकने के लिए नहीं आया है! तेरा जीवन रेंगते और रगड़ खाते चलने के लिए नहीं है। तू, संसार में बहुत श्रेष्ठ बनकर आया है! अनन्त-अनन्त पुण्यों का संचय होने पर ही तूने मानव का रूप पाया है। तुझे मानव-जीवन की जो पवित्रता प्राप्त हुई है वह इतनी महान् और दिव्य है कि देवताओं की पवित्रता भी उसके सामने नगण्य है।"

अस्तु, जैन-धर्म ने आत्म-विश्वास का यह संदेश दे कर मनुष्य के अन्दर से तुच्छ दीन, हीन और अपने को कुछ भी न समझने की वृत्ति को निकालने का सफल प्रयत्न

किया है और उसके शुद्ध 'अहम्' को जगाया है। मानव-जीवन के चारों तरफ जैन-धर्म की एक ही आवाज गूँज रही है—

'आत्मा ही परमात्मा है और पवित्र आत्मा ही ईश्वर का साक्षात् रूप है।'[1]

आत्मा से परमात्मा

इस प्रकार जैन-धर्म ने मनुष्य को एक बहुत बड़ा आदर्श मन्त्र यह प्रदान किया है—"तू नीचे आने के लिए नहीं; अपितु ऊपर उठने के लिए है। तेरे भीतर असीम सम्भावनाएं भरी हैं, असंख्य ऊँचाइयाँ विद्यमान हैं और तू आत्मा से परमात्मा बनने के लिए है। तेरे अन्तरतर में परमात्मा की दिव्य ज्योति जगमगा रही है। गलतियाँ करके तूने अपनी अन्तर्ज्योति पर धूल डाल रखी है। इसलिए वह दिव्यप्रकाश मन्द हो गया है। तेरा काम कोई नई चीज प्राप्त करना नहीं है। तुझे अपने अन्तःपट के ऊपर जमी हुई धूल को ही अलग कर देना है; और ज्यों ही वह धूल अलग होगी, तुझे जो पाना है वह अपने अन्दर ही प्राप्त हो जाएगा। वह बाहर से नहीं मिलेगा। तुझे यदि भगवान् महावीर बनना है तो बन सकता है; और महात्मा बुद्ध, राम या कृष्ण जो भी बनना है वही बन सकता है। बस, अन्तःपट पर जमी हुई धूल को विवेक के झाड़न से झाड़ दे। निरालाजी ने भी कहा है कि मनुष्य अपने पास पड़ी हुई अमूल्य निधि पर ध्यान न दे कर नासमझ की तरह भटकता रहता है।'[2]

यह बात हमारे सामने प्रायः निरन्तर आती रही है कि जैन-धर्म और भारतीय दर्शन ने मानव-जाति के समक्ष बहुत बड़ी पवित्रता का भाव उपस्थित किया है। मनुष्य अपने असली स्वरूप को भूल गया था और अपनी दिव्यज्योति को उसने भुला दिया था। जैन-धर्म ने पुकार कर कहा—'तू जीवन की राह का भूला हुआ राही है। सही पगडंडी को पहचान ले और उस पर बढ़ा चल, फिर तो तेरी मंजिल दूर कहां है?'

राह—भूला राही

वस्तुतः मनुष्य एक राह-भूला राही है। परन्तु उन भूलों की नीची तह में अनन्त ज्योतिर्मय चेतना का जो पुञ्ज दबा पड़ा है, उससे यदाकदा पवित्रता की श्रेष्ठ और सुन्दर ध्वनि उठा करती है। दुर्भाग्य से मनुष्य उस आवाज को सुन कर भी गलत समझ लेता है। वह अपने पुरुषार्थ से और सत्प्रयत्नों से ऊँचा उठने की चेष्टा तो कम करता है, किन्तु दूसरों को नीच और उनकी तुलना में अपने को उच्च समझने की उत्कट कामना करता है। इसी भूल ने जाति-पाँति की भावना को पैदा किया है। इसी भूल ने एक वर्ग को ऊँचा और दूसरे वर्ग को नीचा समझने की भ्रामक प्रेरणा दी

---

१ 'अप्पा सो परमप्पा।'

२ "पास ही रे हीरे की खान,
खोजता उसे कहाँ नादान?"
—निराला

है, दूसरों को नीचा समझ लेने से वास्तव में वे नीचे नहीं हो जाते, अपितु नीचा समझने वाला ही नीचा बन जाता है, क्योंकि वह जीवन की वास्तविक उच्चता को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। वह तो अपनी कल्पित ऊँचाई में भूला रहता है। अतएव जिसे वास्तव में ऊपर उठना है उसे अपनी यह भूल सुधार लेनी चाहिए। इसके बिना न तो कोई व्यक्ति श्रेष्ठत्व पा सकता है, और न समाज अथवा कोई देश ही उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

जैन-धर्म कहता है कि मनुष्य-जाति अपने आप में पवित्र है, फलतः सभी मनुष्य पवित्र हैं। जो भूलें हैं, गलतियाँ हैं, वे ही अपवित्र हैं। इसलिए वह दुराचारी से भी घृणा करना नहीं सिखाता। उसने बताया है कि चोर से घृणा मत करो, अपितु चोरी से घृणा करो। चोर तो आत्मा है और आत्मा कभी बुरा नहीं होता। जो तत्व तुम्हारे अन्दर है, वही चोर के अन्दर भी है। जो अच्छाइयाँ अपने में मानते हो, वही चोर में भी विद्यमान है। उसकी अच्छाइयाँ यदि चोरी के कारण छिप गई हैं, तो आप अपनी अच्छाइयों को घृणा और द्वेष से छिपाने का, दबाने का क्यों प्रयत्न करते हो? इसके द्वारा आपके अन्दर कोई पवित्रता आने वाली नहीं है। हाँ, यदि आप चोरी को बुरा समझेंगे और चोर को घृणा की नहीं, किन्तु दया की दृष्टि से देखेंगे तो आप में अवश्य ही पवित्रता जागृत हो उठेगी।

अच्छाई-बुराई का आधार व्यक्ति नहीं, कर्म

एक आदमी शराब पीता है। आपकी दृष्टि में वह गिर जाता है, किन्तु कल शराब छोड़ देता है और सभ्यता एवं शिष्टता के सही मार्ग पर आ जाता है, अपने जीवन को ठीक रूप से गुजारने लगता है तो वह अच्छाई की दृष्टि से देखा जाता है या नहीं? अवश्य ही, जब वह बुराई को छोड़ देता है तो ऊँची निगाह से देखा जाता है। वास्तव में शराब बुरी चीज है, वह कभी अच्छी होने वाली नहीं है। चाहे वह ब्राह्मण के हाथ में हो या शूद्र के हाथ में, महल में रखी हो या झोंपड़ी में; बुरी वस्तु, बुरी ही रहेगी। वह पवित्र बनने वाली नहीं है। किन्तु शराब पीना छोड़ कर आदमी पवित्र बन सकता है। चोर यदि चोरी करना छोड़ देता है तो पवित्र बन जाता है। इसी प्रकार दुराचारी भी दुराचार को त्याग कर पवित्र बन सकता है।

इस तरह जैन-धर्म ने बताया कि मनुष्य की घृणा व्यक्ति के गलत कार्यों पर हो, व्यक्ति पर नहीं। चोर ने चोरी करना छोड़ दिया है, शराबी ने शराब पीना त्याग दिया है और दुराचारी भी दुराचार से दूर हो गया है, फिर भी उसके प्रति जो घृणा का भाव है उसे नहीं त्यागा जा सकता है तो समझ लेना चाहिए कि इससे अहिंसा के मार्ग पर अनुगमन नहीं हो रहा है। अहिंसा की दृष्टि तो इतनी विशाल है कि हम पापी से पापी और दुराचारी से दुराचारी के प्रति भी अपने मन में घृणा का भाव नहीं ला सकते। किन्तु दुर्भाग्य से आज समाज के पास अहिंसा की वह दृष्टि नहीं है; फलतः ऐसी बुराइयाँ पैदा हो गई हैं जिनके उन्मूलन के लिए हमें घोर संघर्ष करना पड़ रहा है, और यह संघर्ष सफलताप्राप्ति के अन्तिम क्षण तक जारी रहेगा।

आज जिधर भी दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर ही घृणा और द्वेष के अशुभ चिन्ह दिखाई देते हैं। वस्तुतः मन की संकीर्णता ही सबसे बड़ी और व्यापक हिंसा है। मनुष्य मनुष्य से घृणा और द्वेष कर रहा है यह हमारे दूसरे वर्ग का है तो द्वेषभाव प्रदर्शित करेंगे। जात-पाँत के नाम पर, प्रान्त के नाम पर घृणा प्रसारित कर चुके हैं, कि यदि शीघ्र ही उनको दूर न कर सके तो हमारे जीवन का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा।

जन्म नहीं, कर्म

मनुष्य जन्म से ऊँचा-नीचा होता है या कार्य से? यदि कोई जन्म से श्रेष्ठ होता है तो जैन-दृष्टि से रावण क्षत्रिय था और वैदिक दृष्टि से ब्राह्मण था; अतः उसमें जन्मजात पवित्रता और उच्चता विद्यमान थी। फिर भी उसे सामाजिक घृणा क्यों मिली? भारत का इतिहास लिखने वाला प्रत्येक इतिहासकार रावण के प्रति क्यों व्यापक घृणा व्यक्त करता आ रहा है? अभिप्राय यह है कि जन्म से कोई ऊँचाई नहीं आती। यही कारण है कि जब भी कभी जन्मजात उच्च कहलाने वाला व्यक्ति गलत मार्ग पर चलता मालूम होता है, भारतीय इतिहासकार उस दुराचार की निन्दा करने को तैयार होता है और उस बुराई का तिरस्कार करने में अणुमात्र भी संकोच अनुभव नहीं करता। इतिहास ने यह नहीं देखा कि रावण क्षत्रिय था या ब्राह्मण? उसका जन्मजात क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व सामने नहीं आया, किन्तु उसका कर्म ही प्रकाश में आया। वही जांचा और परखा गया।

इसके विपरीत वाल्मीकि का जीवन-चरित्र देखा जाता है। वाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन में लुटेरे थे। उन्होंने दूसरों को मारना और दूसरों की जेब टटोलना ही सीखा था। इसके सिवाय उसके सामने जीवन-यापन का दूसरा रास्ता नहीं था और उसी पर बिना किसी हिचकिचाहट के चले जा रहे थे। उनके हाथ खून से भरे रहते थे। किन्तु जब जीवन की पवित्र राह मिली और उन्होंने उस पर पदार्पण किया तो अपनी परम्परागत सभ्यता और संस्कृति के नाते भारतीय समाज ने उन्हें ऋषि और महर्षि की पदवी दी और संत-समाज में उन्हें आदर का स्थान मिला।

जैन-दर्शन के अनुसार हरिकेशी चाण्डाल-कुल में उत्पन्न हुए और सब ओर से उन्हें भर्त्सना और घृणा मिली। वे जहाँ कहीं भी गए अपमान-रूप विष के प्यालों से ही उनका स्वागत हुआ। कहीं भी समभाव-सूचक अमृत का प्याला नहीं मिला। पर जब वे जीवन की पवित्रता के सही मार्ग पर आए तो वन्दनीय और पूजनीय हो गए। देवताओं ने उनके चरणों में मस्तक झुकाया और तिरस्कार करने वाले ब्राह्मणों ने भी उनकी पूजा और स्तुति की।

अर्जुन माली की जीवन-कथा भी किसी से छिपी हुई नहीं है। नरहत्या जैसा जघन्य कर्म करने वाला और हिंसक वृत्ति में आकण्ठ डूबा हुआ अर्जुन माली, एक दिन मुनि के महान् पद पर प्रतिष्ठित होता है, भगवान् महावीर उसे प्रेम से अपनाते

हैं और वह जीवन की पवित्रता प्राप्त करके महान् विभूति बन जाता है। यह सब किसकी विशेषता थी ? यह विशेषता जन्म की नहीं, अपितु कर्म की ही थी।

अनुचित प्रश्न

सन्त जब मिलते हैं तो कई लोग सर्वप्रथम उनकी जाति पूछ बैठते हैं, और कोई बात पूछना उन्हें नहीं सूझता। कोई-कोई उनका खानदान और कुल भी पूछ लेते हैं। पर सोचना यह है कि क्या ये सब बातें साधु से पूछने की हैं ? साधु तो अपनी पहली दुनिया को भूल ही जाता है। उसे स्मरण करने का अधिकार भी नहीं; कि वह पहले क्या था ? किस रूप में था ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य क्या शूद्र क्या था ? इन सभी शृंखलाओं से मुक्त हो कर उसने नया जन्म लिया है। जब कोई मनुष्य यहाँ जन्म लेता है, तो उसे अपने पिछले जन्म की जाति, खानदान और कुल आदि का स्मरण नहीं रहता। प्रकृति उसे पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहने देती, मात्र वर्त्तमान का दृश्य ही उसके सामने खड़ा पाया जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति दीक्षा लेता है तो वह भी एक प्रकार से नया जन्म पाता है, नए क्षेत्र में प्रवेश करता है। नई जिन्दगी पा कर वह पुरानी जिंदगी को भुला देता है। वह जिस महल को छोड़ कर आया है, यदि उसे अपने दिमाग से नहीं निकाल सका है, और जिस कुल से आया है, यदि उसे नहीं भुला सका है तो जैन-धर्म कहता है कि उसका नया जन्म नहीं हुआ है, वह साधु नहीं बन सका है। सच्चा साधु दीक्षा लेने के बाद 'द्विजन्मा' हो जाता है। पर आज तो वह उसी पुराने जन्म के संस्कारों में उलझा हुआ देखा जाता है। उन्हीं संस्कारों को अपने जीवन पर लादे हुए चलता है और जब यही प्रक्रिया चालू है तो जीवन का जो महान् आदर्श आना चाहिए, वह नहीं आ पाता।

'अप्पाणं वोसिरामि'[३] कह कर साधु ने पुरानी दुनिया के खोल को तोड़ फेंका है। उसके सामने चाहे महल हो, या झोंपड़ी हो; दोनों समान हैं। कोई उसे अपमानित करता हो या कोई सम्मान देता हो, दोनों ही उसकी दृष्टि में एक समान हैं। उसके लिए मानापमान की ये सब खाइयाँ कभी की पट चुकी हैं और अब वह इन सबसे अलग हो चुका है। साधु ही एकमात्र उसकी जाति है। साधु की दूसरी कोई जाति ही नहीं होती है। किन्तु पूछने वाले यही पुरानी दुनिया की कहानी पूछते हैं और पुराने संस्कारों की याद ताजा करते हैं, जिन्हें बिल्कुल भुला देना चाहिए। सही तो यह है कि ऐसी निरर्थक बातों को सारा भारत ही भुला दे। परन्तु यह तो विवेक-बुद्धि पर आश्रित है, जो अभी दूर की बात है। वर्तमान में जब साधु भी इन्हें नहीं भुला सके हैं, तो फिर दूसरे सर्वसाधारण से क्या आशा की जाए? इसकी पुष्टि में संत कबीर कहते हैं :—किसी साधु की जाति मत पूछिये कि वह ब्राह्मण है, या क्षत्रिय ? जाति पूछ कर करोगे भी क्या ? यदि पूछना ही है तो उसका ज्ञान पूछो, उसका आचरण पूछो

---

३ मुनि-दीक्षा लेते समय प्रतिज्ञा के रूप में बोले जाने वाले एक पाठ-विशेष का अंश।

और यह पूछो कि जीवन की राह पर चल कर उसने क्या पाया है ? उसमें महक पैदा हुई है या नहीं? जीवन-फूल खिला है या नहीं ? वह जीवन का फूल महक दे रहा है या नहीं ? जब तलवार म्यान में पड़ी है, तो तलवार खरीदने वाला तलवार का मोल करता है या म्यान का ? लड़ाई तलवार से होगी या म्यान से ? म्यान तो म्यान ही रहेगी, उसका अपने आप में क्या मूल्य है ? चाहे म्यान सोने की ही क्यों न हो; किन्तु यदि उसमें काठ की तलवार रखी है तो उस म्यान की क्या कीमत होगी ?*

कर्त्तव्य की दृष्टि से जैन-धर्म एक ही बात कहता है कि मनुष्य तेरे विचार और आचार कितने ऊँचे और अच्छे हैं; और तूने जीवन की पवित्रता पा कर उन्हें जीवन में कितना साकार किया है ? जिसके पास पवित्र विचार का वैभव है और पवित्र आचार की पूँजी है, निस्सन्देह वही भाग्यशाली है और जैन-धर्म उसी को आदरणीय स्थान देता है।

जैन-धर्म जो बारह भावनाएँ आती हैं, उनमें एक अशुचि-भावना भी है। वह भावना निरन्तर चिन्तन के लिए है और वह चिन्तन अपने शरीर के सम्बन्ध में है। इस भावना में अपने शरीर के अशुचिस्वरूप का विचार किया जाता है। ब्राह्मण हो या शूद्र, सभी के लिए समानरूप से इस भावना के चिन्तन का विधान है। शास्त्र में कहीं यह नहीं बतलाया गया है कि ब्राह्मण का शरीर शुचि-पवित्र है और उसे इस भावना की कोई आवश्यकता नहीं है, और सिर्फ शूद्र के लिए ही यह भावना आवश्यक है ! मनुष्य-मात्र का शरीर एक-जैसा है। ऐसा कदापि नहीं कि शूद्र के शरीर में रक्त हो, और ब्राह्मण के शरीर में दूध भरा हो या गंगाजल हो ! यह बात तो इतनी स्पष्ट है कि इसकी सच्चाई आँखों से दिखाई देती है। इसी कारण अशुचिभावना का विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र सभी के लिए समानरूप से मान्य बतलाया गया है। फिर भी लोगों के दिलों में यह मिथ्या अहंकार बैठ गया है कि मेरा शरीर पवित्र है, और दूसरे का अपवित्र है ! मैं शूद्र को छू लूँगा तो मेरा शरीर अपवित्र हो जाएगा !

घिनौनी से घिनौनी चीज : देह

संसारभर में अपवित्र से अपवित्र और घिनौनी से घिनौनी चीज यदि कोई है, तो वह शरीर ही है। दुनियाभर की अशुचि और गन्दगी इसमें भरी पड़ी है, यह हड्डियों का ढाँचा और मांस का लोथ चमड़े से ढँका हुआ है और मल-मूत्र आदि घृणित पदार्थों का भंडार है। फिर इसमें पवित्रता कहाँ से आ गई ? यह शरीर जब कभी किसी वस्तु को ग्रहण करता है, तो उसको भी अपवित्र बना देता है। चाहे भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो, जैसे ही वह शरीर के सम्पर्क में आता है, गन्दा और

* जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान ॥

दूषित बन जाता है और सड़ जाता है। मनुष्य जिस मकान में रहता है, उसके चारों तरफ गन्दगी बिखेरता रहता है और वह गन्दगी शरीर के द्वारा ही तो फैलती है। जब मनुष्य शहर में रहता है तो वहाँ की गली-कूचों की क्या स्थिति होती है? इतनी गन्दगी, मलिनता और अपवित्रता वहाँ भर जाती है कि एक वर्ग सफाई करते-करते थक जाता है। मनुष्य अपने आचरण से हवा, पानी, मकान आदि सभी चीजों को दूषित कर देता है और सड़ा देता है। यह सारे कर्म मनुष्य ही करता है। वह जिस ओर चलता है, गन्दगी बिखेरता चलता है।

भगवान् महावीर ने अशुचि को अपने शरीर में ही देखा है। मनुष्य के शरीर से बढ़कर कहीं अशुचि नहीं है। अपने शरीर से चिपटी उस अशुचि को न देखकर शरीर को पवित्र मानना भूल है और सिर्फ दूसरे के शरीर को अपवित्र मान कर अपनी शारीरिक पवित्रता के मिथ्या अहंकार को प्रश्रय देना तो जीवन की एक महान् भूल है।

मनुष्य का शरीर अपवित्र है और वह कभी पवित्र नहीं हो सकता। हजार बार स्नान करके भी आप उसे पवित्र नहीं बना सकते। एक आदमी कुल्ला करता है। एक बार नहीं, सौ बार कुल्ला करता है और सन्तोष लेता है कि मेरा मुँह शुद्ध हो गया। किन्तु उसी मुँह में कुल्ला भरकर यदि वह दूसरे पर थूकता है तो लड़ाई शुरू होगी या नहीं? ऐसी स्थिति में लाठियाँ बजने लगती हैं और कहा जाता है कि झूठा पानी मुझ पर डाल दिया। संसार की सारी अपवित्रता इस शरीर में भरी पड़ी है। जीवन की वास्तविक पवित्रता तो आपके मन में और आपकी आत्मा में ही हो सकती है, शरीर में नहीं। जीवन की शुचिता आप अपने आचार और विचार द्वारा पैदा कर सकते हैं। और जब तक यह बात नहीं आएगी, आप चाहे हजार बार गंगा में स्नान कर लें और लाख बार सम्मेतशिखरजी की यात्रा कर आएँ, वह पवित्रता आने वाली नहीं है।

स्नान से क्या होता है? पानी का काम तो शरीर के ऊपर फैल कर ऊपरी गन्दगी को दूर कर देना है। मन की गन्दगी को दूर करना उसकी शक्ति से सर्वथा बाहर का काम है। शरीर के भीतर की गन्दगी भी उससे साफ नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में जैन-धर्म हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित करता है कि तुम आचार-विचार को महत्त्व देते हो या जात-पाँत को? यदि जात-पाँत को महत्त्व देते हो, तब तो वह महत्त्व शरीर को ही प्राप्त होता है और शरीर सबका समान है, जैसा ब्राह्मण का है, वैसा ही शूद्र का है। यदि ब्राह्मण का शरीर पवित्र है, तो शूद्र का भी पवित्र है; और यदि शूद्र का अशुचिरूप है, तो ब्राह्मण का भी अशुचिरूप है।

वेदान्त-दर्शन

भारत का वेदान्तदर्शन आत्माओं में कोई भेद नहीं करता। वह प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्माएँ न मान कर, सब आत्माओं को एक इकाई के रूप में ग्रहण करता है। वह सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म का ही स्वरूप मानता है और कहता है—"इस

संसार में परब्रह्म ही सत्य है और उसमें कोई अनेकरूपता नहीं है। अलग-अलग जातियों की जो धारणा है, वह मोक्ष का मार्ग नहीं; यह तो आसुरी मार्ग है।"[५] वेदान्त के आचार्यों ने इतनी बड़ी बात कह दी है, फिर भी पुरानी वृत्तियां अभी तक मर नहीं रही हैं। आचार्य आनन्दगिरि ने बतलाया है कि आचार्य शंकर एक बार बनारस में थे और गंगा में स्नान करके लौट रहे थे। रास्ते में एक चाण्डाल, अपने कुत्तों को साथ लिए, मिल गया। रास्ता संकरा था, ऊंची पर वह सामने की ओर से चला आ रहा था। आचार्य शंकर पवित्रता के चक्कर में पड़ गए। मुझ पर कहीं चाण्डाल की छाया न पड़ जाए, इस विचार से वे खड़े हो गए। पर, आचार्य के मनोभाव का अध्ययन कर चाण्डाल भी खड़ा हो गया। आचार्य ने कुछ देर इन्तजार किया, किन्तु जब चाण्डाल मार्ग से अलग नहीं हुआ तो क्लिश हो कर आचार्य ने कहा—"अरे हट जा, रास्ता छोड़ दे! तुझे दीखता नहीं कि मैं स्नान करके आया हूं, पवित्र हो कर आया हूं और तू रास्ता रोक कर खड़ा हो गया है।"

चाण्डाल ने कहा—"महाराज, एक बात पूछना चाहता हूं। आप हटने को कहते हैं, पर मैं हटूं कैसे? मेरे पास दो पदार्थ हैं—एक आत्मा और दूसरा शरीर। आत्मा चेतन है, और शरीर जड़ है। तब इनमें से आप किसे हटाने को कहते हैं?[६] यदि आत्मा को हटाने के लिए कहते हैं तो आपकी आत्मा और मेरी आत्मा—दोनों एक ही समान हैं। परब्रह्म के रूप में जो आत्म-ज्योति आपके अन्दर विराजित है, वही मेरे अन्दर भी विद्यमान है, तो फिर मैं आत्मा को कहां ले जाऊं, और कैसे ले जाऊं? आत्मा तो व्यापक है और सम्पूर्ण संसार में समानरूप से व्याप्त है। आप उसे हटाने को कहते तो हैं, किन्तु उसे हटाने की बात मेरी कल्पना से बाहर है।[७]

यदि आप शरीर को हटाने के लिए कहते हैं तो शरीर पंचभूतों से बना है और वह जैसा मेरा है, वैसा ही आपका भी है। ऐसा तो है नहीं कि मेरा मांस काला हो और आपका गोरा हो। जो रक्त आपके शरीर में बह रहा है, वही मेरे में भी बह रहा है। अतः यदि आप शरीर को अलग हटाने की बात कहते हैं तो वह मेरी समझ में नहीं आती कि उसे कैसे अलग किया जाए, और क्यों अलग किया जाए?"

आचार्य आनन्दगिरि कहते हैं कि जब यह बात शंकर ने सुनी तो वे आश्चर्य में पड़ गए और उन्होंने अपने कान पकड़े! बोले—'अभी तक वेदान्त की ऊंची-ऊंची

---

५ "ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या।
नेह नानास्ति किञ्चन॥"

६ अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्,
द्विजवर! दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति। —मनीषापञ्चक

७ आचार्य शंकर वेदान्तमत के अनुयायी थे। वेदान्त की मान्यता के अनुसार, समस्त जड़-चेतनमय विश्व, एक आत्म-तत्त्व का ही नानारूप से प्रसार है। वस्तुतः व्यापक आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, नेह नानास्ति किञ्चन।"

आर्ते केवल कहने मात्र ही थीं। "संसार में एकमात्र परब्रह्म की ही सत्ता है", यह उपदेश संसार को तो खूब अच्छी तरह सुनाया, पर अपने मन का काँटा आज तक नहीं निकल सका था। मन का विष-विकार नहीं गया था। उसे आज आपने निकाल दिया। अतएव आप ही मेरे सच्चे गुरु हैं। आपने मेरे नेत्र खोल दिये हैं।[८]

वह सत्य का चमत्कार था, जिसके कारण चाण्डाल को मार्ग से हटाने वाले आचार्य शंकर जरा-सी बात सुनते ही सन्मार्ग पर आ गए, सामान्य लोग उसकी अवहेलना करते हैं।

कल्पित दीवारें

इस प्रकार जातीयता के नाम पर ऊँच-नीच की ये कल्पित दीवारें खड़ी करना सामाजिक हिंसा है। निश्चित रूप से यह समझने की चीज है कि मनुष्य के हृदय में जितनी ज्यादा संकीर्णता तथा घृणा बढ़ती है, उतनी ही अधिक हिंसा घर करती जाती है। कुछ वर्ष पूर्व विदेशी प्रभुत्व से मुक्त हो कर भारत ने राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त की, परन्तु वह मानसिक संकीर्णताओं से मुक्त नहीं हो पाया। जिसका दुःखद परिणाम हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे के रूप में प्रकट हुआ और रक्त की नदी तक बह निकली? लाखों और करोड़ों आदमी इधर से उधर आ-जाकर बर्बाद भी हो गए। यह सब अमानुषिकताएँ क्यों हुईं? यह साहसपूर्वक कहा जा सकता है कि यह एकमात्र घृणा का ही दुष्परिणाम था। जब तक यह घृणा दूर नहीं होगी, तब तक हम अछूतों से प्रेम नहीं कर सकेंगे और हिन्दू तथा मुसलमान भी साथ-साथ नहीं बैठ सकेंगे। सारांश में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब तक हमारे मन और मस्तिष्क में किसी भी प्रकार की संकीर्णता रहेगी, तब तक सामाजिक हिंसा की यह परम्परा चालू ही रहेगी और एक रूप में नहीं, तो दूसरे रूप में वह सामूहिक घृणा उत्पन्न करती रहेगी।

मनुष्य-जाति आज अनेक टुकड़ों में बँट गई है और प्रत्येक टुकड़ा दूसरे टुकड़े के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करता है। आज कोई किसी के आचार-विचार को नहीं पूछता है, सिर्फ जाति को ही पूछता है और उसी के आधार पर उच्चता और नीचता का काल्पनिक नाप-तौल करता है। इन कल्पनाओं की बदौलत ही भारत मिट्टी में मिल गया, और यह दुर्भाग्य की बात है कि भारतवासियों ने इतिहास से आज तक कोई सबक नहीं सीखा।

जिस दिन भारतवासी मनुष्य के आचार-विचार की इज्जत करेंगे, मनुष्य का मनुष्य के रूप में आदर करना सीखेंगे और प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को भाई की निगाह से देखेगा, तभी भारत में 'सामाजिक अहिंसा' की प्रतिष्ठा होगी और उस अहिंसा के फलस्वरूप ही सुख और शान्ति का संचार होगा। ●

---

८ चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु,
गुरुरित्येषा मनीषा मम।

२३ | शोषण : सामाजिक हिंसा का स्रोत

जैनसंस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्वशान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है, और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं—एक दिन जैनसंस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसाकाण्ड में लगे उन्मत्त संसार के सामने रखा गया था।

समाज के साथ व्यक्ति का सहयोग हो

जैनसंस्कृति का महान् सन्देश है—कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रह कर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज से घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और आसपास के अन्य संगी-साथियों को भी उठाने दे सकता है। यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विराट् बनाए; और जिन लोगों के साथ रहना है, काम करना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा नहीं करेगा; अर्थात्—जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज-कल्याण नहीं हो सकता। एक बार ही नहीं, हजार बार कहा जा सकता है कि नहीं हो सकता। एक-दूसरे का आपस में अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।

मानव की ओर से ही संसार में अधिक दुःख

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो मामूली-सा ही है। यदि अधिक आत्मनिरीक्षण किया जाए तो प्रकृति, दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर लाया हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किये जाने वाले दुःखों को छोटा ले, तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

अमर आदर्श

जैनसंस्कृति के महान् संस्थापक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है।

उनका आदर्श है—धर्म-प्रचार के द्वारा विश्वभर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जचा दो कि वह 'स्व' में ही संतुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कदापि प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है—दूसरों के सुख-साधनों को देख कर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना।

'स्व' की मर्यादा से बाहर ही खतरा

नदी जब तक अपने दो पाटों के बीच में बहती रहती है, तब तक उससे संसार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं। पर, ज्यों ही वह अपनी सीमा से हट कर आसपास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ़ का रूप धारण करती है, तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सबके सब मनुष्य अपने-अपने 'स्व' में प्रवाहित रहते हैं, तब तक कुछ अशान्ति नहीं है, लड़ाई-झगड़ा नहीं है। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहाँ मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है, और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को अपरिग्रह की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से कभी आगे बढ़ने की इजाजत नहीं दी। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है—अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैनसंस्कृति का अमर आदर्श है—प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित साधनों का ही सहारा ले कर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुखसामग्री का संग्रह कर रखना, जैनसंस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र लड़ते क्यों हैं? इसी अनुचित संग्रहवृत्ति के कारण दूसरों के जीवन और सुखसाधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रहवृत्ति में ढूँढ़े जा सकते हैं। एक दृष्टि से अहिंसा और अपरिग्रहवृत्ति दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

गृहस्थजीवन का कर्त्तव्य

'आनन्द' श्रावक अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक श्रावक ही रहे, साधु नहीं बने। फिर भी शास्त्र में उनके जीवन की कहानी विस्तार के साथ दी गई है। भगवान् महावीर के चरणों में पहुँच कर आनन्द ने जो आदर्श साधना की, यद्यपि वह श्रावक-जीवन की ही साधना थी, फिर भी वह इतनी महान् थी कि शास्त्र में उसका वर्णन करना आवश्यक समझा गया। इसका मुख्य कारण था कि गृहस्थ-दशा में रह कर भी आनन्द ने अपने कर्त्तव्य को शानदार ढंग से पूरा किया। उनकी अहिंसा कैसी थी? उनका सत्य कैसा था? उनके जीवन की पवित्रता कितनी उज्ज्वल थी? और दूसरों

के साथ उनके व्यवहार के तरीके कैसे थे ? यही सौन्दर्य-भरी सुवास आदर्श जीवन की परिचायिका है और इन्हीं के लिए शास्त्र में उनकी गौरव-पूर्ण जीवन-कथा का उल्लेख अनिवार्य समझा गया। इसीलिए आज भी उनके पुनीत जीवन की स्वर्णवेदी पर, अपार श्रद्धाभक्ति के साथ, वाणी के पुष्प चढ़ाए जाते हैं।

इस विशाल भू-खंड पर अतीत काल में न जाने कितने चक्रवर्त्ती, अर्धचक्रवर्ती, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार आए हैं, जिन्होंने अपने पराक्रम और वैभव से जमीन को कम्पित किया है, जिन्होंने झोंपड़ियों के स्थान पर गगनचुम्बी प्रासाद खड़े किए हैं और हजारों-लाखों को अपने चरणों में आजीवन झुकाए रखा है। किन्तु, यह सब वैभव होते हुए भी यदि उन्होंने व्यावहारिक जीवन में सत्कर्म नहीं किए और प्रजा-हित की ओर ध्यान नहीं दिया तो उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता, इतिहास उनके लिए मूक है। हाँ ! उन्होंने अपने जीवन में जो गलतियाँ की थीं, उनका चित्रण अवश्य मिलता है। उसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इतने समृद्धिशाली होते हुए भी और इतनी अनुकूलताएँ प्राप्त करके भी उन्होंने अपनी समृद्धि और अनुकूलताओं का अच्छे ढंग से उपयोग नहीं किया; जिसके कारण वे नीचे गिर गए।

राम और रावण

रामायण, जैन और वैष्णव—दोनों धर्मों में पढ़ी जाती है। इसमें दो प्रबल शक्तियों के वर्णन मिलते हैं। एक 'राम' के रूप में, और दूसरी 'रावण' के रूप में। एक ओर रावण दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे को थर्राता हुआ—कंपित करता हुआ आता है; और दूसरी ओर उधर राम भी एक सुगठित शक्ति के साथ खड़े हो जाते हैं। जिस प्रकार रावण राजा बन कर सामने आता है, वैसे ही राम भी राजा के रूप में सामने आते हैं। दोनों ने तीन खण्ड तक अपना साम्राज्य स्थापित किया था। दोनों में इतनी भौतिक समानताएँ होते हुए भी राम के चरणों में ही श्रद्धा के पुष्प चढ़ाए जाते हैं, और रावण का अपमान किया जाता है। आखिर इसका रहस्य क्या है ?

रावण ने इतनी बड़ी शक्ति संगठित की और अपरिमित वैभव पाया, किन्तु वह उसका प्रयोग सदाचार के रूप में नहीं कर सका; वह दुनिया के कल्याण का कोई काम नहीं कर सका। क्षुद्र वासनाओं की पूर्ति में ही वह आजीवन लगा रहा। यह ठीक है कि इन्सान जब तक इन्सान है, उसकी आकांक्षाएँ और वासनाएँ प्रायः मरती नहीं हैं। भूख लगने पर भोजन करना ही पड़ता है और प्यास लगने पर पानी भी पीना पड़ता है। परन्तु रावण की वासनाओं की कोई मर्यादा नहीं थी और यही कारण है कि सोलह हजार रानियाँ होने पर भी वह सीता को बलात्कार उठा ले भागने को विवश हुआ।

उधर राम ने युद्ध अवश्य किया, पर किसी गरीब को सताने के लिए नहीं किया। वहाँ तलवार भी चमकती रही, किन्तु इसकी चमक का उद्देश्य दीन-दुखियों

के कल्याण के लिए और अन्याय एवं अत्याचार के प्रतिकार के लिए था। राम की तलवार किसी सती स्त्री पर बलात्कार करने के लिए नहीं चमकी।

सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाए तो पैसे वाले तो राम भी थे। वे भी सोने के सिंहासन पर बैठे और उनका जीवन भी शानदार महलों में गुजरा, राम को भी रावण के समान ही भोग-विलास के साधन मिले थे। फिर भी राम को आदर और सम्मान दिया जाता है; वह इसीलिए कि उन्होंने इतनी बड़ी ऊँचाई को और राजसिंहासन को पाने के बाद भी अपनी सुख-सुविधा के साथ दूसरों के हित को भी समदृष्टि से देखा। उन्होंने दूसरों की आँसू से गीली जिन्दगियों को भी देखा और यह भी देखा कि यदि मैं राजा बना हूँ तो केवल अपने भोग-विलास के लिए, अपनी वासनाओं की क्षुद्र पूर्ति के लिए नहीं, अपितु प्रजा के कल्याण का गुरुतर उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए बना हूँ। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया और इसी कारण आज भी संसार उनका गुणगान करता है।

वर्गवाद का विरोध

जैन-धर्म किसी भी प्रकार के वर्गवाद को प्रश्रय नहीं देता। जाति-पाँति के आधार पर, सम्पत्ति के आधार पर, या किसी भी अन्य भौतिकता के स्थूल आधार पर पनपते हुए वर्गवाद का वह पक्ष नहीं लेता। जैन-धर्म गरीब या अमीर की पूजा नहीं करता है; और न उसकी निन्दा ही करता है। वह तो अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है और प्रत्येक वस्तु को उसी दृष्टिकोण से देखता और परखता है। वह अपने दृष्टिकोण के नाते उस धनवान् की प्रशंसा करता है, जो धन को प्राप्त करता है, या प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है; किन्तु धन प्राप्त करते समय यदि न्याय और नीति को नहीं भुलाता और प्राप्त करने के बाद भी उसे न्याय-नीति से ही खर्च करता है; जो इस धन को प्राप्त करके अपना ही हित-पोषण नहीं करता है, अपितु दूसरों की भलाई में भी उदारता-पूर्वक व्यय करता है।

सम्पदा नहीं, सद्गुण

यदि एक गरीब है और उसके पास पैसा नहीं है, किन्तु उसका जीवन सुन्दर है और शानदार ढंग से गृहस्थ की गाड़ी चला रहा है; वह भले ही किसी परिस्थिति-विशेष के कारण धनसंग्रह नहीं कर सका हो, किन्तु न्याय और नीति यदि उसके साथ है तो इस दशा में भी हम उसकी प्रशंसा करेंगे। ऐसे भी निस्सहाय लकड़हारे हो चुके हैं, जिनकी जिन्दगी का निर्वाह होना मुश्किल था, किन्तु उनमें अच्छाइयाँ थीं, जिसके कारण सन्तों ने उनकी गुणगाथा गाई है।

अभिप्राय यह है कि केवल धनी होने से ही कोई प्रशंसा का पात्र नहीं बन जाता और न धन के अभाव में निन्दा का ही पात्र बनता है। इसी प्रकार निर्धन होने से ही कोई प्रशंसा या अप्रशंसा के योग्य नहीं हो जाता। जहाँ सद्गुणों के पुष्प हैं, वहीं प्रशंसा की सौरभ है। किन्तु धनवान् या चक्रवर्ती होने पर

भी यदि उनमें गुण नहीं है तो उनकी प्रशंसा नहीं होती है। एक ओर चक्रवर्ती भरत की प्रशंसा से ग्रन्थ पर ग्रन्थ भरे पड़े हैं, किन्तु दूसरी ओर अर्ध-चक्रवर्ती रावण और चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त भी हो गए हैं, जिन्हें अच्छाई की दृष्टि से नहीं देखा गया ; अपितु जीवन पतित होने पर नरक में जाने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उनमें प्रशंसा-योग्य गुण नहीं आए, न न्याय एवं नीति ही आई और अपने पूरे जीवन में वे प्रजा के हित का एक भी कार्य नहीं कर सके।

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त

जैन-साहित्य में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का वर्णन आता है। ब्रह्मदत्त भोग-परायण व्यक्ति था। चक्रवर्ती के सिंहासन पर बैठ कर भी अपने को तदनुकूल ऊँचा नहीं उठा सका। उसका झुकाव जितना निज के पोषण में था, उतना प्रजा के पोषण में नहीं था।

एक दिन जैन-जगत के प्रख्यात् महामुनि चित्त, ब्रह्मदत्त से मिले। उन्होंने चक्रवर्ती के समक्ष एक आदर्श रखा कि—"यदि तुम ज्यादा कुछ नहीं कर सकते, तो कम से कम आर्य-कर्म तो करो, प्रजा के ऊपर तो दया करो। जिस प्रजा के खून-पसीने की गाढ़ी कमाई से तुम वैभवशाली महल खड़े कर रहे हो, उस प्रजा पर तो अनुकम्पा करो। यदि तुम प्रजा पर करुणा की एक बूँद भी बरसा सके, तो भी अगले जीवन में देवता बन सकोगे ! नरक और निगोद में नहीं भटकते फिरोगे ! इससे तुम्हारी जिन्दगी यहाँ, वहाँ सब जगह आराम से कटेगी।[1]

एक राजा अपनी प्रजा के लिए कल्याण-बुद्धि से काम करता है तो वह यहाँ और आगे भी परम अभ्युदय प्राप्त करता है। उसके चक्रवर्ती होने के नाते हम उसकी प्रशंसा या निन्दा नहीं करते हैं। हम तो केवल गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की कटु आलोचना करते हैं। यदि कोई गरीब चोरी करता है, दुनियाभर की गुण्डागीरी करता है और बुराइयों से काम लेता है, न तो वह अपनी गरीबी को आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है, और न विषम परिस्थितियों से न्यायपूर्वक संघर्ष ही करता है, ऐसी दशा में हम उसकी प्रशंसा कदापि न करेंगे ; उसके अन्याय, अनाचार और गुण्डापन की घोर निन्दा ही करेंगे।

इन्सानियत का पाठ

जैन-धर्म तो एक ही सन्देश ले कर चला है कि—तुमने संसार को क्या दिया

---

१ जइ तंसि भोगे चइउ असत्तो,
अज्जाइं कम्माइं करेहि राय।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी,
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥ —उत्तराध्ययन २३, २३

है और संसार से क्या पाया है ? क्या तुमने मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया है ? इन्सान हो कर भी इन्सान जैसा उठना, बैठना, बोलना और चलना सीखा है या नहीं ? यदि सीख लिया है और सदाचरण की परीक्षा में उत्तीर्ण भी हो चुके हो तो इन मनुष्योचित सद्गुणों की तुलना में तुम्हारी निर्धनता को बिल्कुल नगण्य मान-कर हम तुम्हारा सम्मान करते है । इसके विपरीत यदि जिन्दगी में गरीब या अमीर रहते हुए भी इन्सानियत का पाठ नहीं सीखा और इन्सान के साथ इन्सान के जैसा मानवीय व्यवहार करना नहीं सीखा, तो हम सम्राट् और गरीब दोनों से ही कहेंगे कि तुम्हारा व्यावहारिक जीवन गलत और दोषपूर्ण है और तुम हमारी ओर से अंशमात्र भी प्रशंसा प्राप्त नहीं कर सकते ! जैन-धर्म तुम्हारे लिए प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं कह सकता ।। भगवान् महावीर ने साधुओं से कहा है—यदि तुमको एक भाग्यशाली सम्राट् सेठ या साहूकार मिल जाए तो तुम दृढ़ता-पूर्वक, अपने मन में किसी भी प्रकार का अभाव न रखते हुए, स्पष्टभाव से उपदेश दे सकते हो; और यदि कोई निर्धन मिले तो वही उपदेश उसे भी उसी भाव से दो । जिस प्रेम एवं स्नेह से चक्रवर्ती सम्राट् को उपदेश देते हो, वही प्रेम और स्नेह किसी गरीब के लिए भी रखो । अपने अन्तःकरण में दोनों के लिए समान प्रेम और समान स्नेह का आदर्श सन्देश लेकर चलो ।"[२]

हमें समाज से नहीं, किन्तु समाज के अन्तःस्तल में बैठे हुए और समाज को सही मार्ग से विचलित कर कुपथ पर ले जाने वाले कुविचारों से लड़ना है ।

भगवान् महावीर के युग में ब्राह्मणजाति की समस्या कितनी उलझी हुई थी ? जगह-जगह याज्ञिक हिंसा हो रही थी, संहार का नंगा नाच हो रहा था और खून की नदियाँ बह रही थीं । परन्तु भगवान् महावीर ने ब्राह्मणजाति का अंशमात्र भी विरोध नहीं किया, वरन् उस समय फैली हुई कुरीतियों को सुरीति में एवं दुर्नीति को सुनीति में परिणत करने के लिए स्पष्टोक्ति से काम लिया । उनके पास यदि राजा श्रेणिक या कूणिक आए तो भी, और निर्धन लकड़हारे आए तो भी, उन्होंने समानभाव और अदम्य साहस के साथ देश में फैली हुई बुराइयों के विरोध में जोरों से आन्दोलन चालू रखा । इसी प्रकार यदि कभी प्रशंसा का अवसर आया तो राजा की भी प्रशंसा की, और गरीब की भी की ।

ऐसा अशोभनीय वर्ग-भेद एक अंश में भी प्रकट नहीं हुआ कि किसी राजा की राज्य-प्रभुता भगवान् महावीर को प्रभावित कर सकी हो और तदनुसार उन्होंने किसी रंक के प्रति भर्त्सनापूर्ण व्यवहार किया हो । उनकी निर्मल दृष्टि में किसी भी प्रकार का भेद-मूलक अपवाद अन्तिम क्षण तक पैदा नहीं हुआ था ।

---

२ जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ।। —आचारांग, प्र० श्रु०

हमारे जीवन की जो पृष्ठ-भूमि है, वह तो इतनी ऊँची और विराट् है, किन्तु उसकी तुलना में आज हम इतने नीचे आ गये हैं कि उसको अच्छी तरह छू भी नहीं सकते हैं। आचरणहीनता के कारण हमारा कद छोटा हो गया है, जबकि सिद्धान्त का कद बहुत ऊँचा है। जैसे बौना आदमी किसी लम्बे कद वाले के पास खड़ा हो और वह उसके कंधे को नहीं छू पाता हो, उसी प्रकार हम आज अहिंसा और सत्य को छू नहीं पा रहे हैं। इस कथन का आशय यह है कि आपके आचरण का जो कद बौना हो गया है, उसे उत्तम विचारों के द्वारा ऊँचा बनाने की आवश्यकता है। शरीर का कद छोटा है या बड़ा, इससे कोई प्रयोजन नहीं है।

किसको मुक्ति ?

एक बार भगवान् महावीर से पूछा गया कि किस कद वाले को मुक्ति प्राप्त होती है ? तो उन्होंने कहा—पांच-सौ धनुष का कद वाला भी मोक्ष पा सकता है और एक बौना भी। अर्थात् भगवान् ने शरीर के कद को कोई महत्व नहीं दिया है, किन्तु विचारों के कद को महत्वपूर्ण और अनिवार्य माना है। यदि कोई साधक शरीर से बौना है, किन्तु उसके विचारों का कद ऊँचा हो गया है, ऊँचा उठते-उठते तेरहवें और फिर चौदहवें गुणस्थान तक पहुँच गया है, तो वह अवश्य मुक्त हो जाएगा। इसके विपरीत पांच-सौ धनुष का शरीर का कद होने पर भी यदि किसी व्यक्ति के विचारों का कद छोटा है तो उसे मोक्ष नहीं मिल सकता।

जब हम इस विषय पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि शास्त्रों की जो अहिंसा और दया है, उसका कद तो बहुत ऊँचा है। किन्तु आजकल की हमारी अहिंसा और दया का; अर्थात्—जिस रूप में आज हम अहिंसा या दया का व्यवहार कर रहे हैं और जिस रूप में उसे समझ रहे हैं, उसका कद बहुत छोटा है। किन्तु जब समाज और राष्ट्र के विचारों का कद शास्त्रीय अहिंसा के कद की ऊँचाई पर पहुँचेगा, तभी वे अपना उत्कर्ष साध सकेंगे।

आज सारे संसार में वर्ग-संघर्ष चल रहा है। यदि अकेला इन्सान है तो उसका मन भी अस्तव्यस्त है और यदि परिवार में दस-बीस आदमी हैं तो वे भी सब बेचैन हैं। सारे समाज में, देश में और छोटी या बड़ी प्रजा में चारों ओर संघर्ष है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में अशान्ति की आग सुलग रही है। मानो, हम सब बीमार बन गए हैं। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र आज इसी बीमारी का अनुभव कर रहा है।

बीमारी की जड़

अस्तु, प्रश्न यह है कि इस आग और बीमारी का मूल कारण क्या है ? इन्सान के ऊपर जो दुःख और संकट आ पड़ा है, वह कहाँ से आया है ? और किस मार्ग से आया है ? जैन-धर्म अपने विश्लेषण के द्वारा यह निर्णय करता है कि प्रकृति की ओर

से ये दुःख नहीं आए हैं। प्रकृति की ओर से आने वाले दुःख कदाचित् और अल्प होते हैं। जैसे—कभी भूकम्प आ जाता है तो मनुष्य घबरा जाता है, कभी वर्षा ज्यादा हो जाती है या सूखा पड़ जाता है तब भी वह संत्रस्त हो जाता है। परन्तु ये समस्त खबरें हफ्ते में कभी हैं प्रतिदिन भूकम्प की दुर्घटनाएँ नहीं हुआ करतीं और ऐसी दुर्घटनाओं के समय भी यदि आपदापीड़ित इन्सान, इन्सान का दिल ले कर किसी उदारमना इन्सान के पास पहुँच जाता है तो वह प्रकृतिजनित दुःख भी भूल जाता है। कभी-कभी इन्सान के ऊपर जंगली जानवरों के द्वारा भी दुःख लाद दिए जाते हैं। जैसे—कभी लकड़बग्घा बच्चे को उठा कर ले जाता है या भेड़िया बकरी-भेड़ को ले भागता है। परन्तु आजकल इन सारे उपद्रवों पर भी इन्सान ने विजय प्राप्त कर ली है; क्योंकि निर्जन स्थलों पर बड़े-बड़े नगर बस गए हैं, आवास की व्यवस्था ठीक-ठीक हो रही है और जंगली जानवर विवश हो कर जंगलों में अपना मुंह छिपाए पड़े हैं। फिर भी आज का मनुष्य दुःखों से पीड़ित है, अतः प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों हो रहा है?

मानव-समाज के समस्त दुःखों का प्रमुख कारण मनुष्य की दुर्वृत्ति ही है। आज मानव-समाज में ही अनेक लकड़बग्घे और भयंकर भेड़िए पैदा हो गए हैं। चारों ओर खूंखार भेड़िए ही भेड़िए नजर आते हैं। उनका शरीर तो मनुष्य का-सा अवश्य है, पर दिल मनुष्य का नहीं, हिंसक भेड़िये का है। मनुष्य में मनुष्योचित सद्भावना नहीं रही है। अभिप्राय यही है कि मनुष्य के भीतर जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वासनाएँ हैं, वे गृहस्थ-जीवन को बिगाड़ रही हैं, साधुसमाज को भी समाप्त कर रही हैं और समाज एवं राष्ट्र को भी क्षीण कर रही हैं। सारांश यह है कि मनुष्य को मनुष्यकृत दुःख ही प्रायः सता रहे हैं।

आप जब कभी दस-पांच आदमी इकट्ठे बैठ कर आराम में बातें करते हैं और कभी किसी से उसके दुःख की बात पूछते हैं; तभी आपको दुःख का स्पष्ट अनुभव होता होगा। अपने विचारों की तराजू पर तौल कर देखिए कि प्रकृति-जन्य तथा हिंसक पशुओं द्वारा होने वाले दुःख उनमें से कितने हैं और मनुष्यों द्वारा पैदा किए हुए दुःख कितने हैं? इस भेद को समझने में अधिक देर नहीं लगेगी कि—मनुष्य ही मनुष्य पर अधिकांश विपत्तियाँ लाद रहा है और दुःखों के पहाड़ ढहा रहा है। कोई कहता है—अमुक मनुष्य ने मेरे साथ विश्वासघात किया है! एक बहन कहती है कि मेरे प्रति सास का व्यवहार अच्छा नहीं है, और प्रतिवाद में सास कहती है कि बहू का बरताव अच्छा नहीं है। इसी प्रकार पिता, पुत्र की और पुत्र, पिता की शिकायतें करते हैं। कहीं भाई-भाई के बीच दुर्व्यवहार की दुःखद कहानी सुनी जाती है। इस प्रकार जितने भी आदमियों से बातें करेंगे, उन सबसे यही मालूम होगा कि आदमी की आदमी से जितनी शिकायत है, इतनी कुदरत और वन्य-पशुओं से नहीं है। कथन का अभिप्राय यही है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति आज जो व्यवहार है, वह संतोषजनक नहीं है, सुखप्रद नहीं है, बल्कि असंतोष, अशांति और दुःख पैदा करने वाला है।

इंसान इंसान का शोषक

राम को चौदह वर्ष का वनवास क्यों भोगना पड़ा ? मंथरा के द्वारा कैकेयी के विचार बदल दिए गए ; कैकेयी की भावना दूषित हो गई, तदनुसार वह गलत ढंग पैदा हुआ कि राम को वनवास मिला, और रामायण की कथा लम्बी होती गई। सारी कहानी आदमी के द्वारा खड़ी की गई और आदमी के द्वारा ही विस्तृत हुई। राम वन में जा कर रहे तो वहाँ रावण सीता को उठा कर ले गया। इस प्रकार आदमी ने आदमी को चैन से नहीं बैठने दिया। और जब राम आततायी रावण को जीत कर वापिस अयोध्या लौटे तो उन्होंने सीता को वनवास दे दिया ! यह सब मनुष्य की ओर से मनुष्य को दुःख देने की एक लम्बी कहानी है।

इस सम्बन्ध में चाहे कोई कुछ भी कहता हो, किन्तु मैं अपने बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर यह कहता हूँ कि राम ने सीता का त्याग करके न्याय नहीं, अन्याय किया। यदि राम स्वयं भी सीता को पवित्र समझते होते तो उनका कार्य उचित कहा जा सकता था, परन्तु उन्हें तो सीता के अतीत्व पर और उसकी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास था। फिर भी उन्होंने अपनी गर्भवती पत्नी को भयानक जंगल में छोड़ दिया ! जो राम प्रभावशाली रावण के सामने नहीं झुके, वे एक नादान धोबी के सामने झुक कर इतिहास की बहुत बड़ी भूल कर बैठे ! यदि उन्हें राजा का आदर्श उपस्थित करना ही था तो वह स्वयं सिंहासन छोड़ कर अलग हो जाते ! परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थल पर वे आदर्श राजा का उदाहरण भी उपस्थित नहीं कर सके। आदर्श राजा अभियुक्त को अपनी सफाई देने का अवसर देता है, पर राजा राम ने सीता को ऐसा अवसर नहीं दिया। यहाँ तो सीता को अभियोग का पता भी नहीं लगने दिया गया; और पता भी तब लगा, जबकि उसे दण्ड दिया जा चुका था।

बताइए—सीता पर यह दुःख कहाँ से आ पड़ा ? राम ने ही तो उस पर यह दुःख लाद दिया था। इस प्रकार आदमी के ही आदमी पर दुःख लाद दिया। पति ने ही पत्नी को दुर्दिन के दावानल में झोंक दिया ! सीता को कैसे रहस्यपूर्ण ढंग से, यात्रा कराने के बहाने लक्ष्मण वन में ले जाते हैं। वन में पहुँचने पर सीता के परित्याग का जब अवसर आता है तो लक्ष्मण के धैर्य्य का बाँध टूट जाता है—वन्य-पशुओं की वेदनामय और अश्रुपूर्ण सहानुभूति पा कर उनकी करुणा फूट पड़ती है ! आज तक लक्ष्मण रोया नहीं था। संकट में, विषमता में, कभी उसने आँसू नहीं बहाया था। यहाँ तक कि मेघनाद के द्वारा शक्तिबाण लगने पर भी उसकी आँखों से एक आँसू नहीं गिरा। पर, आज वही धैर्य्य की अचल प्रतिमा-सा लक्ष्मण क्यों रो पड़ा ? और सीता के पूछने पर जब उसने रहस्य खोला तो सीता भी रो पड़ी। सारा वन रुदन करने लगा, पशु और पक्षी भी रोने लगे। उस समय लक्ष्मण ने कहा था—देखो, इन हिरनों को ! हरी-हरी दूब खाना छोड़ कर ये रो रहे हैं ! उधर ये हंस शोक के मारे कैसा करुणक्रन्दन कर रहे हैं ! सीता की मुसीबत देख कर मोरों ने नाचना बन्द कर दिया है। सम्पूर्ण

प्रकृति शोक से विह्वल हो रही है। हाय, हम मनुष्यों से तो ये पशु-पक्षी ही अच्छे हैं। कहां हमारी निष्ठुरता और कहां इनकी दयालुता और कोमलता !"[३]

मनुष्य का मनुष्य के प्रति, यहां तक कि पति का पत्नी के प्रति और पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति जो अशोभनीय व्यवहार देखा जाता है, उसे देखते हुए लक्ष्मण यदि मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं को श्रेष्ठ कहते हैं तो कोई आश्चर्य न होगा। पशु कम से कम एक मर्यादा में तो रहते हैं। वे अपनी जाति के पशु पर तो अत्याचार नहीं करते। सिंह कितना ही क्रूर क्यों न हो, पर वह भी अपने सजातीय सिंह को तो कभी नहीं खाता। एक भेड़िया दूसरे भेड़िये को तो नहीं मारता। पर, क्या मनुष्य ने इस पवित्र मर्यादा को कभी स्वीकार करने का स्वप्न में भी विचार किया है ?

दूसरी ओर पशु, जब पशु पर आक्रमण करता है तो वह पर्दे के पीछे से वार नहीं करता, सीधा आक्रमण कर देता है। किन्तु मनुष्य, मनुष्य को धोखा देता है, भुलावे में डालता है, विश्वासघात करता है और पीठ में छुरा भोंकता है।

सच पूछो तो मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे ज्यादा भयंकर है। मनुष्य को मनुष्य से जितना भय है, उतना शायद और किसी भी हिंसक पशु से नहीं है।

महाभारत का आदि से अन्त तक पारायण कर जाने पर पता लगता है कि एक के हृदय में लोभ उत्पन्न होता है, तृष्णा जागती है और उसी का कुपरिणाम महाभारत के रूप में आता है, जिसने सारे भारत को वीरान बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या रामायणकाल में, क्या महाभारतकाल में और क्या वर्तमान में; केवल मनुष्य ही मनुष्य पर दुःखों और मुसीबतों का पहाड़ लादता रहा है। मनुष्य ही मनुष्य के सामने राक्षस और दैत्य बन बन आता है और उसका मनमाना शोषण करता है।

कहा जाता है कि कुछ अंग्रेज लोग एक चिड़िया-घर देखने गए, वहां उन्होंने शेरों और भेड़ियों को गरजते देखा। वे आपस में कहने लगे—'इन्होंने न जाने कितनी शताब्दियां गुजार दीं, फिर भी ये हैवान के हैवान ही रहे। इन्होंने अपनी पुरानी आदतें नहीं छोड़ीं। इनका कैसे विकास होगा ?' इस प्रकार शेरों और भेड़ियों की आलोचना करते-करते ज्यों ही वे बाहर आते हैं तो देखते हैं कि उनकी जेब काट ली गई है। जिनकी जेब काट ली गई थी, वे कहने लगे—"हम शेरों और भेड़ियों की आलोचना करते-करते नहीं अघाते थे, पर उन्होंने जेब काटना तो नहीं सीखा। किन्तु विकास-प्राप्त आदमी ने तो आदमी की जेब काटने की कला भी सीख ली है।"

---

३ "एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य,
हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति।
नृत्यं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं,
तिर्यग्गता धरमभी, न परं मनुष्याः॥" —कुन्दमाला

उक्त कथन में भले ही कुछ व्यंग हो, किन्तु सूक्ष्मबुद्धि से विचार करने से मालूम होगा कि वह कथन झूठा नहीं है। इन्सान ही इन्सान की जेब काटने को तैयार होता है, और इन्सान ही इन्सान का शोषण करता है; फिर भले ही वह व्यापार के रूप में हो या किसी दूसरे रूप में।

शोषण की समस्या के अन्तर्गत ब्याज का भी प्रश्न उपस्थित हो जाता है। ब्याज का धन्धा आर्य है या अनार्य? सामाजिक दृष्टि से उसमें औचित्य है या नहीं? यदि औचित्य है तो किस हद तक? इस सम्बन्ध में यदि शास्त्रों के पन्ने भी उलटे जाएँगे तो क्या निर्णय मिलने वाला है? आपके पास आपका हृदय ही महाशास्त्र है। आपका यह हृदय-शास्त्र स्वयं इतना विशाल है कि दूसरे समस्त शास्त्र उसमें समा सकते हैं। हमारे समस्त शास्त्र भगवान् महावीर के हृदय से आए हैं। मानव-हृदय विचार-मौक्तिकों का विराट् सागर है। क्षुद्र हृदय के विचारमौक्तिक ही शास्त्र बन कर चमकते हैं।

विवेक

जैनधर्म विवेक को सर्वोपरि स्वीकार करता है। संसार में जितने भी व्यवसाय चल रहे हैं और जिन्हें आर्य-व्यापार माना जाता है, उनमें भी विवेक की अनिवार्यता है। परन्तु विवेक, जो धर्म की आत्मा है, उसकी ओर हम कभी भी ध्यान नहीं देते और उसके बाह्य रूप में ही उलझ जाते हैं। अमुक ढंग का तिलक लगाना धर्म है। चोटी कटा लेना धर्म है और न कटवाना अधर्म है।

एक बार एक कनफटे साधु से मेरी भेंट हुई तो उन्होंने कहा—"आप भी कान छिदवा लीजिए। बिना कान फड़वाए साधु कैसे हो गए?" उनका अभिप्राय यह था कि यदि कान फड़वा लिए जाएँ, तभी धर्म है, और यदि नहीं फड़वाए जाएँ तो धर्म नहीं है। आशय यह है कि हमारे यहाँ आमतौर पर ये धारणाएँ फैली हुई हैं कि यदि अमुक क्रिया अमुक ढंग से की जाएँ, तब तो धर्म है, अन्यथा वह धर्म नहीं है। इसी प्रकार यदि अमुक ढंग के वस्त्र पहने जाएँ तभी धर्म होगा, अन्यथा नहीं। परन्तु जैन-धर्म इन सबसे ऊपर उठ कर कहता है कि—विवेक में ही धर्म है। आचाराङ्गसूत्र में कहा भी गया है—जैन-धर्म में कहने-सुनने की हिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है, बोल-चाल के सत्य और असत्य से भी सम्बन्ध नहीं है, किन्तु विवेक के साथ सीधा और सच्चा सम्बन्ध है।[४] अहिंसा का नाटक तो खेला, किन्तु यदि उसमें विवेक को स्थान नहीं दिया गया तो वह अहिंसा नहीं है। विवेक के अभाव में वह पूरी तरह हिंसा बन जाएगी और अधर्म कहलाएगी। किसी ने साधुपन ले लिया या श्रावकपन ले लिया, किन्तु विवेक नहीं रखा तो क्या वह धर्म हो गया? जैन-धर्म के अनुसार जिस क्षेत्र में जितने अंशों में विवेक है, उतने ही अंशों में धर्म है, और जितने अंश में अविवेक है, उतने ही अंशों

४ "विवेगे धम्ममाहिए।"

में अधर्म है। जैन-धर्म छापा या तिलक वगैरह में धर्म-अधर्म नहीं मानता। यहाँ तो एक ही तराजू है, एक ही मापक है और वह दुनिया से निराला मापक है—विवेक

रुपया क्या है? और इसकी क्या उपयोगिता है? यह तो बोझ की तरह है। एक रुपया यदि तिजोरी में बन्द कर दिया जाए और कई वर्षों के बाद उसे निकाला जाए, तो वह एक-का-एक ही निकलेगा। अनेक वर्ष बीत जाने पर भी दूसरा रुपया उससे पैदा नहीं हो सकेगा। इस प्रकार वह अपने आप में बाँझ है। जब आप उसे किसी उद्योग-धन्धे में लगाते हैं, खेती-बाड़ी में लगाते हैं, या ब्याज में लगा देते हैं; और जब रुपया आदान-प्रदान के फलस्वरूप हलचल में आता है, तभी वह जिन्दा होता है। इसके विपरीत जब तिजोरी में कैद रहता है तो मुर्दा बन जाता है। इस प्रकार रुपया दो तरह का है—मुर्दा रुपया, और जिन्दा रुपया।

कहने का आशय यह नहीं समझा जा सकता कि रुपये सजीव और निर्जीव-दोनों तरह के होते हैं। कभी-कभी गलतफहमी भी हो जाया करती है। जैसे बुद्ध के शिष्य आनन्द ने चाण्डालकन्या के हाथ का पानी पिया था, ऐसा कहने से समझ लिया जाता है कि आनन्द श्रावक ने ही पानी पी लिया।

रुपए के जीवित होने का अर्थ इतना ही है कि—जब रुपया हलचल में आता है तो वह व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए 'खाना' ला कर देता है। और मुर्दा होने का अर्थ है कि—जब वही रुपया चारों ओर से हट कर जमीन में दब जाता है या तिजोरी में बन्द हो जाता है तो वह किसी व्यक्ति के लिए, समाज के लिए या राष्ट्र के लिए भोजन नहीं ला सकता। यही रुपए का मुर्दापन है। इसीलिए गृहस्थ उसे चलता-फिरता रखना चाहता है। परन्तु रुपए को क्रियाशील बनाते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि मेरा पैसा अनीति और अन्याय के मार्ग पर न चले, न लगे। पर दुर्भाग्यपूर्ण कठिनाई यही है कि इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता।

किसी धनी व्यक्ति के पास जब एक सेठ आता है और कुछ रुपया चाहता है तो ब्याज की दर कम हो जाती है। किन्तु जब एक साधारण आदमी आता है, जिसको रुपए की अनिवार्य आवश्यकता है, जो पैसे के अभाव में खिन्न-चित्त और दुखी है, और यहाँ तक कि पैसे के बिना उसका परिवार भूखों मर रहा है। उसने व्यापार किया है और उसमें उसे गहरी चोट लगी है। अब उसे पैसे की आवश्यकता पड़ गई है और न मिलने पर उसका परिवार बर्बाद हो सकता है और उसकी आबरू को धक्का लग सकता है। यदि समय पर रुपया मिल जाता है तो वह अपनी और अपने परिवार की जिन्दगी बचा सकता है, और अपनी इज्जत भी कायम रख सकता है। किन्तु खेद है, उसकी आवश्यकता को अनुभव करके रुपये वाले की तरफ से ब्याज की दर बढ़ा दी जाती है। इसका स्पष्ट अभिप्राय तो यही हुआ कि शक्तिशाली हाथी पर तो भार कम लादा जाता है, और अशक्त खरगोश पर ज्यादा से ज्यादा लादने

की कोशिश की जाती है। इस प्रवृत्ति को आप या कोई भी विवेकशील व्यक्ति, क्या न्यायसंगत कह सकता है ?

अनेकान्त की तराजू

जैन-धर्म एक बड़ा ही विवेकशील धर्म है। वह हर सत्य को तोलने के लिए अनेकान्त की तराजू ले कर चलता है। अस्तु, इसी तराजू पर ब्याज के धन्धे को भी तोलना होगा।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखने की बात है कि समाज की कुरीतियों के कारण भी अनेक चीजें बुराई बन गई हैं। श्रीमंत की अपेक्षा गरीब से दुगुना और तिगुना ब्याज लेना, और एक बार रुपया दे कर फिर शोषण के रूप में ब्याज चालू रखना, ब्याज के धंधे की बुराइयाँ हैं। धनिकवर्ग की अर्थ-लिप्सा ने इस ब्याज-व्याधि को प्रोत्साहित किया है और जब यह बहुत ज्यादा बढ़ गई है तो सरकार को ब्याज के धन्धे पर अंकुश लगाने की आवश्यकता अनुभव हुई है और उसने अनेक प्रकार के अंकुश इस पर लगाए भी हैं। साहूकार एक बार रुपया दे देता है और फिर इतना शोषण करता है कि मूल रकम तो सदैव बनी रहती है और कर्जदार वर्षों तक ब्याज में फँसा रहता है। ब्याज के रूप में जब तक किसी समर्थ का दुग्ध-दोहन किया जाता है, तब तक तो किसी हद तक ठीक है, किन्तु गरीब कर्जदार के रक्त को चूसना, कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

गाय पाली जाती है और उसे भूसा भी खिलाया जाता है। अस्तु, यह तो ठीक है कि कोई भी गोपालक बदले में गोबर ही ले कर सन्तोष नहीं कर सकता, वह गाय का दूध भी लेना चाहता है। जहाँ तक गाय से दूध लेने का सवाल है, गोपालक का अपना हक है। इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। परन्तु गाय को दुहते-दुहते जब दूध न रहे तो उसका रक्त दुहना अनुचित ही नहीं, अनैतिक भी है। ऐसा करने में न तो आर्यत्व ही है और न इन्सानियत ही; बल्कि स्पष्ट नर-पशुता है।

आपने गाय की सेवा की है, उसे खिलाया-पिलाया है, रहने को जगह दी है; यदि वह बीमार हुई तो उसकी सेवा भी की है। इस प्रकार उसकी सुख-सुविधा का सारा उत्तरदायित्व भी आपने अपने ऊपर ले रखा है। और जब उसके दुहने का प्रसंग आता है, तब भी सारा का सारा दूध नहीं दुह लेते हैं, किन्तु उसके बच्चे के पोषण के लिए भी कुछ छोड़ देते हैं। यही उदारवृत्ति ब्याज के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। जब आप किसी को ब्याज पर रुपया दें, तो अपने हिस्से का न्याय-प्राप्त धन-दूध यथावसर उससे ले सकते हैं, परंतु उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए भी कुछ अवश्य बचने दें। यहाँ तक तो ब्याज का धंधा अक्षम्य नहीं समझा जाता, किन्तु उसके परिवार के लिए यदि आप एक घूँट भी नहीं बचने दें, तब तो यह अवश्य ही अक्षम्य हो जाता है।

सुना है, भारत के कुछ प्रान्तों में तो नौ रुपये सैकड़ा तक ब्याज लिया जाता है। फिर भी गरीब रुपये लेने को तैयार हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर वह रुपया ले लेता है, पर जब परिस्थितियों से लड़ कर भी वह रुपया अदा नहीं कर पाता, तो सूदखोर साहूकार उसका माल-असबाब और घर तक नीलाम करा लेता है। इस तरह गाँव के गाँव बर्बाद हो जाते हैं।

एक भारतीय राजर्षि ने राजा को राज-धर्म बतलाते हुए कहा है—

"हे राजन्! तेरी प्रजा तेरी गाय है। तू उसका दूध दुह सकता है, क्योंकि तू उसकी रक्षा करता है और समय-समय पर उसे अन्याय से बचाता है, और जब लुटेरे उसे लूटते हैं तब तू देश को लूटमार से बचाता है। इस प्रकार जब तू प्रजा की सेवा करता है तो इसका प्रतिफल तुझे टैक्स के रूप में मिलता है। जब तक दूध आता है, तू अवश्य दुह ले; किन्तु जब दूध के बजाय रक्त आने लगे, तो तुझे दुहने का हक नहीं।"[५]

शाह और बादशाह

नीतिकार ने यह बात राजा से कही है। राजा तो राजा है, किन्तु व्यापारी उससे भी ऊँचे हैं। कहा जाता है कि पहला नम्बर शाह का है और बाद में बादशाह का। अभिप्राय यह है कि व्यापारी, सेठिया और भी, लेन-देन का धंधा करने वाला एक तरह से शाही धंधा करता है और समय पड़ने पर राजा भी उससे भीख माँगता है। इस प्रकार उसके व्यापार के हाथ ऐसे हैं कि व्यापारी का स्तर ऊँचा माना जाता है और राजा का नीचा।

जब साहूकार को इतना ऊँचा दर्जा मिला है तो उसे सोचना चाहिए कि उसके कर्जदार की क्या हालत है? कर्जदार की आर्थिक स्थिति जब तक ठीक है, तब तक उससे न्याय-नीतिपूर्वक अपना हिस्सा लिया जाए। परन्तु जब उसकी स्थिति ठीक न हो, तो उसे और अधिक देना चाहिए तथा व्यवसाय का लाभप्रद उपाय बताना चाहिए, जिससे कि अमुक ढंग से कार्य करने पर उसका घर भी बन जाए और जब उसका घर बन जाएगा तो स्वयं कमाने भी लगेगा। यह पद्धति ठीक नहीं कि किसी को रुपया तो दे दिया, किन्तु फिर कभी यह मालूम ही नहीं किया कि वह किस अनुचित एवं हानिकारक ढंग पर लगाया जा रहा है। कर्जदार आपत्ति-सागर में से ऊपर उभर कर आ रहा है या अधिकाधिक गहराई में डूबता जा रहा है?

रुपया दिया जाता है, तो साथ मानवीय उदारता तथा प्रेम भी दिया जाना चाहिए। और प्रेम-दान का सच्चा अर्थ यह है वह कर्जदार भी आपके परिवार का एक सदस्य बन गया है। और जब सदस्य बन गया है तो वह आपका एक अभिन्न अंग बन चुका है। इस तरह, जैसे आपको अपने परिवार की चिन्ता रहती है, वैसे ही उसकी भी समानरूप से चिन्ता करनी चाहिए और उसके काम-धन्धे आदि के सम्बन्ध में बराबर पूछताछ करते रहना चाहिए।

अभिप्राय यही है कि अन्यान्य व्यापार-धन्धों की तरह ब्याज का धन्धा भी जब तक न्याय और नीति की मर्यादा में रहता है, तब तक श्रावक के लिए दूषण नहीं कहा जा सकता। परन्तु नीति-मर्यादा को लांघ कर जब वह शोषण का रूप धारण कर लेता है, तब वह एक प्रकार से अत्याचार एवं लूट कहलाता है, और नीतिशील श्रावक के लिए वह अनैतिक दूषण बन जाता है।

रायचन्दभाई

आपने रायचन्दभाई के जीवन की एक घटना बहुत ही प्रसिद्ध है। वे एक बड़े दार्शनिक और योगी पुरुष हो गए हैं। गांधीजी ने कहा है कि मैंने किसी को अपना गुरु नहीं बनाया, किन्तु मुझे यदि कोई गुरु मिले हैं, तो वे रायचन्दभाई हैं। रायचन्द भाई पहले बम्बई में जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होंने एक व्यापारी से सौदा किया कि इतना जवाहरात, अमुक भाव में, अमुक तिथि पर देना होगा। इसके लिए जो पेशगी रकम देनी पड़ती है, वह भी दे दी गई। परन्तु किसी कारणवश जवाहरात का भाव चढ़ने लगा और इतना चढ़ गया कि बाजार में उथल-पुथल मच गई। नियत तिथि पर व्यापारी से यदि वह नियत जवाहरात ले लिया जाता तो उसका घर तक नीलाम हो जाता। प्रायः दूसरी चीजों में तेजी-मंदी कम होती है, परन्तु जवाहरात में तो वह खम्बी छलांगें मारने लगती है। बाजार की इस हालत को देख कर व्यापारी सकपका जाता है, और उसके होश-हवाश उड़ते दिखलाई देते हैं।

जब बाजार के चढ़ते भावों के समाचार रायचन्दभाई के पास गये और तदनुसार व्यापारी की स्थिति का चित्र सामने आया तो वे उस व्यापारी की दूकान पर पहुँचे। उन्हें आता देख कर व्यापारी सहम गया। उसने सोचा—जवाहरात लेने आ गये है। उसने रायचन्द भाई से कहा—"मैं आपके धन का प्रबन्ध कर रहा हूँ। मुझे खुद को चिन्ता है और चाहे कुछ भी हो, आपका रुपया जरूर चुकाऊँगा। भले ही मेरा सर्वस्व चला जाए, पर आपका रुपया हजम नहीं करूँगा। आप किंचित् भी चिन्ता न करें।"

रायचन्दभाई बोले—'मैं चिन्ता क्यों न करूँ? मुझे तुमसे अधिक चिन्ता लग गई है। तुम्हारी और मेरी चिन्ता का मूलभूत कारण तो यह लिखा-पढ़ी ही है न? फिर क्यों न इसे खत्म कर दिया जाए! और व्यर्थ की चिन्ता से मुक्ति पाई जाए।'

व्यापारी दयामिलाषी भाव से बोला—'आप ऐसा क्यों करेंगे? मैं कल-परसों तक अवश्य अदा कर दूँगा।'

उसका इतना कहना समाप्त भी नहीं हुआ था कि रायचन्दभाई ने उस इकरारनामे के टुकड़े-टुकड़े कर दिए और वे फिर बड़े उदारभाव से बोले—

"रायचन्द दूध पी सकता है, खून नहीं। मैं भलीभांति समझता हूँ कि तुम वायदे से बंध गए हो। पर अब परिस्थितियाँ बदल गई हैं और तुम पर मेरे चालीस-पचास हजार रुपये लेने हो गये हैं। परन्तु मैं कह रुपये लूँगा, तो भविष्य में तुम्हारी

क्या स्थिति होगी ? मैं तुम्हारी वर्तमान स्थिति से अनभिज्ञ नहीं हूँ। मैं अब एक पाई भी नहीं ले सकता।"

यह कहकर रायचन्दभाई ने जब कागज का आखिरी पुर्जा भी फाड़ डाला तो वह व्यापारी उनके चरणों में गिर पड़ा और सजल नेत्रों से उसने कहा—'आप मानव नहीं, मानवता की साक्षात् प्रतिमा हैं ! मनुष्य नहीं, देवता हैं !!'

इस प्रकार समय पर लेना और देना भी होता है, किन्तु कभी-कभी परिस्थिति-विशेष के उग्ररूप धारण करने पर रायचन्दभाई की तरह आपके हृदय में दया और करुणा की लहर पैदा होनी ही चाहिए। इस मानवीय उदारता के द्वारा यदि आप किसी भी गिरते हुए भाई को समय पर बचा लेते हैं तो इस रूप में समाज का अनैतिक शोषण बन्द हो सकता है। परन्तु ऐसा होता कहाँ है ? हम तो यही समझते हैं और प्रतिदिन के व्यवहार में देखते भी हैं कि हिंसा और अहिंसा की मीमांसा आज के मानव-समाज के लिए एक प्रकार से मनोरंजन की बातें हैं। ऐसी अशोभनीय बातों से जैन-धर्म उच्चता के अभीष्ट शिखर पर कदापि नहीं पहुँच सकता ; अपितु वर्तमान स्तर से शनैः शनैः नीचे खिसक कर एक दिन हृदय-हीनता की निम्नतर पृष्ठ-भूमि पर चला जाएगा।

वस्तुतः अहिंसा का सच्चा साधक वही है, जो अपने जीवन-व्यापार के प्रत्येक क्षेत्र में हर प्रकार की हिंसा से बचने का प्रयत्न करता है। क्या मकान और क्या दूकान; सभी उसके लिए धर्म-स्थान होते हैं। उसके जीवन-व्यापार में और प्रत्येक दशा में, एक प्रकार की सुसंगति रहनी चाहिए।

सामाजिक विषमता-निवारण के लिए अहिंसा का सिद्धान्त

शक्ति की क्रूरता को जब अहिंसा की मधुरता से परिष्कृत करने का उपक्रम चला तो तुरन्त एक समस्या उठी कि जब तक व्यक्ति की अनियन्त्रित अर्थलालसा और भोगेच्छा पर नियन्त्रण नहीं होगा, तब तक अहिंसा का समुचित विकास नहीं हो सकता।

तीर्थंकर महावीर ने ज्ञानालोक में देखा कि एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण क्यों कर रहा है ? जनता को उत्पीड़ित करना उसका ध्येय नहीं है, किन्तु अपने अधिकार का विस्तार, अहं का पोषण और उद्दाम राज्यलिप्सा की परितृप्ति ही इन आक्रमणों का मूल प्रेरणास्रोत है। एक व्यक्ति अपनी भोगेच्छा की तृप्ति के लिए सैकड़ों सुन्दरियों को अन्तःपुर में बन्द करके उनके साथ मनोरंजन करता है। हजारों क्रीत दास-दासियों पर मनचाहा हुकम चलाता है। एक-एक श्रीमन्त श्रेष्ठी के पास हजारों हलों की भूमि है, सैकड़ों पशु हैं, सैकड़ों ही कर-बद्ध नगर-जन उसकी सेवा में खड़े हैं और असंख्य स्वर्णमुद्राएँ व्यापार में बाहर फैली हुई हैं, तो कहीं भूमि-गृह के गुप्त भंडारों में छिपी पड़ी है। भोगेच्छा और अर्थ-लालसा से समाज का वातावरण अशांत और क्षुब्ध हो रहा है।

इसी के साथ समाज की दूसरी तस्वीर भी उनके समक्ष थी, जो किसी भी सहृदय के करुण हृदय को द्रवित किए बिना नहीं रह सकती थी। लाखों व्यक्ति दरिद्रता के मारे दाने-दाने को तरस रहे हैं; श्रम करके भी समय पर अपना पेट नहीं भर सकते, एक वर्ग उस पर स्वामित्व का दावा करता है, पर वह उससे लेता बहुत ज्यादा है—और देता बहुत कम। इस कारण निम्नवर्ग के भीतर ही भीतर असंतोष और क्षोभ की आग सुलग रही है। कुछ इस वर्ग से बदला लेने के लिए चोर या डाकुओं के दल में जा मिलते हैं, कुछ हत्यारे बन जाते हैं और कुछ साहसहीन दरिद्र दर-दर पर भीख मांगते फिरते हैं। मातृ-जाति भी इस अभाव की ठोकरों से नहीं बच पा रही है। कुछ असन्तुष्ट और समाज की अवमानना से प्रताड़ित सुन्दरियां वेश्या-वृत्ति करने को विवश हो जाती है। कुछ गुप्त दुराचार और पापाचार की शिकार बन जाती हैं, और कुछ पशुओं की भांति बाजार में बिक कर दासी बन जाती हैं—अपनी भावी सन्तान-परम्परा तक के लिए।

समाज की विषमता का यह करुण-चित्र महावीर के अन्तस्तल को आन्दोलित कर उठा। जब तक समाज स्वस्थ नहीं हो सकता, तब तक उच्च अध्यात्म का पौष्टिक भोजन उसके लिए नित्य उपयोगी नहीं हो सकता। स्वस्थ समाज ही उच्च आदर्शों को ग्रहण कर सकता है, उन्हें पचा सकता है। सामाजिक पवित्रता के लिए महावीर ने अहिंसा का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। और मनुष्यों की, विशेषतः श्रमणोपासक गृहस्थों की अपने व्यापार, धन्धे या कर्म में विषमता एवं शोषण बढ़ाने वाली वृत्ति को हिंसा (संकल्पी हिंसा) बताया है, जिसे वर्तमान युग की भाषा में सामाजिक हिंसा कही जा सकती है।

अभिप्राय यह है कि जहां ईर्ष्या है, द्वेष है, घृणा है, मिथ्या अहंकार है और मनुष्य के प्रति अपमान की हीन भावना है, वहां हिंसा है। जब हम हिंसा के स्वरूप पर विचार करें तो इस भयानक हिंसा को न भूल जाएँ, और जब अहिंसा की साधना के लिए तैयार हों, तो पहले इस आन्तरिक हिंसा को दूर करें, चित्त को पूर्णतः निर्मल बनाएँ, कम से कम समग्र मानव-जाति को प्रेम एवं मित्रता की उच्च भावना से देखें और तब क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते अहिंसा के वरिष्ठ आराधक बनें। □

आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म

२४

जैन-धर्म की अहिंसा इतनी विराट् है कि ज्यों-ज्यों उस पर विचार करते हैं, वह अधिकाधिक गम्भीर होती जाती है। जैन-धर्म ने सूक्ष्म अहिंसा के सम्बन्ध में जितना विचार किया है, उतना ही विचार स्थूल अहिंसा के सम्बन्ध में भी किया है। यह बात नहीं है कि वह निष्क्रिय हो कर पड़े रहने की सलाह दे और जब कर्त्तव्य की बात सामने आए, जीवन-व्यवहार में अहिंसा को उतारने का प्रसंग चले, तो मौन हो जाए। यदि ऐसा होता तो जैन-धर्म आज दुनिया के सामने एक क्षण भी खड़ा नहीं रह सकता था। वह बालू की दीवार के समान दूसरे धर्मों और मतों के मामूली झोंकों से ही ढह जाता। परन्तु वह ऐसा निष्प्राण और निराधार नहीं है। वह, क्या गृहस्थ और क्या साधु; सभी के कर्त्तव्यों का स्पष्टरूप से निर्देश करता है। दुर्भाग्य से कुछ लोगों ने जैन-धर्म के वास्तविक या मौलिक स्वरूप को भुला दिया है, फलतः कुछ ने तो स्पष्ट 'हाँ' या 'ना' न कह कर एकमात्र मौन मृत्यु की ही राह पकड़ ली है। पर, इस तरह बच-बच कर बात करने से कब तक काम चल सकता है? यदि कोई गृहस्थ विद्यालय अथवा औषधालय आदि खोलता है, तो वह अपने इस कार्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट निर्णय तो चाहेगा ही कि वह जो कार्य कर रहा है, वह धर्म है या पाप है? गोलमोल भाषा में कहा जा सकता है कि विद्यालय या औषधालय खोलना-खुलवाना अच्छा है। पर, सोचना तो यह है कि वह केवल लोक-भाषा में अच्छा है, या धार्मिक दृष्टि से भी अच्छा है? किसी स्पष्ट निर्णय पर, तो आना ही पड़ेगा। केवल लोक-धर्म, राष्ट्र-धर्म या गृहस्थ-धर्म कहने से काम नहीं चल सकता।

समय की गति

कोरे मौन धारण करने से भी काम नहीं चल सकता; क्योंकि समय प्रगति-पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। जो व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र व्यापक दृष्टिकोण से समय की गति को देख लेता है और अपने विकास-साधक कर्मों को समय के अनुकूल बना लेता है, समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तरदाता मौन हो रहे, तो इसका अर्थ यही समझा जाएगा कि कहीं कोई गड़बड़ी है, दाल में काला है और अपने आप में ही कहीं न कहीं दुर्बलता है। धर्म और दर्शन का अन्तर्मर्म खुल कर बाहर आना चाहता है। भला, कब तक कोई उसे दबाए-छिपाए रख सकता है!

इन सब उलझनों के कारण राजस्थान के एक पंथ ने तो स्पष्ट रूप से 'ना' कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—'इन सांसारिक बातों से हमें क्या प्रयोजन ? हमसे तो आत्मा की ही बात पूछो।'

ऐसा पूछा जा सकता है कि केवल आत्मा की ही बात करने वाले व्यक्ति भोजन क्यों करते हैं ? औषधालयों में जा-जा कर दवाइयाँ क्यों लाते हैं ? चलते-फिरते क्यों हैं ? ये सब तो आत्मा की बातें नहीं हैं ! केवल आत्मा-सम्बन्धी बातें करने वालों को संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए। वे शहरों में क्यों रहते हैं ? जंगल की हवा क्यों नहीं खाते ? लम्बे-लम्बे भाषण झाड़ कर श्रोताओं का मनोरंजन करने की उन्हें क्या आवश्यकता है ?

उदरपूर्ति के लिए उद्योग का निर्वाचन

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उदरदेव की पूर्ति तो सभी को करनी पड़ती है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि 'करेमि भंते' का पाठ बोलते ही; अर्थात्—साधु-दीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चय ही करेगा। वह या तो खेती करेगा या कोई और व्यापार करेगा। भिक्षापात्र ले कर तो वह अपना जीवन-निर्वाह कर नहीं सकता ! साधु-जीवन में भी आखिर भिक्षा-रूपी उद्योग करना ही पड़ता है। इस दृष्टि से साधु का जीवन भी एक प्रकार से उद्योग पर ही आश्रित है। अपनी भूमिका के अनुरूप प्रयत्न तो वहाँ भी करना पड़ता है। इस प्रकार गृहस्थ और साधु दोनों ही अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। जैन-धर्म यदि साधुओं को भोजन बनाने का आदेश नहीं देता तो दूसरी ओर साधारण गृहस्थ को भिक्षा माँग कर निर्वाह करने का विधान भी नहीं करता। क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख माँग कर सीधी रोटी खाना धर्म है और कर्त्तव्य-समर में जूझ कर रोटी खाना अधर्म है ? नहीं, जैन-धर्म ऐसा कभी नहीं कहता। परन्तु हमारे अनेक व्यक्तियों ने भ्रान्तिवश यह समझ लिया है कि भिक्षा माँग कर खाना 'धर्म' है; और कर्त्तव्य करके जीवन-निर्वाह करना 'पाप' है ! परन्तु जो रोटी न्याय-नीतिपूर्वक पुरुषार्थ से और उत्पादन से प्राप्त की जाती है, क्या वह पाप की रोटी है ?

गलतफहमी

जो लोग ऐसी रोटी को पाप की रोटी बतलाते हैं, उनके सम्बन्ध में साहस-पूर्वक ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने जैन-शास्त्रों का अन्तस्तत्व छुआ तक नहीं है। वे गलतफहमी और संकुचित विचार-शृंखला में उलझे पड़े हैं। उनका कहना है कि गृहस्थ तो प्रवृत्ति में पड़ा हुआ है, इसलिए उसकी कमाई हुई रोटी पाप की रोटी है, और यदि वह भिक्षा माँग कर सीधा खाता है तो प्रासुक होने से वह धर्म की रोटी है। परन्तु जैन-धर्म के आचार्यों ने हाथ पर हाथ धर कर निष्क्रिय बैठे रहने

वाले, परश्रमोपजीवी गृहस्थों को भिक्षा से निर्वाह करने का अधिकार कब और कहां दिया है ? ऐसे सामान्य गृहस्थों के लिए भिक्षा का विधान ही कहां है ? जो हट्टे-कट्टे हो कर भी दूसरों के श्रम के सहारे माल उड़ाते हैं और भिक्षा करके सुखी जीवन बिताते हैं, उनकी भिक्षा को हमारे यहां 'पौरुषघ्नी' भिक्षा बतलाया गया है।[1] सामान्य गृहस्थ की भूमिका, श्रम करने की है, भिक्षा मांग कर खाने की नहीं।

प्रवृत्ति का प्राबल्य

इस प्रकार जीवन तो चाहे साधु का हो या गृहस्थ का, प्रवृत्ति के बिना चल नहीं सकता। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति के बिना संसार में क्षणभर भी नहीं रहा जा सकता। इस सम्बन्ध में गीताकार कितनी आदर्शपूर्ण बात कहते हैं—कोई भी व्यक्ति क्षणभर भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता।[2]

यदि सारा संसार भिक्षा-पात्र ले कर निकल पड़े तो रोटियां आएंगी भी कहां से ? क्या रोटियां आकाश से बरसने लगेंगी ? कोई देव आकाश से रोटियां नहीं बरसाएगा। उनके लिए तो यथोचित प्रवृत्ति और पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। प्रवृत्ति को कोई छोड़ ही नहीं सकता, वह तो सहज भूमिका आने पर और काल-लब्धि[3] पूरी हो जाने पर, स्वतः ही छूट जाएगी। जब प्रवृत्ति छूटने का दिन आएगा, तब वह अपने आप छूटेगी।

भगवान् शान्तिनाथ आदि ने चक्रवर्तीराज्य को स्वयं छोड़ा या भोग्यकर्म समाप्त होने पर वह यथासमय अनायास ही छूट गया ?

यह तो मानना ही पड़ेगा कि छोड़ने की भूमिका आने पर ही वह छोड़ा गया। जब तक छोड़ने की भूमिका नहीं आती, तब तक छोड़ा नहीं जाता। यदि छोड़ना ही था, तो पहले ही क्यों नहीं छोड़ दिया ? क्या पहले राज्य में आसक्ति की प्रधानता थी? या उनमें छोड़ने की ताकत नहीं थी ? या उन्हें धर्म-निष्ठ जीवन की वास्तविकता ज्ञात नहीं थी ? नहीं, यह सब कुछ नहीं था। तब तक केवल काल-लब्धि परिपक्व नहीं हुई थी, इसलिए पहले नहीं छोड़ा गया।

वृक्ष में फल लगता है। परन्तु जब तक वह कच्चा रहता है, तब तक डंठल से बँधा रहता है—झड़ता नहीं है। जब वह पक जाता है तो अपने आप टूट कर गिर जाता है, उसे बलात् तोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती।

---

१ देखिए, आचार्य हरिभद्र का भिक्षाष्टक

२ "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

३ जैन-धर्म में काल-लब्धि का अर्थ है—"किसी भी स्थिति-परिवर्तन के योग्य समय का पूर्ण हो जाना। स्थिति-परिवर्तन में स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि अनेक हेतु है, उनमें काल भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।"

त्याग

त्याग भी दो तरह से होता है। एक त्याग हठ-पूर्वक होता है, जो किसी आवेश में आ कर किया जाता है। परन्तु उसमें छोड़ी हुई वस्तु से सूक्ष्मरूप में सम्बन्ध बना रहता है। ऐसे त्याग से पतन की सम्भावना बनी रहती है। दूसरा त्याग सहज-त्याग है, जो समुचित भूमिका आने पर अपने आप हो जाता है। दार्शनिक भाषा में हम इसे 'छूट जाना' कह सकते है, 'छोड़ना' नहीं।

इस सम्बन्ध में आर्द्रकुमार की कथा जानने योग्य है—आर्द्रकुमार जब दीक्षित होने लगे तो आकाशवाणी हुई "अभी तुम्हारा भोगावली कर्म पूरा नहीं हुआ है। अभी भोग का समय बाकी है, अतः समय आने पर संयम लेना।" परन्तु आर्द्रकुमार ने आकाशवाणी की उपेक्षा की, और गर्वोद्धुर भाव से कहा—"क्या चीज होते है कर्म ? मैं उन्हें नष्ट कर दूँगा, तोड़ डालूँगा।" और उन्होंने हठात् दीक्षा ले ली। तदुपरान्त वे साधना के पथ पर चल पड़े। वास्तव में वे बड़े ही तपस्वी थे। साधना की भट्टी में उन्होंने अपने शरीर को झोंक दिया और समझने लगे कि आकाशवाणी झूठी हो जाएगी। किन्तु भोग का निमित्त मिलते ही उन्हें वापस लौटना पड़ा। वे फिर उसी गृहस्थदशा के स्तर पर वापस आ गए और 'पुनर्मूषिको भव' वाली गति हुई। आर्द्र-कुमार के अन्तर्जीवन से भोग-वासना की दुर्बलता दूर नहीं हुई थी। वह हठात् ग्रहण किए गए संयम के आवरण में छिप अवश्य गई थी, किन्तु समय आते ही वह पुनः प्रकट हुई और उन्हें संयम से पतित हो कर फिर पहले की स्थिति मे आना पड़ा।

पहली कक्षा के विद्यार्थी को जब तीसरी कक्षा में ले लिया जाता है, तो वह उसके भार को सँभाल नहीं सकता। यही कारण है कि स्कूलों में जब कोई विद्यार्थी किसी कक्षा मे अनुत्तीर्ण हो जाता है, तो उसे उसी कक्षा में रखा जाता है। उसके लिए यही उपाय विकास का माध्यम है।

इस प्रकार यदि गृहस्थी को छोड़ा जाए तो फल पकने पर; अर्थात्—परिपक्व स्थिति में ही छोड़ा जाए। ऐसा न हो कि कर्त्तव्य के दायित्व से घबरा कर भाग खड़े हों और ऊपर की ओर व्यर्थ ही छलाँगें मारने लगें।

साधु-जीवन निस्सन्देह ऊँचा है और उसके प्रति धर्मनिष्ठ लोगों में श्रद्धा भी है। पर, जो साधक गलत और अधूरी साधना करके ही आगे बढ़ जाते हैं, वे साधु-वेष ले कर भी फिसल जाते हैं और सहज-भाव में नहीं रहते। साधु का जीवन तो सहज-भाव में ही बहना चाहिए। अतः जैन-धर्म किसी वस्तु को हठाग्रह-पूर्वक छोड़ने की अपेक्षा आत्म-भाव की उच्चता के साथ सहजरूप से छूट जाने को ही अधिक महत्त्व देता है।

दुर्भाग्य से आज का श्रावक, साधु की भूमिका की ओर दौड़ता है; और साधु, गृहस्थ की भूमिका की ओर। जिसे प्रथम कक्षा मिली है, वह एम० ए० की

कक्षा में प्रवेश करने के लिए भागता है और जिसे एम० ए० की कक्षा मिली है, वह पहली कक्षा में बैठने का प्रयत्न करता है।

यदि किसी बीमार को स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक भोजन दे दिया जाए तो वह कैसे पचा सकता है? ऐसा करने पर तो उसकी शक्ति का पूर्वापेक्षया अधिक ह्रास ही होगा। इसी प्रकार किसी स्वस्थ आदमी को यदि बीमार का खाना दे दिया जाए तो उसे क्या लाभ होगा? वह भूखा रह कर थोड़े ही दिनों में दुर्बल हो जाएगा।

अज्ञान

इस तरह आज हमारे यहाँ सारी बातें परिवर्तित-सी दिखलाई पड़ती हैं। इसका मुख्य कारण 'अज्ञान' है। अज्ञान से ही यह नारा लगने लगा कि—'यह सब संसार है, पाप है, अज्ञान में पड़ना है!' कहा जाने लगा—'पहली कक्षा तो मूर्ख रहने की है! यहाँ क्या ज्ञान मिलेगा?' ऐसे नारे सुन-सुन कर सम्भ्रान्त व्यक्ति भी इस संसार (गृहस्थ जीवन) की कक्षा से खिसकने लगते हैं। वे जल्दी से जल्दी निकल भागने की कोशिश करते हैं। यदि उस प्रथम कक्षा वाले से यह कहा जाता है कि तुमने भी क्रान्ति की है, तुम्हारे भीतर भी इन्कलाब आ रहा है, तुम भी ठीक राह पर हो, तुमने भी कुछ न कुछ ज्ञान पा लिया है, खोया नहीं है। यदि इस तरह धीरे-धीरे विकास करते रहे तो एक दिन तुम अवश्य उच्चकोटि के विद्वान् बन जाओगे। इस प्रकार प्रथम कक्षा वाले को भी अपनी कक्षा में रस आता है। उसे भी अपने जीवन का कुछ आनन्द आए बिना नहीं रहता।

पर, कुछ साधकों ने भ्रान्त विचार-शृंखलाओं में फँस कर और सत्यमार्ग से विचलित हो कर जोरों के साथ यह बात फैला दी है कि—पुत्र-पुत्रियों द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह संसारी काम है। इसमें धर्म का अंश भी नहीं है। इस प्रकार की बातें कह-कह कर उन्होंने गृहस्थ का मन गृहस्थ-धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है। फलतः गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खड़ा होता है। न तो वह गृहस्थधर्म का ही पूरी तरह पालन कर सकता है, और न साधु-जीवन के रस का ही पूरा आस्वादन कर पाता है। उसके विषय में यह उक्ति चरितार्थ होती है—

"हलवा मिले न मांडे, दोई दीन से गये पांडे।"

एक पांडेजी घर-बार छोड़कर संन्यासी बन गए थे। यह सोच कर कि घर की रूखी-सूखी रोटियों से पीछा छूट जाएगा और हलुवा-पूरी खाने को मिलेगी। पर, उन्हें वहाँ रूखी-सूखी रोटियाँ भी ठीक समय पर न मिलीं। "पांडेजी बनने चले थे छब्बेजी, रह गए दुब्बे ही।"

विकृत-जीवन

आज गृहस्थ-धर्म की पगडंडियों पर चलने वालों ने अपना मार्ग अत्यन्त

संकीर्ण बना लिया है। वे समझ बैठे है कि जो काम साधु करे, उसी में धर्म है; और जो काम साधु न करे, उसमें पाप के सिवाय और कुछ नहीं है। बहुतेरे लोगों के दिमाग में ऐसी भ्रान्त धारणा बैठ गई है। इसलिए उनका विश्वास हो गया है कि रोटियाँ खाई तो जाएँ, पर उनके लिए कमाई न की जाए; कपड़ा पहना तो जाए, पर बुना न जाए; पति-पत्नी बना तो जाए, परन्तु एक-दूसरे की सेवा न की जाए; माता का पद ले लिया जाए, पर माता का काम न किया जाए; पिता बनने में सौभाग्य समझते हैं, परन्तु पिता के दायित्व से बचना चाहते हैं।

इन भ्रमपूर्ण धारणाओं ने आ कर गृहस्थ-जीवन को विकृत कर दिया है। आखिर यह उल्टी गाड़ी कब तक चलेगी? क्या जैन-धर्म ऐसी उलटी गाड़ी चलाने का आदेश देता है? वह ऐसा तो कभी नहीं कहता कि जो कुछ तुम बनना चाहते हो, उसके दायित्व से बचने की कोशिश करो।

जैन-धर्म जीवन की आवश्यक प्रवृत्तियों को एकान्ततः बन्द करने के लिए नहीं आया है। वह इस सम्बन्ध में एक सुन्दर सन्देश देता है, जो सर्वतोभावेन अभिनन्दनीय है।

त्याग नहीं, सुधार

खेती-बाड़ी, व्यापार-वाणिज्य आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं, उन सबको बन्द करके कोई जीवन के पथ पर चलना चाहे तो एक दिन भी टिक नहीं सकता। यही नहीं, अकर्मण्य हो कर, आलसियों की पंक्ति में बैठ जाने मात्र से ही वह प्रवृत्तियों से छुटकारा नहीं पा सकता। उसका मन, जो कि प्रवृत्तियों का मूल स्रोत है, अपनी उधेड़-बुन में निरन्तर लगा ही रहता है। इसकी दुकानदारी कभी बन्द नहीं होती। उसे कहीं ले जा कर बिठाया नहीं जा सकता, और किस कोने में भला छिपाया जा सकता है? ऐसी स्थिति में जैन-धर्म कहता है—प्रवृत्तियाँ भले ही हों, पर उनमें जो विष का पुट है, उसे हटा दो। उनके पीछे क्षुद्र स्वार्थ एवं आसक्ति की जो विषाक्त भावनाएँ हैं उन्हें धक्का दे कर बाहर निकाल दो। यदि तुम दुकान पर बैठे हो तो अन्याय से धन न बटोरो, किसी गरीब का खून मत चूसो, दूसरों को मूँडने की ही दुर्वृत्ति मत रखो। तुम्हारी प्रवृत्ति से यदि अनीति और धोखाधड़ी का विष निकल जाएगा, तो वह तुम्हारे जीवन की प्रगति में बाधक नहीं बनेगा, अपितु विकास की नई प्रेरणा प्रदान करेगा।

खेती-बाड़ी करने वाले को भी जैन-धर्म यही कहता है कि यदि तुम खेती करते हो तो उसमें अन्धाधुन्धी से प्रवृत्ति मत करो। खेती की प्रवृत्ति में से अज्ञान और अविवेक का जहर निकाल दो। अपने उत्पादन किए अन्न को ऊँचे दामों में बेचने के लिए दुर्भिक्ष पड़ने की गन्दी कामना न करो, बल्कि दूसरों के जीवन-निर्वाह में सहायक बनने की करुणामयी पवित्र भावना रखो। बस, वही खेती आर्य-कर्म कहलाएगी। पवित्र एवं करुणामयी भावना के अनुरूप कुछ अंश में पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकेगा।

गृहस्थ जिस किसी भी कार्य में हाथ डाले, यदि उसके पास विवेक का दिव्य-प्रकाश है तो उसके लिए वह आर्य-कर्म होगा। इसके विपरीत यदि असावधानी से, अविवेक से और साथ ही अपवित्र भावना से वह कोई कार्य करता है, फिर चाहे वह दुकानदारी हो या घर की सफाई करने का ही साधारण काम क्यों न हो, तो वह अनार्य-कर्म करने वाला समझा जाएगा। जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनार्य-कर्म की एक ही व्याख्या करता है, जो इस प्रकार है—'विवेकपूर्वक, न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म 'आर्य-कर्म' है; और अन्याय से, अनीति से, छल-कपट से एवं दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म 'अनार्य-कर्म' है।

आर्य या अनार्य कर्म ?

उदाहरणार्थ—एक दुकानदार है। उसकी दुकान पर चाहे बच्चा आए, चाहे जिन्दगी के किनारे लगा बूढ़ा आए, चाहे कोई भोलीभाली ग्रामीण बहन आ जाए, यदि वह सभी को ईमानदारी के साथ सौदा देता है और अपना उचित मुनाफा रखकर सब को बराबर तौलता है, तब तो वह आर्य-कर्म की राह पर है। इसके विपरीत यदि वह दुकानदार सभी को मूंडने की कोशिश करता है, दूसरों का गला काटना प्रारम्भ कर देता है, नमूना कुछ और दिखाता है, किन्तु देता कुछ और है, तो वह अनार्य-कर्म की पगडंडी पर है।

अध्यापक का कर्त्तव्य है—बच्चों को सद्शिक्षा दे कर उनका चरित्र-निर्माण करना तथा विकासमार्ग पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह अपने कर्त्तव्य के प्रति लापरवाह रहता है, विद्यार्थी पढ़ें या न पढ़ें, इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं है, और थोड़ी-सी भूल होते ही वह विद्यार्थी पर बेंतें बरसाता है, तो वह अनार्य कर्म की राह पर है। यदि कोई अध्यापक अपने काम में पूर्ण विवेक रखता है, अपनी जवाबदेही भलीभांति समझता है और उसे पूरी भी करता है तो उसका वह कर्म अमृत-कर्म होगा; वह उसका शुद्ध यज्ञ कहलाएगा। अन्याय, अनीति: अविवेक और अज्ञान को निकाल कर जो कर्तव्य या कर्म किया जाता है, वही आर्य-कर्म है।

आश्रव संवर

आश्रव का काम कौन-सा है और संवर का काम कौन-सा है ? अर्थात् संसार का मार्ग क्या है और मोक्ष का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर आचारांग सूत्र में बड़े ही सुन्दर ढंग से दिया गया है—

'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।'

अर्थात्—"जिस प्रवृत्ति से आश्रव होता है, जो कर्मों के आगमन का हेतु है, उस प्रवृत्ति में यदि विवेक का रस डाला गया है, अज्ञान को निकाल दिया गया है, न्याय-नीति और संयम की तन्मयता उसके पीछे रखी गई है, तो वही प्रवृत्ति संवर का हेतु बन जाती है। इसके विपरीत सामायिक, दया, पौषध आदि जो प्रवृत्तियाँ संवर

का कारण है; यदि उनमें विवेक नहीं है, ज्ञान की सुगंध नहीं है, सावधानी नहीं है, तो वे प्रवृत्तियाँ 'आश्रव' का कारण बन जाती हैं। श्रावक एवं साधु बन जाना संवर है, किन्तु कर्त्तव्य की पवित्र भावना यदि न रही, सत्-असत् का विवेक न रखा गया, तो वह ऊपर से दिखाई देने वाला संवर भी आश्रव है। वह रंग-रोगन किया हुआ कागज का फूल है, जिसकी कलियों में प्रेम, शील आदि सद्गुणों की सुवास नहीं है।

यह है 'आश्रव' और 'संवर' के विषय में जैन-धर्म का स्पष्ट दृष्टिकोण! यह है 'आस्रव' और 'संवर' को नापने का जैन-धर्म का विशाल गज! जिस धर्म ने इतना महान् मंगल-सूत्र सिखाया हो, उसके अनुयायी-वर्ग में जब धर्म के प्रति संकुचित और गलत दृष्टिकोण पाए जाते हैं तो किसी के भी मन में इसके प्रति निराशा की लहर उठ सकती है। हम सोचते हैं कि जब जैन-धर्म ने अपने साधकों को मार्ग खोजने के लिए प्रकाशमान रत्न दे दिया है, फिर तो यह उन साधकों की ही अपनी गलती है, जो ऐसा अमूल्य रत्न पा कर भी अन्धश्रद्धा की दीवार से सिर टकराएँ और व्यर्थ का वितण्डावाद बढ़ाएँ। सचमुच जैन-धर्म ने 'आश्रव' और 'संवर' के कार्यों की लम्बी सूची नहीं बनाई है, सूची पूरी बनाई भी नहीं जा सकती। उसने थोड़े से भेद गिना कर उनके बाद विराम नहीं लगा दिया है। आर्य-अकार्य कर्मों के सम्बन्ध में भी उसने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य गिना कर ही समाप्ति की घोषणा नहीं कर दी है। उसने तो 'जे यावन्ने तहप्पगारा' लिख कर स्पष्ट कर दिया है कि—इस प्रकार के जो भी अन्य कार्य हैं, वे सभी आर्य-कर्म हैं। इसी प्रकार 'आश्रव' और 'संवर' के विषय में भी उसने कहा है—"विवेकी पुरुष आश्रव में भी संवर की स्थिति प्राप्त कर सकता है, और अविवेकी पुरुष संवर के कार्य में भी आश्रव ग्रहण कर लेता है। यह दृष्टिकोण कितना व्यापक एवं शाश्वत है!

सबसे बड़ा प्रमाण

सामान्यतया कहा जा सकता है कि खेती आर्य-कर्म है, इस विषय में प्रमाण क्या है? इसके उत्तर में सबसे पहले यही कहा जा सकता है कि प्रश्नकार का विवेक ही प्रमाण है, उसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण हैं। सबसे बड़ा प्रमाण मनुष्य का अपना अनुभव ही है। क्या तीर्थंकर किसी बात के निर्णय के लिए किसी ग्रंथ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते-फिरते हैं? नहीं। उनके पास तो ज्ञान का वह अनुपम सर्चलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड़ जाते हैं। उन्हें किसी भी ग्रंथ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नहीं होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कहीं भी भटकने की आवश्यकता नहीं है। जिसकी दृष्टि सम्यक् है और सत्य के प्रति सच्ची निष्ठा है तो वह किसी भी चीज के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय स्वयं कर सकता है। 'केवल-ज्ञान' से भी पहला नम्बर आत्मा के 'सहज-विवेक' का है, क्योंकि यही तो सबसे पहले जाग्रत होता है और

अन्ततः आत्मा को केवलज्ञान का प्रकाश देता है।[४] जो साधक विवेक का सहारा न ले कर धर्म की ऊँची-ऊँची बातें करता है, बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार में टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ में नहीं आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा भी है—जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं।'[५]

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—"साधक की सहजबुद्धि ही धर्म-तत्त्व की सच्ची समीक्षा कर सकती है।"[६]

बुद्धि का गज

वस्तुतः जीवन का निर्माण विचार के आधार पर ही होता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं, और विचार के लिए सर्वप्रथम विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने विवेक-शुद्ध अन्तःकरण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिनभर चोटी से ऐड़ी तक पसीना बहाता है, अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है, अपना सारा समय, परिश्रम और जीवन कृषि के पीछे लगा देता है, ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता के कर्म को यदि कोई अनार्य-कर्म कहे और उस अन्न को खा कर ऐशआराम से जिन्दगी बिताने वाला वह स्वयं आर्य-कर्मी होने का दावा करे; भला, इस निराधार बात को किसी भी विवेकशील का अन्तःकरण कब स्वीकार कर सकता है? वह बुद्धि का गज डाल कर जरा अपने आपको नाप-तौल कर देखे कि कृषि, क्या प्रत्येक स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र-प्रमाणों की भी इस सम्बन्ध में भी कोई कमी नहीं है।

देवलोक के बाद

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख किया गया है कि जो साधक अपना जीवन साधना में व्यतीत करता है, जो सदैव सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है, वह अपनी मानव-आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है। देवलोक के जीवन के पश्चात् वह कहाँ पहुँचता है? यह बताने के लिए वहाँ ये गाथाएँ दी गई हैं—जो साधक देवलोक में जाते हैं, वे जीवन में पुनः प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेंगे? उत्तर—जहाँ खेती लहलहाती होगी। सबसे पहला पद यह आया

---

४ वह सर्वदर्शी सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, जिसके द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्तानंत पदार्थों का एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है।

५ "यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।"

६ "पन्ना समिक्खए धम्मतत्तं तत्तविणिच्छियं।"

है कि उस साधक को खेत मिलेगा ! उसे खेत की उपजाऊ भूमि मिलेगी, जिसमें वह सोने से भी बढ़ कर जीवनकण-अन्न उत्पन्न करेगा।"[७]

यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत की गणना की गई है। जैन-परम्परा खेती-बाड़ी को पुण्य का फल मानती है। खेती-बाड़ी, खेत और जमीन यदि पाप के फल होते तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यों बतलाते ?

उत्तराध्ययन सूत्र में आगे भी कहा है—कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र भी होता है।[८]

कौन-सा कर्म ?

यहाँ कर्म से वैश्य होना बतलाया गया है, परन्तु उस कर्म का निर्णय आप कैसे करेंगे ? कौन-सी क्रिया, पौषध आदि क्रिया है, जो आपमें से किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी को वैश्य और किसी को शूद्र बनाती है ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में बाँटने वाला कर्म कौन-सा है ? धार्मिक नियम और मर्यादाएँ तो सभी के लिए समान हैं और उनका फल भी सभी के लिए समान ही बताया गया है। कोई धार्मिक नियम या व्रत-कर्म ऐसा नहीं, जो किसी एक को ब्राह्मण और किसी दूसरे को वैश्य बनाता हो।

तब फिर यहाँ 'कर्म' से क्या अभिप्राय है ? इसे समझने के लिए प्राचीन टीकाकारों की ओर नजर डालनी होगी। उत्तराध्ययन पर विस्तृत और प्रांजल टीका लिखने वाले वादि-वेताल शान्त्याचार्य विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हो गए हैं। उन्होंने अपना स्पष्ट चिन्तन जैन जनता के सामने रखा है। उन्होंने 'कम्मुणा वइसो होइ' पद पर टीका लिखते हुए कहा है :—

"कृषि-पशु-पालन-वाणिज्यादि कर्मणा वैश्यो भवति।"

भगवद्गीता में भी यही बात स्पष्टरूप से कही गई है :—

"कृषि-गोरक्ष-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।"

लोग प्रामाणिक शास्त्रों का दिव्य-प्रकाश उपलब्ध होते हुए भी आज गलत-फहमी के कारण कर्मों को समझने में भी भ्रमित हो गए हैं, लेकिन प्राचीन जैन और

---

७ खेत्तं वत्थु हिरण्णं च पसवो दास—पोक्खं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसो बले॥

—उत्तरा० ३, १७-१८

८ "कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

जैनेतर साहित्य स्पष्ट बताते हैं कि कृषि करना वैश्यवर्ण का ही कार्य था, जो आज एकमात्र शूद्रों या अनार्यों के मत्थे मढ़ा जा रहा है।

भगवान् महावीर ने भी कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियों को वैश्य बतलाया है। भगवान् महावीर के पास आने वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावकों का वर्णन उपासकदशांगसूत्र में आता है, उनमें कोई भी ऐसा नहीं था, जो श्रावक अवस्था में खेती-बाड़ी का धन्धा न करता हो। इससे कोई व्यक्ति स्वयं अनुमान लगा सकता है कि जैनपरम्परा में खेती के विषय में क्या निर्देश किया गया है? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

त्याग का क्रम

यहाँ एक बात ध्यान में रखना चाहिए कि बारह व्रतधारी श्रावक की भूमिका तक तो खेती का कहीं भी निषेध नहीं है। इससे ऊपर की भूमिका प्रतिमाधारी श्रावक की भूमिका है। क्रमशः पहली, दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओं को स्वीकार करने के बाद जब श्रावक आठवीं प्रतिमा को अंगीकार करता है, तब आरम्भ के कार्यों का परित्याग कर कृषि का त्याग करता है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा के सभी आचार्य एक स्वर से समर्थन करते हुए कहते हैं।[९]

अर्थात्—यहाँ आरम्भ से कृषि-कर्म आदि समझना चाहिए। उसका त्याग आठवीं प्रतिमा में होता है। इस तरह प्रतिमाधारी श्रावक आठवीं प्रतिमा में स्वयं कृषि करने का त्याग करता है और नौवीं प्रतिमा में कराने का भी त्याग कर देता है।[१०]

शास्त्रों का इतना स्पष्ट विवरण हमारे सामने मौजूद है और त्याग का क्रम भी स्पष्ट रूप से शास्त्र दिखा रहे हैं, दुर्भाग्य से फिर भी कुछ लोग भ्रम में पड़े हुए हैं। यह कितना आश्चर्यजनक एवं खेदपूर्ण है कि जो बात आगे की भूमिका में छोड़ने की है, उसे पहले की भूमिका में छोड़ देने का आग्रह किया जाता है, और जो विषय पहले की भूमिका में त्यागने योग्य है, उसका ठिकाना ही नहीं है! धोती की जगह पगड़ी और पगड़ी की जगह धोती लपेट कर हम अपने आपको शेखचिल्ली की भाँति दुनिया की दृष्टि में हास्यास्पद बना रहे हैं।

शास्त्र-प्रमाण

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण **प्रज्ञापना-सूत्र** में भी आया है।

---

९ आरम्भ :—कृष्यादिकर्म, तत्त्यागं करोति।

१० देखिए—समन्तभद्रकृत 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' और प्रवचन-सारोद्धार की सिद्धसेनीया वृत्ति।

वहाँ आर्य-कर्मों के स्वरूप का निर्देशन करते हुए कुछ थोड़े से कर्म गिना कर अन्त में 'जे यावन्ने तहप्पगारा' कह कर सारा निचोड़ बतला दिया है। इसका सारांश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं, जो आर्य-कर्म कहलाते हैं।

कुम्भकार के धन्धे को भी वहाँ आर्य-कर्म बतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य-कर्म कहने का कोई कारण नहीं था। पर, इस गए गुजरे जमाने में कई नए टीकाकार पैदा हुए हैं, जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओं और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परम्पराओं को तिलांजलि देने की अभद्र चेष्टा कर रहे हैं। जैन-जगत् के युगद्रष्टा एवं क्रान्तिकारी आचार्य पूज्यपाद श्रीजवाहरलालजी महाराज को, जिन्होंने प्राचीन परम्परा के आधार पर अपना स्पष्ट चिन्तन रखा है, ऐसे ही कुछ टीकाकार उत्सूत्रप्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते हैं। खेती आर्य-कर्म नहीं है, इससे बढ़कर सफेद झूठ और क्या हो सकता है?

विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी में आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होंने आर्य-कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, कृषि, वाणिज्य आदि जीवन-पोषक आजीविका करने वाले कर्मार्य हैं।[११] यह चिन्तन कहाँ से आया है? उपर्युक्त प्रज्ञापनासूत्र के आधार पर ही यहाँ चिन्तन किया गया है।

आचार्य अकलंक भट्ट ने (आठवीं शताब्दी) तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक में अपना विशिष्ट चिन्तन जनता के समक्ष रखा। उन्होंने खेती-बाड़ी, चन्दन, वस्त्र आदि का व्यापार तथा लेखन-अध्यापन आदि उद्योगों को, सावद्य आर्य-कर्म बताया है। इसका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं :—

"षड्प्येतेऽविरतिप्रवणत्वात्सावद्यकर्मार्याः।"[१२]

'यह छह प्रकार के आर्य अविरति के कारण सावद्य आर्य-कर्मी हैं; अर्थात्—व्रती श्रावक की भूमिका से पहले ये सावद्यकर्मार्य हैं'। परन्तु बाद में व्रती श्रावक होने पर जो मर्यादाबद्ध खेती आदि कर्म करता है, लिखने-पढ़ने का व्यवसाय करता है, वह अल्पारंभ की भूमिका में देखा जाता है[१३] खेती आदि कर्मों के आर्य-कर्म होने के सम्बन्ध में इनसे अच्छे और क्या प्रमाण हो सकते हैं? सारांश यही है कि श्रावक की भूमिका ही अल्पारंभ की भूमिका है। इसका रहस्य यही है कि श्रावक में विवेक होता है। वह

---

११ कर्मार्याः यजनयाजनाध्ययनाध्यापनकृषिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः।

१२ आचार्य अकलंक ने लेखन आदि के समान कृषि को सावद्यकर्म ही कहा है, महासावद्य नहीं। कृषि को महारंभ—महापाप कहने वाले सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें।

१३ "अल्पसावद्यकर्मार्याश्च श्रावकाः।"

जो भी काम करता है उसमें विवेक की रोशनी अवश्य रखता है। श्रावक का हाथ वह अद्भुत हाथ है कि जिसे वह छू ले, वह, सोना बन जाए। श्रावक की भूमिका वह भूमिका है, जिसमें विवेक का जादू है। यही जादू उसके कार्य को अल्पारंभ बना देता है।

असली चीज तो विवेक है। जहाँ विवेक नहीं है, वहाँ खेती भी सावद्यकर्म है। यहाँ तक कि विवेक के अभाव में लेखन तथा वस्त्र आदि का व्यवसाय करना भी अल्पारंभ नहीं होगा।

इस तरह जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आर्यकर्म और अनार्यकर्म तथा अल्पारंभ और महारंभ का निर्णय कर लेना चाहिए। विवेक को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष के खूंटे को पकड़ कर चिल्लाते रहेंगे तो हमारी समझ में कुछ भी नहीं आएगा और साथ ही जैनधर्म भी विश्व की दृष्टि में हेय सिद्ध हो जाएगा। □

२५ | कृषि : अल्पारम्भ और आर्यकर्म है

भारतीय संस्कृति में कृषि का बड़ा महत्त्व और गौरव माना गया है। प्रारम्भ से ही भारत कृषि-प्रधान देश है। आज भी भारत में कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक है। कृषि अहिंसा की आधार-शिला है। मांसाहार से विरत होने के लिए और सात्विक भोजन की स्थापना के लिए, कृषि का बड़ा ही महत्त्व है। मांसाहार से बचने के लिए कृषि-कर्म से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं हो सकता। इसी आधार पर भारतीय संस्कृति में कृषि को अहिंसा का देवता माना गया है। कृषि करने वाले व्यक्ति को वैदिक भाषा में पृथ्वी-पुत्र कहा गया है। जैन परम्परा के अनुसार कृषि-कर्म के सर्वप्रथम उपदेष्टा भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्होंने ही अपने युग के अबोध एवं निष्क्रिय मानव को कृषिकर्म तथा अन्य सात्विक उद्योग-धन्धों की शिक्षा दी थी। उस युग की मानव-जाति के उद्धार के लिए कृषि-कर्म आदि का उपदेश और शिक्षा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य थी। उस युग में यह एक बड़ी शक्ति थी। जैन-परम्परा के विख्यात-श्रावकों ने कृषि-कर्म स्वयं किया था, इस दृष्टि से भी जैन-संस्कृति में कृषि-कर्म का एक विशिष्ट स्थान है।

जैनसंस्कृति के कृषि आर्यकर्म एवं अल्पारम्भ है, आर्यकर्म तथा पवित्रकर्म कहा था, परन्तु मध्यकाल में आ कर कुछ व्यक्तियों ने इसे हिंसामय कर्म करार दे कर त्याज्य समझा। जैनसंस्कृति आरम्भ, समारम्भ और महारम्भ के परित्याग का उपदेश देती है, यह ठीक है, किन्तु हमें यह देखना होगा कि मांसाहार जैसे महारम्भ से बचने के लिए, कृषि के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं हो सकता। जैनधर्म ने प्रत्येक साधक को अपने हर कर्म की छानबीन करने और देखते रहने की हिदायत दी है कि वहाँ कितनी हिंसा हो रही है और कहां कितनी साधना चल रही है? यानी हिंसा-अहिंसा के मर्म को समझ कर ही हर प्रवृत्ति करनी चाहिए। किन्तु एक समय ऐसा आया कि कुछ विचारकों ने उस युग के जन-मानस में अहिंसा की एक धुंधली तस्वीर खड़ी कर दी। परिणामतः उन्होंने जिन्दगी के हर मोर्चे पर पाप ही पाप देखना आरम्भ कर दिया। आरम्भ, समारम्भ का परित्याग अच्छी बात है, पर खेती में महापाप समझना और इसे छोड़ कर भाग खड़े होना, यह जब प्रारम्भ हुआ, तब कृषि का धंधा हमारी नजरों में हेय हो गया। हमारा सामाजिक दृष्टिकोण यह बन गया, कि कृषि का धंधा निकृष्ट कोटि का है, अतः हेय है। कृषि द्वारा अन्न का उत्पादन हो, इसके पीछे हमारा अहिंसा का दृष्टिकोण यह था कि मांसाहार की प्रवृत्ति लोगों में बंद हो और वे कृषि की ओर आकृष्ट हों। अनेक प्रकार के फल और अनेक प्रकार की वनस्पति, प्रकृति के द्वारा

प्राप्त हो सकती है और हमारा सात्विक जीवन उन पर निर्भर हो सकता है। जब कृषि जैसे सात्विक कर्म को अपनाया जायेगा, तभी मांसाहार जैसे भयंकर पाप से हम बच सकेंगे। मांसाहार को छोड़ना हमारी सांस्कृतिक जीवन-यात्रा का प्रारम्भिक उद्देश्य है, और इस उद्देश्य की पूर्ति कृषि-कर्म से ही हो सकती है। इसी आधार पर जैनसंस्कृति में कृषिकर्म को अल्पारम्भ और आर्यकर्म कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि जितनी हमारी अहिंसा की स्मृति आगे बढ़ी, उसके साथ-साथ उसमें एक धुंधलापन भी आगे बढ़ता गया, और उसमें हमारा जो मूल अभिप्राय था, वह समय के साथ क्षीण होता चला गया। इसलिए आगे चल कर कुछ लोगों ने कृषि को महारम्भ स्वीकार कर लिया और जब उसे महारम्भ स्वीकार कर लिया, तो उसे छोड़ने की बात भी लोगों के ध्यान में आने लगी। लोग अपनी बात सिद्ध करने के लिए आगम का आधार तलाश करने लगे, परन्तु आगम में कहीं पर भी कृषि को महारम्भ नहीं कहा गया। क्योंकि आगम में जो महारम्भ का फल बताया है, उसमें कहा गया है, कि महारम्भ नरक में जाने का कारण बनता है। अब विचार कीजिए कि जब कृषि को महारम्भ बताया गया, तब उसकी फलश्रुति के अनुसार नरक में जाने की बात भी लोगों के सामने आयी। लोगों ने विचार किया, परिश्रम भी करें और नरक में भी जाना पड़े तो इस प्रकार का गलत धन्धा क्यों करें? इस प्रकार के मिथ्या तर्कों से जनता के मानस को बदलने का प्रयत्न किया गया। परिणामतः जैनों ने कृषिकर्म का परित्याग कर दिया। अन्यथा भारतीय संस्कृति और विशेषतः जैनसंस्कृति में मूलतः अहिंसा का दृष्टिकोण ले कर चला था, यह कृषिकर्म।

साधक जीवन के दो भाग

यहां हमें शास्त्रों की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए कि वे क्या कहते हैं। साधारणतया साधकों के जीवन के दो भाग होते हैं—एक गृहस्थ-जीवन और दूसरा साधु-जीवन। गृहस्थ को अपने अणुव्रत गृहस्थ-जीवन की ऊँचाइयाँ प्राप्त करनी चाहिए और साधु को अपने शाश्वत क्षेत्र में जीवन के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श करना चाहिए। ऐसी बात नहीं है कि साधु बनते ही उसके जीवन में पूर्णता आ जाती है। महाव्रतों को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते ही जीवन में पूर्णता आ जाती है, ऐसा समझना सर्वथा भ्रमपूर्ण होता है। साधु अपने आप में अपूर्ण होता है और उसे शाश्वत जीवन की पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करना पड़ता है। वस्तुतः पूर्णता हिमालय की सर्वोच्च चोटी है और साधु को वहाँ तक पहुँचने के लिए कठिन साधना अपेक्षित है।

यह ठीक है कि साधु, श्रावक की अपेक्षा कुछ आगे बढ़ा होता है, कुछ ऊँचा भी चढ़ा होता है, मंजिल की राह पर दूर तक आगे बढ़ चुका होता है और दूसरी ओर गृहस्थ अपने क्षेत्र में चलना प्रारम्भ करता है। फिर भी साधु का जीवन ऊँचा-नीचा है। उसकी भी अनेक श्रेणियाँ हैं।

कक्षाएं

इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन की भी अनेक कक्षाएँ हैं। और उन कक्षाओं के भी कई स्तर हैं। ऐसा नहीं है कि गृहस्थ छोटा है, अतः वह नगण्य है और विष का टुकड़ा है। परिस्थितिवश गृहस्थ, साधु की अपेक्षा नीचा होते हुए भी किसी विषय में अपेक्षाकृत ऊँचा है। जो गृहस्थ जीवन के मैदान में विवेकपूर्वक चलता है, जिसके हृदय में प्रत्येक प्राणी के लिए दया का झरना बहता है, जो महा-हिंसा से दूर रह कर अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहा है, वह अपने श्रावकत्व के कर्त्तव्यों को हद से पूरा कर रहा है। भले ही वह धीमे कदमों से चलता हो, पर अभीष्ट लक्ष्य की ओर उसकी गति नियमित और निरन्तर अवश्य है।

यहाँ पुरानी परम्परा की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए, वह क्या कहती है? वह ऐसे गृहस्थ को, जो अपनी जीवन-नौका के साथ-साथ दूसरों की जीवन-नौका को भी पार करता है, कभी भी पापी और विष का टुकड़ा नहीं बतला सकती। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि गृहस्थ को अपनी रोटी कमानी पड़ती है, वस्त्र जुटाना पड़ता है, समय आने पर अपने पड़ोसी, समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए कठोर कर्त्तव्य भी अदा करना पड़ता है, इसलिए वह तो पाप में डूबा हुआ है। परन्तु यदि बुद्धि की कसौटी पर गृहस्थ-जीवन को कस कर देखा जाए तो विदित होगा कि विवेकवान् गृहस्थ यदि साधु के गुणस्थानों से नीचा है तो प्रथम चार गुणस्थानों से ऊँचा भी है। संकुचित दृष्टिकोण होने के कारण दुर्भाग्य से हमारा ध्यान नीचाई की ओर तो जाता है, पर ऊँचाई की ओर कभी नहीं जाता।

गृहस्थ का स्तर

इसीलिए कुछ लोगों ने एक मनगढ़न्त सिद्धान्त निकाला है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थ का स्तर नीचा है, इसलिए उनका सत्कार-सम्मान करना, उसकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना, दूसरे गृहस्थ के लिए भी संसार का मार्ग है। वह हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील का निन्दनीय मार्ग है और पतन की पगडंडी है। मेरे विचार से इस हीन विचार के पीछे अज्ञान चक्कर काट रहा है और विवेक की रोशनी नहीं है। सुपात्र और कुपात्र की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी इसी अज्ञान के कुपरिणाम हैं। गृहस्थ कुपात्र है, उसे कुछ भी देना धर्म नहीं है, साधु को देना ही एकमात्र धर्म है। इस प्रकार की कल्पनाएँ संकुचित विचारों द्वारा ही आई हैं। इस प्रकार एकान्ततः छोटे-बड़े के आधार पर धर्म और अधर्म का निष्पक्ष निर्णय कभी नहीं हो सकता। आखिर साधु भी, जोकि छठे गुणस्थान में है, सातवें गुणस्थान वाले से नीचा है। इसी प्रकार सातवें गुणस्थान वाला आठवें गुणस्थान वाले से नीचा है। केवल-ज्ञानी की भूमिका से तो सभी सामान्य साधु नीचे ही हैं। फिर पूछा जा सकता है कि तेरहवें गुणस्थान वाले अरिहन्त की भूमिका छोटी है या बड़ी? यदि बारहवें गुणस्थान से वह ऊँची है तो चौदहवें गुणस्थान से नीची भी है। इस प्रकार की अपेक्षाकृत

ऊंचाई और नीचाई भले ही रहे, परन्तु इसी को व्यर्थ की चर्चा का आधार बनाने में कोई महत्त्व नहीं है। नीचे की भूमिकाओं को पार करके ऊँची भूमिका में प्रतिष्ठित होना ही महत्त्वपूर्ण बात है। अस्तु, देखना चाहिए कि जीवन ऊपर की ओर गतिशील है या नीचे की ओर ? साधक कहीं नीचे की ओर तो नहीं खिसक रहा है ?

श्रावक मिथ्यात्व के प्रगाढ़ अंधकार का भेदन कर, अनन्तानुबंधीरूप तीव्र कषाय की फौलादी दीवार को लाँघ कर, अव्रत के असीम सागर को पार करके और अपरिमित भोगों की लिप्साओं से ऊँचा उठता है। वह मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियों को तोड़ता है और अहिंसा एवं सत्य के प्रशस्तमार्ग पर यथाशक्ति प्रगति करता है। यह बात दूसरी है कि वह उच्च साधक की तरह तीव्र गति से दौड़ नहीं सकता, मन्द गति से टहलता हुआ ही चलता है।

एकान्त आर्यस्थान

सूत्रकृतांगसूत्र में अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि में पड़े हैं, वे आर्य-जीवन वाले नहीं हैं, किन्तु जिन्होंने हिंसा और असत्य के बन्धन कुछ अंशों में तोड़ डाले हैं, जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं, असत्य आदि के बन्धनों को पूरी तरह तोड़ने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमशः तोड़ते भी जाते हैं, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य हैं। उनका कदम संसार के शृंखलाबद्ध मार्ग की ओर है या मोक्ष के मुक्तिमार्ग की ओर ! सहज विवेक-बुद्धि से विचार करने वाला तो अवश्य ही कहेगा—मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय में ही सूत्रकृतांग कहता है—

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशंसा में आर्य एवं एकान्त सम्यक् आदि की बात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।[1]

कदाचित् कोई कह सकता है कहाँ गृहस्थ और कहाँ साधु ? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक अन्य प्रश्न करना अनिवार्य है। गृहस्थ श्रावक मर कर कहाँ जाता है ?

'देवलोक में !'

'और साधु ?'

'छठे से ग्यारहवें गुणस्थान वाला साधु भी मरने के बाद देवलोक में ही जाता है।'

इस प्रकार जैसे दोनों की गति देवलोक की है, उसी प्रकार दोनों में एकान्त

---

१ "एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू।"
सूत्रकृतांग, द्वि० श्रुतस्कन्ध अ० २, सू० ३९

आर्यत्व भी है। उसका मूल कारण यही है कि श्रावक का दृष्टिकोण साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बंधनों के पाश को तोड़ने की ओर ही है।

सूत्रकृतांग में भी क्रियास्थानक में, जहाँ क्रियाओं का वर्णन है, गृहस्थ को साधु की भाँति ही एकान्त आर्य बताया है। ऐसी स्थिति में यदि साधु भोजनादि क्रियाएँ करे तो पाप नहीं, और यदि श्रावक वही विवेक-पूर्वक भोजनादि क्रियाएँ करे तो एकान्त पाप ही पाप चिल्लाना, भला किस प्रकारशास्त्र संगत हो सकता है? वही कार्य करता हुआ श्रावक पापी और कुपात्र कैसे हो गया? इस पर निष्पक्षता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

पाप करना और होना

पाप करना एक चीज है और पाप हो जाना दूसरी चीज है। पाप तो साधु से भी होना सम्भव है। वह भी कभी किसी प्रवृत्ति में भूल कर बैठता है। पर, यह नहीं कहा जा सकता कि साधु जान-बूझ कर पाप करता है। वास्तव में वह पाप करता नहीं है, अपितु हो जाता है। इसी प्रकार श्रावक भी कुछ अंशों में तटस्थवृत्ति ले कर चलता है। परिस्थिति-वश उसे आरंभ करना भी होता है, परन्तु वह प्रसन्नभाव से नहीं, उदासीनभाव से, भूल में उसे हेय समझता हुआ करता है। यद्यपि कोई गृहस्थ आसक्तिभाव से आरंभादि पापकर्म करता है पाप-कर्म के लिए उत्साहित हो कर कदम रखता है तो वह अनार्य है, तथापि जो गृहस्थ काम तो करता है, पर उसमें मिथ्यादृष्टि जैसी आसक्ति नहीं रखता, वह उसमें से आसक्ति के विष को कुछ अंशों कम में करता जाता है, तो वह अनार्य नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो भगवान् उसे एकान्त सम्यक् एवं आर्य क्यों कहते।

श्रावक की भूमिका

एक ओर भगवान् ने श्रावक के जीवन को एकान्त सम्यक् आर्य-जीवन कहा है और दूसरी ओर आप खेती-बाड़ी का धन्धा करने वाले श्रावक को अनार्य समझते हैं। ये दोनों एक-दूसरे के परस्पर विरोधी बातें कैसे मेल खा सकती है? यदि दिन को कोई व्यक्ति दिन भी कहे और साथ ही उसे रात भी कहता जाए, भला यह असंगत बात, बुद्धि कैसे स्वीकार कर सकती है? श्रावक की भूमिका अल्पारंभ की है, महारंभ की नहीं। महारंभ का मतलब है—घोर हिंसा और घोर पाप। महारंभी की गति नरक है, यह बात शास्त्रों में स्पष्ट रूप से कही है।[२]

यहाँ नरक-गति के चार कारणों में पहला कारण महारंभ है। एक ओर तो श्रावक को अल्पारंभी स्वीकार किया जाता और दूसरी तरफ खेती-बाड़ी करने के

---

२ "महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं।"
—औपपातिक सूत्र

कारण उसे महारंभी की उपाधि से भी विभूषित किया है। भला, यह विपरीत भाव कैसे युक्तिसंगत कहलाएगा।

गृहस्थ-जीवन में 'आनन्द' ने जो किया, वह एक आदर्श था। 'आनन्द' जैसा उच्च एवं आदर्श जीवन व्यतीत करने वाला श्रावक महारंभ का कार्य नहीं कर सकता था। 'आनन्द' श्रावक-अवस्था में भी खेती करता था, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'आनन्द' श्रावक था, अतएव अल्पारंभी था। फिर भी वह खेती करता था, इसका फलितार्थ यह है कि खेती श्रावक के लिए अनिवार्यतः वर्जनीय नहीं है, वह अल्पारंभ में ही है।

विचार प्रवाह में यह भी कहा जा सकता है कि 'आनन्द' महारंभी था और कृषि कार्य उसके परिवार का पैतृकागत धन्धा था। किन्तु श्रावक बनने के बाद उसने कृषि-योग्य भूमि की मर्यादा निर्धारित की और शेष का त्याग कर दिया।

इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि खेती महारंभ तो है, परन्तु उसकी मर्यादा की जा सकती है। परन्तु क्या कहीं महारंभ की भी मर्यादा हो सकती है? अथवा महारंभ की मर्यादा करने के बाद भी क्या कोई अणुव्रती श्रावक की कोटि में गिना जा सकता है? महारंभ की मर्यादा करने पर यदि श्रावक की कोटि प्राप्त की जा सकती है तो वध-शाला की मर्यादा करने वाला भी श्रावक की कोटि में आसानी से आ सकता है। यदि भगवान् महावीर के पास कोई व्यक्ति आ कर कहता—'प्रभो! मैं सौ कसाईखाने चला रहा हूँ और अभी तक श्रावक की भूमिका में नहीं आ सका हूँ। अब मैं मर्यादा करना चाहता हूँ कि सौ से अधिक वध-शालाएँ नहीं चलाऊंगा। मुझे सौ से अधिक वध-शालाओं का त्याग करा दीजिए और अपने अणुव्रती श्रावक-संघ की सदस्यता प्रदान कीजिए।' तो क्या भगवान् उसे अपने अणुव्रती श्रावक-संघ के सदस्यों में परिगणित कर सकते थे? कदापि नहीं। उस अवसर पर भगवान् यही कहते—अणुव्रती श्रावक का पद प्राप्त करने से पहले तुम्हें महारंभ का पूरी तरह त्याग करना होगा। तात्पर्य यह है कि वध-शाला, जुए के अड्डे, वेश्यालय या शराब की भट्ठियाँ चला कर और उनकी कुछ मर्यादा बाँध कर यदि कोई अणुव्रती श्रावक का स्थान प्राप्त करना चाहे तो वह प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं है।

यदि किसी मांसाहारी या शिकारी गृहस्थ को मांसाहार या शिकार को छोड़ने का उपदेश दिया जाता है। किन्तु जब वह पूरी तरह छोड़ने को तैयार नहीं होता तो वृद्धि न करने की सलाह दी जाती है। परन्तु क्या इससे उसका गुणस्थान बदल जाता है? एक हजार हरिण मारने वाला यदि पाँच-सौ हरिणों तक ही अपनी मर्यादा स्थापित कर ले, तो भले ही उसे कल्याण की धुँधली राह मिल जाती है, किन्तु इतने मात्र से उसको अणुव्रती श्रावक की भूमिका नहीं मिल सकती।

अभाव ही संघर्ष का मूल कारण

कृषि के सम्बन्ध में विचार करते समय भगवान् आदिनाथ को स्मरण रखना चाहिए। पहले कल्प-वृक्षों से युगलियों का निर्वाह हो जाता था। उस समय उनके सामने अन्न का कोई संकट नहीं था। भले ही युगलिया तीन पल्योपम की आयु वाले हों; परन्तु अन्तिम समय में ही उनके सन्तान होती थी; अर्थात्—पहला जोड़ा जब विदा होने लगता, तब उधर दूसरा जोड़ा उत्पन्न होता था। इसलिए उनकी संख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं होता था। परन्तु भगवान् ऋषभदेव के समय में कल्प-वृक्ष, जो उत्पादन के एकमात्र साधन थे, घटने लगे और जन-संख्या बढ़ने लगी। अतएव कल्पवृक्षों से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित हो गई। जहाँ उत्पादन कम है और खाने वाले अधिक हो जाते हैं, वहाँ संघर्ष अनिवार्य है।

नल पर पानी भरने के लिए तू-तू, मैं-मैं क्यों होती है? कारण यह है कि पानी कम आता है, और साथ ही नल के बन्द हो जाने का डर रहता है। इसीलिए आपस में लड़ाई-झगड़े होते हैं और कभी-कभी भयंकर दुर्घटना का रूप धारण कर लेते हैं। एक चाहता है, मैं पहले भर लूँ और दूसरा चाहता है कि सबसे पहले मैं भरूँ। परन्तु जल से परिपूर्ण कुओं पर ऐसा नहीं होता। वहाँ जितना चाहिए उतना पानी मिल सकता है, अतएव संघर्ष तथा दुर्घटना की स्थिति पैदा नहीं होती। जहाँ अभाव होता है और भरण-पोषण के साधन पर्याप्त नहीं होते, वहीं संघर्ष तथा दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं। परन्तु जहाँ उत्पादन अधिक होता है और उपभोक्ताओं की संख्या कम होती है, वहाँ अभावमूलक संघर्ष नहीं होता, न वहाँ विषमता ही प्रदर्शित होती है और न संग्रहवृत्ति ही पनपती है।

अहिंसा की राह

सोचना यह है कि भूखों मरते और संकट में पड़े हुए युगलियों को भगवान् आदिनाथ ने जो खेती करना और दूसरे धन्धे करना सिखाया, वह क्या था? उत्पादन की कला सिखाकर उन्होंने हिंसा को बढ़ाया, या अहिंसा की राह बतलाई? उन्होंने ऐसा करके जीवन-दान दिया, या पाप-कर्म किया?

इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि केवल दान देना ही अहिंसा नहीं है, परन्तु यदि कोई रचनात्मक मनोवृत्ति वाला व्यक्ति समाज के कल्याण तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन में वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्रिय सहयोग देता है, भूख से तड़पते त्रस्त व्यक्तियों के दुःख-दर्द को मिटाने के लिए उत्पादन की कला बताता है, तो वह भी एक प्रकार का दान है और वह दान भी अहिंसा का ही एक सुनिश्चित मार्ग है।[३]

---

३ कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्।
—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, २ वक्षस्कार

मान लिया कि एक मनुष्य नदी में डूब रहा है। वह तैरना नहीं जानता, किन्तु दूसरा तैरना जानता है और झटपट उसे निकाल देता है। इस प्रकार वह जब-तब डूबते हुओं का उद्धार करता रहता है, किन्तु किसी को तैरना नहीं सिखलाता है। एक दूसरा व्यक्ति है, जो तैराक है और डूबते हुए को देखते ही निकाल लेता है, साथ ही उसे तैरने की कला भी सिखाता है। इन दोनों में किसका कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है ?

'तैरना सिखाने वाले का !'

बिल्कुल ठीक है ; क्योंकि तैराक अपने सामने डूबते को तो निकाल सकता है, परन्तु यदि वह व्यक्ति फिर कहीं अन्यत्र डूब जाए तो कौन निकालने आएगा ? वह कहाँ-कहाँ उसके पीछे लगा रहेगा ? यदि वह तैरने की कला भी उसे सिखा देता है और स्वावलम्बी बना देता है तो वह कहीं नहीं डूबेगा और सदैव निर्भय रहेगा। वह स्वयं तैर सकेगा, दूसरों को तैरना सिखाएगा और यथावसर यत्र-तत्र डूबते हुए अन्य व्यक्तियों को भी बचा सकेगा। यदि कोई तैराक दूसरों को तैरना न सिखाएगा और सिर्फ डूबने वालों को पकड़-पकड़ कर निकाला ही करेगा तो डूबने वालों को बचाने की जटिल समस्या कभी हल न होगी।

इसलिए देश के नेतागण प्रायः अपने भाषणों में नवयुवकों को अपने देश के महत्त्वपूर्ण उद्योग सीखने की प्रेरणा देते हैं, उद्योगों का विकास करते हैं। और वैसे ही देश की आर्थिक तथा खाद्य समस्याओं को हल करते हैं। इसी को कहते हैं तैरने की कला सिखलाना।

संग्रहवृत्ति

वस्तुतः भगवान् ऋषभदेव ने भी इन युगलियों को तैरने की कला सिखाई थी। उनके समय में मनुष्यों की संख्या बढ़ रही थी। इधर माँ-बाप भी जीवित रहते थे और उधर सन्तान की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। केवल एक जोड़ा सन्तान उत्पन्न होने का प्राकृतिक नियम उस समय टूट गया था ; फलतः सन्तानें बढ़ चली थीं। स्वयं ऋषभदेव भगवान् के सौ पुत्र और बहुत-से प्रपुत्र थे। परन्तु दूसरी ओर कल्प-वृक्षों में ; अर्थात्—उत्पादन के साधन में कमी होती जा रही थी। उस समय का इतिहास पढ़ने से मालूम होता है कि जिन युगलियों को पहले वैर-विरोध ने कभी छुआ तक न था, वे भी खाद्य के लिए आपस में गाली-गलौज करने लगे, जिससे परस्पर द्वन्द्व होने लगे थे। लाखों वर्षों तक कल्प-वृक्षों का बँटवारा नहीं हुआ था, किन्तु अब वह भी होने लगा और वृक्षों पर अपना-अपना पहरा बिठाया जाने लगा। एक जत्था दूसरे जत्थे के कल्प-वृक्ष से फल लेने आता तो संघर्ष हो जाता। एक वर्ग कहता—यह कल्प-वृक्ष मेरा है, मेरे सिवा इसे दूसरा कौन छू सकता है ? दूसरा वर्ग कहता—यह मेरा है, अन्य कोई इसके फल नहीं ले सकता। उस समय सब के मुख पर यही स्वर गूँज रहा था—मैं पहले खाऊँगा। यदि तू इसे ले लेगा, तो मैं क्या खाऊँगा ? इस प्रकार संग्रह-वृत्ति बढ़ने लगी थी।

कुशल कलाकार

उस समय यदि भगवान् ऋषभदेव सीखे मानवता के कुशल कलाकार प्रकट न होते, तो युगलिये आपस में लड़-झगड़ कर ही समाप्त हो जाते। भगवान् ने उन्हें मानव-जीवन की सच्ची राह बतलाई और अपने सदुपदेश से उनके संघर्ष को समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया।

संकुचित दृष्टिकोण के कारण यह आशंका की जा सकती है कि क्या भगवान् ऋषभदेव उन्हें भोजन नहीं दे सकते थे? क्योंकि देव और उनका अधिपति स्वयं इंद्र उनकी आज्ञा में था। वे आज्ञा देते तो उन्हें भोजन मिलने में क्या देर लग सकती थी? परन्तु ऐसा करने से भूखों की आवश्यकताएँ तब तक पूरी होती रहतीं, जब तक भगवान् रहते। इसीलिए भगवान् ने सोचा—मेरे जाने के बाद वही द्वन्द्व, संघर्ष, लड़ाई-झगड़ा और मार-काट मचेगी। फिर वही समस्या खड़ी होगी। अतएव भगवान् ने उन्हें हाथों से परिश्रम करना सिखाया। उन्होंने कहा—'तुम्हारे हाथ स्वयं तुम्हारी सृष्टि का सुन्दर निर्माण कर सकते हैं, और यह निर्माण तुम्हारे सुखद जीवन का आधार होगा।'

इस प्रसंग पर मुझे अथर्ववेद-कालीन एक वैदिक ऋषि की बात याद आ रही है, जिसने कहा था—"यह मेरा हाथ ही भगवान् है; बल्कि मेरा हाथ भगवान् से भी बढ़कर है।"[४] वास्तव में हाथ ही महान् ऐश्वर्य का भंडार है, यदि उसकी उपयोगिता को भली-भाँति समझ लिया जाए!

इस प्रकार भगवान् ने युगलियों के हाथों से ही उनकी अपनी समस्या सुलझाई। भगवान् ने केवल उन युगलियों की समस्या को ही नहीं सुलझाया, बल्कि आज के मानव-जीवन की जटिल समस्या को भी अधिकांशतः हल किया। भगवान् की इस अपरिमित अनुकम्पा के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की जा सकती है? मानव-जाति के उस महान् त्राता की प्रतिभा और दयालुता का वर्णन किन शब्दों में किया जा सकता है? जब तक मनुष्य जाति इस पृथ्वी तल पर मौजूद रहेगी और सारी मानव सृष्टि माँसभोजी नहीं हो जाएगी, भगवान् की उस असीम दया के प्रति आभारी वह रहेगी।

प्रायः ऐसा सुना जाता है—खेती तो महारंभ है! क्योंकि भगवान् स्वयं गृहस्थाश्रम में थे, इसलिए उन्होंने जनता को महारंभ की शिक्षा दी।

खेती महारंभ नहीं

पर, गृहस्थाश्रम में होने के कारण यदि उन्होंने महारंभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओं को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे। फिर उन्होंने क्यों नहीं कह

---

४ "अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः।"

दिया कि ये लाखों-करोड़ों पशु-पक्षी मौजूद हैं, इन्हें मारो और खा जाओ। उन्होंने शिकार करके जीवन-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यों नहीं दी? पशु-पक्षियों को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारंभ मानने वाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं?

पशुओं को मार कर खाना महारंभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारंभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु-पक्षियों को मार कर खाने की, अथवा दोनों उपायों की आवश्यकतानुसार प्रयोग में लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नहीं किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए और वह यही है कि अहिंसा की दृष्टि से वास्तव में खेती महारंभ नहीं है, अल्पारंभ है। भगवान् ने अल्पारंभ के द्वारा जनता की जटिल समस्या हल की। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा—यदि ऐसा प्रयोग न किया गया, जनता को अल्पारंभ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारंभ की ओर अग्रसर हो जाएगी। लोग आपस में लड़-झगड़ कर मर मिटेंगे, एक-दूसरे को मार कर खाने लगेंगे। इस प्रकार भगवान् ने महारंभ की अनिवार्य एवं व्यापक सम्भावना को खेती-बाड़ी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य-कर्म की सही दिशा दिखाई। मांस खाना, शिकार खेलना आदि अनार्य-कर्म भगवान् ने नहीं सिखाए; क्योंकि वे हिंसारूप महारंभ के प्रतीक थे, जबकि कृषि-उद्योग अहिंसारूप अल्पारंभ का प्रतीक है।

कुछ लोगों का यह भी कहना है—कि जिस समय भगवान् युगलियों को खेती करना सिखा रहे थे, उस समय बाँय करते वक्त (खलिहान में धान्य के सूखे पौधों को कुचलवाते समय) बैल अनाज खा जाते थे। अतः भगवान् ने बैलों के मुँह पर मुसीका (छींका) बाँधने की सलाह दी। उसी के कारण भगवान् को अन्तराय-कर्म का बन्धन हुआ, फलतः उन्हें एक वर्ष तक आहार नहीं मिला। परन्तु यह एक कल्पना है। इसके पीछे किसी विशिष्ट एवं प्रामाणिक ग्रन्थ का आधार भी नहीं मालूम होता। क्योंकि विवेक के अभाव-वश मनुष्य की सोचने की बुद्धि प्रायः कम हो जाती है, तब इस तरह की मनगढ़न्त कहानियाँ गढ़ ली जाती हैं। यदि भगवान् एक वर्ष तक खाने के फेर में पड़े रहते तो एकनिष्ठ तपस्या कैसे कर पाते?

हित की दृष्टि

आचार्य अमरचंद्र ने पद्मानंद महाकाव्य के रूप में जो ऋषभ-चरित्र लिखा है। जैसाकि उन्होंने लिखा है भगवान् ऋषभदेव के साथ चार हजार अन्य लोगों ने भी दीक्षा ली थी। उन्हें मालूम हुआ कि भगवान् तो कुछ बोलते नहीं हैं, कहाँ और कैसे भोजन करें, कुछ मालूम ही नहीं होता है। वे निस्पृहभाव से वन में ध्यानस्थ खड़े हैं। तब वे सभी घबड़ा कर पथ-भ्रष्ट हो गए, साधना के पथ से विचलित हो गए। अस्तु, भगवान् ने देखा कि भूख न सह सकने के कारण सारे साधक गायब हो गए हैं। फलतः

मुझे अब आने वाले साधकों के मार्ग-प्रदर्शनार्थ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि भगवान् चाहते तो क्या एक वर्ष के बदले दो वर्ष और तपः साधना नहीं कर सकते थे? पर, अन्य साधारण साधकों के हित की दृष्टि से ही वे आहार के लिए चले[५] क्योंकि जनता महापुरुष का पदानुसरण करती है। गीता में भी योगेश्वर कृष्ण ने कहा है—"श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, जनता उसी को प्रमाण मान लेती है और उसी का अनुकरण करने लगती है।"

तप की मर्यादा

ग्रंथों में वर्णन आता है कि जिस तीर्थंकर ने अपने जीवन-काल में जितना अधिक समय का तप किया है, उसके अनुयायी साधक भी उतनी ही सीमा पर तप कर सकते हैं। भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा छह महीने तक सुदीर्घ तप किया था; अतः उनके शिष्य भी छह मास तक का तप कर सकते हैं, उससे ज्यादा नहीं। भगवान् ऋषभदेव ने सबसे बड़ा तप; अर्थात् एक वर्ष तक का तप किया था। यदि एक वर्ष तक के तप की मर्यादा न होती तो आज वह 'वर्षी' तप कैसे प्रचलित होता? क्या, भगवान् महावीर सात महीने की तपस्या नहीं कर सकते थे? अवश्य कर सकते थे। पर, उन्होंने सोचा—'मैं जितना ही आगे बढ़ूँगा, मेरे शिष्य भी मेरा आग्रहमूलक अनुकरण करेंगे और वे व्यर्थ क्लेश में पड़ जाएँगे। ऐसा सोचकर भगवान् महावीर ने छह महीने का तप किया।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी एक वर्ष का ही तप किया था। आहार के लिए भटकते नहीं रहे। यदि प्रतिदिन आहार के लिए झाकते-फिरते तो वह तप ही कैसे कहलाता? यह अन्तराय था या तप था?' यह बात अब तक स्पष्ट हो गई होगी, ऐसा समझा जा सकता है।

इतने विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने खेती बाड़ी आदि के जो भी उद्योग-धन्धे सिखलाए, वे सभी कार्य आर्य-कर्म थे। अनार्य-कर्म नहीं उन्होंने विवाह-प्रथा तो चलाई पर वेश्यावृत्ति नहीं। खेती सिखाई, पर शिकार नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ भी सिखाया, वह सब प्रजा के हित के लिए ही था।

---

५ गृह्णामि यदि नाहारं, पुनरद्याऽप्यनिग्रहम्,
तनोमि तपसैव स्यात्, प्रशमः कर्मणामिति।
तदा कच्छादय इव, निराहारतयाऽऽकुलाः,
भग्नव्रता भविष्यन्ति भविष्यन्तोऽपि साध्वसः।
एवं विचिन्त्य चित्तेन, चिरं प्रचलितः प्रभुः,
निर्दोषभिक्षामाकाङ्क्षन् पुरं गजपुरं ययौ।

पद्मानंद महाकाव्य १३। २००-२०२

सारांश में यही कथन पर्याप्त समझा जा सकता है कि कोई भी अहिंसावादी महापुरुष किसी भी परिस्थिति में महारंभ के कार्य की शिक्षा नहीं दे सकता। एक महापुरुष कहलाने वाला व्यक्ति यदि ऐसे कार्य की शिक्षा देता है तो अपने अनुयायियों के साथ वह भी नरक का राही बनता है, क्योंकि हजारों-लाखों व्यक्ति उसके अनुकरण में तदनुरूप काम करते रहते हैं।

अस्तु, स्पष्टरूप से ऐसा कहा जा सकता है कि व्यर्थ से कदाग्रह में पड़कर भगवान् ऋषभदेव के उज्ज्वल चरित्र और महान् जीवन पर प्रकारान्तर से कीचड़ नहीं उछालना चाहिए। उन्हें महारंभ का शिक्षक कहना, उनकी महानतम आशातना करना है। तीर्थंकर की आशातना करने से बढ़कर दूसरा पाप-कर्म और क्या हो सकता है?

२६

अहिंसा और कृषि

भगवान् ऋषभदेव ने कृषि तथा उपयोग-धन्धों की शिक्षा दी और विकट परिस्थिति में उलझी हुई उस युग की संत्रस्त जनता को अपने हाथों अपना जीवन-निर्माण करने की कला सिखलाई। भगवान् ने उस समय जो कुछ सिखलाया, वह आज गौरव का विषय है। जब ऐसे प्रसंग आते हैं तो जैनसमाज कलंकित नहीं होता, अपितु गौरवान्वित ही होता है। जब कभी भी भारत के विद्वानों के सामने, चाहे वे राजनैतिक नेता रहे हों या सामाजिक नेता; इस प्रसंग को छेड़ा जाता है, तो उनके हृदय में जैन-धर्म के प्रति अगाध आदर और गौरव का भाव जागृत हो जाता है, विवेक और विचार की ज्योति चमकती हुई देखी जाती है। इस रूप में भगवान ऋषभदेव का जीवन जैन-समाज को इतना गौरवशाली जीवन मिला है कि उसकी उद्घोषणा केवल बीस-तीस के सीमित दायरे में ही नहीं करना चाहिए। जहाँ-जहाँ यह आवाज पहुंचेगी हमें नीचा नहीं, ऊँचा ही दिखलाएगी। यहाँ तक कि जैनसंस्कृति को, जैनगौरव को चार चाँद लगा देगी और उत्थान के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर देगी।

जो लोग मानव-जीवन का निर्माण करने और सुधारने की बात सोचते हैं, उन्हें जब जैन-धर्म की तरफ से यह प्रकाश मिलता है, तो वे गद्गद् हो जाते हैं और मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि जैन-धर्म ने समाज की रूढ़ियों का उन्मूलन किया है, समाज की रूढ़ियों का उन्मूलन किया है, समाज को प्रगति के पथ पर प्रशस्त किया है, और भारत की महान् सेवाएँ की हैं।

तलैया नहीं, गंगा

जैन-धर्म गाँव की तलैया नहीं है। गाँव के बाहर की तलैया में इधर-उधर से आ कर गन्दा पानी जमा हो जाता है, और फिर वह तलैया सड़ने लगती है। वह खुद सड़ती है और अपनी सड़ांध से आस-पास के लोगों का सर्वनाश भी कर डालती है। एक वह तलैया है, जिसे बस अवरुद्ध ही रहना है और निरन्तर सड़ते ही रहना है, कभी साफ निर्मल नहीं होना है। दूसरी ओर गंगा का बहता हुआ निर्मल पानी है। गंगा जहाँ भी जाएगी, लोगों को सुख-सुविधा बाँट करती जाएगी। उसे सड़ना नहीं है, बदबू नहीं फैलाना है, अपितु लोगों को सुखद जीवन ही देना है।

जैन-धर्म गंगा का बहता हुआ निर्मल प्रवाह है। यदि उसे चारों ओर से समेट कर, एकांगी बना कर एक संकुचित दायरे में रोक कर रखा जाएगा तो वह अवश्य सड़ेगा, फलतः उसमें चमक एवं स्वच्छता नहीं रह जाएगी। वह तो गंगा के समान बहता हुआ

पानी होना चाहिए और इतना स्वच्छ होना चाहिए कि जितना-जितना जनता के सामने ले जाया जाए, लोग प्रसन्न हो जाएँ और उसे इज्जत की निगाह से देखें। परन्तु ऐसा करते समय हम उसकी ठोस सच्चाइयों को अपने सामने रखें और उन्हीं के बल पर उसे और अपने आपको आदर का पात्र बनाएँ।

धूम मच जाती

भगवान् ऋषभदेव जैसा आदर्श जीवन यदि किसी दूसरे समाज के सामने होता तो धूम मच जाती और वह समाज उसके लिए गौरव का अनुभव करता। किन्तु वह उनको मिला है, जो दुर्भाग्य से आज भी यह कहने को उतावले हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थदशा में जो कुछ भी किया, वह सब संसार का कार्य था। उन्होंने कोई सत्कर्म नहीं किया। वे तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस करते हैं कि उन्होंने गृहस्थ-दशा में विवाह भी किया, राजा भी बने और संसार की समस्त क्रियाएँ भी कीं।

ऐसा कहने वाले घर में रखी हुई सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं की ओर न देख कर गन्दी मोरियाँ ही तलाश करते हैं। यह कहना कितना अभद्र है कि भगवान् ने चूँकि गृहस्थावास में ही यह कहा है, साधु हो कर नहीं, इसलिए वह पाप था और गुनाह था! उनमें जो अनगिनत बुराइयाँ उस समय मौजूद थीं, उनमें से यह भी एक थी। यह तो संसार का मार्ग है, जो भगवान् ने बता दिया है।

क्या यह भाषा जैन-धर्म की भाषा है? श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं स्थानकवासियों की भाषा है या किसी पड़ोसी समाज की भाषा है? यह जो कहने का ढंग है, वह जैन-मतावलम्बियों का है या और किसी का है? क्या यह प्राचीन जैन-धर्म की सांस्कृतिक भाषा है, या कुछ वर्षों से जो नई परम्परा चल पड़ी है, उसके बोलने की आधुनिक तर्ज है?

जीतकल्प

खोज करने पर मालूम होता है कि यह उन नए विचारकों की भाषा है, जो कहते हैं कि यह तो भगवान् का जीतकल्प था, करना ही पड़ता। अब प्रश्न सामने आता है कि उन्होंने जो वर्षीदान दिया, वह किस अवस्था में दिया? उनका उत्तर है कि गृहस्थावस्था में ही दिया और वह भी दिया क्या, देना ही पड़ा! 'पड़ा' शब्द को जैन-धर्म की ओर से न बोल कर उन नए विचारकों की तरफ से बोलना अच्छा होगा, जो यह कहते हैं कि 'करना पड़ा' और 'वह उनका जीतकल्प था'।

ये तो ऐसा कहते हैं, पर क्या अन्य लोग भी ऐसा ही कहते हैं? अन्य लोग तो तीर्थंकरों के द्वारा दिए गए वर्षीदान की महिमा गाते हैं, उसके प्रति गौरव का अनुभव करते हैं और मानते हैं कि भगवान् लगातार वर्षभर दान देते रहे और इस रूप में उन्होंने जनता की बड़ी भारी सेवा की है, परन्तु वे उस दान को धर्म नहीं कहते। उनका कहना है, गृहस्थी में रहते हुए जैसे विवाह किया, राजा बने, वैसे ही दान भी

दिया। विवाह करना धर्म नहीं है, राजा बनना धर्म नहीं है, उसी प्रकार दान देना भी धर्म नहीं है।

अतीत की कुछ बातें प्रायः आज भी सुनी जाती हैं। और ठीक ही सुनी जाती हैं कि भगवान् महावीर ने अपने माता-पिता की कितनी बड़ी सेवा की? पर इसके लिए भी जो भगवान् ऋषभदेव के द्वारा किए गए कर्मों को मात्र एक गृहस्थ के कर्म बताते हैं, उसी भाषा का प्रयोग किया जाता है कि वे गृहस्थावास में थे, अतः सेवा करनी ही पड़ी। साथ ही यह भी कहते हैं कि माता-पिता की सेवा में धर्म होता, तो साधु बन कर भी क्यों नहीं की? इससे सिद्ध होता है कि सेवा करना संसार का कार्य है और उससे पाप का ही बन्ध होता है।

गलत धारणा

यदि अन्य लोग भी इसी भाषा का प्रयोग करते हैं, अर्थात् तीर्थङ्करों के वर्षी दान में और माता-पिता की सेवा में भी एकान्तपाप मानते हैं तो यही कहना पड़ेगा कि फिर उनमें और अन्य लोगों में क्या अन्तर है? बस फिर तो झगड़ा सिर्फ ऊपर के शब्दों पर है अन्दर में बात एक ही है। आगे वे यह भी कहते हैं कि यदि एक वर्ष तक दान दिया तो बारह वर्ष तक घोर उपसर्गों और परीषहों के रूप में उसका कटु, कुफल भी भोगना पड़ा। इस प्रकार भगवान् महावीर को जो विभिन्न प्रकार के कष्ट सहने पड़े, वे दान के फल थे, जो उन्होंने बताना दिए हैं। पर अन्य विचारकों के मन्तव्य तो इससे सर्वथा भिन्न हैं।

जीव-रक्षा के सम्बन्ध में भी उनका कहीं अभिमत है कि भगवान् महावीर ने जब गोशालक को बचाया, तब वे छद्मस्थ थे, केवल-ज्ञानी होने पर नहीं बचाया। अतः मरते जीव को बचाना भी एकान्त पाप है।

इस प्रकार दूसरे लोग भी भूल से कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने कृषि आदि कलाओं का जो उपदेश दिया था, वह गृहस्थावास में ही दिया था, केवल-ज्ञानी हो कर नहीं, अतएव कृषि में महारंभ है—घोर पाप है।

सही निर्णय

उपर्युक्त विषय विचारधाराओं का अध्ययन करने पर यही उचित जान पड़ता है कि इस सम्बन्ध में साफ-साफ निर्णय हो जाना चाहिए। विचारकों के मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहे। परन्तु एक भ्रान्त विचारशृंखला सामने है। छद्मस्थ अवस्था में किए हुए तीर्थङ्करों के कर्त्तव्यों को दान को, माता-पिता की सेवा को और जीव-रक्षा आदि सत्कार्यों को—कुछ लोग पाप नहीं मानते हैं। परन्तु जब कृषि का प्रश्न उपस्थित होता है तो तुरन्त वे पाप मानने वालों की पंक्ति में खड़े हो जाते हैं? क्या यही निष्पक्ष निर्णय की स्थिति है? नहीं। सभी को सही निर्णय पर आना चाहिए।

यदि तीर्थंकर ने एक वर्ष तक एक दान दिया तो बड़ा भारी पुण्य किया, सत्कर्म किया, किन्तु समस्त आगम-साहित्य में एक भी ऐसा शब्द नहीं है कि उन्होंने किस उद्देश्य से दिया। कोई विशेष स्पष्टीकरण भी नहीं है कि उस दान के पीछे उनका क्या लक्ष्य था, कौन-सा संकल्प था और क्या भावनाएँ थी? अस्तु आगम और आगमेतर साहित्य के विश्लेषण द्वारा जाँच कर जाना जा सकता है कि उक्त वर्षीदान की पृष्ठ-भूमि में भगवान् की सद्भावना ही थी, दुर्भावना नहीं। और जब यह कहा जाता है कि भगवान् के दान के पीछे जनता के हित की भावना थी, तो यह जैन-धर्म की प्रकृति के अनुरूप प्रामाणिक अनुमान बन जाता है, परन्तु कृषि के सम्बन्ध में तो आगम में स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है।

स्पष्टीकरण

इस सम्बन्ध में जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति का पाठ भी देखा जा चुका है। भगवान् ने प्रजा के हित के लिए सुख सुविधा के लिए कृषि आदि का उपदेश दिया था।[1] फिर भी कुछ लोग कृषि को महापाप में गिनते हैं? ऐसी स्थिति में शास्त्र की आवाज कुछ और है तथा जनता की आवाज कुछ दूसरे ही ढंग की है।

अभिप्राय यह है कि तीर्थंकरदत्त दान के सम्बन्ध में आगम में कोई ऐसा स्पष्टीकरण नहीं है कि—वह किसलिए दिया गया? फिर भी उसे सत्कर्म या धर्म समझा जाता है। किन्तु कृषि के सम्बन्ध में जबकि प्रामाणिक स्पष्टीकरण मौजूद है, तब भी कुछ लोग उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। यदि वैसे लोगों का निर्णय यही है कि तीर्थंकरों ने छद्मस्थदशा में जो कुछ भी किया था, वह सब पाप था, अधर्म था और प्रजा के हित के लिए की हुई उनकी प्रवृत्ति भी पापमय थी, तब तो उन्हें निश्चितरूप से दूसरी कतार में खड़ा हो जाना चाहिए। वामपक्ष वालों के लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

भीषण अज्ञान

परन्तु यह निर्णय निष्पक्ष निर्णय नहीं कहलाएगा। ऐसा मनमाना निर्णय कर लेना तीर्थंकर भगवान् की पवित्र प्रेरणा पर प्रतिक्रियावादी प्रतिबन्ध लगाना है और उनकी विशुद्ध ज्ञानात्मा को अपमानित करना है। विचार विषमता और संकीर्णताओं से अपने मन एवं मस्तिष्क को शुद्ध बनाकर आस्तिक भाव से यह जान लेना चाहिए कि तीर्थंकर की आत्मा अनेक जन्मों के संचित पवित्र संस्कारों को ले कर ही अवतीर्ण होती है; अस्तु, उनके सम्बन्ध में यह कल्पना लेना कि जनता के अहित के लिए वे प्रवृत्ति करते हैं या जगत् को पाप सिखाने के लिए कोई कुत्सित कार्य करते हैं, भीषण अज्ञान है। यह तीर्थंकर का अवर्णवाद है।

गृहस्थावस्था में उनके राजा बनने को एकान्त पाप बतलाना भी गलत है।

---

१ 'पयाहियाए उवदिसई।'

विवेकबुद्धि से सोचना यह चाहिए कि यदि वे राजा बने तो किस उद्देश्य से बने ? क्या दुनिया का आनन्द लूटने के लिए, भोग-वासना में लिप्त होने के लिए, और सिंहासन के राजसी सुख का आस्वादन करने के लिए राजा बने ? अथवा प्रजा में फैली हुई अव्यवस्था को दूर करने के लिए, नीति-मर्यादा को कायम करने के लिए, और प्रजा में फैली हुई कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिए ही राजा बने ?[२]

अपनी मनोभावना

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि—जैसे बड़ी मछली छोटी मछलियों को निगल जाती है, उसी प्रकार कभी बड़े आदमी भी अपनी स्वार्थ-क्षुधा में छोटों को निगल जाते हैं। प्रश्न आता है, क्या तीर्थंकर भी मनुष्यसमाज की इस विषमता को दूर करने के लिए राजा नहीं बने ? राज-सिंहासन को स्वीकार करने में जो धार्मिक दृष्टि होती है, उसे तो कोई ध्यान में नहीं लाता और अपनी मनो-भावनाओं के अनुरूप यह कल्पना कर बैठते हैं कि वे राजा बने तो केवल भोग-विलास की परितृप्ति के लिए। उन लोकोत्तर महापुरुषों का राजदंड ग्रहण करना, वर्त्तमानयुग के राजा-महाराजाओं से सर्वथा भिन्न था, अर्थात्—वे प्रजा के शोषक नहीं, पोषक थे। शासक नहीं, सेवक थे !! उन्होंने सिंहासन को स्वीकार करके प्रजा में होने वाले अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार किया, बड़ों के द्वारा होने वाले छोटे आदमियों के अनैतिक शोषण का अन्त किया और जनता की अनेक प्रकार से सेवाएँ कीं। इन सब बातों पर क्यों कोई व्यक्ति धूल डालने का दुस्साहस करता है ?

इस प्रकार अपने दृष्टिकोण को साफ करना होगा। भगवान् ने जब दान दिया, तब उनमें तीन ज्ञान थे, चौथा ज्ञान नहीं था। और जब कृषि का उपदेश दिया, तब भी तीन ही ज्ञान थे। इन पवित्र ज्ञानों के होते हुए वे कृषि या दान के रूप में क्रोध, मान, माया या लोभ के वश प्रवृत्ति नहीं कर सकते थे। उन्होंने इस ओर जो प्रवृत्ति की है, उसमें उनकी अपनी निजी वासना-पूर्ति का कोई लक्ष्य नहीं था, केवल प्रजा के

---

२ शिष्टानुग्रहाय, दुष्टनिग्रहाय, धर्मस्थितिसंग्रहाय च, ते च राज्यस्थितिश्रिया सम्यक् प्रवर्तमानाः क्रमेण परेषां महापुरुषमार्गोपदेशकतया चौर्यादिव्यसननिवर्त्तनतो नारकातिथेयानिवारकतया ऐहिकामुष्मिकसुख-साधकतया च प्रशस्ता एवेति। महापुरुषप्रवृत्तिरपि सर्वत्र परार्थत्वव्याप्ता बहुगुणाल्प-दोषकार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति।·····स्थानाङ्गपञ्चमाध्ययनेऽपि—'धम्मं च णं चरमाणस्स पंच निस्सा ठाणा पण्णत्ता, तंजहा—छक्काया १ गणे २ राया ३ गाहावई ४ शरीर ५ मित्यादालापकवृत्तौ राज्ञो निश्रामाश्रित्य राजा नरपतिस्तस्य धर्मसहायकत्वं दुष्टेभ्य साधुरक्षणादित्युक्तमस्तीति परम-करुणापवित्रितचेतसः परमधर्मप्रवर्तकस्य ज्ञानत्रितय-युक्तस्य भगवतो राजधर्मप्रवर्तकत्वे न कोपि अनौचितीं चेतसि चिन्तनीया।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, दूसरा वक्षस्कार।

कल्याण की ही पुण्यमयी भावना थी। ऐसी स्थिति में जो लोग उनके दान को एकान्त पाप और कृषि को महारम्भ कहते हैं, उन्हें गहरा विचार करना होगा।

महारम्भ का उपदेष्टा महापापी क्यों नहीं?

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए, जो कार्य महारम्भ या महापाप का होता है, उसका उपदेश करने वाला भी महारम्भी और महापापी होता है। एक मांस खाने वाला है, और दूसरा मांस खाने का उपदेश देने वाला है। तो खाने वाला ही नहीं, उपदेश देने वाला भी महापापी है। अतः जब खेती करने वाला महापापी है, तो उसका उपदेश देने वाला भी महापापी क्यों नहीं होगा? बल्कि स्वयं मांस खाने की तो कोई सीमा हो सकती है, पर उपदेश की कोई सीमा नहीं होती। उपदेशक के उपदेश से न जाने कितने लोग, कहाँ-कहाँ और कब तक मांस खाएँगे! अतएव पापोपदेश देने वाला, पाप करने वाले से भी बड़ा पापी होता है। क्या कभी ऐसा माना जा सकता है कि भगवान् 'महारम्भी' और 'महापापी' थे? यदि ऐसा नहीं माना जा सकता है तो निर्णय होने में क्षणिक भी देर नहीं लगेगी। यदि किसी का अन्तःकरण स्वच्छ है और उसकी आत्मा पक्षपात से ग्रस्त नहीं है तो उसे यह समझने में देर नहीं लगनी चाहिए कि—"शुद्ध जनहित के लिए भगवान् ने जो प्रवृत्ति की है, उसमें महापाप या एकान्त पाप कदापि नहीं हो सकता।"

अनार्य से आर्य

प्रायः सर्वत्र भगवान् ऋषभदेव की महान् करुणा, दया और प्रेम ही मिला है। जो युगलिए आपस में लड़ रहे थे, अनार्यों के रूप परिवर्तित हो रहे थे और पशुओं को मार कर खाने की ओर अग्रसर हो रहे थे, उन्हें भगवान् ने कृषि की शिक्षा दी और इस प्रकार उन्हें महारम्भ से अल्पारम्भ की ओर लाए।

अकर्म-भूमि में सभी लोग युगलिया थे। उस समय कोई अनार्य नहीं था। फिर आर्य और अनार्य का यह भेद क्यों हो गया? कुछ देश अनार्य क्यों हो गए?

कोई कह सकता है, आर्य-भूमि में रहने के कारण लोग आर्य हो गए और अनार्य-भूमि में रहने वाले अनार्य रह गए। परन्तु यह समाधान युक्ति-संगत नहीं है। जो लोग भूमि में भी आर्यत्व और अनार्यत्व की कल्पना करते हैं, उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि—जिनको जीवन के अच्छे साधन मिल गए, जिनके पास कृषि का सन्देश पहुँच गया, और जिन्होंने उसे ग्रहण कर लिया, वे आर्य रहे। और जहाँ यह सन्देश नहीं पहुँचा, वहाँ भूख से पीड़ित लोगों ने पशु मार कर खाना आरम्भ कर दिया, मांस खा कर अपने पेट का गड्ढा भरने लगे, फलतः वे अनार्य होते गए।

भगवान् ने कृषि की शिक्षा आर्य बनाने के लिए दी थी, या अनार्य बनाने के लिए? यदि अनार्य बनाने के लिए ही खेती सिखाई, तो ऐसी क्या मजबूरी थी कि

दुनिया को अनार्य बनाया जाए ? यह कौन-सा अतीतकल्प है, या तीर्थंकर कल्प है कि उस भूखी जनता को महारंभ के कुमार्ग पर और महापाप के गाढ़ अंधकार में धकेल दिया जाए ?

नहीं, अनन्त करुणा के सागर तीर्थंकर ऐसा तो कदापि नहीं कर सकते थे। उन्होंने तो पथ-भ्रष्ट जनता को ठीक राह बतलाई है। वस्तुतः वे तो मांसाहार के कुमार्ग की ओर जाती हुई जनता को शाकाहार की ओर ही लाए। इस सिद्धान्त को ठीक तरह न समझने के कारण ही हमारी दृष्टि विपरीत दिशा की तरफ जाती है।

दूसरा प्रश्न यह भी है कि साधुओं को इस सम्बन्ध में कहने या विवेचना करने की क्या आवश्यकता है ?

शिक्षा

पुत्र को माता-पिता की सेवा का उपदेश देना, दान का या कर्त्तव्य का उपदेश देना, पति-पत्नी और अध्यापक के कर्त्तव्य का निर्देशन करना ; यदि ये सब सांसारिक कार्य हैं, तो फिर इन सब बातों से भी साधु को क्या मतलब है ? फिर तो आप किसी साधु को ही दान दिया करें। भले ही माता-पिता भूखे मरते रहें और सड़ते रहें। साधु को संसार से क्या लेना है और क्या देना है ? जब संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, तो साधु इस रूप में उपदेश क्यों देता है? माता-पिता, भाई-बहन आदि की सेवा और स्वधर्मी की वत्सलता के सम्बन्ध में क्यों कहता है ? परन्तु बात ऐसी नहीं है। साधु की एक मर्यादा है और वह सुनिश्चित है। वह विवेक की शिक्षा देता है कि अमुक कार्य क्या है, कैसा है ? कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य है ? साधु किसी व्यावहारिक काम को करने की साक्षात् प्रेरणा नहीं देता, परन्तु उस काम को करने का सुफल एवं कुफल बताता है, क्योंकि यह उसका कर्त्तव्य है।

साधु के सामने प्रश्न रखा जा सकता है कि मांस खाना नैतिक है, अथवा फलाहार से गुजारा करना नैतिक है ? दोनों में से किसमें ज्यादा, और किसमें कम पाप है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर, क्या साधु को चुप्पी साध कर बैठ जाना चाहिए। कोई पूछता है—छना पानी पीने में ज्यादा पाप है, या अनछना पानी पीने में ? साधु उक्त प्रश्न का क्या उत्तर दे ? क्या वह मौन रहे ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जिज्ञासु का स्पष्टतः सही समाधान करना ही होगा।

कम या अधिक पाप

विवेक की व्यापकता को और जैन-धर्म की वास्तविकता को तो बताना ही पड़ेगा कि अमुक कार्य में ज्यादा पाप है अमुक में कम। पाप में जितनी-जितनी कमी आएगी, उतना-उतना ही धर्म का अंश बढ़ता जाएगा। प्रश्न होने पर साधु को यह भी बतलाना होगा कि मांसाहार में ज्यादा पाप है और फलाहार में कम। यह जो पाप की न्यूनता है, इस अर्थ में वह क्या है—पाप या धर्म ?

यदि किसी आदमी को १०४ डिग्री ज्वर चढ़ा हुआ था। औषधि से या स्वभावतः, दूसरे दिन वह १०० डिग्री रह गया। किसी ने उससे पूछा—क्या हाल है ? तब वह कहता है कि आराम है। आप कहेंगे, अब सौ डिग्री ताप है तो आराम कहां है ? हाँ, जितना ज्वर है उतना तो है ही, उससे इन्कार नहीं है, परन्तु जितनी कमी हुई है, उतना तो आराम हो हुआ, या नहीं ?

दुर्भाग्य से जो पाप है, उसकी तरफ दृष्टि तो जाती है, किन्तु जितना पाप कम होता जाता है, उतने ही अंशों में पाप से कषाय भी होता है, इस कमी की ओर किसी की दृष्टि ही नहीं जाती। एक आदमी मांसाहार से फलाहार पर आ जाता है तो उसमें भी पाप है, पर वह अल्प है। सिद्धान्ततः मांसाहार नरक का द्वार है और फलाहार नरक का द्वार नहीं है। जब वह नरक का द्वार नहीं है तो उसमें उतने ही अंशों में पवित्रता आ जाती है; जैसे—१०४ से १०० डिग्री ज्वर रहने पर तथाकथित रोगी को आराम होता है। इस तथ्य को स्वीकार करने में हिचक क्यों होती है ?

यदि साधु को दुनिया से कोई मतलब नहीं, तो उसे व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता है ? यदि साधु व्याख्यान नहीं देगा तो सामान्यजन घर से स्थानक तक आएँगे भी नहीं; फलतः आने-आने का आरम्भ भी नहीं होगा। जब वह व्याख्यान देता है, तभी तो कोई उसके पास आता है। फिर तो यह आरम्भ उसके व्याख्यान से ही सम्बन्धित हुआ न ? जब कोई साधु-दर्शन को जाता है और प्रवचन सुनता है तो इसका परिणाम क्या माना जा सकता है ? साधु के पास जाने में हिंसा हुई है, किन्तु जो प्रवचन सुना, उपदेश सुना उससे तो धर्म हुआ, उस धर्म का भी कोई अर्थ है या नहीं ?

शुभ और अशुभ

भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए राजा श्रेणिक कितने समारोह के साथ गया था ? ऐसा करने में यदि एक अंश में पाप भी हुआ, तो दूसरी ओर भगवान् के दर्शन करने के फलस्वरूप अपूर्व धर्म भी हुआ, यह भी तो बताया गया है। इसे लोग क्यों भूल जाते हैं ?

साधु ने साधारण लोगों से शास्त्र-स्वाध्याय के लिए कहा; वे स्वाध्याय करने लगे। इस सत्प्रवृत्ति में भी मन, वचन और काय की चंचलता एवं चपलता होती ही है न ? और जहाँ चंचलता है, वहां आश्रव है, उस अंश में संवर नहीं है। यदि योगों का सर्वथा निरोध हो जाए तो चौदहवें गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाए, तब तो मोक्षप्राप्ति में देर न लगे। ऐसी स्थिति में विचार करना ही होगा कि शास्त्र-स्वाध्याय करते समय जो योग है, वह शुभयोग है या अशुभयोग ? इसी तरह भगवान् ऋषभदेव ने जो कुछ भी सिखाया, वह शुभयोग में सिखाया या अशुभयोग में ? यदि वे अशुभयोग में सिखाते तो क्रोध, मान, माया और लोभ की दुष्प्रवृत्ति

होनी चाहिए थी। पर, शास्त्र तो यह बताता है कि उन्होंने प्रजा के हित के लिए ही शिक्षा दी थी। ऐसी स्थिति में शुभयोग आ गया।

जब कोई शास्त्र-श्रवण करेगा या भगवान् की स्तुति करेगा, तब भी आश्रव का होना अनिवार्य है, परन्तु वह होगा शुभ अंश में ही। साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि ऐसा करते समय धर्म का अंश कितना है?

आशय यही है कि जब कोई भी क्रिया की जाए, या किसी भी क्रिया के सम्बन्ध में कहा जाए, तो उसके दोनों ही पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए।

साधु जब कृषि के सम्बन्ध में कुछ कहते हैं तो वे कृषि का समर्थन या अनुमोदन नहीं करते हैं। वे तो केवल वस्तु-स्वरूप का ही विवेचन करते हैं। वे यही बतलाते हैं कि खेती अल्पारम्भ है, महारम्भ नहीं है। जानवरों को मार कर जीवन-निर्वाह करना महारम्भ है और खेती करना उसकी अपेक्षा अल्पारम्भ है। श्रावक के लिए महारम्भ त्याज्य है और अल्पारम्भ का त्याग उसकी भूमिका में सर्वथा अनिवार्य नहीं है। सभी जगह साधुओं की भाषा का ऐसा ही अर्थ होता है। यह व्याख्यान-श्रवण तो समर्थन पाने के योग्य करते हैं, किन्तु तदर्थ आने-जाने का समर्थन नहीं होना चाहिए।

एक मनुष्य तीर्थंकर के दर्शन के लिए जा रहा है और दूसरा वेश्या के यहाँ जा रहा है, तो कहाँ शुभ योग है और कहाँ अशुभयोग? जाने की दृष्टि से तो दोनों ही जा रहे हैं, किन्तु एक के जाने में शुभयोग है और दूसरे के जाने में अशुभयोग है। हाँ, तो जाना-आना मुख्य नहीं है, शुभयोग या अशुभयोग ही मुख्य हैं। अतः इस प्रकार प्रवृत्ति करना, न करना मुख्य नहीं है, किन्तु उस प्रवृत्ति के पीछे यदि शुभ योग है तो वह शुभाश्रव है, पुण्य है, और प्रवृत्ति न करने पर भी यदि योग अशुभ है तो वहाँ अशुभाश्रव है, पाप-बंध है।

महारंभ और श्रावकत्व

देहातों में अग्रवाल, ओसवाल, पोरवाल, जाट आदि अनेक जातियाँ जैन हैं। उनमें बहुत से व्रतधारी श्रावक भी हैं, और वे खेती का व्यवसाय करते हैं। तो क्या वे श्रावक कहे जा सकते हैं, या नहीं? अतः अब मुख्य प्रश्न एक ही है, कि—क्या श्रावकत्व और खेती का परस्पर ऐसा सम्बन्ध है कि जहाँ खेती है, वहाँ श्रावकत्व नहीं रह सकता? और जहाँ श्रावकत्व है, वहाँ खेती नहीं रह सकती? यदि ऐसा ही है तो एक बात अवश्य आएगी कि उन जैन-परम्पराओं के अनुयायियों को स्पष्टरूप से कह देना होगा कि आपको इस भूमिका में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि खेती करना महारम्भ है। और जहाँ महारम्भ विद्यमान है वहाँ श्रावकत्व स्थिर नहीं रह सकता।

किन्तु उपासकदशांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि—'पन्द्रह कर्मादानों में मर्यादा नहीं है।

अर्थात्—"पन्द्रह कर्मादान जानने योग्य अवश्य है, किन्तु आचरण करने योग्य नहीं है।"[३]

वस्तुतः महारंभ एवं कर्मादान में मर्यादा नहीं होती और यदि खेती भी कर्मादान में है, महारंभ में है, तो उसकी भी मर्यादा नहीं हो सकती। भगवतीसूत्र के अनुसार पन्द्रह कर्मादानों का त्याग तीन करण से किया जाता है।[४] उनमें आंशिक त्याग या मर्यादा की गुंजाइश ही कहां है? अतएव जहां कर्मादान होगा, वहां श्रावकत्व स्थिर नहीं रह सकता। तब कोई उन हजारों खेती करने वाले भाइयों से कह नहीं सकता कि आप श्रावक नहीं है।

संभव नहीं

इस प्रकार खेती-बाड़ी को महारंभ भी कहना, कर्मादान भी समझना और फिर उसके साथ अणुव्रती श्रावकत्व भी कायम रखना, कदापि सम्भव नहीं है। यदि कर्मादान की कोई सम्भव मर्यादा हो सकती है तब तो कसाईखाने चलाने की भी मर्यादा निर्धारित की जा सकती है? एक कसाई किसी जैन-साधु के पास आता है और कहता है कि मैं सौ कसाईखाने चला रहा हूँ, उन्हें ही चलाऊँगा, मर्यादा निर्धारित करा दीजिए। तो क्या वह कसाई अणुव्रतधारी श्रावक की कोटि में आ सकेगा? जिस प्रकार कसाईखाने की मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नहीं आ सकता, क्योंकि कसाई-खाना चलाना महारंभ है, उसी प्रकार खेती करना भी यदि महारंभ है, कर्मादान है, तो उसकी मर्यादा करने पर भी श्रावकत्व नहीं आना चाहिए। जबकि खेती करने वाले श्रावक होते हैं तो फिर खेती को कर्मादान और महारंभ किस प्रकार कहा जा सकता है?

इस कथन से यह भी भलीभांति समझा जा सकता है कि जैन-साधु कृषि के सम्बन्ध में क्या कहते हैं? वे कृषि का समर्थन नहीं करते, किन्तु इस बात का समर्थन करते हैं कि खेती की गिनती कर्मादानों में नहीं है, अतः जो खेती करता है वह श्रावक नहीं रह सकता, यह धारणा बिलकुल गलत और निराधार है।

खेती अनर्थदण्ड या कर्मादान नहीं है

'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का आशय क्या है? यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इस विषय में एक प्रश्न है—कोई मनुष्य स्वयं खेती करता है और अपने खेत में कुँआ भी खुदवाता है। कुँआ खुदवाने के लिए उसे सुरंग लगवानी पड़ती है। तो क्या यह सुरंग लगवाना 'फोडीकम्मे' है? इसका उत्तर है—नहीं! उसका सुरंग लगवाना 'फोडीकम्मे' नहीं है। वह खेती की सिंचाई के लिए या जनता के कल्याणार्थ पानी उपलब्ध करने के लिए कुँआ बनवाता है। उसने व्यावसा-

---

३ "पण्णरसकम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं।"

४ देखिए, भगवती सूत्र ८, ५

सार्थक हित के लिए उसका उपयोग नहीं किया है और कर्मादान का मतलब है—व्यवसाय करना। जो सुरंग लगाने का धन्धा करता है, वह 'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का सेवन करता है, किन्तु जो अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए कार्य करता है वह कर्मादान का सेवन नहीं करता। बहनें भोजन बनाती हैं और जली हुई लकड़ी के कोयले बना कर रख लेती हैं तो क्या उसे 'इंगालकम्मे' कर्मादान कह सकेंगे? नहीं, वह 'इंगालकम्मे' नहीं है। कोयला बना-बना कर बेचना और कोयले बनाने का धन्धा, करना 'इंगालकम्मे' अवश्य है।

इसी प्रकार सुरंगें लगा-लगा कर विस्फोट करने का व्यापार करना, फोडीकम्मे कर्मादान है। अपनी, या जनता की आवश्यकतापूर्ति के लिए कुँआ खुदवाना कर्मादान नहीं है।

एक बार मुझसे प्रश्न किया गया था कि नन्दन मणियार ने एक बावड़ी बनवाई तो वह मेंढक बना। सामान्यतः इसका आशय तो यही निकला कि जो बावड़ी बनवाएगा, वह मेंढक बनेगा?

कहीं-कहीं दूर-दूर तक पानी नहीं मिलता और लोग पानी के लिए बड़ी तकलीफ पाते हैं। अतः मरुधर प्रदेश में प्रायः ऐसा देखा गया है कि लोग अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा, कुँआ वगैरह खुदवा कर, जनता की सुख-सुविधा में लगाते हैं। उन्हें उससे कोई स्वार्थ नहीं साधना होता। यह भी वे नहीं जानते कि जहाँ जलाशय बनवाया है, वहाँ वे जीवन में कभी आएँगे भी या नहीं?

आसक्ति

हिसार की तरफ कुँओं की बहुत कमी है। गाँव के बाहर तलैया होती है। सब लोग उसी का पानी पीते हैं। उसमें मलेरिया के असंख्य कीटाणु पैदा हो जाते हैं, पानी सड़ जाता है और लोग वही सड़ा पानी पी कर रोग के शिकार होते हैं। वहाँ के गाँवों की यह दुर्दशा देख कर कुछ लोगों ने सोचा—तलैया का सड़ा पानी पीना, एक प्रकार से जहर ही पीना है। यह जहर अमुक गाँव के स्वास्थ्य को बुरी तरह बर्बाद कर रहा है। ऐसा सोच कर उन्होंने एक कुँआ बना लिया और तब मलेरिया का जोर कम हो सका। तो क्या, वे कुँआ बनवाने वाले अगले जन्म में मेंढक बनेंगे?

यदि ऐसा नहीं है तो नन्दन मणियार क्यों मेंढक बना? वास्तव में बात यह है कि नन्दन बावड़ी बनवाने से मेंढक नहीं हुआ। यदि ऐसा होता तो वह किसी दूसरी बावड़ी में मेंढक के रूप में उत्पन्न हो सकता था। सिद्धान्त तो यह है कि उसे अपनी बावड़ी के प्रति ममता उत्पन्न हो गई थी और मृत्यु की अन्तिम घड़ी तक उसमें उसकी आसक्ति बनी रही थी। जब बावड़ी में उसकी ममता और आसक्ति थी, तब उसमें जाना ही पड़ा। उसका धर्म उसे बावड़ी में मेंढक बनाने के लिए नहीं ले गया, बल्कि उसकी आसक्ति और ममता ने ही उसे बावड़ी में घसीटा और मेंढक बनाया।

शास्त्रकार, इसीलिए तो कहते है कि जो भी सत्कर्म करना हो, उसे यथाशीघ्र कर लो, किन्तु उसके फल में आसक्ति मत रखो। यह बावड़ी मेरी है, इसका पानी मेरे अतिरिक्त दूसरे क्यों पीएँ ? इस पर पैर रखने का भी दूसरों को क्या अधिकार है ? हम जिसे चाहें, उसे ही पानी लेने देंगे और जिसे नहीं चाहें, उसे नहीं लेने देंगे ! इस प्रकार की क्षुद्र ममता ही मेंढक बनाने वाली है। ज्ञातासूत्र या कोई दूसरा सूत्र उठा कर देखो। पर उसमें भी एक ही बात पाएँगे कि—मनुष्य तू सत्कर्म कर ! पर ममता और आसक्ति मत रख। नन्दन मणियार को कुंए ने मेंढक नहीं बनाया, उसके सत्कर्म ने भी मेंढक नहीं बनाया। यदि ऐसा होता तो चक्रवर्ती सम्राटों ने देश के हित के लिए जलाशय का निर्माण आदि अनेक काम किए हैं, तो उन सबको भी मेंढक और मछली बनना चाहिए था। परन्तु वे तो मेंढक नहीं बने। इससे प्रमाणित होता है कि मेंढक बनाने वाला कारण कुछ और ही है, सत्कर्म नहीं।

इस प्रकरण में कृषि के संबंध में कतिपय प्रश्नों पर चर्चा की गई है और इससे पहले भी काफी विवेचन हो चुका है। जो कुछ कहा गया है, उस पर निष्पक्ष बुद्धि, से वास्तविकता को समझने की विशुद्ध भावना से विचार करना चाहिए जिससे भ्रम दूर होगा और सत्य का सुनिश्चित मार्ग उत्तरोत्तर सरल होता जाएगा।

□

२७ | मानव-जीवन और कृषि-उद्योग

जैन-धर्म अतिविशाल और प्राचीन धर्म है। उस पर हमें गर्व है कि उसने हजारों ही नहीं, लाखों और करोड़ों मानवों का पथ-प्रदर्शन किया है। उसने जनता को जीवन की सच्ची राह बतलाई है। भूले-भटके अनगिनत पथिकों को जो गलत राह पर चल रहे थे, कहा है कि—तुम जिस राह पर चल रहे हो, वह जीवन की सच्ची राह नहीं है, बल्कि अन्ततः उस सत्य की सीधी राह पर चलने से ही तुम्हारा विकास हो सकेगा और तुम अपनी मंजिल तक पहुंच सकोगे।

आदर्श या यथार्थ ?

तथाकथित जैन-धर्म और उसकी सर्वविदित महत्ता के सम्बन्ध में आज जनता के मन में एक भ्रामक प्रश्न चल रहा है; कि—यह केवल आदर्शवादी है या यथार्थवादी भी है ? यह आदर्शों के सुनील आकाश में ही उड़ता है, या जीवन-व्यवहार की सत्य भूमि पर भी कभी उतरता है ?

अनेक बार हम देखते हैं कि आदर्श, आदर्श बन कर रह जाते हैं और ऊँचाइयाँ, ऊँचाइयाँ ही बनी रहती हैं। वे जीवन की गहराइयों को और उसकी समस्याओं को हल करने वाले वास्तविक समाधान की भूमिका पर नहीं उतरतीं। कुछ सिद्धान्त ऐसे होते हैं, जो प्रारम्भ में तो बहुत ऊँची उड़ान भरते हैं और आकाश में उड़ते दिखलाई देते हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन के अनिश्चित धरातल पर नहीं उतरते, क्योंकि उनमें जनता की समस्याओं का उचित समाधान करने की क्षमता नहीं होती।

इसके विपरीत कुछ सिद्धान्त यथार्थवादी होते है। वे जनता की आवश्यकताओं का, समस्याओं का सीधे ढंग से समाधान करते हैं। वर्तमान मे बच्चों, बूढ़ों, युवकों और महिलाओं की क्या समस्याएं हैं ? भूखी-नंगी जनता की क्या समस्याएं हैं ? इन सब पर गहराई में उतर कर विचार करना ही उनकी सैद्धान्तिक यथार्थता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

इस तरह प्रश्न यह सामने आता है कि समाज फिर किस पृष्ठ-भूमि पर टिक सकेगा ? वह कोरे कथोपकथन और कागजी अपरिग्रहवाद पर जीवित नहीं रह सकता। जब उसे व्यावहारिक यथार्थवाद मिलेगा, तभी जिन्दा रहेगा ! इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने भी कहा है—'एक आदमी भूखा है और भूख के ताप से छटपटा रहा है। ऐसी स्थिति में व्याकरण के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों से उसका पेट नहीं भरेगा।

काव्य का रस बड़ा मीठा है। जब कविता-पाठ होता है तो लोग मन्त्र-मुग्ध हो कर जम जाते हैं और घण्टों तक जमे रहते हैं, अमृत-पान जैसा आनन्द भी अनुभव करते हैं। किन्तु प्यास से व्याकुल यदि कोई प्यासा, वहाँ आए और पानी माँगे, तब उससे यह कहा जाय कि—'भाई, यहाँ पानी नहीं है। यहाँ काव्य है, जोकि बहुत ही मधुर है, उसमें अमृत जैसा मधुर रस है। इसी को पी कर अपनी प्यास बुझा लो।' तो क्या पानी के प्यासे की प्यास, काव्य-रस से बुझ सकेगी! क्या, वह काव्य का रस पी भी सकेगा? नहीं।[1]

इसीलिए व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में यथार्थवादी आचार्य कहते हैं कि जीवन-व्यापार की समस्याएँ न तो अलंकारों से सुलझ सकती हैं, न साहित्य से और न कविताओं से ही। उन्हें सुलझाने के लिए तो कोई दूसरा ही सही हल खोजना पड़ेगा।

दो-चार दिन का भूखा एक आदमी आपके सामने आता है। वह आपसे चार कौर भोजन पाने की इच्छा रखता है और माँग करता है। आप उससे कहते हैं—'भाई, इस समय धर्म का भोजन तो तैयार है। दो दिन हो गए हैं, तो दो दिन का उपवास और कर लो। अरे, रोटियों में क्या रखा है? अभी खाओगे, अभी फिर भूख लग आएगी। अनादिकाल से खाते आ रहे हो और अनन्त-अनन्त सुमेरु पर्वतों के बराबर रोटियों के ढेर खा चुके हो। फिर भी तुम्हारी भूख नहीं मिटी तो अब चार कौर से क्या मिटने वाली है? छोड़ो, इस पुद्गल की रोटी को। अब धर्म की रोटी ले लो, जिससे इस लोक की भी भूख बुझेगी और परलोक की भी भूख बुझ जाएगी।'

क्या सच्चे धर्म की यही व्याख्या है? यह धर्म का उपदेश है या उसका मजाक? यह एक ऐसा विचार है, जिससे जनता के मन को साधा नहीं जा सकता, बल्कि उसके हृदय में काँटा चुभाया जाता है। क्या मानव-जीवन इस तरह चल सकेगा?

इस प्रकार का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नहीं है। वह जीवन की मूलभूत और ठोस समस्याओं के साथ निष्ठुर उपहास करता है। वह, मर जाने के बाद तो स्वर्ग की बात कहता है, किन्तु जीवित रह कर इस संसार को स्वर्ग बनाने की बात कभी नहीं कहता। मरने के पश्चात् स्वर्ग में पहुँचने पर ६४ मन का मोती मिलने की बात तो कहता है, परन्तु जिन्दा रहने के लिए दो माशा अन्न के दाने पाने की राह नहीं दिखलाता। वह स्वर्ग का ढिंढोरा तो पीट सकता है, किन्तु जिस मृत-प्रायः प्राणी के सामने ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए जीवन की कला नहीं सिखलाता। इस प्रकार का हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे वह कोई भी हो, जनता के काम का नहीं है। आज की दुनिया को ऐसे निस्सार धर्म की आवश्यकता भी नहीं है।

---

१ "बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते,
पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।"

धर्म क्यों ?

आखिर, कोई धर्म यह तो बताए कि मनुष्य को करना क्या है ? क्या धर्म, प्रस्तुत जीवन की राह नहीं बतला सकता ? क्या, मौत का रास्ता दिखलाने के लिए ही धर्म का निर्माण हुआ है ?

उधार का भी अपने आपमें मूल्य तो अवश्य है, परन्तु जिस दुकान में उधार बिक्री का ही व्यापार चलता हो, और नकद बिक्री की बात ही न हो, क्या वह दुकान अपने को स्थिर रख सकेगी ? इसी तरह जो धर्म परलोक के रूप में केवल उधार की ही बात करता है और कहता है कि उपवास करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन और तदनुसार कठोर क्रियाकाण्ड करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! तीर्थ-स्थानों का पर्यटन करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा ! किसी से कलह-संघर्ष आदि नहीं करोगे तो मरने के बाद अमुक राज्य का वैभवस्य फल पा जाओगे। परन्तु जो धर्म यह नहीं बतलाता है कि आप या हम; क्रमशः श्रावक और साधु बन कर जो काम कर रहे है, उनका यहाँ क्या फल मिलेगा ? जो धर्म यह नहीं बता सकता कि वर्तमान कर्त्तव्य का पालन करोगे तो स्वर्ग यहीं पर और इस जीवन में ही उतर आएगा—जिससे तुम्हारा समाज, परिवार और राष्ट्र स्वयं ही स्वर्ग बन जाएगा। फिर उस सारहीन धर्म का साधारण जनता क्या उपयोग करे ?

सचाई तो यह है कि स्वर्ग में वे प्राणी ही जाएँगे, जिन्होंने अपने सत्कर्म और सदाचार के द्वारा यहीं पर स्वर्ग बना लिया है। जो यहाँ पर स्वर्ग नहीं बना पाए हैं और जो यहाँ पर घृणा, **भुखमरी** और हाहाकार का नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें किसी धर्म के द्वारा यदि कभी स्वर्ग मिला भी, तो वह रो-रो कर ही मिलेगा। हँसते-हँसते कभी नहीं मिलने का।

कालिख

धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान में व्याख्याता जो भी धार्मिक विवेचन प्रस्तुत करते हों, जनता उसे केवल सुनने के लिए ही न सुने, अपितु मनन करने के लिए सुने। हो सकता है कि परम्परागत प्रभाव के कारण उनकी बातें अरुचिकर मालूम पड़े, फिर भी उसे उनकी बातों पर चिन्तन-मनन करना ही चाहिए। गम्भीर चिन्तन और मनन के अभाव में कोई धर्म या उसके धर्मानुयायी बदनाम होते हैं। यही बात जैन-धर्म के साथ है। अपने को जैन कहने और समझने वाले आज के जैनों की आचार-विहीनता तथा विवेक-शून्यता के कुपरिणामस्वरूप 'जैन-धर्म' के उज्ज्वल मुँह पर कालिख लग गई है।

परन्तु इस दुरावस्था को देख कर जैनों को अधीर हो कर पतन के प्रवाह में नहीं बहना है, बल्कि तत्त्व-ज्ञानियों से सदुपदेश ग्रहण कर अतीत की भूल का प्रायश्चित्त करना है, और पतन के प्रवाह पर पवित्रता का प्रतिबन्ध लगा कर सदाचार के माध्यम से वर्तमान जीवन का पुनर्निर्माण करना है। ऐसा क्यों ? और किसके लिए ? अपने

निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की अभीष्ट समृद्धि के लिए।

मध्यकाल में जैन-चिन्तन-पद्धति विकृत हो गई थी और उसके कारण जैन-धर्म के उज्ज्वल मुख पर कालिख लग गई है। उसे साफ करने का काम किसी परोक्ष देवी-देवता का नहीं, बल्कि जैनधर्मानुयायियों का है। वे ही उस कालिख को दूर कर सकते हैं। भगवान् महावीर के उज्ज्वल सिद्धान्तों पर काल-दोष से या भ्रान्त-बुद्धि से जो धूल जम गई है, उसे साफ करने का एकमात्र उत्तरदायित्व आज आप जैन कहलाने वाले भक्तों पर आ पड़ा है।

यदि आज भी जैन मतावलम्बी यही सोचते हैं—अजी, क्या है! संसार तो यों ही चलता रहेगा। लोग भूखे मरें तो क्या? खाने को मिले तो खाओ, और यदि नहीं भी मिले तो ज्यों ही खाने के लिए काम किया या अन्न पैदा किया तो कर्मों का बंध हो जाएगा। इस प्रकार खाने-पीने की बातों में आत्मा का कल्याण नहीं होना है। ये सब संसार की कपोलकल्पित बातें हैं, और संसार की बातों से हमारा सम्बन्ध ही क्या है? जो संसार का मार्ग है, वह बंधन का ही मार्ग है, एक प्रकार से नरक का ही रास्ता है।

पेट की समस्या

किन्तु उन्हें यह भी जानना चाहिए कि जीवन में पेट की समस्या ही बहुत बड़ी समस्या है। जब कभी किसी को भूख लगे और भोजन के लिए एक अन्न-कण भी न मिले, तब चिन्तन की गहराई में वह अपनी बुद्धि का गज डाले, उस समय पता लगेगा कि भूखों की क्या शोचनीय अवस्था होती है? उस समय धर्म-कर्म की मरहमपट्टी काम देती है या नहीं? जब मनुष्य भूख की पीड़ा से व्याकुल होता है, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है और मृत्यु का नंगा नाच होने लगता है, उस हालत में समता या दृढ़ता का मरहम लगाने वाला सौ में शायद ही निकले, अन्यथा सभी घायल हो कर सहज में अकाल मृत्यु की भेंट चढ़ जाते हैं। अस्तु, जैन-धर्म कहता है कि जीवन में सबसे बड़ी वेदना भूख की है।

जैनशास्त्रों में जो बाईस परीषह आते हैं, उनमें पहला परीषह क्षुधा का है। शेष ताड़न या वध आदि क्रूर परीषहों का क्रमिक स्थान बहुत दूर है। स्थूल हिंसा के रूप में सोचने का जो ढंग हमें मिला हुआ है या हमने जो ढंग अपना रखा है, उसके अनुसार तो सबसे पहला परीषह वध-परीषह होना चाहिए था। कोई किसी को मार दे या वध कर दे, तो उसके बराबर तो क्षुधा-परीषह नहीं है। फिर भी वध को पहला परीषह न गिन कर भूख को ही पहला परीषह क्यों गिना है?

आज भी हजारों आदमी ऐसे मिलेंगे जो भूख से बुरी तरह छटपटा रहे हैं। वे चाहते हैं कि भूख की ज्वाला में तिल-तिल करके भस्म होने की अपेक्षा यदि उन्हें कत्ल कर दिया जाए तो अधिक अच्छा हो। घुट-घुट कर रोज-रोज मरने, और एक-एक प्राण

छिटका कर नष्ट होने के बजाय एक साथ मर जाना, वे कहीं ज्यादा ठीक समझते हैं। वध और क्षुधा परीषह दोनों में से एक को चुनने को कहा जाए तो वे लोग वध को मंजूर करेंगे। कई लोग रेलों के नीचे कट कर या कूप-तालाब में गिर कर इसीलिए मरते है कि उनसे अपनी स्त्री और बच्चों की भूख की पीड़ा नहीं सही जा सकती। वे भूख की वेदना से छुटकारा पाने के लिए ही मरने की वेदना को सहसा स्वीकार कर लेते हैं। एक महान् आचार्य ने ठीक ही कहा है :—"भूख की पीड़ा के समान कोई पीड़ा नहीं है।"[२]

मरता क्या नहीं करता ?

कोई धनी व्यक्ति इस तथ्य को जल्दी अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी स्थिति दूसरे प्रकार की होती है। जब तक वह सुख और समृद्धि की स्थिति में रहता है तब तक वह दुःख की भयंकर स्थिति का ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु बंगाल और बिहार के दुष्काल में लोग जब भूख से छटपटाते हुए गिरते थे, तो अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे बच्चों को दो-दो रुपये में बेचते हुए नहीं हिचकते थे और दो रोटियों के पीछे स्त्रियां भी अपने सतीत्व को नष्ट कर देती थीं। इस प्रमाण से समझा जा सकता है कि भूख के पीछे दुनिया के भारी से भारी दुष्कृत्य और पाप किए जाते हैं। जब भूख लगती है तो मनुष्य उसकी तृप्ति के लिए क्या नहीं कर गुजरता ? मरता, क्या न करता ? आचार्य ने कहा है :—"दुनिया में वह कौन-सा पाप है, जो भूखा नहीं करता है ?"[३] धोखा वह देता है, ठगी वह करता है, वह सभी कुछ कर सकता है। और तो क्या, माता और बहनें अपनी पवित्रता तक को बेच देती हैं ! किसलिए ? केवल रोटी के लिए।

भूख, वास्तव में एक भयानक राक्षसी है। वह मनुष्य को नृशंस और क्रूर बना देती है। जब वह अपने पूरे जोश में होती है और उसे तृप्त करने के लिये दो रोटी तक नहीं मिल पाती है, तो ऐसी स्थिति में पति और पत्नी तक के सम्बन्ध का भी पता नहीं लगता है। और तो क्या, स्नेहशील माता-पिता भी अपने प्राण-प्यारे बच्चे के हाथ की रोटी छीन कर खा जाते हैं। जब ऐसी स्थिति है तो आचार्य ठीक ही कहते है कि भूखा आदमी सभी पाप कर डालता है।

एक जीवनदर्शी दार्शनिक ने कहा है—"भूख के मारे को कुछ भी नहीं सूझता है।"[४] निरन्तर की भूख ने उसकी ज्ञान-शक्ति को नष्ट कर दिया है।

वह कौन-सी चीज थी, जिसने मेवाड़ के ही नहीं, वरन् समूचे भारत के गौरवस्वरूप महाराणा प्रताप को भी अपनी स्वाधीनता की साधना के पथ से विचलित

---

२ "खुहासमा नत्थि सरीरवेयणा।"

३ "बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?"

४ "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।"

कर दिया था ? अपने बच्चों की भूख को सहन न कर सकने के कारण ही तो वे अकबर से सन्धि कर अपनी प्यारी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता को खो देने के लिए विवश हो गए थे। जब प्रताप जैसे दृढ़-प्रतिज्ञ और कष्टसहिष्णु व्यक्ति भी भूख के प्रकोप से अपने सुदृढ़ संकल्पों से गिरने लगते हैं और ऐसा काम करने के लिए तत्पर हो जाते हैं, जिसकी स्वप्न में भी वे स्वयं कल्पना नहीं कर सकते थे, तो आज के साधारण आदमियों का तो कहना ही क्या है ? आजकल तो एक दिन का उपवास भी दैवी प्रकोप जैसा अनुभव किया जाता है।

यदि हम इन सब बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो पता लगेगा कि भूख वास्तव में कितनी बड़ी वेदना है।

कृषि : भूख की समस्या का हल

गृहस्थजीवन में भूख की समस्या को आसानी से हल करने वाली एक चीज है—कृषि-अर्थात् खेती। कृषि से जो उत्पादन होता है, उसी से बहुत से पापों को, जो भयंकर भूख के दरवाजे से सर्वसाधारण की आत्मा में प्रवेश करते हैं, रोका जा सकता है। उन विभिन्न महापापों को रोकने के लिए अतीत काल में भगवान् ऋषभदेव ने और दूसरों ने कृषि आदि के रूप में अनेक प्रयत्न किये हैं। किन्तु खेद के साथ कहना होगा कि उनमें आप महापाप और महारम्भ की छाया देखते हैं। आप जीवनरक्षा के लिए तो अन्न खाएंगे, किन्तु जिस अन्न पर जन-जीवन निर्भर है, उसके उत्पन्न करने वाले को महापापी कहेंगे। जो अन्न-उत्पादन का कार्य कर रहे हैं, जब उन्हें महारम्भी-महापापी और उसके फलस्वरूप नरकगामी कहा जाता है, तो किसी भी सहृदय का मन तिलमिला उठता है और हृदय टुक-टुक हो जाता है।

हमारे शास्त्र कुछ कहते हैं, हमारी प्राचीन परम्परा कुछ कहती है, किन्तु आज हम दूसरा ही राग अलापते हैं। जैन-संस्कृति समाज को कहीं और ले जाना चाहती है, किन्तु कुछ लोग उसे समझे बिना कहीं अन्यत्र ही भटक रहे हैं। जनहीन मैदान में भटकने वाले यात्री की-सी दुर्दशा आज हमारी हो रही है।

भगवान् ऋषभदेव ने क्या किया था ? क्या उन्होंने अपने समय के लोगों को महापाप और महारम्भ का रास्ता बतलाया था ? कदापि नहीं।

आप कहेंगे कि तब वे भगवान् नहीं बने थे। किन्तु क्या आप यह नहीं जानते कि उन्हें मति, श्रुत और अवधि[५]—ये तीन प्रकार के निर्मल ज्ञान प्राप्त थे। उनका

---

५ इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान 'मति' है। विशिष्ट चिन्तन-मनन एवं शास्त्र से होने वाला ज्ञान 'श्रुत' है। मूर्तिमान् रूपी पुद्गल पदार्थों का सीमा सहित ज्ञान 'अवधि' है। ये तीनों ही ज्ञान सम्यग्दृष्टि विवेकशील आत्माओं को होते हैं तो ज्ञान कहलाते हैं और यदि मिथ्यादृष्टि अविवेकी आत्माओं को होते हैं तो अज्ञान, अर्थात् कुज्ञान हो जाते हैं।

अवधिज्ञान लूला-लँगड़ा या भूला-भटका, अर्थात् विभंगज्ञान नहीं था। वह विशुद्ध ज्ञान था। उस स्थिति में भगवान् ने जो कुछ भी किया, वह सब क्या था ?

करुणा का झरना

प्रागैतिहासिक काल के युगलियों[६] की जनता को खाना तो जरूरी था ही, पर काम नहीं करना था। सर्दी से बचने के लिए कपड़ा या मकान कुछ भी चाहिए, जो आवश्यक ही था, किन्तु वस्त्र या मकान नहीं बनाना था। जीवन तो जीवन की तरह ही बिताना था, परन्तु पुरुषार्थ की आवश्यकता समझ में नहीं आई थी। इसी स्थिति में चलते-चलते युगलिया-जन भगवान् ऋषभदेव के युग में आ गए। इस युग में कल्प-वृक्षों के कम हो जाने से आवश्यकताओं की पूर्ति में गड़बड़ी होने लगी, फलस्वरूप जनता भूख से आकुल हो उठी। पेट में भूख की आग सुलगने लगी और तत्कालीन जनता उसमें भस्म होने लगी। उसे देखकर भगवान् के हृदय में अपार करुणा का झरना बह उठा और उन्होंने जनता की भूख की सुलगती समस्या को शान्त किया। इसी सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है[७] —"भगवान् के कोमल हृदय में अपार करुणा का झरना बहा और उन्होंने देखा कि यह सारी जनता भूख की ज्वाला से पीड़ित हो कर खत्म हो जाएगी, आपस में लड़-लड़ कर मर जायगी, खून की धाराएँ बहने लगेंगी ; तो भगवान् ने उस अकर्मण्यप्रजा को कर्म की और पुरुषार्थ की नव-चेतना दी और अपने हाथ-पैरों से काम लेना सिखलाया। कर्त्तव्यविमूढ़ प्रजा को कर्मभूमि में अवतरित किया और भुखमरी की समस्या को अपने हाथों सुलझाने की सही दिशा दिखलाई। दूसरे शब्दों में कहें तो कृषि-कर्म करना सिखलाया।"

भगवत नहीं, इन्कलाब

अन्न का दाना और तन का कपड़ा—दोनों कृषि से प्राप्त होते हैं। जिन्दगी की प्रमुख आवश्यकताएँ केवल दो ही हैं—अन्न और कपड़ा। जनता के कोलाहल में यही ध्वनि फूटती है कि 'रोटी' और 'कपड़ा' चाहिए। फ्रांस का सम्राट् सुई महलों में आनन्द कर रहा था और हजारों की संख्या में प्रजाजन भूख से छटपटाते नीचे से आवाज लगाते हुए गुजरे कि—"रोटी दो या गद्दी छोड़ो !"

६ जैन-धर्म मानता है कि वर्तमान काल-चक्र की आदि में मानव-जाति वन-सभ्यता में रहती थी, नगर नहीं थे, उद्योग-धन्धे नहीं थे, किसी प्रकार का शासन भी नहीं था। सब लोग वृक्षों के नीचे रहते थे और भिन्न-भिन्न कल्पवृक्षों से ही अपनी भोजन, वस्त्र आदि की आवश्यकताएँ पूरी करते थे। ये लोग शास्त्र की भाषा में यौगलिक यानी युगलिया कहलाते थे।

७ "प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः,
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।" —बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

यह आवाज सुन कर सम्राट् ने पास में बैठे हुए महामन्त्री से पूछा—'क्या जनता ने बगावत कर दी है ?' महामन्त्री ने कहा—'यह बगावत नहीं, क्रान्ति है।' और महामन्त्री के मुँह से निकले हुए 'शब्द' सहसा संसार में फैल गए कि—'भूल से बगावत नहीं, इन्कलाब होता है।'

यथार्थवादी

भगवान् ऋषभदेव उस भूखी जनता को देख कर कोरे आदर्शवाद में नहीं बहे, न उन सब भूखों को उपवास का उपदेश ही दिया, और न साधु बन जाने या संथारा[८] करने की सलाह ही दी। जैसा कि कुछ लोग कहते हैं :—

"बलता जीव बिलबिल बोले, साधु जाय किवाड़ न खोले।"

मकान में आग लग गई है। उसके भीतर मनुष्य और पशु बिलबिला रहे हैं, फलतः दयनीय कुहराम मच रहा है। ऐसे समय में पत्थर के दिल भी मोम की भांति पिघल जाते हैं। किन्तु कुछ महानुभावों का फरमान है कि जलने वाले जीवों को बचाने के लिए उस मकान का दरवाजा नहीं खोलना चाहिए। यदि कोई सांकल खोल देता है तो उसे हिंसा, असत्य आदि पाप लग जाते हैं!

अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त भयङ्कर अग्निकाण्ड के समय यदि कोई साधुजी महाराज वहाँ विराजमान हों तो क्या करें? उत्तर मिलता है कि—"संथारा कराएँ, आमरण उपवास कराएँ और उपदेश दें कि—संथारा ले लो और आगे की राह तलाश करो। यहाँ जीने की राह नहीं है!"

यदि कोई सचमुच मनुष्य है, और उसके पास यदि मनुष्य का दिल और दिमाग है, और वह पागल नहीं हो गया है तो कौन ऐसा है, जो मरते हुए जीवों को बचाने के लिए सांकल नहीं खोल देगा? और कौन यह कह सकेगा कि संथारा ले लो? क्या यह धर्म का मजाक नहीं है? ये ऐसी शोचनीय स्थितियाँ हैं, जिनके लिए प्रत्येक समझदार आदमी यह कहने का साहस जरूर करेगा कि यह आत्मा, समाज, धर्म और साधुपन का दिवाला निकाल देने वाली निराधार एवं मनगढ़न्त मान्यता है।

भगवान् ऋषभदेव इस सिद्धान्त पर नहीं चले कि जो भूखा मर रहा है उससे कहा जाए कि—संथारा कर लो, स्वर्ग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। वहाँ जा कर सुगन्ध लिया करना, उससे तुम्हारी भूख-प्यास की तृप्ति हो जाया करेगी।' उन्होंने इस मार्ग को भूल से भी अंगीकार नहीं किया। वे आचार-विचार से यथार्थवादी थे, और यथार्थवादी होने के नाते उन्होंने सोचा कि जनता को यदि सही रास्ते

---

८ जब शरीर मरणासन्न हो, और जीवनरक्षा के लिए कोई भी सात्विक उपचार कारगर न हो, तो आमरण उपवास करके अपने आपको परमात्म-भाव में लीन कर देना, और प्रसन्नभाव से मृत्यु का वरण करना, जैन-दर्शन में 'संथारा' कहलाता है।

पर नहीं ले जाया गया, तो वह महारम्भ के रास्ते पर चली जाएगी और मांसाहार के पथ पर चल कर और हिंसक हो जाएगी। एक बार यदि वह महा-हिंसा के पथ पर चल पड़ी तो फिर उसे मोड़ना मुश्किल हो जाएगा। अतएव उन्होंने भूख के कारण महारम्भ की ओर जाती हुई भोली-भाली जनता को अल्प-हिंसा की ओर लाने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि भगवान् का सन्देश जहाँ-जहाँ पहुँचा और जिन व्यक्तियों ने उसे अपनाया, वे आर्य बन गए और जहाँ वह सन्देश नहीं पहुँचा या जिन्होंने उस सन्देश को स्वीकार नहीं किया, वे म्लेच्छ हो गए।

अकर्मभूमि से आर्यभूमि

एक दिन सारी भारत-भूमि में अकर्म-भूमि की परम्परा थी और उस परम्परा के लोगों में वैर-भाव नहीं था, घृणा नहीं थी, द्वेष नहीं था। वहाँ के पशु भी ऐसे थे कि किसी को बाधा और पीड़ा नहीं पहुँचाते थे। जहाँ के पशु भी ऐसे सात्विक वृत्ति वाले हों, तो फिर वहाँ के आदमी पशुओं को मार कर क्यों खाने लगे? भगवान् ऋषभदेव ने उसी वृत्ति को कृषि आदि के रूप में कायम रखा और मांसाहार का प्रचलन नहीं होने दिया।

अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ कृषि की परम्परा चली और अन्न का उत्पादन हुआ, वहाँ-वहाँ आर्यत्व बना रहा और महारम्भ न हो कर अल्पारम्भ का प्रचलन हुआ। परन्तु जहाँ कृषि की परम्परा नहीं चली वहाँ लोग भूखे मरते लोग क्या करते? तब आपस में वैर जगा, और क्षुधाजन्य क्रूरता के कारण पशुओं को मार कर खाने की प्रवृत्ति चालू हो गई। तात्पर्य यही है कि—'कृषि' अहिंसा का उज्ज्वल प्रतीक है। जहाँ भी कृषि अग्रसर हुई है, वहाँ के जन-जीवन में उसने अहिंसा के बीज डाले हैं। और जहाँ कृषि है, वहाँ पशुओं की जरूरत भी अनिवार्यतः रहती है, फलतः उनका पालन भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कृषि अहिंसा के पथ का विकास करती रही है। कृषि के द्वारा प्रवाहित होने वाली अहिंसा की धारा मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं की ओर भी बही है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ खेती गई, वहाँ वह अहिंसा के सिद्धान्त को ले कर गई। जहाँ कृषि नहीं गई, वहाँ अहिंसा का सिद्धान्त भी नहीं पहुँचा।

खाएँ क्या?

मेक्सिको के निवासी मछली आदि के शिकार के सिवाय कोई दूसरा काम-धन्धा नहीं कर पाते हैं। कल्पना कीजिए—यदि कोई जैन सज्जन वहाँ पहुँच जाए, तो देखेगा कि लोगों के हाथ रात-दिन खून से किस तरह रंगे रहते हैं, क्योंकि जानवरों का मांस, चमड़ा, चर्बी आदि का उपयोग किए बिना उनके लिए कोई दूसरा साधन ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वह जैन उन्हें जैन-धर्म का कुछ सन्देश देना चाहे, उस हिंसा को रोकना चाहे और यह कहे कि—मछली, हिरन, सुअर वगैरह किसी जीव को मत मारो, तो वे लोग क्या कहेंगे? तब वे उससे पूछेंगे कि—फिर हम खाएँ क्या? और जब यह प्रश्न सामने आएगा, तो वह क्या उत्तर देगा? यदि वह उन्हें अहिंसक बनाना चाहता

है तो क्या उपाय करेगा ? क्या वह उन्हें सदा के लिए आमरण अनशन-संथारे, के रूप में 'वोसिरे-वोसिरे' करा देगा ? यदि नहीं, तो वे भूखे मानव जीवित रह कर क्या करेंगे—क्या खाएँगे ? तब यह प्रश्न कैसे हल होगा ? यदि वह उनके जीवन के लिए कोई समुचित व्यवस्था नहीं करेगा तब तो रागल बन कर ही लौटेगा न ?

हम साधुओं को नाना प्रकार की रुचि और प्रवृत्ति वाले आदमी हर जगह मिलते रहते हैं। कोई वनस्पति-भोजी मिलते हैं तो कभी कोई मांसाहारी भी मिल जाते हैं। जब मांसाहारी मिलते हैं और हम उनसे मांसाहार का त्याग कराना चाहते हैं तो उनसे उनकी अपनी भाषा में यही कहना होता है कि—"प्रकृति की ओर से धान्य का कितना विशाल भण्डार भरा मिला है !" यदि कोई कर्त्तावादी मिलता है तो उससे कहा जाता है कि—"ईश्वर ने फल, फूल आदि कितनी शानदार सुन्दर चीजें अर्पण की हैं ! ये सब चीजें ही इन्सान के खाने की हैं, मांस नहीं।" यह कोई आवश्यक नहीं है कि यही शब्द कहे जाएँ, पर एकमात्र आशय यही रहता है कि उन मांसाहारियों को किसी प्रकार समझाया जाए। साधु-भाषा के नाते यद्यपि हम लोग बहुत कुछ बच कर बोलते हैं, फिर भी घूम-फिर कर आखिर बात तो यही कही जाती है कि—त्रस जीव की हिंसा करना, पशुओं को मारना 'महारम्भ' है और उसके बजाय खेती-बाड़ी से जीवन-निर्वाह करना 'अल्पारम्भ' है।

इस प्रकार समझा-बुझा कर मैंने सैकड़ों आदमियों को मांस खाने का त्याग करवाया है। दूसरे साधु भी इसी प्रकार वैसे भावपूर्ण भाषा बोल कर मांसाहारियों की हिंसा-वृत्ति छुड़वाते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्यों ने भी शास्त्रों में यही कहा है—"जबकि संसार में इतने अधिक निरामिष खाद्य-पदार्थ उपलब्ध हैं और वे सभी इन्सान के खाने की चीजें हैं। फिर भी जो पदार्थ खाने के योग्य नहीं हैं, वे क्यों खाये जाते हैं ?" अभिप्राय यह है कि फल, फूल, धान्य आदि वनस्पति के उपयोग से ही मांस-भक्षण जैसे महापाप को रोका जा सकता है और ये सब खाद्य-पदार्थ कृषि के बिना उपलब्ध नहीं होते।

कृषि की देन

अपने अहिंसात्मक अमूल्य महत्त्व के नाते कृषि कितनी सुन्दर चीज है ! फिर भी अनेक व्यक्ति कृषि को भी महारम्भ कहते हैं, जबकि कृषि 'अहिंसा' का आदर्श ले कर चली है। उसने मानव-जाति को क्रूर वन्यपशु होने से रोका है, वनवासी भील होने से बचाया है और उसमें आदर्श नागरिकता के बीज डाले हैं। उससे मनुष्य की सामाजिक उन्नति हुई है और जहाँ कृषि नहीं फैली, वहाँ के लोग चोर, हिंसक, मांस-भक्षी और नरमांस-भक्षी तक, बन गए हैं।।

उपरिकथित मान्यता के सम्बन्ध में, सम्भव है, प्रगतिवादी कहलाने वाले आज की पीढ़ी के लोग कुछ और कहते हों, किन्तु आपको सूक्ष्मदृष्टि से देखना चाहिए कि जैन-धर्म क्या कहता है ? आप तो श्रेष्ठ बने हैं, उच्च बने हैं, और अन्य मानव बेचारे

भील बन गए हैं, इसका क्या कारण है ? जैन सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा ने आपको उच्च और उन्हें नीच नहीं बनाया है ; बल्कि जिनको जीविका के साधन अच्छे मिल गये, वे 'आर्य' बन गए और श्रेष्ठ कहलाने लगे ; किन्तु जिन्हें अच्छे साधन नहीं मिले, वे म्लेच्छ बन गए । कर्म-भूमि से पहले अकर्म-भूमि पर निवास करने वाले युगलियों में 'आर्य' और 'म्लेच्छ' का मूलतः कोई वर्ग-भेद नहीं था ।

भगवान् ऋषभदेव ने तत्कालीन अभावग्रस्त यौगलिक जनता को 'महारंभ' से 'अल्पारम्भ' की ओर मोड़ा, 'महा-संघर्ष' से 'अल्प-संघर्ष' की दिशा दी, और उनके दिलों में दया की पावनगंगा प्रवाहित की ।

मांसाहार के बाद शाकाहार का प्रारम्भ अहिंसा के लिए

जैन-शास्त्रों में प्रस्तुत पंचम काल के बाद आगे आने वाले आंशिक प्रलयरूप छठे आरक का वर्णन है कि उसके आरम्भ में सब वनस्पति एवं वृक्ष आदि समाप्त हो जाएँगे । उस समय के मनुष्य भाग कर गुफाओं में चले जाएँगे और वहाँ अतिदयनीय स्थिति में जीवनयापन करेंगे । भोजन के लिए कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल, अन्न कुछ भी प्राप्त न होगा ; अतः मत्स्यमांस के आहार पर ही जीवन-निर्वाह करना होगा । धर्माचरण के रूप में कुछ भी शेष न रहेगा। एक प्रकार से वन्यपशुओं की भाँति मानव-जाति की स्थिति हो जाएगी । वर्तमानकाल-चक्र के अनन्तर जब उत्सर्पिणी काल का भी पहला आरक इसी दुःखपूर्ण अवस्था में गुजर जाएगा और दूसरे आरक का आरम्भ होगा तब मेघ बरसेंगे, निरन्तर जल-वृष्टि होगी । लोहे के उत्तप्त गोले के समान गरम होने वाली पृथ्वी शान्त हो जाएगी और फिर सारी वसुन्धरा वनस्पति-जगत् से हरी-भरी हो जाएगी उस समय गुफाओं में रहने वाले मानव बाहर निकलेंगे । मांसाहार के कारण जिनके शरीर में कुष्ट और खुजली आदि अनेक बीमारियाँ हो चुकी होंगी, वे जब बाहर निकल कर स्वच्छ एवं शीतल हवा में विचरण करेंगे, वनस्पति का शुद्ध आहार करेंगे और इससे जब उनके शरीर में ताजगी आएगी तो सारी बीमारियाँ स्वतः दूर हो जायेंगी । तब वे सब लोग जैसा कि भगवान् महावीर का कथन है, जनसमुदाय को एकत्र करेंगे और यह कहेंगे कि—'देखो, हमारे लिए प्रकृति की महती कृपा हो गयी है और अत्यन्त सुन्दर एवं रुचिकर फल, फूल तथा वनस्पतियाँ पैदा हो गई हैं । आज से हम सब प्रण करें कि कभी कोई मांस नहीं खायेंगे और यदि कोई मांस खाएगा तो हम अपने पर उसकी अपवित्र छाया का कभी स्पर्श नहीं होने देंगे ।'[८]

अब समझा जा सकता है कि वनस्पति के अभाव में क्या हुआ । महारम्भ ने क्यों जन्म लिया ? उन वृक्षों, फलों, वनस्पतियों और खेती-बाड़ी के रूप में जो सात्विक पदार्थ प्रकट हुए उनसे क्या हुआ ? स्पष्ट है कि उनसे एक आदर्श कार्य का प्रतिपादन हुआ कि जो मांसाहार जनता में चल रहा था, वह बन्द हो गया । यह प्रसंग जैन

८ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—दूसरा वक्षस्कार

परम्परा में सर्वसम्मत है। और आगम के मूल पाठ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

इस प्रकार देखा जाता है कि खेती-बाड़ी इधर (कर्म-भूमि के प्रारम्भ में) भी महारम्भ से बचाती है और जब उत्सर्पिणी का काल-चक्र शुरू होता है, तब भी वही महारम्भ से बचाती है। पत्र, पुष्प, फल और अन्न आदि वनस्पतियाँ आखिर किसके प्रतीक हैं! वे अल्पारम्भ के उज्ज्वल प्रतीक हैं और महारम्भ को रोकने के प्रामाणिक चिह्न हैं।

इस तरह दोनों ही काल-चक्रों में जब वनस्पतियाँ पैदा हो जाती हैं और खेती विकसित होती है तो मानव-समाज महाहिंसा से बच जाता है।

जब ऐसा महान् आदर्श प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में प्रतिपादित हुआ करता है, तो क्या ऐसा कहा जा सकता है कि जैन-धर्म फल एवं अन्न के उत्पादन को महारम्भ कहता है? क्या भगवान् ऋषभदेव ने जनता को महारम्भ का कार्य सिखाया था? वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। यह कोई आवेश अथवा एकान्तभाव से प्रभावित विचार नहीं है, अपितु हमारा जो चिंतन है और शास्त्रों को गहराई से अध्ययन करने के बाद हमारी जो सुनिश्चित धारणाएँ बनी हैं, उन्हीं को प्रस्तुत करने की कोशिश है।

जैन-धर्म इतना आदर्शवादी तथा यथार्थवादी धर्म है कि उसने अन्तरंग की बातों को भलीभाँति समझा और तदनुसार कहा है कि यदि किसी क्षुधार्त को अन्न का एक कण दे दिया तो मानो, उसे प्राणों का दान दे दिया।[९]

अन्न-पुण्य

स्थानांग आदि शास्त्रों में नौ प्रकार के विभिन्न पुण्यों के वर्णन हैं! उनमें भी सबसे पहले 'अन्न-पुण्य' बतलाया गया है और नमस्कार-पुण्य को सबसे आखिर में डाल दिया गया है; क्योंकि जब पहले अन्न पेट में पड़े, तो पीछे नमस्कार करने की सूझे। जब पेट में अन्न ही नहीं होता और उसके लिए हृदय तड़पता रहता है, तो कौन किसको नमस्कार करता है?

अतः पुण्य-साधना के द्वार पर सबसे पहले अन्न-पुण्य ही खड़ा है, और दूसरे सब पुण्य उसके पीछे चले आ रहे हैं। अतः अन्न के उत्पादन को भी महारम्भ और नरक का मार्ग बताना, बुद्धि का विकार नहीं तो और क्या है!

वैदिक-धर्म के उपनिषद् कहते हैं—'अन्न प्राण है।'[१०] इस सम्बन्ध में सुविख्यात संत नरसी मेहता ने भी कहा है—'गोपाल, अब भूखे से भजन नहीं होगा! लो, यह अपनी कंठी और यह लो अपनी माला; अब तो रोटी की माला जपूँगा और सबसे पहले उसी के लिए प्रयत्न करूँगा।'[११]

---

९ 'अन्नदानं महादानम्'

१० अन्नं वै प्राणाः'

११ "भूखे भजन न होहि गोपाला, यह लो अपनी कंठी माला।"

कोई भूखा रह कर यदि माला पकड़ेगा भी, तो कब तक पकड़े रहेगा ! भूख के प्रकोप से वह तो हाथ से छूट कर ही रहेगी ।

इस प्रकार वैदिक-धर्म 'अन्न को प्राण' कहता है और जैन-धर्म अन्न के दान को 'सबसे बड़ा दान'—सर्वप्रथम दान मानता है और भूख के परीषह की पूर्ति को पहला स्थान बतलाता है । इस तरह से एक-से-एक कड़ियाँ जुड़ी हुई हैं । इस अन्न की प्राप्ति कृषि से ही होती है, और इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने युग की आदि में जनता को कृषि-कर्म सिखाया और बताया । जैन-शास्त्रों में कहीं भी साधारण गृहस्थ के लिए कृषि को त्याज्य नहीं कहा गया है ।

कृषि-कर्म को महारम्भ बतलाने वाले भी एक दलील पेश करते हैं । किन्तु वह दलील अपने आप में कुछ नहीं, केवल दो शब्द हैं—'फोडी-कम्मे', जो पन्द्रह कर्मादानों में से एक है । इस दलील को जब मैं सुनता हूँ तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता : 'फोडी-कम्मे' का वास्तव में क्या अर्थ था और क्या समझ लिया गया है ।

यह चुनौती देकर कहा जा सकता है कि 'फोडी-कम्मे' का अर्थ खेती नहीं है । उसका अर्थ कुछ और है, और उस पर गम्भीरता से हर समझदार व्यक्ति को विचार करना चाहिए । गम्भीर चिन्तन करने पर इसका अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जाएगा ।

कृषि महारम्भ नहीं

समग्र प्रमाणभूत जैन-साहित्य में कहीं एक शब्द भी ऐसा नहीं है कि जहां कृषि को महारम्भ बतलाया गया हो । पन्द्रह-पन्द्रह सौ वर्षों के पुराने आचार्य हमारे सामने हैं । उन्होंने 'फोडी-कम्मे' का ऐसा सारहीन अर्थ कहीं नहीं लिखा, जैसा कि आप समझते हैं । यह भ्रामक अर्थ कुछ दिनों से चल पड़ा है, जिसे धक्का दे कर निकालना होगा और उसके सही अर्थ की पुनः प्रतिष्ठा करनी होगी । जो गलत धारणाएँ आज दिन प्रचलित हैं, उन्होंने हमें न इधर का रखा है न उधर का रहने दिया है ।

पन्द्रह कर्मादानों में 'रसवाणिज्जे' भी आता है । जिसका अर्थ समझ लिया गया है—घी और दूध का व्यापार करना, जिससे करने पर महारंभ होता है । ऐसा समझने वाले शराब के व्यापार को त्यागना तो भूल जाते हैं, लेकिन घी, दूध के व्यवसाय का बहिष्कार उन्हें याद रहता है ।

कुछ लोगों ने 'असईजण-पोसणिया कम्मे' का अर्थ कर दिया है—'असंयती' अर्थात्—"असंयमी जनों की रक्षा करना महारंभ है ।" किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—"वेश्याओं या दुराचारिणी स्त्रियों के द्वारा अनैतिक व्यापार करके आजीविका उपार्जन करना ।" परन्तु उन लोगों ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा—किसी गरीब को, भूखे कुत्ते को, और यहाँ तक कि अपने माता-पिता को भी रोटी देना महान् पाप एवं अनाचार है । क्योंकि वे भी असंयमी ही ठहरे । इस तरह इसे भी पन्द्रह कर्मादानों में शामिल कर दिया है ।

लेकिन, इन सब सारहीन अर्थों को और भ्रामक धारणाओं को तो बहिष्कृत

करना ही चाहिए। जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे, तब तक जैन-धर्म को न तो स्वयं ही सही रूप में समझ सकेंगे, और न दूसरों को ही समझा सकेंगे।

एक प्रश्न

जीवन-निर्वाह के लिए व्यवसाय के रूप में मनुष्य जब प्रश्न करता है तो वह चाहे जितनी यतना करे, फिर भी हिंसा तो होती है। हिंसा केवल इसीलिए अहिंसा नहीं बन जाती कि वह जीवन के लिए अनिवार्य है, गृहस्थ श्रावक के लिए हिंसा अहिंसा की एक मर्यादा है। यहाँ हमें यही देखना है कि कौन-सी हिंसा अपरिहार्य है? कौन-सी हिंसा श्रावक की मर्यादा में है और कौन-सी हिंसा ऐसी है, जो श्रावक को अनिवार्य रूप से त्याग देना ही सर्वथा वांछनीय है?

श्रावक की भूमिका

आखिर जीवन में यह विचार करना आवश्यक है कि कौन-सी मर्यादा का पालन करते हुए श्रावक, श्रावक की भूमिका में रह सकता है? यदि वह जीवन-व्यापार चला रहा है, तो उसे ध्यान रखना चाहिए कि उसमें कहाँ तक न्याय और मर्यादा रहती है, कहाँ तक औचित्य की रक्षा हो रही है?

पन्द्रह कर्मादान संकल्पजा हिंसा में ही नहीं, औद्योगिक हिंसा में ही है, परन्तु जो औद्योगिक हिंसा, मानव को संकल्पजा हिंसा की ओर प्रेरित करती हो, वह कहाँ तक मर्यादानुकूल है? वह श्रावक की भूमिका में यथावसर करने योग्य है या नहीं? इस प्रश्न पर विचार करना अतीव आवश्यक है।

शास्त्रकारों ने इस विषय पर गहरा चिन्तन और मनन किया है। तीर्थंकरों तथा आचार्यों ने जनता की मर्यादा को ध्यान में रख कर जो प्रवचन किया है, वह आज भी समाज के लिए पथ-प्रदर्शक के रूप में प्रकाश-स्तम्भ है।

सच बात तो यह है कि हम आज के प्रगतिवादी युग वैज्ञानिक युग में भी अंधे जैसे है। अंधा जब चलता है तो कहीं भी ठोकर खा कर गिर सकता है। गड्ढे में गिर सकता है, पानी में डूब सकता है और दीवार से भी टकरा सकता है, किन्तु यदि उसके हाथ में लाठी दे दी जाती है तो समझना चाहिए कि यह बहुत बड़ा पुण्य और परोपकार का काम हुआ। उस लाठी के सहारे वह मार्ग को टटोल कर चलता है और उसे गड्ढे का, दीवार का और पानी का पता सहज ही लग जाता है। जब दीवार आएगी तो पहले लाठी टकराएगी और वह बच जाएगा।

अवलम्बन

इस प्रकार जो बात अंधे के विषय में सोची जाती है, वही बात अन्य लोगों के विषय में भी है। वस्तुतः धर्मशास्त्र अन्य लोगों की लाठी है। जैसे अंधा आँखों नहीं देख सकता और लाठी के द्वारा ही वह देख सकता है, उसी प्रकार अन्य लोग भी केवल अपनी बुद्धि से सीधे नहीं देख सकते, शास्त्रों से सदुपदेश द्वारा ही अपना मार्ग देखते हैं।

जिस प्रकार लाठी अंधे का अवलम्बन है, उसी प्रकार धर्मशास्त्र हमारा अवलम्बन है। अतएव हम जो कुछ भी कहें और समझें, वह शास्त्र के आधार पर और शास्त्र की मर्यादा के अन्तर्गत ही होना चाहिए। जहाँ शास्त्र स्वयं किसी स्पष्टमार्ग का निर्देश न करता हो, वहाँ उसके प्रकाश में अपने विशुद्ध विवेक का, अपनी नैसर्गिक बुद्धि का उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु इस उपयोग में हमारी विचार-परम्परा शास्त्रों से सर्वथा अलग न होने पाए। व्यक्तिगत विचारों का शास्त्रों के समक्ष कोई मूल्य नहीं है। अतएव शास्त्र हमें जो प्रकाश दे रहे हैं, उसी प्रकाश में हमें देखना है कि जीवन-व्यवहार में कहाँ महा-हिंसा है और कहाँ अल्प-हिंसा है? हमारी कौन-सी प्रवृत्ति महारंभ में परिगणित होने योग्य है और कौन-सी प्रवृत्ति अल्पारंभ में गिनी जा सकती है?

शास्त्रों में महारम्भ को नरक का द्वार बतलाया है। अस्तु, श्रावक को यह सोचना पड़ेगा कि जो कार्य मैं कर रहा हूँ, क्या वह महारंभ है, शास्त्रों की मान्यता में नरक का द्वार है, अथवा अल्पारम्भ है और नरक से अलग करने वाला है?

हिंसा अनिवार्य

जीवन में हिंसा तो अनिवार्य है। इससे पूरी तरह बचा नहीं जा सकता। यदि इस सत्य को कोई अस्वीकार करता है तो उसका कोई तर्क माना नहीं जा सकता। जीवन-संघर्ष में खेती आदि जो व्यापार चल रहे हैं उनमें हिंसा नहीं है, ऐसा कहने वाले की बात ज्ञान-शून्यता का प्रमाण है। जब शास्त्र जीवन-व्यवहार में हिंसा के अस्तित्व को स्वीकार करता है तो एक व्यक्ति का यह कथन कि—"जीवन-व्यवहार हिंसा से शून्य है," क्या महत्त्व रखता है? ऐसी स्थिति में केवल यही देखना चाहिए कि उस कार्य में हिंसा और अहिंसा का कितना अंश है? और क्या वह कार्य महारम्भ है, नरक का कारण है, अथवा अल्पारम्भ है, स्वर्ग की सीढ़ी है?

सत्य की उपलब्धि

विचारों में भेद होना स्वाभाविक है। परन्तु जब विचार का आधार शास्त्र है और शास्त्र भी एक ही है और किसी ओर से दुराग्रह भी नहीं है, तो यह भी आशा रखनी चाहिए कि एक दिन प्रस्तुत विचार-भेद भी समाप्त हो कर रहेगा। परन्तु जब तक विचार-भेद समाप्त नहीं हो जाता, तब तक प्रत्येक विचारक को समभाव से, सहिष्णुतापूर्वक चिन्तन-मनन करते रहना चाहिए। विचार-विभिन्नता को अधिक महत्त्व देने से झगड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे सत्य को उपलब्ध करने का मार्ग रुक जाता है। किसी ने यदि कोई बात कही और वह बिना सोचे-समझे ही मान ली गई तो उसका भी कोई महत्त्व नहीं है। जो बात विचारपूर्वक और चिन्तनपूर्वक स्वीकार की गई है, या इन्कार की गई है, वही महत्त्व रखती है। परन्तु आग्रह के रूप में स्वीकार या अस्वीकार करने में कोई कीमत नहीं है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि

विवेकपूर्वक, सत्य के प्रति दृढ़ आस्था रख कर, चिंतन-मनन किया जाए और उसके बाद किसी बात को स्वीकार या अस्वीकार किया जाए।

जैन-धर्म मनुष्य के विचारों को बलात् धक्का देने के लिए, या कुचल देने के लिए नहीं है। वह तो व्यक्ति के विचारों को सत्य-मार्ग की ओर मोड़ देने के लिए है। जो विचार प्रवाह आज गलत दिशा में बह रहा है, उसे चिंतन और मनन के द्वारा सही दिशा की ओर घुमा देना ही, जैन-धर्म का काम है। विचारों को सही मोड़ देने के लिए प्रायः संघर्ष करना पड़ता है। इसीलिए जब कभी विचार-संघर्ष होता है तो वह आनन्द का विषय बन जाता है। विचार-वीणा के तार सत्य का वादन करने के लिए स्वतः झनकार उठते हैं। जो 'व्याख्यान' सुनने के बाद वायु में विलीन हो जाए और जिस प्रवचन से विचारों में नई हलचल और कम्पन पैदा न हो, वह किस काम का? कुछ हलचल अवश्य होनी चाहिए, कुछ उथल-पुथल होनी ही चाहिए, कुछ विचार संघर्ष भी होना चाहिए। तभी तो मानस-तल में बद्धमूल भ्रांत संस्कारों की जड़ हिलती है, तभी वे ढीले पड़ते हैं और अन्ततः उखड़ कर नष्ट भी हो सकते हैं। किन्तु वह हलचल, उथल-पुथल और संघर्ष विचारों तक ही सीमित रहना चाहिए। उसमें प्रतिपक्ष के प्रति द्वेष अणुमात्र भी न होना चाहिए। विचार संघर्ष ने यदि झगड़े का रूप धारण कर लेता है तो परिणाम अशुभ एवं अवांछनीय होता है।

सत्य की उपलब्धि करना ही जिसका लक्ष्य है और जो सत्य के लिए समर्पित है, वह झगड़े की स्थिति उत्पन्न नहीं होने देता। वह जानता है कि विचारों के संघर्ष से ही सत्य का मक्खन प्राप्त हो सकता है। परन्तु उस संघर्ष ने यदि द्वेषपूर्ण प्रतिद्वन्द्व का रूप ग्रहण कर लिया तो मक्खन के बदले विष ही हाथ लगेगा। अतएव सत्य का अन्वेषक जब विचार-संघर्ष का आरम्भ करता है, तब भी प्रसन्नमुद्रा में रहता है और जब संघर्ष का अन्त करता है, तब भी उसके द्विगुणित प्रसन्नमुद्रा में दिखाई देता है। निर्दोष विचार-संघर्ष का यही स्वच्छ स्वरूप है।

नये-नये प्रश्न

कोई व्यक्ति इसी मार्ग पर चलता है तो निस्संदेह सत्य की उपलब्धि होगी। वास्तव में बुद्धि पूर्व धारणाओं में आबद्ध होने के कारण सीमित हो जाती है। इसलिए किसी विषय पर विचार करते-करते वह थक जाती है और ऐसा लगने लगता है कि बस, विचार हो चुका। किंतु विचारों का मार्ग तो असीम है। नित्य नये-नये प्रश्न सामने आते हैं और उन पर विचार करना आवश्यक है।

विचारों की उलझन बड़ी जटिल है। विचार जब उलझ जाते हैं तो उन्हें सुलझाने में वर्षों लग जाते हैं। कभी-कभी सदियाँ गुजर जाती हैं। आखिर एक दिन वे सुलझ ही जाते हैं, किंतु वे विवेक एवं विचार के द्वारा सुलझते हैं। चाहे समय कितना ही लगे, हमें उनको सुलझाने का ही ध्येय सामने रखना चाहिए और धैर्य के साथ शान्त मन से सुलझाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। सम्भव है, कहीं प्रस्तुत

विचारों में भ्रम मालूम दे। किंतु भ्रम की स्थिति में तटस्थभाव से सोच-विचार करना अच्छा होता है। चिंतन-मनन के द्वारा विभिन्न विचार वाले जल्दी ही यदि एक सुनिश्चित राह पर आ जाते हैं तो दोनों ही पक्षों को खुशी होती है; यदि नहीं आते हैं तो उन्हें चिंता करने के बजाय फिर से सोचना चाहिए, मिलना चाहिए, बातें करनी चाहिए, और विचार करते-करते अन्ततः एक लक्ष्य को पा जाते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति रखकर निष्पक्ष और निष्कषाय होकर वस्तु-स्वरूप का चिंतन करने में अपूर्व रस मिलता है।

प्याज की खेती

कृषि के सम्बन्ध में एक प्रश्न मेरे पास आया है कि—प्याज (कांदे) की खेती करना अल्पारम्भ है या महारम्भ? यह प्रश्न साधारण खेती के सम्बन्ध में नहीं, प्याज की खेती के सम्बन्ध में है। कारण, सामान्य खेती सम्बन्धी प्रश्न प्रायः सुलझ चुके हैं। अनाज की खेती अल्पारंभ है या महारंभ? उसका निर्णय हो चुका है। पिछले प्रकरणों में अन्न की खेती के विषय में शास्त्रों के अनेक पाठ उपस्थित किए गए हैं और विभिन्न आचार्यों की प्राचीन परम्पराएँ भी सामने रखी गई हैं। आचार्य समन्तभद्र, हरिभद्र और हेमचन्द्र आदि के प्रामाणिक कथन भी किए जा चुके हैं। अतएव यह समझ लेना चाहिए कि अन्न की खेती के सम्बन्ध में विचार स्पष्ट हो चुका है। "वह महारंभ या अनार्यकर्म है," यह गलतफहमी पूर्णतः दूर हो चुकी है।

भगवती-सूत्र, स्थानाङ्ग-सूत्र और उवाई-सूत्र में नरक-गति के चार कारण बतलाये गये हैं। उनमें पहला कारण महारंभ है। 'नरक-गति का कारण महारंभ है, उसी को लक्ष्य में रख कर सवाल किया गया है या और किसी दूसरे अभिप्राय से है? स्मरण रखने की चीज यह है कि जहाँ महारंभ या अनार्य-कर्म आता है वहाँ नरक की राह भी ध्यान में आती है। कारण शास्त्रों में महारंभ का सम्बन्ध नरक के साथ जोड़ा गया है। अनेक स्थलों पर शास्त्रों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं। ऐसी स्थिति में प्याज की अथवा गाजर-मूली आदि की खेती को कोई महारंभ मानते हैं, तो उसे नरक गति का कारण भी मानना होगा।

कदाचित् यह कहा जाए कि प्याज की खेती को महारंभ तो मान लें, किंतु नरकगति का कारण न मानें, किंतु ऐसा अन्तर नहीं हो सकता। शास्त्र कहते हैं कि जो महारंभ है, वह नरक-गति का कारण बने बिना नहीं रह सकता। महारंभ भी हो और नरक-गति का कारण न हो, ऐसा कोई असंगत समझौता नहीं हो सकता। फिर आलू आदि जमीकन्दों की खेती क्या नरक-गति का कारण है? उत्तर होगा—'क्यों नहीं? जमीकंद में अनन्त जीव जो ठहरे!'

भूखा मानव और आलू

यदि एक आदमी भूख से तड़प रहा है और उसके प्राण निकल रहे हैं। वहाँ दूसरा आदमी आ पहुँचता है। उसके पास आलू, गाजर आदि कंदमूल है और वह दया

से प्रेरित हो कर उसे भूखे को खाने के लिए दे देता है। भूखा आदमी उसे खाता है और उसके प्राण बच जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि उस कंदमूल देने वाले को एकान्त पाप होता है, या कुछ पुण्य भी होता है? इस प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है?

कुछ व्यक्तियों ने तो यह निर्णय कर रखा है कि दया से प्रेरित हो कर भूखे के प्राण बचाने में भी एकान्त पाप होता है। उनकी धर्म-पुस्तकों ने और आचार्यों की वाणी ने एकान्त पाप का फतवा दे रखा है। क्योंकि एक ओर एक जीव है और दूसरी ओर एक आलू में नहीं, उसके एक टुकड़े में भी नहीं, सुई के अग्रभाग पर समा जाने वाले जरा से आलू के कण में भी अनन्तजीव होते हैं और जब वह खाने के लिए दे दिया जाता है तो उन सभी की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार एक जीव को बचाने के लिए अनन्त जीवों की हिंसा की गई है। उनके विचार से अनन्त जीवों की हिंसा तो पाप है ही, साथ ही उनकी हिंसा करके एक आदमी को बचा लेना भी पाप ही है और बचाने वाले की दया-भावना भी पाप है। इस प्रकार उस भूख से मरते को बचा लेना भी पाप ही है। परन्तु अन्य लोगों का विचार क्या हो सकता है? मनुष्य के प्राणों की रक्षा करना तो वे पाप नहीं मानते। अब रही बात दया करने की जो पुनीत भावना हृदय में उत्पन्न होती है उसे भी पाप नहीं मानते। ऐसी स्थिति में वे उस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं? उनके सामने यह एक विकट प्रश्न है, जिसका उन्हें ही निर्णय करना है।

संख्या नहीं, भावों को नापिए

संभव है, इस प्रश्न का उत्तर देने में टालमटोल हो। अतः दूसरे ढंग से यों देखा जा सकता है। मान लें, एक प्यासा आदमी प्यास से मर रहा है और किसी उदारमना ने उसे पानी पिला दिया। पानी की एक बूंद में असंख्य जीव हैं, अस्तु, एक गिलास पानी पिला दिया तो क्या हुआ! एकान्त पाप हुआ या कुछ पुण्य भी हुआ पानी पिलाने से बचा तो केवल एक व्यक्ति, और मरे असंख्य जीव। इस प्रश्न का उत्तर संभवतः इस प्रकार दिया जा सकता है—यद्यपि पानी पिलाने से पाप हुआ है किन्तु पुण्य भी हुआ है। और वह पुण्य-पाप की अपेक्षा अधिक है। ठीक है, जो तथ्य हो उसे स्वीकार कर लेना ही बुद्धिमत्ता है, इस निर्णय से यह फलित हुआ कि जीवों की संख्या के आधार पर पुण्य-पाप का निर्णय नहीं हो सकता। संख्या अपने में सही कसौटी नहीं है। इस कसौटी को पानी पिलाने में एकान्त पाप न मानकर अस्वीकार कर दिया गया है। पुण्य-पाप को परखने के लिए दूसरी कसौटी जो अपनायी गई है, वह है कर्त्तव्य की भावना।

वस्तुतः असंख्य एक बहुत बड़ी संख्या है। असंख्य के अन्तिम अंश में यदि एक और जोड़ दिया जाए तो वह संख्या अनन्त हो जाती है। तो जहाँ बहुत असंख्य जीव हैं, वहाँ अनन्त के लगभग जीव हो जाएँगे। और जहाँ पानी है, वहाँ वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रस आदि इसी प्रकार के जीव भी होते हैं। इस दृष्टि से जीवों की संख्या में भी अत्यधिक वृद्धि हो जाती है।

एक गिलास पानी पिलाने से अनन्त के लगभग जीव मरे और बचा सिर्फ एक मनुष्य ही। फिर भी भावना की प्रधानता के कारण पानी पिलाने वाले को पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हुआ। जो जीव मरे हैं, वे मारने की हिंसक भावना से नहीं मारे गए हैं। पानी पिलाने वाले की भावना यह कदापि नहीं होती कि पानी के ये जीव मर नहीं रहे हैं, अतः यदि कोई अतिथि आ जाए तो उसे पानी पिला कर इन्हें मार डालूं। उसकी एकमात्र भावना तो पंचेन्द्रिय जीव को मरने से बचाने की है।

उत्तरोत्तर वृद्धि

इस सम्बन्ध में सिद्धान्त भी यह स्पष्टीकरण करता है कि एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव को मारने से असंख्य गुना अधिक पाप बढ़ जाता है। और इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को मारने में असंख्य गुना पाप अधिक होता है।

जब तक इस दृष्टि-बिन्दु पर ध्यान रखा जाएगा, तब तक भगवान् महावीर की अहिंसा और दया ध्यान में रहेगी। यदि इस दृष्टिकोण से कोई विचलित हो जाता है तो वह अहिंसा और दया से भी विचलित हो जाएगा। फिर उसे या तो कोई और दृष्टि पकड़नी पड़ेगी, या हस्ति-तापसों की दृष्टि अंगीकार करनी पड़ेगी। हस्ति-तापसों के सम्बन्ध में सामान्यतः उल्लेख अन्य प्रवचनों में किया जा चुका है। उनका मन्तव्य है कि अनाज के प्रत्येक दाने में जब एक-एक जीव मौजूद है, तो बहुत-से दाने खाने से बहुत जीवों की हिंसा होती है। उससे बचने के लिए हाथी जैसे एक स्थूलकाय जीव को मार लेना अधिक उपयुक्त है कि जिससे एक ही जीव की हिंसा से बहुत से व्यक्तियों का, या बहुत दिनों तक एक व्यक्ति का निर्वाह हो सके।[१२]

भगवान् महावीर ने इस दृष्टिकोण का डट कर विरोध किया था। कारण यह है कि पाप का सम्बन्ध जीवों की गिनती के साथ नहीं, कर्तव्य की भावना के साथ है। पंचेन्द्रिय जीव का घात करने में अत्यधिक निर्दयता और क्रूरता होती है। एक गिलास पानी में जीवों की संख्या भले ही असंख्य हो, फिर भी पानी को पीने वाले और पिलाने वाले में वैसी निर्दय और क्रूर भावना नहीं होती। क्योंकि पानी पीने वाले और पिलाने वाले, दोनों का लक्ष्यबिन्दु 'रक्षा' है। जो लक्ष्य-बिन्दु 'रक्षा' का पवित्र प्रतीक है, वहाँ दया की विद्यमानता सुनिश्चित है, और जो कार्य-विशेष 'रक्षा' और 'दया' की सीमाओं के अन्तर्गत है, वह अहिंसा है।

जिस प्रकार अन्न की हिंसा की अपेक्षा प्याज की या अन्य अनन्तकाय की हिंसा बड़ी है, उसी प्रकार अन्न की खेती की अपेक्षा इस खेती में ज्यादा पाप है। फिर भी वह महारम्भ नहीं है, क्योंकि संहार करने के लक्ष्य से, हिंसा के संकल्प से, या क्रूर

---

१२ हस्थितावसंत्ति-ये हस्तिनं मारयित्वा तेनैव बहुकालं भोजनतो यापयन्ति।
—औपपातिक सूत्र टीका

भावना से, जिस उद्योग में त्रस जीवों का हनन किया जाता है, वही महारंभ की भूमिका में आता है।

अन्न की समस्या

जिस देश में अन्न की काफी जरूरत है, जिसे आधे से अधिक अन्न सुदूर विदेशों से मंगाना पड़ता है, जिस देश के लिए अमेरिका और आस्ट्रेलिया से रोटियाँ आती हैं और उसके बदले में करोड़ों-अरबों की गाढ़ी कमाई की सम्पत्ति बाहर चली जाती है, और उस सम्पत्ति के बदले में सत्त्वहीन, सड़ा-गला एवं निकम्मा अनाज मिलता है। जिसको खा कर लोग तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हो रहे हैं और उसके भी अभाव में लाखों आदमी मर गए और आज भी मर रहे हैं, उस देश में प्याज की खेती का प्रश्न पहले विचारणीय नहीं है। वहाँ तो पहले अन्न की समस्या है और उसी के समुचित समाधान के लिए सर्वप्रथम विचार करना होगा।

मान लो, कुछ लोगों के खेतों में अन्न नहीं उपजता। ऐसे लोगों में से एक अपने खेत में आलू बो रहा है और दूसरा तम्बाकू बो रहा है, तो तम्बाकू बोने में ज्यादा हिंसा है, क्योंकि तम्बाकू व्यसन की वस्तु है, जीवन-निर्वाह की वस्तु नहीं है। तम्बाकू जहर पैदा करता है और स्वास्थ्य को नष्ट करने वाला मादक पदार्थ है और उसे पैदा करने वाला केवल अपने स्वार्थ की भावना से ही पैदा करता है। उससे किसी प्रकार के परोपकार की आशा नहीं है, किसी के जीवन-निर्वाह की सम्भावना नहीं है। भूख से मरने वाले को तम्बाकू खिला कर जीवित नहीं रखा जा सकता। तम्बाकू खाने से मृत्यु दूर नहीं होती, बल्कि निकट ही आती है।

अपेक्षाकृत

आलू या प्याज को व्यसन की वस्तु नहीं बताया गया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आलू और प्याज की खेती में आरम्भ नहीं है। आरम्भ तो अवश्य है और अन्न की अपेक्षा विशेष आरंभ है; फिर भी वह महारंभ की भूमिका में नहीं है; अर्थात्—वह नरक-गमन का हेतु नहीं है।

एक आदमी के खेत में आलू ही उत्पन्न होते हैं और वह सोचता है कि लोगों को खुराक नहीं मिल रही है, तो मैं आलू उत्पन्न करके यथाशक्ति पूर्ति क्यों न करूँ? यही सोच कर वह आलू की खेती करता है। दूसरा सोचता है कि तम्बाकू से दूसरों का स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो भले हो। उसे किसी के स्वास्थ्य से क्या मतलब! उसे तो पैसा चाहिए। इसीलिए वह तम्बाकू की खेती करता है। स्पष्ट है कि आलू की अपेक्षा तम्बाकू की खेती में अधिक पाप है। इस प्रकार आलू की खेती में अन्न की खेती की अपेक्षा अधिक पाप है और तम्बाकू की खेती की अपेक्षा अल्प पाप है। यही अनेकान्त का निर्णय है।

निर्णय कठिन

अभिप्राय यह है कि किसी भी कार्य में एकान्तरूप से आरम्भ की अल्पता या

अधिकता का निर्णय होना कठिन है। 'अल्प' और 'अधिक' दोनों ही ऐसे सापेक्ष शब्द हैं कि उन्हें कोई दूसरा चाहिए। हिन्दी भाषा में जैसे 'छोटा' और 'बड़ा' शब्द सापेक्ष हैं। दूसरे की अपेक्षा ही कोई छोटा या बड़ा कहलाता है; अपने आप में कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। यही बात 'अल्प' और 'अधिक' के विषय में भी है। इस बात को ठीक तरह समझने के लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है। किसी ने प्रश्न किया कि—त्रीन्द्रिय जीव की हिंसा में अल्प पाप है, या अधिक पाप है? क्या उत्तर होगा? कोई भी शास्त्र का ज्ञाता यही कहेगा कि त्रीन्द्रिय जीव की हिंसा में एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय जीवों की हिंसा की अपेक्षा अधिक पाप है और चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय की हिंसा की अपेक्षा अल्प पाप है।

कुछ लोग कृषि करने में महारंभ समझते हैं; यदि उनका मन्तव्य पूर्वोक्त अनेकान्तवाद के आधार पर हो, तो मतभेद के लिए गुंजाइश ही नहीं है। यदि वे 'महा' की अधिक लक्षणा करके यह कहते हैं कि कृषि-कार्य में वस्त्रादि के द्वारा आजीविका चलाने की अपेक्षा 'अधिक आरम्भ' है और वधशाला चलाने या सट्टा करने की अपेक्षा 'अल्प आरम्भ' है तो कोई विवाद न रहता। अपेक्षाकृत 'अधिक आरम्भ' और 'अल्प आरंभ' मानने से कौन इन्कार कर सकता है? परन्तु जब कृषि में महारंभ बताया जाता है और उसे महारम्भ घोषित किया जाता है, जोकि नरकगति का कारण है, तो यहाँ पर अनेकान्तवाद का परित्याग कर दिया जाता है और मतभेद को खड़ा कर दिया जाता है। □

रोजी, रोटी और अहिंसा

२८

'अहिंसा' आत्मा की खुराक है, तो 'रोटी' शरीर की। जब आत्मा और शरीर साथ-साथ रहते हैं, तो अहिंसा और रोटी भी साथ-साथ क्यों नहीं रह सकती है? यदि ये दोनों साथ-साथ न रह सकें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि या तो हमें आत्मा की खुराक से वंचित रहना चाहिए, अथवा शरीर को खुराक देना छोड़ देना चाहिए। इन दोनों में कौन-सा श्रेयस्कर है? यदि कोई शरीर को ही खिला-पिला कर पुष्ट करना चाहता है, और आत्मा को मरने देना चाहता है तो फिर जीवन का, और खासकर इन्सान के जीवन का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। मनुष्य और पशु के जीवन में फिर अन्तर ही क्या रह जाता है? और यदि कोई आत्मा को खुराक देना चाहता है और अहिंसा की साधना करना चाहता है तो उसे रोटी से वंचित होना पड़ेगा; और रोटी से वंचित होने का अर्थ है—जीवन से और प्राणों से वंचित होना। यदि वह जीवन से वंचित होना चाहता है तो फिर अहिंसा की आराधना कौन से साधन के द्वारा करेगा?

अहिंसा और रोटी

अब दूसरा विकल्प उपस्थित होता है कि आत्मा और शरीर जैसे साथ-साथ रहते हैं; क्या उसी प्रकार अहिंसा और रोटी साथ-साथ नहीं रह सकतीं? जहाँ तक साधुवर्ग का सम्बन्ध है, उसके सामने कोई समस्या खड़ी नहीं होती; क्योंकि उसे गृहस्थों के घर से सीधा भोजन भिक्षा के द्वारा प्राप्त हो जाता है। परन्तु गृहस्थों के लिए यह बात सुगम नहीं है। वे भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह नहीं कर सकते। यदि सभी गृहस्थ भिक्षाजीवी बन जाएँ, तो उन्हें भिक्षा मिलेगी भी कहाँ से? अतएव रोटी के लिए उन्हें आजीविका-स्वरूप कोई न कोई धन्धा करना ही पड़ता है। किन्तु गृहस्थ का आजीविका-पूरक धन्धा अहिंसा के विरुद्ध न हो, ऐसा कोई उपयुक्त साधन खोज निकालना आवश्यक है।

जीवन की वर्तमान भूमिका में रोटी चाहिए या नहीं? यह प्रश्न अधिक महत्त्व नहीं रखता। रोटी चाहिए, यह तो निश्चित है। किन्तु रोटी कैसी चाहिए? किस रूप में चाहिए? और वह कहाँ से आनी चाहिए? ये ही प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। रोटी के साथ महारम्भ-स्वरूप महा-हिंसा आई है, या सद्गृहस्थ के अनुकूल अल्पारंभ-स्वरूप अल्प-हिंसा आई है? वह मर्यादित सात्विक प्रयत्न से आई है या बहुत बड़े अत्याचार और अन्याय से आई है? रोटी तो छीना-झपटी, लूटमार और डाका डाल कर भी आ सकती है और

बेइमानियाँ करके भी आ सकती है। किन्तु वह रोटी जिसके पीछे अन्याय और अनीति है, बुराई, छल-कपट और धोखा है, वह आत्मा की खुराक के साथ कदापि नहीं रह सकती। वह रोटी जो खून से सनी हुई आ रही है और जिसके चारों ओर रक्त की बूंदें पड़ी हैं, उसे एक अहिंसक कभी नहीं खा सकता। वह रोटी, उस खाने वाले व्यक्ति का भी पतन करती है और जिस परिवार में भी रोटी आती है, उस परिवार, समाज और राष्ट्र का भी पतन करती है। वहाँ न तो साधु का धर्म टिक सकता है और न गृहस्थ का ही धर्म स्थिर रह सकता है। वहाँ धार्मिक जीवन की कड़ियाँ टूट-टूट कर बिखर जाती हैं?

अमृत और विष

जहाँ ये दाग कम से कम होते हैं वहाँ वह रोटी अमृतभोजन बन जाती है, जीवन का रस ले कर आती है और उससे आत्मा और शरीर दोनों का सुखद पोषण होता है। न्याय और नीति के साथ, विचार और विवेक के साथ; महारंभ के द्वार से नहीं, अपितु अल्पारंभ के द्वार से आने वाली रोटी पवित्रता का रूप लेती है और वही अमृत भोजन की यथार्थता को सिद्ध करती है। वह अमृतभोजन मिठाई के रूप में भले ही न मिले, वह चाहे रूखा-सूखा टुकड़ा ही सही, तब भी वह अमृत का भोजन है। क्यों? इसलिए कि उस रूखी-सूखी रोटी को प्राप्त करने के लिए जो उद्योग किया जाता है, वह न्याय, नीति और सदाचार से पूर्ण होता है।

चाहे दुनियाभर का सुन्दर भोजन थालियों में सजा है, किन्तु यदि विवेक और विचार नहीं है, सिर्फ पेट भरने की ही भूमिका है, तो वह कितना ही स्वादिष्ट और मधुर क्यों न हो, वह अमृत-भोजन नहीं है, बल्कि विषभोजन है। भारतीय संस्कृति की ऐसी ही परम्परा रही है, जिसकी जानकारी जैनधर्म या अन्य दूसरे धर्मों को पढ़ने से होती है।

मार्ग की तलाश

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा, अल्पारंभ और महारंभ, छोटी हिंसा और बड़ी हिंसा, जीवन के चारों ओर फैली हुई है। हमें उसी में से मार्ग तलाश करना है और देखना है कि हम आत्मा और शरीर दोनों को एक साथ खुराक किस प्रकार पहुँचा सकते हैं? कौन-सा मार्ग ऐसा हो सकता है, जिसके अनुगमन से न तो आत्मा को आघात पहुँचे, और न ही शरीर का हनन करना पड़े?

रोटी तक पहुँचने के लिए दो रास्ते हैं। पहला मार्ग वह है—जहाँ महारंभ के द्वार से गुजरना पड़ता है, जिससे खुद के भी और दूसरों के भी हाथ खून से सन जाते हैं और रोटी की तलाश में जिधर भी निकलना पड़े हिंसा का नग्न नृत्य दिखलाई पड़ता है, दूसरा मार्ग है—गृहस्थ के अनुरूप अहिंसा का, जिसके अनुसार अल्प-हिंसा से, विवेक और विचार के साथ चल कर जीवन-निर्वाह के लिए रोटी प्राप्त की जाती है और

अन्याय, अत्याचार अथवा भयानक हत्याकाण्ड नहीं करना पड़ता है। किन्तु अब समस्या उठ खड़ी होती है कि कौन-सा मार्ग आर्य-मार्ग है और कौन-सा अनार्यमार्ग है ? उपयोगिता के नाते कान सुनने के लिए हैं। उनसे गंदी गाली भी सुनी जा सकती है; संसार के बुरे संगीत भी सुने जा सकते हैं; जिनसे मन और मस्तिष्क में विकार उत्पन्न होते हैं; पारस्परिक निन्दा की असंगत बातें भी सुनी जा सकती हैं और उन्हीं से वह आध्यात्मिक संगीत भी सुना जा सकता है, जो विकार वासनाओं में एक जलती चिनगारी भी लगा देता है, उन्हें भस्म कर देता है।

मुँह का उपयोग किया जाता है, एक ओर किसी दीन-दुखिया को ढाढस बँधाने के लिए, प्रेम की मधुर वाणी बोलने के लिए और दूसरी तरफ कठोर गाली देने के लिए और दूसरों का तिरस्कार व निन्दा करने के लिए भी। यद्यपि मुँह बोलने के लिए मिला है, उससे क्या शब्द बोलने चाहिए, और किस अवसर पर बोलने चाहिए ? इसका निर्णय तो करना ही पड़ता है।

संसार में रहते हुए कानों से सुना भी जाएगा, मुँह से बोला भी जाएगा, और इसी प्रकार खाया-पिया भी जाएगा। परन्तु धर्मशास्त्र का उपयोग तो केवल इसीलिए है कि उसके सहारे हम यह विवेक प्राप्त करें कि हमें क्या सुनना चाहिए, क्या बोलना चाहिए और क्या खाना-पीना चाहिए।

स्वर्ग में भी यही प्रश्न : क्या दिया ? क्या खाया ?

स्वर्ग में जब कोई जीव देवरूप में उत्पन्न होता है, तो सैकड़ों-हजारों देवी-देवता उसके अभिनन्दन हेतु खड़े हो जाते हैं। वहाँ चारों ओर से एक ही प्रश्न सुनाई पड़ता है, और उस प्रश्न का उत्तर उस नए देवता को देना पड़ता है। वह प्रश्न है :—

'तुम क्या दे कर आए हो, और क्या खा कर आए हो ?'[1]

स्वर्ग में उत्पन्न होते ही यह प्रश्न पूछा जाता है 'क्या खा कर आए हो' ? तब इस सम्बन्ध में विचारपूर्वक उत्तर देते हुए कोई कह सकता है कि 'मैं न्याय-नीति के अनुसार अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करके आया हूँ। मैंने महा-हिंसा के द्वारा रोटी नहीं पाई है। एक विवेकशील गृहस्थ के रूप में, श्रावक के योग्य जो भी खाया और खिलाया है, वह महारम्भ के द्वारा नहीं; किंतु अल्पारम्भ के द्वारा खाया और दूसरों को खिलाया है।' यही उपयुक्त उत्तर हो सकता है।

मोक्ष और स्वर्ग की जो चर्चा होती है, वास्तव में वह मोक्ष और स्वर्ग की चर्चा नहीं, अपितु जीवन-निर्माण की और सुनिश्चित मार्ग को ढूँढने की चर्चा है। वह चर्चा है—जीवन में अमृत का मार्ग खोजने की।

खेती-बाड़ी के रूप में जो धन्धे हैं, वे किस रूप में हैं और किस प्रकार के हैं ?

---

१ "किं वा दच्चा, किं वा भुच्चा ?"

भगवान् ऋषभदेव ने कहा है कि—"अनार्यमार्ग से रोटी मत पैदा करो। जहाँ दूसरों का खून बहाया जाता है, बिना विवेक-विचार के और महारौद्रभाव से बहाया जाता है, वे सब अनार्यकर्म हैं। शिकार खेलना, मांस खाना, जुआ खेलना आदि; सब अनार्य-कर्म हैं। इन अनार्यकर्मों के द्वारा जो रोटी आती है, वह रोटी नहीं, अपितु रोटी के रूप में पाप आता है, जो जीवन का पतन करने वाला होता है।

जैनसमाज में 'प्रासुक' कामों की बड़ी चर्चा चला करती है। 'प्रासुक' वे काम कहलाते हैं, जिनमें हिंसा न हो, या हो भी तो अल्पतम। दो जुएबाज आमने-सामने बैठे हैं। ताश का पत्ता उठा कर फेंका कि बस हार-जीत हुई और हजारों इधर से उधर हो गए। ऊपर-ऊपर से तो ऐसा मालूम होता है कि इसमें कोई हिंसा नहीं हुई। यदि दुकान करते हैं तो हिंसा होती है, दफ्तर जाते हैं तो हिंसा होती है। जीविका के लिए जो कुछ भी कार्य करते हैं, उसमें हिंसा हुए बिना नहीं रहती। किंतु जुआ खेलना ऐसा 'प्रासुक' काम है कि उसमें हिंसा नहीं है। बहुतों की ऐसी धारणा है, परन्तु विचार करना चाहिए कि यह महारम्भ है या अल्पारम्भ? नीति है या अनीति है? कोई विचार करें या न करें किंतु इस सम्बन्ध में शास्त्रों ने तो निर्णय किया है और स्पष्ट बताया है कि—सात दुर्व्यसनों में जुआ खेलना पहला दुर्व्यसन है। मांस खाने और मद्य पीने की गणना बाद में की गई है, सबसे पहले जुए की ही गर्दन पकड़ी गई है। यद्यपि जुआ खेलने में बाहर से कोई हिंसा दिखाई नहीं देती, परन्तु सिर्फ एक पत्ते के रूप में अन्दर में हिंसा का कितना गहरा दूषण है, जो दूर-दूर तक न जाने कितने परिवारों को उजाड़ देता है। जुआरी का अन्तःकरण कितना संक्लेशमय रहता है, कितना व्याकुल रहता है और जुए की बदौलत कितनी अनीति और कितनी बुराइयाँ जीवन में प्रवेश करती हैं, इन समस्त दूषण-चक्रों को कोई चाहे न देख सकता हो, परन्तु शास्त्रकार की दूरदर्शी सूक्ष्म दृष्टि से यह सब कुछ छिपा नहीं है।

इस प्रकार संसार के सोचने का ढंग कुछ और होता है, और शास्त्रकारों का दृष्टिकोण कुछ और ही होता है।

कहने का आशय यह है कि अन्न अपनी आप में जीवन की बहुत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। कपड़े की भी आवश्यकता है और दूसरी चीजों की भी आवश्यकता है, परन्तु पेट भरने की आवश्यकता सबसे पहली है। अन्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि संसारभर का धन एक तरफ रखा जाए और अन्न दूसरी तरफ तो तराजू में अन्न का पलड़ा भारी रहेगा और दूसरी चीजों का हल्का।

हीरों की अपेक्षा अन्न का महत्त्व

जैनाचार्यों ने सम्राट् विक्रमादित्य का जीवन-चरित्र लिखा है। एक बार सम्राट् हाथी पर सवार हो कर निकल रहे थे। मन्त्री और सेनापति पास में बैठे थे। जब अनाज की मण्डी से सवारी निकली तो सम्राट् ने अपने मन्त्री से कहा—'कितने हीरे बिखरे पड़े हैं!'

मंत्री ने इधर-उधर आँखें घुमा कर अत्यन्त सावधानी के साथ देखा, किन्तु उसे कहीं हीरे नजर नहीं आए। तब उसने पूछा—अन्नदाता, हीरे कहाँ हैं ?

सम्राट् ने कहा—'तुम्हें मालूम ही नहीं कि हीरे कहाँ पड़े हैं ?' इतना कहकर सम्राट् उछल कर हाथी से नीचे उतरे और धूल में से अन्न के उन बिखरे कणों को उठा कर बड़े प्रेम से खा गए।[२] फिर सम्राट् ने कहा—'अन्न के ये दाने पैरों के नीचे कुचलने के लिए नहीं हैं। इन हीरों का महत्त्वपूर्ण स्थान मुंह के सिवाय और कहीं नहीं है। यही इनके लिए तिजोरी है और सुरक्षित स्थान है।'

सम्राट् ने फिर कहा—"जो देश अन्न का अपमान करता है, उसके विषय में जितनी लापरवाही करता है, वह उतनी ही हिंसा करता है, उतनी ही दूसरों की रोटियाँ छीनता है, और दूसरों का गला घोंटता है।" तत्पश्चात् अन्न-पूर्णादेवी साक्षात्रूप में प्रकट हुई और बोली—"राजन्, तुमने मेरा इतना आदर किया है, अतः तुम अपने जीवन में कभी अन्न की कमी महसूस नहीं करोगे। तुम्हारे देश में अन्न का भण्डार अक्षय रहेगा।"

अन्न-देवता

आरण्यक में भी कहा गया है :—

"अन्न की निन्दा मत करो, अवहेलना और तिरस्कार न करो।"[३] यही कारण है कि भारत की संस्कृति में जूठन छोड़ना पाप समझा जाता है। यानी जितना भोजन आवश्यक हो, उतना ही लिया जाए और जूठन छोड़ कर मोरियों में व्यर्थ न बहाया जाए। जो जूठन छोड़ते हैं, वे अन्न देवता का जान-बूझकर अपमान करते हैं।

इस तरह अन्न का एक-एक दाना सोने के दाने से भी महँगा है। सोने के दानों के अभाव में कोई मर नहीं सकता, परन्तु अन्न के दानों के बिना हजारों नहीं, लाखों ने छटपटा कर प्राण दे दिये हैं। परिस्थितियाँ आने पर ही अन्न का वास्तविक महत्त्व मालूम होता है। जिनके यहाँ अन्न का भण्डार भरा है, वे भले ही अन्न की कद्र न करें। परन्तु एक दिन ऐसा भी आता है, जबकि भण्डार खाली होते हैं और अन्न अपनी कद्र करा लेता है।

जीवन-स्रोत

यदि अन्न रहेगा—तो धर्म, ज्ञान, विज्ञान सभी जीवित रहेंगे; और यदि अन्न न रहा—तो वे सब भी काफूर हुए बिना न रहेंगे। जैन-साहित्य (मूल आगम-साहित्य) का बहुत-सा भाग विच्छिन्न हो गया है। वह कहाँ चला गया, और कैसे चला गया ? इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध उल्लेख है कि सुदूर अतीत में बारह वर्ष का घोर अकाल पड़ा था। उस समय अन्न के एक-एक दाने के लिए मनुष्य मरने लगे थे। उस समय पेट

---

२ देखिए, उपदेश-तरंगिणी।

३ "अन्नं न निन्द्यात्।"

का प्रश्न ही सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण बन गया था; उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष तक के प्रश्न गौण हो गए थे। जैन इतिहास कहता है कि वह विशाल आगमसाहित्य, अन्न के अभाव में तत्कालीन भूख की भयानक ज्वालाओं में भस्म हो गया।

उस दुर्भिक्ष के सम्बन्ध में यहाँ तक सुना गया है कि—लोग हीरे और मोतियों के कटोरे भर कर लाते थे। वह कटोरा अन्न के व्यापारी को अर्पण करते और हजारों मिन्नतें करते थे, और साथ ही आँसुओं के मोती भी अर्पण कर देते थे। तब कहीं मोतियों के बराबर ज्वार के दाने मिलते थे। उन्हीं दानों पर किसी तरह गुजारा किया जाता था। जब ऐसी भयानक स्थिति थी तो वहाँ ज्ञान, विज्ञान, विचार और विवेक कहाँ ठहरता? बड़े-बड़े सन्त, त्यागी और वैरागी; जिनको जाना था, वे तो संथारा करके आगे की दुनिया में चले गए। परन्तु जो नहीं जा सके, वे लोग भूख के मारे घबरा गए। जो साधक एक दिन बड़ी शान से साम्राज्य को भी ठुकरा कर आए थे, आज वे ही अन्न के थोड़े-से दानों के अभाव में—रोटी न मिलने पर—डगमगाते दिखाई देते हैं।

जटिल प्रश्न

वास्तव में यह जीवन का जटिल प्रश्न है। जब इसका ठीक तरह से अध्ययन किया जाएगा, तभी तो किसी को सही मार्ग मिल सकेगा अन्यथा चिंतन के अभाव में सही दिशा नहीं मिल सकती। सही चिंतन करने पर स्पष्टतया मालूम हो सकता है कि वास्तव में भाग्यशाली वही है, जिसकी अन्नसम्बन्धी आवश्यकता पूर्ण हो जाती है, और जिसकी यह आवश्यकता पूर्ण नहीं होती, उसके भाग्य का कोई अर्थ नहीं रहता।

परन्तु आजकल लोगों ने पुण्य की कसौटी दूसरी ही बना रखी है। वे जीवन के पुण्य को हीरे, जवाहरात, सोने और चाँदी से तौलते हैं। जहाँ हीरों का ज्यादा ढेर लगा हो, वहाँ ज्यादा पुण्य समझा जाता है। परन्तु जब पुण्य को इस अर्थवाद की तराजू पर तौलना शुरू किया, तभी जीवन में सबसे पहले गड़बड़ी शुरू हुई। अस्तु, देखना यह चाहिए कि इस सम्बन्ध में शास्त्रकार क्या कहते हैं, और अन्य लोग क्या सोचते समझते हैं?

कौन-सा धंधा पुण्यमय?

एक गृहस्थ जो खेती-बाड़ी का धंधा करता है। वह कठोर परिश्रम के द्वारा रोटी कमाता है और गरीब होते हुए भी न्याय-नीति की मर्यादा में रहता है। दूसरा परिवार एक कसाई का है। उसके यहाँ प्रतिदिन हजारों पशु काटे जाते हैं और इस धंधे के कारण उसके यहाँ हीरे और जवाहरात के ढेर लगे हैं। अब यदि किसी को जन्म लेना है तो इन दो परिवारों में से किस परिवार में जन्म लेना पुण्य है। उसका धर्म उसे किधर ले जाएगा? अगला जन्म वह किसान के यहाँ लेगा या कसाई के यहाँ? धर्मनिष्ठ किसान गरीब तो है, परन्तु शास्त्रकार की तत्त्व-दर्शी दृष्टि में असली पुण्य

उसी दरिद्रनारायण की झोंपड़ी में है और वही पुण्यानुबंधी सच्चा पुण्य है—जिससे सारी वसुधा प्रकाशमान होती है।[४] मारवाड़ी भाषा में कहते हैं—'उससे सुखे-सुखे मोक्ष प्राप्त होता है।'

पापाचार के द्वारा रुपये, पैसे, अठन्नियाँ और चवन्नियाँ ज्यादा मिल गईं तो किस काम की ? यदि रूखी-सूखी रोटी विवेक, विचार और नीति के साथ मिल जाती है, तो वही पुण्य का सीधा मार्ग है। दुनियाभर के अत्याचारों के बाद और निरीह प्राणियों का खून बहा कर अगर हीरे और मोती मिल भी जाएँ वह पुण्य का मार्ग नहीं माना जा सकता।

आदर्श-जीवन

एक बड़े विचारशील श्रावक ने कहा कि मुझे अन्याय और अत्याचार के सिंहासन पर यदि चक्रवर्ती का साम्राज्य भी मिले तो उसे ठुकरा दूँगा और अनन्त-अनन्त काल तक उसकी कल्पना भी नहीं करूँगा। मेरे सत्कर्मों के फलस्वरूप, मेरी तो यही भावना है कि मुझे अगला जन्म लेना ही न पड़े। यदि जन्म लेना ही पड़े तो मैं किसी ऐसे परिवार में ही जन्म लूँ, जहाँ विवेक हो, विचार हो, न्याय और नीति हो; फिर चाहे उस परिवार में जूठन उठाने का ही काम मुझे क्यों न करना पड़े !

वस्तुतः यही निर्णय ठीक है और आदर्श-जीवन का प्रतीक है। यह आदर्शपूर्ण निर्णय, भारत की मूल संस्कृति का द्योतक है; और यह वह प्रतीक है जिसे जैन-धर्म ने अपना गौरव माना है। इसमें जो उमंग, उत्साह और आनन्द है, वह अन्यत्र कहाँ ?

भाग्यशाली कौन ?

उदाहरणस्वरूप दो यात्री चले जा रहे हैं। बहुत बड़ा मैदान है, सैकड़ों कोसों तक गाँव का नाम नहीं है। दोनों यात्री भयंकर रास्ते से गुजर रहे हैं। उन दोनों को भूख लग आई। भूख के मारे छटपटाते हुए, व्याकुल होते हुए चले जा रहे हैं। अकस्मात् उस समय वे एक तरफ दो थैले पड़े हुए देखते हैं। उन्हें देख कर वे अपने को भाग्यशाली समझते हैं और आपस में फैसला करते हैं कि यह थैला तेरा, और वह मेरा। अर्थात्—वे दोनों उन थैलों का बँटवारा कर लेते हैं। वे दोनों थैलों के पास पहुँचते हैं और अपने-अपने थैले को खोलते हैं। एक में भुने चने निकलते हैं और दूसरे में हीरे और मोती। अब यहाँ किसके पुण्य का उदय हुआ है ? जिसे जवाहरात का थैला मिला है, वह उन्हें ले कर अपने सिर से मार लेता है और कहता है कि इनकी अपेक्षा यदि दो मुट्ठी चने मिल जाते तो ही अच्छा था ! उनसे प्राण तो बच जाते ! ऐसी स्थिति में जीवन-रक्षा की दृष्टि से उन हीरों और मोतियों का क्या मूल्य है ? जिसे अन्न का थैला मिला, वह बाग-बाग हो जाता है कि न जाने किस जन्म का पुण्य आज काम दे गया है।

---

४ देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र ३, १७

इसके लिए मैं तो यही कहूँगा कि शास्त्रों को भी टटोलने की जरूरत नहीं है, सिर्फ जीवन को ही टटोलने की जरूरत है और जीवन-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टि-कोण के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता है।

अन्ननिन्दा : पाप

भारतीय संस्कृति के एक आचार्य ने कहा है कि—"अन्न की निन्दा करना पाप है।" जूठन छोड़ना हिंसा है, क्योंकि वह अन्न का अपव्यय है, और कम खाना पुण्य है। कम खाना पुण्य तो अवश्य है, परन्तु खाने को कम मिलना क्या है? यहाँ तीन चीजें हैं—ज्यादा खाना, कम खाना और कम खाने को मिलना। ज्यादा खाने के विषय में तो ग्रन्थकारों ने कह दिया है कि ज्यादा खाने वाला अगले जन्म में अजगर बनता है और कम खाना धर्म माना जाता है। जैन-धर्म में ऊनोदर तप माना गया है जो कि अनशन के बाद आता है, वह बड़ा उत्कृष्ट तप है। तपों में एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा सूक्ष्म होता जाता है; अर्थात्—उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण होता जाता है। एक आचार्य ने कहा है कि अनशन की तुलना में ऊनोदर तप विशेष महत्त्व रखता है। इसका क्या कारण है? अनशन तप के समय बिलकुल ही नहीं खाया जाता खाने की तरफ ध्यान ही नहीं दिया जाता, परन्तु ऊनोदर में कम खाया जाता है। खाने के लिए बैठना और जब स्वादिष्ट मिष्टान्नों के खाने का आनन्द अनुभव हो तो भी अधूरा खाना मुश्किल होता है। भोजन करते समय भोजन के रस को बीच में ही छोड़ देना, भोजन बिलकुल ही न करने की अपेक्षा अधिक त्यागवृत्ति माँगता है। यह एक बड़ा एवं पवित्र परिवर्तन है, आध्यात्मिक क्रान्ति है। इस प्रकार का कम खाना धर्म माना गया है।

परन्तु खाने को कम मिलना क्या है? इसे पाप माना गया है। भारतीय संस्कृति कहती है कि कम खाना तो धर्म है, किन्तु खाने की मात्रा कम मिलना पाप है। जिस देश के बच्चों, बूढ़ों, महिलाओं और नौजवानों को खाना नहीं मिलता है, उस देश की व्यवस्था करने वालों के लिए वह एक बड़ा गुनाह है। कम खाने की शिक्षा अवश्य दी गई है, पर खाना कम क्यों मिलना चाहिए! खाने की मात्रा कम मिलना, अपनी व्यवस्था को दोषपूर्ण सिद्ध करना है, और अपने में एक पाप को प्रकट करना है। और यह पाप ऐसी बुराई है, जो हजारों दूसरी बुराइयों को पैदा करती है।

प्राण की रक्षा

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म को, पुण्य को या सत्कर्म को हीरों और मोतियों से तोलना गलत बात है। पर, दुःख तो इस बात का है कि गलत राह को

---

५ जैन-धर्म में अनशन आदि बारह तप माने गए हैं, उनमें ऊनोदर दूसरे नम्बर पर है। ऊनोदर का अर्थ है—जितनी भूख हो, उससे भी कुछ कम खाना। अर्थात्—पेट को थोड़ा खाली रखना।

सही मान लिया गया है। पुण्य और पाप की जीवन की उपयोगिता से और उपयोगिताओं की पूरक आवश्यकताओं से तोलना चाहिए। जीवन की किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की परिपूर्ति हीरों-जवाहरात की विद्यमानता से नहीं हो सकती। चांदी सोने की 'रोटियाँ' खा कर, मोतियों का 'शाक' बना कर और हीरे का 'पानी' पी कर कोई अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता। प्राणों की रक्षा तो केवल अन्न ही कर सकता है। अमीर हो या गरीब, दोनों को ही अन्न की सीधी-सच्ची राह पर चलना होगा। आखिर, जीवन तो जीवन की ही राह पर चलेगा। इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने ठीक ही कहा है।

चमकते रत्न

इसका हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है:—

"भूमंडल में तीन रत्न हैं, पानी-अन्न-सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकड़ों में करते, रत्न-कल्पना पामर प्राणी॥"[६]

वास्तव में इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न चमक रहे हैं—जल, अन्न और सुभाषित वाणी। नदी, तालाब या नहर में जो जल बह रहा है, उसकी एक-एक बूंद की तुलना मोतियों और हीरों से भी नहीं की जा सकती। यदि कोई तोलता है तो वह गलती करता है। अन्न का एक-एक दाना चमकता हुआ रत्न है, जिसकी रोशनी हीरों की चमक को भी मात करती है। तीसरा रत्न है—सुभाषित वाणी; अर्थात्—मीठा बोल; ऐसा बोल, जो लगे हुए घाव पर मरहम का काम करे, प्रेम का उपहार अर्पण कर दे; बेगानों को अपना बना दे और जब मुंह से निकले तो ऐसा लगे कि मानों फूल झर रहे हैं, ऐसा सुभाषित भी एक रत्न है।

जो मूढ़ हैं—यहां आचार्य 'मूढ़' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं तो मुझे भी करना पड़ रहा है; अर्थात्—अज्ञानी हैं, वे पत्थर के टुकड़ों में रत्नों की कल्पना करते हैं। किन्तु पूर्वोक्त तीन रत्न ही वास्तविक रत्न हैं, और ये चमकते हुए पत्थर के टुकड़े उनके समकक्ष कहाँ?

घर में धान्य

रामायण-काल की एक घटना है, जिसमें बहुत ही सुन्दर तथ्य का वर्णन है।[७] जब रामचन्द्रजी चौदह वर्ष का वनवास समाप्त कर रावण-वध के बाद सीता तथा वानरों सहित अयोध्या वापस आए तो परिवार के लोग तथा राज्य के बड़े-बड़े सेठ साहूकार उनके स्वागत के लिए दौड़ पड़े। हजारों की संख्या में जनता अभिनन्दन के

६ "पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाण-खण्डेषु रत्न-संज्ञा विधीयते॥"
७ देखिए उपदेश—तरंगिणी।

लिए वहाँ आ पहुँची। रामचन्द्रजी ने सबसे कुशल-कुशल पूछते समय एक ही प्रश्न किया "घर में सब ठीक है, धान्य की कमी तो नहीं है ?"

कुछ लोग रामचन्द्रजी के प्रश्न का मर्म नहीं समझ सके। उन्होंने सोचा—"मालूम होता है, महाराज भूखे आए हैं। तभी तो यह नहीं पूछा कि रत्न-भंडार तो भरे हैं ? और यह भी नहीं पूछा कि घर में कितना धन है ? वरन् यह पूछा कि घर में धान्य की कमी तो नहीं है। महाराज के अन्तर में आजकल रोटी ही समाई हुई है।

अस्तु, उपस्थित लोगों ने हँसते हुए कहा—"महाराज, आपकी कृपा है। अन्न की कुछ कमी नहीं है। अन्न के भंडार इतनी विशाल मात्रा में भरे पड़े हैं कि वर्षों खाएँ, तब भी खाली नहीं होंगे।" उक्त कथन में स्पष्ट ही परिहास की ध्वनि सुनाई दे रही थी।

लोगों की इस भ्रान्त धारणा को समझने में रामचन्द्रजी को देर नहीं लगी। उन्होंने सोचा—'जिनके पेट भरे हुए हैं, उनकी निगाह अन्न से हट कर अन्यत्र भटक गई है। इसीलिए ये सब लोग मेरे प्रश्न के महत्त्व को नहीं समझ सके और मुस्कराने लगे हैं।

स्वागत-अभिनन्दन के बाद रामचन्द्रजी अयोध्या में आ गए। एक दिन राज्य-भर में यह सन्देश प्रसारित किया गया कि महाराज रामचन्द्रजी वनवास की अवधि पूरी करके सकुशल लौट आए हैं, अतः नगर-निवासियों को प्रीतिभोज देना चाहते हैं। सारी प्रजा को निमंत्रण दे दिया गया। अमुक समय निश्चित कर दिया गया और तदनुसार सब प्रजाजन आ पहुँचे।

निमंत्रण सभी को प्रिय होता है। साधारण घर का मिले तो भी लोगों को वह बड़ी चीज मालूम होती है, फिर कहीं सम्राट् के घर का मिल जाए, तब तो कहना ही क्या है ? आज जवाहरलाल नेहरू के यहाँ यदि किसी को एक गिलास सादा पानी ही क्यों न मिल जाए; फिर देखिए, वह अभिमान की तीरकमान से कैसी तीरंदाजी दिखाता है !

नियत समय पर सब लोग भोजन के लिए आ गये और पंगत बैठ गई। राम-चन्द्रजी ने कहा—"भैया, हम अपने हाथों से परोसेंगे !" हीरे और मोतियों की भरी हुई डलियाँ आईं। राम ने एक-एक मुट्ठी सब की थाली में परोस दिए।

हमारी भारतीय परम्परा यह है कि भोजन कराने वाले की आज्ञा मिलने पर ही भोजन आरम्भ किया जाता है। लोगों ने सोचा कि हीरे आदि तो पहले-पहल भेंट-स्वरूप परोसे गए हैं, भोजन तो अब आएगा। परन्तु रामचन्द्रजी ने हाथ जोड़ कर विनम्र निवेदन किया—"भोजन आरम्भ कीजिए।"

लोग पेशोपेश में पड़ गए कि खाएं क्या ? खाने की तो कोई चीज परोसी ही नहीं गई ?

रामचन्द्रजी बोले—क्या हुआ ? एक-एक हीरा लाखों के मूल्य का है, और कुछ रत्न तो सर्वथा अनमोल हैं। आप सोच-विचार में क्यों पड़े हैं। भोजन कीजिए न ?

प्रजाजन बोले—महाराज, अनमोल तो अवश्य हैं। इनसे जेब ही भरी जा सकती है, परन्तु पेट नहीं भरा जा सकता। पेट तो पेट के तरीके से ही भरेगा।

राम ने फिर कहा—बड़ी सुन्दर कौंजें हैं ! ऐसी चीजें देखने में भी कम आती हैं। ये तो पेट के लिए ही हैं।

प्रजाजन कहने लगे—महाराज, इन्हें पेट में डालें भी कैसे ? यह पेट की नहीं, जेब की खुराक है।

अब रामचन्द्रजी ने असली मर्म खोला। बोले—उस दिन जब मैंने प्रश्न किया था कि—घर में धान्य की कमी तो नहीं है ? तब आप लोग धन के प्रमोद में हँसने लगे थे। आपकी आँखों में तो धन का ही महत्त्व है ! आपको तो हीरे, मोती ही चाहिए। धान्य की जरूरत ही क्या है ? बस, धन मिल गया तो ठीक है, उसी से जीवन पार हो जाएगा।

इसके बाद रामचन्द्रजी ने फिर कहा—अब आप भली भाँति समझ गये होंगे ! धन से पहला नम्बर धान्य का है। धान्य मिलेगा तो धन कमाने के लिए हाथ उठेगा, और धान्य नहीं मिला तो एक कौड़ी कमाने के लिए भी हाथ नहीं उठ सकता। आपके संकल्प गलत रास्ते पर चले गए हैं, अतः सही स्थिति को आप नहीं समझ सके हैं। अन्न की उपेक्षा, जीवन की उपेक्षा है। अन्न का अपमान करने वाला राष्ट्र भी अपमानित हुए बिना नहीं रह सकता। जिस देश के लोग अन्न को हीन दृष्टि से देखने लगें, फिर वह देश दुनिया के द्वारा हीन दृष्टि से क्यों न देखा जाए ?

नीतिमय जीविका का उपदेश

अन्न की समस्या जीवन की प्रमुख समस्या है। इसीलिए भगवान् ऋषभदेव जब इस संसार में अवतीर्ण हुए और उन्हें भूखी जनता मिली तो धर्म का उपदेश देने से पहले उन्होंने आजीविका का ही प्राथमिक उपदेश दिया और उसमें कृषि ही एकमात्र ऐसी आजीविका थी, जिसका साक्षात् सम्बन्ध उदरपूर्ति से था। हजारों आचार्यों ने उनके उपदेश को ऊँचा उठा लिया और कहा कि उन्होंने इतना पुण्य प्राप्त किया कि हम उसकी कोई सीमा बाँधने में असमर्थ हैं। भगवान् ने जो आर्य-वृत्ति सिखलाई, उसका वर्णन आचार्यों ने और मूल-सूत्रकारों ने भी किया है।

इस सम्बन्ध में लोग शायद यह कह सकते हैं कि उस समय भगवान् गृहस्थ थे,

इसीलिए उन्होंने गृहस्थ का मार्ग सिखा दिया। बात तो ठीक ही है, सभी विचारक कृषि को गृहस्थ का मार्ग या संसार का मार्ग कहते हैं। कौन कहता है कि वह मोक्ष का मार्ग है ? परन्तु प्रश्न तो नीति और अनीति का है। गृहस्थ की आजीविका दोनों तरह से चलती है। कोई गृहस्थ न्याय-नीति से अपना जीवननिर्वाह करता है, और कोई अनीति से—जुआ खेल कर, कसाई खाना खोल कर, शिकार करके, चोरी करके, या ऐसा ही कोई दूसरा अनैतिक धन्धा करके निर्वाह करता है। आप इनमें से किसे अपेक्षाकृत अच्छा समझते हैं ?

जहां न्याय और नीति है, वहां पुण्य है। भगवान् ने तो संसार को नीति ही सिखाई, अनीति नहीं। यदि शिकार खेलना सिखा देते तो वह भी एक आजीविका का मार्ग था, परन्तु वह अनीति का मार्ग है। अतएव भगवान् ने जनता को अन्याय का मार्ग जान-बूझ कर नहीं सिखाया।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-सूत्र में, जहां युगलियों की जीवन-लीला का वर्णन है, और उसी में यह उल्लेख भी है कि—भगवान् ने उन्हें तीन कर्म सिखलाए; साथ ही यह भी कहा है कि ये सभी प्रजा के हित के लिए, उनके कल्याण के लिए ये सब कलाएँ सिखलाई हैं।[८]

भगवान् के द्वारा उन कलाओं का सिखाया जाना 'रपट पड़े की हरगङ्गा' नहीं था। एक बूढ़ा, सर्दी के मौसम में गंगा के किनारे-किनारे जा रहा था। उसका पैर फिसल गया और वह गंगा में गिर पड़ा। जब गिर पड़ा तो कहने लगा—'हरहर गंगा, हरहर गंगा।' इसी को 'रपट पड़े की हर गंगा' कहते हैं। सर्दी के कारण गंगा-स्नान करने की इच्छा नहीं थी, किन्तु जब गंगा में गिर ही पड़े तो गंगा-स्नान का नाटक खेलने लगे।

भगवान् के द्वारा इस तरह बिना समझे-बूझे कलाएँ नहीं सिखाई गई। उन्होंने विवेक को साथ में ले कर और विचार के मापक से नीति को सही दृष्टिकोण से नाप-कर प्रजा के कल्याण की कल्पना की थी। लोगों को नरक के द्वार पर पहुँचाने के लिए नहीं, वरन् कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए; मानव को दानव बनाने के लिए नहीं, वरन् इंसान की इंसानियत को कायम रखने के लिए, कृषि आदि आदर्श कलाओं का सत्‌शिक्षण दिया था।

रोजी-रोटी में अहिंसा की कसौटी

उसी रोटी और रोजी में आनन्द आता है, जो अनीतियों से भरी हो, जिसमें मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं के लिए अधिक मेहनत करनी पड़े। जहां दूसरों का शोषण करके या दूसरों पर अन्याय, अत्याचार करके, धोखेबाजी से रोटी और रोजी

८ "पयाहियाए उवदिसइ।"

कमाई जाती हो, वह संकल्पी हिंसा है, क्योंकि उनमें दूसरों के आनन्द पर डाका डाला जाता है, इससे अपने और दूसरे, दोनों के आनन्द का खात्मा हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि जो सात्त्विक है, जो रोटी अल्पारम्भ से प्राप्त हुई है, जिसमें स्वयं का श्रम लगा है, वही रोटी और रोजी श्रावक जीवन की अहिंसा की मर्यादा में आती है। भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थधर्म की मर्यादा को ले कर जो भी धंधे जनता को सिखाए, वे आर्यकर्म थे, अहिंसा की दिशा में आगे बढ़ाने वाले थे और स्वपरहितकारक थे। इसलिए हमें किसी भी रोजी और रोटी की अच्छाई का निर्णय उपर्युक्त अहिंसा की कसौटी से करना चाहिए। □

२९ श्रावक और स्फोटकर्म

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न इतना जटिल है कि जब तक गहराई में पहुँच कर, हम इस पर विचार नहीं कर लेते, तब तक उसकी वास्तविक रूप-रेखा हमारे सामने नहीं आ सकती। प्रायः देखा जाता है कि लोग शब्दों को पकड़ कर चल पड़ते हैं, फलतः उनके हाथ में किसी तत्त्व का केवल एक खोखा मात्र ही रह जाता है और उसका रस प्रायः निचुड़ जाता है। जिस फल का रस निचुड़ जाता है और केवल ऊपरी खोखा ही रह जाता है, उसका कोई मूल्य नहीं होता। वह तो केवल भार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में भी आजकल यही दृश्य देखा जाता है। प्रायः लोग हिंसा-अहिंसा के शब्दों को ऊपर-ऊपर से पकड़ कर बैठ गए हैं, इस कारण उक्त शब्दों के भीतर का मर्म उनकी समझ में नहीं आ सका।

हिंसा और अहिंसा के वास्तविक मर्म को समझने-समझाने के लिए सामूहिक प्रवचन एवं व्यक्तिगत चर्चाओं के रूप में बहुत से प्रयत्न किए जाते हैं। किंतु इन प्रयत्नों का उपयोग केवल मनोरंजन के रूप में ही नहीं होना चाहिए। बल्कि अहिंसा की स्पष्ट रूप-रेखा जनता के सामने प्रस्तुत की जानी चाहिए और जब तक वही सही रूप में नहीं आ जाती है, तब तक कोई व्यक्ति, धर्म या समाज या राष्ट्र किसी के प्रति भी प्रामाणिक नहीं हो सकता। अतएव बारीकी से सोचने और समझने की कोशिश करनी चाहिए कि हिंसा और अहिंसा का वास्तविक रूप क्या है?

पूर्व संकल्प

यह एक लम्बी चर्चा है। प्रायः जब लोग इस प्रश्न पर विचार करने के लिए शास्त्रों के पन्ने पलटते हैं। और जब इस तरह चलते हैं तो उनका संकल्प एक ओर टकराता है और शास्त्रों की आवाज दूसरी ओर सुनाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में प्रायः संकल्प की आवाज तो सुन ली जाती है और शास्त्रों की आवाज के स्वर दूर जा पड़ते हैं। परन्तु इससे सचाई हाथ नहीं आती, वास्तविकता का पता नहीं चलता; सिर्फ आत्म-संतोष एवं थोड़े-से कल्पित विश्वास को पोषण मिल जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी भी तत्त्व पर विचार करते समय बुद्धि निष्पक्ष हो, क्योंकि तटस्थबुद्धि के द्वारा ही सच्चा निर्णय प्राप्त हो सकता है।

एक न्यायाधीश है। वादी और प्रतिवादी उसके न्यायालय में उपस्थित है। किंतु न्यायाधीश यदि किसी के पक्ष में पहले से ही बुद्धि को स्थिर कर लेता है तो वह न्याय के सिंहासन का उत्तरदायित्व पूरी तरह नहीं निभा सकता। इतना ही नहीं,

बल्कि ज्यों ही यह बात वादी या प्रतिवादी को मालूम हो जाती है, वह उस न्यायालय को छोड़ कर दूसरे न्यायालय में जाने की प्रार्थना करता है। यद्यपि यह ठीक है कि फैसला किसी एक के ही पक्ष में होगा, किंतु निर्णय देने से पहले ही यदि निर्णय कर लिया जाता है और दिमाग में पहले से ही पक्ष-विशेष का भाव भर लिया जाता है तो न्याय का उत्तरदायित्व ठीक-ठीक अदा नहीं किया जा सकता। पक्षपात के पंक में कर्त्तव्य के कदम बिना सने रह नहीं सकते। ठीक, यही बात शास्त्रों के सम्बन्ध में भी है। जब कोई किसी भी शास्त्रीय विषय पर गहराई से विचार करने के लिए उद्यत हो तो पहले उसे अपनी बुद्धि को निष्पक्ष बना ले, और अपने भाव को तटस्थ रखे। यदि निष्पक्षबुद्धि रख कर चलेगा तो सिद्धांत और जीवन को सही-सही परख सकेगा, और साथ ही समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों को भी समझ सकेगा। अन्यथा, व्यर्थ ही शास्त्रों की गर्दन मरोड़ता रहेगा और अपने जीवन को भी नहीं परख सकेगा। इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र ने एक बड़ी ही सुन्दर बात कही है :— जब कदाग्रही और पक्षपाती मनुष्य किसी सिद्धांत पर विचार करता है तब वह शास्त्रों को, दलीलों को तथा युक्तियों को भी खींचकर घसीटता हुआ वहीं ले जाता है, जहाँ उसकी बुद्धि ने पहले से ही कदम जमा रखा है। ऐसे लोग शास्त्र के आशय तथा औचित्य को भी नहीं देख पाते। बस, उनका मुख्य ध्येय यही होता है कि किसी प्रकार मेरी मनगढ़न्त धारणा को पुष्टि मिले। किंतु जो पक्षपात से रहित होता है वह अपनी धारणा को वहीं ले जाता है, जहाँ युक्ति या शास्त्र का कथन उसे ले जाने की प्रेरणा देते हैं।[1]

पक्षपात किसे कहते हैं? पक्ष का अर्थ 'पंख' है। पक्षी जब उड़ता है तो उसके दोनों पंख ठीक और सम रहने चाहिए। तभी वह ठीक तरह से गति कर सकता है, ऊँची उड़ान भर सकता है और लम्बे-लम्बे मैदानों को शीघ्रता से पार कर सकता है। किंतु यदि उस पक्षी का एक पंख टूट जाए तो वह उड़ नहीं सकता। इसी प्रकार जहाँ पक्षपात हुआ, और मनुष्य एक पक्ष का सहारा ले कर चला तो वहाँ सिद्धांत, विचार और चिंतन ऊपर नहीं उठ सकते, बल्कि वे रेंगते दिखाई पड़ेंगे। पक्षपात का स्पष्ट अर्थ है—सत्य के पंख टूट जाना। अतः आवश्यकता इस बात की है कि जब कोई सिद्धांत के किसी विषय पर विचार करे तो अपना दिल और दिमाग साफ रखे और गम्भीर विचार-मंथन के द्वारा सत्य का जो मक्खन निकले, उसे ग्रहण करने को सदैव तैयार रहे।

सत्य की पूजा

पहले हमारी बुद्धि विकसित थी तो हम आग्रह को, अहंकार को और किसी

---

१ "आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपात-रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"

भी व्यक्ति-विशेष को महत्व न दे कर केवल सत्य को ही महत्व देते थे और सत्य की ही पूजा करते थे। जहाँ सत्य की की पूजा होती है, वहाँ ईश्वर की प्रतिष्ठा है। किसी देवालय में नारियल चढ़ा देना, नैवेद्य चढ़ा देना या मस्तक झुका देना सच्ची ईश्वरोपासना नहीं है, किंतु मन-वचन-कर्म से सत्य की पूजा करना ही ईश्वर ही सच्ची आराधना है।

जो मनुष्य तटस्थभाव से आगे बढ़ता है और अपनी बद्धमूल मान्यताओं के आग्रह ठुकरा देता है और उसके बदले में सामने आने वाले सत्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है, वही मर्म को पा सकता है, वही अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है। चाहे वह तरुण हो या बूढ़ा; गृहस्थ हो या साधु; वह अपने आप में बहुत ऊपर उठ सकता है। उसके जीवन की गति ईश्वरीय प्रगति है। वह अपनी महत्ता को अधिकाधिक ऊँचाई पर ले जाता है और गिरावट की ओर अग्रसर नहीं होता।

परन्तु सत्य का मार्ग सुगम नहीं है। वह बड़ा कठिन, पेचीदा और टेढ़ा है। इतना कठिन और टेढ़ा कि जिसके लिए भारत के एक सन्त ने कहा है :— 'छुरे की धार पर चलना कठिन है। जिस मार्ग पर छुरे बिछे हों और तलवारों की नोंकें ऊपर को उठी हों, उस मार्ग पर चलने वाला, नृत्य करने वाला, कितनी सावधानी से, कितनी बड़ी तैयारी के साथ एक-एक कदम रखता है और कितनी तटस्थता रखता है और आखिर नृत्य को पूरा कर ही जाता है। परन्तु सत्य का मार्ग छुरे की धार से भी तेज और टेढ़ा है और विद्वान् उसे दुर्गम भी बताते है। बड़े-बड़े विद्वान् भी वहाँ चलते-चलते धीरज छोड़ देते हैं।'[२]

किन्तु इसमें किसी से घृणा या द्वेष करने की आवश्यकता नहीं है। यह तो मार्ग ही ऐसा है कि डिग जाना, फिसल जाना या विचलित हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। गीता में योगिराज कृष्ण ने भी कहा है :— कर्म क्या है, और अकर्म क्या है? धर्म क्या है, अधर्म क्या है? पुण्य क्या है? और पाप क्या है? इसके निष्पक्ष निर्णय में बड़े-बड़े विद्वान भी भ्रमित हो जाते है।'[३]

अतएव इस मार्ग पर पांडित्य का भार लाद कर भी नहीं चला जा सकता। इस पर तो सत्य की दृष्टि ले कर, अपने आपको सत्य के चरणों में समर्पित करके ही चला जा सकता है। यदि व्यर्थ के पांडित्य का भार लाद कर चलेंगे तो निष्पक्ष निर्णय नहीं कर सकेंगे। सत्य के प्रति गद्गदभाव और सहजभाव लिए हुए साधक चलेगा तो सम्भव है, उसे सत्य का पता लग सके। इसके अभाव में विद्वान भी सत्य की झाँकी नहीं पा सकता।

---

२ "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्ग पथस्तत् कवयो वदन्ति।"

—कठोपनिषद्

३ "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।"

किसी व्यक्ति का अध्ययन कितना ही अल्प क्यों न हो, यदि सत्य को ही उसने अपना लक्ष्य बना लिया है और सहजभाव से उसे ग्रहण करने के लिए वह तैयार है तो अवश्य ही वह सत्य के निकट पहुँच सकता है। इसके विपरीत बड़े-बड़े विद्वान् भी अहंकार और पाण्डित्य के प्रसाद को साथ ले कर सत्य के द्वार तक नहीं पहुंच सकते।

इस सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने श्रेष्ठ-से श्रेष्ठतर बातें कह दी हैं, वे अधिक ऊँचाई पर हैं, परन्तु हमारे विचारों के हाथ इतने छोटे हैं कि हम ऊँचाई को छू नहीं सकते।

लेकिन सत्य के महत्त्व के सामने बड़े से बड़ा व्यक्तित्व भी हीन है। व्यक्ति को महत्त्व तो दे दिया जाता है, किन्तु विचार करने से विदित होता है कि उसे वह महत्त्व सत्य के द्वारा ही मिलता है। अपने आप में व्यक्ति का क्या महत्त्व है? वह तो हड्डी और मांस का स्थूल ढाँचा है। परन्तु जब वह सत्य की पूजा के लिए सन्मार्ग पर चल पड़ता है, सत्य की ही परिधि में रहता है और सत्य के साम्राज्य में ही विचरण करता है; तब उसकी पूजा की जाती है, उसका स्वागत और सम्मान किया जाता है। वह पूजा, वह आदर और वह सम्मान, उसकी सुन्दर मानव-आकृति का नहीं; अपितु उसकी सत्य-निष्ठा का है।

सत्य की ऊँचाई

यदि एक लम्बा आदमी सीधा दण्डायमान खड़ा होता है और उसका सिर मकान की छत से छू जाता है तो उसकी हड्डियों की ऊँचाई, देखने वालों के लिए तमाशा जरूर बन सकती है, पर वह हमारी श्रद्धा एवं भक्ति का पात्र नहीं हो सकता। कारण, जीवन की सार्थकता के लिए विचारों की और सत्य की जो ऊँचाई है, वही आदर एवं सम्मान की उपादेय वस्तु बनती है। यह ऊँचाई तमाशे की वस्तु नहीं, अपितु चरणों में झुकने, समर्पित होने तथा श्रद्धा रखने की वस्तु है।

इसीलिए आचार्यों ने यह कहा है कि—आप व्यक्ति को क्यों महत्त्व देते हैं? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा, इस प्रकार कह कर आप एक ओर तो लाठियाँ चलाते हैं और दूसरी ओर सत्य, जो तटस्थभाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नहीं सुनते! इस शोचनीय स्थिति को देख कर दुःख होता है कि यह कैसी गड़बड़ी चल रही है। अतएव भलीभांति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना में व्यक्ति का जो महत्त्व है, वह केवल सत्य की ही बदौलत है। सम्प्रदाय या समाज या व्यक्ति का महत्त्व एकमात्र सत्य के ही पीछे है। सत्य का बड़प्पन ही व्यक्ति को बड़प्पन देता है।

बिरादरी के नहीं

इस सम्बन्ध में जैनाचार्य हरिभद्र बहुत बड़ी बात कह गए हैं। आचार्य हरिभद्र बड़े ही बहुश्रुत विद्वान हो चुके हैं, जिनकी विद्वत्ता को महाकाल की काली छाया भी

धुँधला नहीं बना सकी। उनकी अमर वाणी हम आपके सामने रख रहे हैं। वे कहते हैं—'भगवान् महावीर के प्रति हमें पक्षपात नहीं है। वे हमारी जाति-बिरादरी के नहीं और सगे-सम्बन्धी भी नहीं हैं। किन्तु सत्याचरण और कठिन साधना से आखिर-कार वे भगवान् के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं, अतः उनकी वाणी के सम्बन्ध में हम जो भी विचार करते हैं, वह किसी तरह का पक्षपात ले कर नहीं। और कपिल आदि जो अन्य महर्षि हो चुके हैं, उनके प्रति हमें लेशमात्र भी द्वेष और घृणा नहीं है। जो भी सत्य के उपासक आज तक प्रकाश में आए हैं, हम उन सबके विचारों का तटस्थ-वृत्ति से अध्ययन करते हैं, उन सब की वाणी का चिन्तन, मनन और विश्लेषण करते हैं, जिसके विचार सत्य की निष्पक्ष कसौटी पर खरे उतरते हैं, उसी के विचारों को निःशंकभाव से स्वीकार करते हैं और उसीका आदर-सम्मान भी करते हैं।'[४]

परीक्षा की तराजू

ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य ने भगवान् को भी परीक्षा की तराजू पर रख दिया है। कदाचित् आचार्य उस सत्य को तौल रहे हैं, जो शतियों से और सह-स्राब्दियों से बराबर तौला जा रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदाय-विशेष को तौला जाए तो वह तौल पर पूरा नहीं उतरता है। क्योंकि जितने भी सम्प्रदाय हैं, उनमें प्रायः सत्य की अपेक्षा स्वार्थ की प्रधानता होती है; अतः जहाँ स्वार्थ की प्रधानता है, वहाँ सत्य का साक्षात्कार दुर्लभ है। अस्तु, एकमात्र सत्य को ही लक्ष्य-बिन्दु मान कर तोलने चलोगे तो वही तोल ठीक होगा।

आखिर, सोचने की बात यह है कि आप भगवान् महावीर की पूजा क्यों करते हैं? उनका सत्कार और सम्मान क्यों करते हैं? आखिर, उनमें ऐसा क्या चमत्कार है, जो हम अपने को उनके चरणों में समर्पित करते हैं। उनके जीवन का जो परम सत्य है, वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार-सम्मान करवाता है। भगवान् की पूजा उनके गुणों की पूजा है। इस पूजा से उनके शरीर का, रूप सौन्दर्य का और बाह्य ऐश्वर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत के एक बड़े आचार्य ने तो स्वयं भगवान् के ही मुँह से कहलाया है—

"हे भिक्षुओं! मेरे वचनों को भी परीक्षणात्मक दृष्टि से सत्य की कसौटी पर जाँचो, और परखो। अच्छी तरह से जाँचने और परखने के पश्चात् यदि वे तुम्हें ग्रहण करने योग्य प्रतीत हों तो ग्रहण करो। केवल मेरे बड़प्पन के कारण ही मेरे वचनों को मत मानो। सत्य के पक्ष को प्रधानता न दे कर केवल गुरु के पक्ष पर ही अड़े रहना

---

४ "पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥"

किसी प्रकार उचित नहीं है ; क्योंकि व्यक्ति-विशेष का व्यक्तित्व सत्य के अस्तित्व से किसी भी अंश में ऊँचा नहीं है।"[५]

देखिए, कितनी निष्पक्षता एवं आदर्श की बात कही गई है ! जो सत्य का निर्णय करने चलते हैं, वे व्यक्ति-विशेष को अधिक महत्व नहीं देते, अपितु सत्य को ही अधिक महत्व देते हैं। सत्य की प्रधानता के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से कहा गया है—

"सिर के बाल पक जाने से ही कोई बड़ा नहीं हो जाता। बड़ा वह है, जिसके विचार स्पष्ट हो गए हैं, फिर भले ही वह वय की अपेक्षा छोटा ही क्यों न हो। जिसके विचारों में कोई स्पष्टता नहीं आई है, यदि उसका सारा सिर बगुले के पंख की तरह सफेद हो जाए, तब भी वह बड़ा नहीं कहा जा सकता।"[६]

प्रकाश की ओर

अब प्रश्न यह है कि—'क्या हिंसा और अहिंसा अपने आप में दो अलग-अलग चीजें हैं ? जैन-धर्म क्या सिखाता है ? वह हिंसा से अहिंसा की ओर जाने की राह बतलाता है, या अहिंसा से हिंसा की ओर जाने की ? जैन-धर्म अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है या प्रकाश से अन्धकार की ओर ? जो धर्म अथवा धर्मोपदेशक प्रकाश से अन्धकार की ओर ले जाता है—वह धर्म नहीं हो सकता, न वह गुरु हो सकता है और न भगवान् ही। यदि इस बात को स्वीकार किया जा सकता है तो यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए थे ; प्रकाश से अन्धकार की ओर कदापि नहीं।

सम्यक्त्व

यह माना कि भगवान् ऋषभदेव ने प्रारम्भ में जो कुछ भी शिक्षा दी, वह गृहस्थ-अवस्था में दी थी। परन्तु उस समय उन्हें कौन-सा सम्यक्त्व[७] प्राप्त था ? शास्त्रों के अनुसार उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। इसका अर्थ यह है कि उनकी विचार-सृष्टि में लेशमात्र भी मैल नहीं था। जहाँ कहीं भी थोड़ी-बहुत मलिनता होती है, वहाँ क्षयोपशम-सम्यक्त्व होता है। मलिनता की न्यूनाधिकता के कारण क्षयोपशम सम्यक्त्व अनेक प्रकार का होता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व पूरी तरह पवित्र और

---

५ "तापाच्छेदान्निकषात्सुवर्णमिव [illegible]
परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्।"

६ "न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।"

७ जैन-दर्शन में विचार-शुद्धि की विकास-भूमिका को सम्यक्त्व कहते हैं। इसके क्षायिक, क्षयोपशम आदि अनेक भेद हैं। जब विचार-दर्शन सर्वथा शुद्ध होता है, सत्य-निष्ठा सर्वथा पवित्र होती है, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है। यह 'विचार-शुद्धि' की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। क्षयोपशम में जैसे अतिचार-दूषण लग जाते हैं, वैसे क्षायिक में नहीं लगते। वह सर्वथा निर्दूषण है।

निर्मल होता है और जहाँ पूर्णता है, वहाँ भेद नहीं होता। यही कारण है कि मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानों के जहाँ सैकड़ों भेद गिनाए गए हैं, वहाँ क्षायिक-ज्ञान अर्थात्—'केवल-ज्ञान' एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के भी असंख्य भेद हैं, जबकि क्षायिक सम्यक्त्व अखण्ड है। आखिर क्षायिक सम्यक्त्व में यह विशिष्टता क्यों आई? यदि इसमें मिथ्यात्व-मोहनीयजन्य विकारों का जरा भी मैल होता तो अवश्य ही किसी न किसी अंश में भेद प्रकट हो जाता। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ भिन्नता अनिवार्य है और जहाँ अभिन्नता एवं अखण्डता है, वहाँ पूर्णता विद्यमान है। क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका इतनी विशुद्ध है कि वहाँ दर्शन-सम्बन्धी विकारों का मैल अणुमात्र भी नहीं पाया जाता। और जब मैल नहीं रह जाता है तब वह अखण्ड-निर्विकल्प हो जाता है।

भगवान् को निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। यह अनुमान करने की चीज है कि उसके लिए कितनी अनुकम्पा होनी चाहिए? शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य; ये सब सम्यक्त्व के ही लक्षण हैं। किन्तु जो गुण सबसे अधिक चमकता हुआ है और जिससे सम्यक्त्व की परख की जाती है, वह है 'अनुकम्पा'।

भगवान् के हृदय में कितनी दया, कितनी करुणा और कितनी अनुकम्पा थी? उनके अन्तःकरण में करुणा का सागर लहरा रहा था। वे जो भी प्रवृत्ति करते, उसमें भले ही अनिवार्य हिंसा हो, परन्तु उस हिंसा के पीछे भी करुणा छिपी रहती थी। कदाचित् ऐसी शंका हो सकती है कि यहाँ अन्धकार और प्रकाश को एक किया जा रहा है? किन्तु बात ऐसी नहीं है। हिंसा तो अशक्यपरिहारस्वरूप आचार में होती है, फिर भी विचार में तो दया और करुणा का निर्मल झरना बहता रह सकता है।

अनुकम्पा

अस्तु, कथन का आशय यह है कि दूसरे सम्यक्त्व में तो विचार-सम्बन्धी आंशिक मैल चल सकता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व में अणुमात्र भी वह रूप नहीं सकता। भगवान् ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से आरम्भ हुई है। जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है, वहाँ असीम अनुकम्पा है। ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि सम्यक्त्व प्रकट हो, परन्तु अनुकम्पा प्रकाशित न हो? यह कदापि सम्भव नहीं है कि सूर्य हो, परन्तु प्रकाश न हो; मिश्री की डली हो, किन्तु मिठास न हो। ऐसी असंगत बात कभी बनने वाली नहीं है। उससे निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है; अर्थात्—अनुकम्पा के बिना सम्यक्त्व टिक नहीं सकता। अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जब इस दृष्टि से कोई विचार करेगा तो उसे स्पष्ट अनुभव होगा कि भगवान् के द्वारा जो भी प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही थी।

दया का झरना तो निरन्तर बह रहा था और उस बहाव के साथ ही सारी क्रियाएँ भी हो रही थीं। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियों में जबकि जनता पर विपत्ति के घने बादल छाये हुए थे, भयानक संकट मुँह बाए खड़ा था और लोगों को अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे, आँखों के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी; उस संकट-काल में भगवान् ऋषभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाशकिरण थे। करुणानिधि भगवान् ने जनता को उस भीषण संकट से उबारने के लिए ही कृषि सिखलाई, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य बतलाए। किन्तु भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप में हुई? वस्तुतः वह हिंसा के रूप में नहीं हुई, जनता को गलत राह पर भटकाने के लिए भी नहीं हुई। भगवान् तत्कालीन जनता को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गए। उन्होंने जनता को प्रकाश से अन्धकार की ओर नहीं धकेला। शास्त्रकार इस बात को भूले नहीं हैं। इसीलिए जहाँ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्तिसूत्र में युगलियों का वर्णन किया गया है और उस वर्णन में पृष्ठ के पृष्ठ भर दिए गए हैं। पर साथ में एक महत्त्वपूर्ण पद भी जोड़ दिया गया है; जिसका अर्थ होता है—"प्रजा के हित के लिए यह सब उपदेश दिया।"[1] शास्त्रकार ने इतना कह कर भगवान् की जो भी मर्यादाएँ थीं, वे सभी व्यक्त कर दीं। इस प्रकार भगवान् ने जो भी कार्य किया, उसके पीछे अनुकम्पा थी; और जहाँ अनुकम्पा तथा हितभावना है, वहाँ अहिंसा विद्यमान है।

'पयाहियाए'—इस एक पद ने भगवान् की उच्च भावना को स्पष्टरूप से व्यक्त कर दिया है। जब तक यह पद सुरक्षित है—और हम चाहते हैं कि यह भविष्य में भी चिरसुरक्षित रहे—उससे भगवान् की दया का प्रामाणिक परिचय मिलता रहेगा।

भगवान् ने कृषि आदि की जो शिक्षा दी, उसके पीछे उनकी क्या दृष्टि थी? वे जनता को हिंसा से अहिंसा की ओर ले गए। वे चाहते थे कि लोग महान् आरम्भ की ओर न जा कर, अल्पारंभ की ओर ही जाएँ। यदि वे अल्पारंभ से महारंभ की ओर ले जाते, तो इसका अर्थ होता—'प्रकाश से अन्धकार की ओर ले गए।' उन्होंने भोली, भूखी और संत्रस्त जनता को ऐसा कर्त्तव्य बताया कि वह महारंभ से बच जाए और साथ ही पेट की जटिल समस्या भी हल कर सके और अपनी जीवन-पद्धति का मानवोचित प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

आज भी उद्योग-धन्धों के रूप में जो हिंसा होती है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जैन-धर्म छोटी से छोटी प्रवृत्ति में भी हिंसा बताता है। गृहस्थों की बात जाने भी दें और केवल संसार-त्यागी साधुओं की ही बात लें, तो उनमें भी—क्रोध, मान, माया और लोभ के विकारयुक्त अंश मौजूद रहते हैं और इसीलिए

१ "पयाहियाए उवदिसइ।"

उन्हें भी पूर्णतया अहिंसा का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता है। साधु-जीवन में भी 'आरंभिया' और 'मायावत्तिया' क्रिया चालू रहती है। जब पूर्ण अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरंभिया[९] क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है, यद्यपि उस हिंसा में आरम्भ छूट जाता है। उस दशा में हिंसा रहती है, पर आरंभ नहीं रहता, यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ गमनागमनादि प्रवृत्ति में द्रव्य-हिंसा तो है, किन्तु अन्तर्मन में हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नहीं है। ज्यों ही साधक जागृत होता है, त्यों ही उसमें अप्रमत्तभाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्तभाव होता है, तब भी बाह्यक्रियास्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है, किन्तु उसमें आन्तरिक भाव-हिंसा नहीं रहती।

संकल्पी या उद्योगी हिंसा

अब देखना चाहिए कि जीवन के क्षेत्र में, श्रावक जब उद्योग-धन्धे के रूप में कोई काम करता है तो वहाँ उसकी कार्य-पद्धति एकान्त हिंसा की दृष्टि से ही रहती है या उसमें उद्योग-धन्धे की दृष्टि भी कुछ काम करती है? उसके व्यवसाय का उद्देश्य केवल जीवों को मारना होता है या उद्योग-धन्धे के ही मूल उद्देश्य को ले कर व्यापार करना होता है?

कृषि के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टि से सोचना चाहिए। देहात के सैकड़ों किसान बहुत सवेरे ही उठ कर खेतों में काम करने जाते हैं। पंजाब और उत्तरप्रदेश के जैन-किसान कृषि का धंधा करते हैं, और वे प्रायः बड़े ही भावपूर्ण और श्रद्धालु होते हैं। सम्भव है, वह श्रद्धा व्यापारियों में न भी हो। किन्तु उनमें तो इतना प्रेम है और उनके हृदय प्रेमरस से इतने भरे होते हैं कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यद्यपि वे पसीने से तर हो कर खेतों से वापस आते हैं, किन्तु ज्यों ही वे साधु को गृह-द्वार पर देखते हैं कि झट से उनके पास आ जाते हैं और 'सामायिक' करवाने की प्रार्थना करने लगते हैं। वे बराबर 'सामायिक' और 'पौषध'[१०] आदि करते हैं। जब साधु गोचरी के लिए निकलते हैं तो एक तूफान-सा मच जाता है। सब यही चाहते हैं कि पहले मेरे घर को पवित्र करें।

९ प्राणिहिंसा-मूलक दोष 'आरंभिया' क्रिया कहलाती है। और क्रोध, मान, माया-दम्भ एवं लोभ-मूलक दोषों को 'मायावत्तिया' क्रिया कहते हैं।

१० 'सामायिक' जैन-धर्म की वह साधना है, जिसमें गृहस्थ दो घड़ी के लिए हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का त्याग कर, अपनी अन्तरात्मा को परमात्म-भाव में लीन करने का प्रयत्न करता है।

'पौषध' वह साधना है, जिसमें सूर्योदय से ले कर अगले दिन सूर्योदय तक सब प्रकार से हिंसा, असत्य आदि पापाचरण और भोजन का त्याग कर एकान्त स्थान में साधु जैसी वृत्ति का अभ्यास किया जाता है।

वे खेती का काम करने वाले लोग, जब प्रातःकाल हल ले कर चल पड़ते हैं, उस समय कौन-सी भावना उनके हृदय में काम करती है ? क्या वे इस दृष्टि से चलते हैं कि खेत में जीव बहुत इकट्ठे हो गए हैं, अतः चल कर शीघ्र ही उनको समाप्त किया जाए ? नहीं, वहां तो उद्योग की दृष्टि होती है। यदि दृष्टि में विवेक और विचार है तो वह कृषक आरंभ में भी अंशतः अनारंभ की दशा प्राप्त कर लेता है। कहने का आशय यह है कि कृषक आरंभ का संकल्प ले कर नहीं चलता है। अस्तु, जब वह काम करता है, तब उसकी यह वृत्ति नहीं होती है कि इन जीवों को मार डालूं। हिंसा करने का उसका संकल्प कदापि नहीं है, हिंसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नहीं करता है। उसका एकमात्र संकल्प 'धन्धा' करना है, जीवन-निर्वाह करना है और यदि उसमें विवेक है तो वह वहां भी जीवों को इधर-उधर बचा देता है।

विवेकशील बहनें घरों में झाड़ू लगाती हैं। ऐसा करने में हिंसा अवश्य होती है, किन्तु उनकी दृष्टि मूल में हिंसा करने की, अर्थात् जीवों को मारने की कभी नहीं होती। प्रायः मकान को साफ-सुथरा रखने की ही भावना होती है, जिससे कि जीव-जन्तु पैदा न होने पाएं।

जहां तक विचार काम देते हैं---'यावद्बुद्धि-बलोदयम्' ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि जीव-जन्तु किसी न किसी प्रकार से बच जाएं। ऐसा विवेक हो तो आरंभ[११] में भी अंश-विशेष के रूप में कुछ न कुछ अनारंभ की भूमिका बन ही जाती है।

जिस प्रकार विचारक और अविचारक की कलम के चलने में अन्तर होता है, वैसे ही हल के चलने में भी अन्तर होता है। 'कलम-कसाई' शब्द भी प्रचलित है। भला, बेचारी कलम कैसे कसाई हो गई? नहीं, वह तो कसाई नहीं होती। किन्तु किसी की गर्दन काटने के विचार से जो कलम चलाता है, वह अवश्य 'कलम-कसाई' हो जाता है। यदि कोई ईमानदारी के साथ हिसाब लिखता है, तो वह 'कलम-कसाई' नहीं कहलाता। यही बात सब जगह है।

इस प्रकार यदि अपने दिमाग को साफ रख कर सोचा जाए तो प्रतीत होगा कि श्रावक को 'उद्योगी हिंसा' होती है, 'संकल्पी हिंसा' नहीं। जो श्रावक सालभर चोटी से एड़ी तक पसीना बहा कर दो-चार सौ रुपये पैदा करता है, उसी को यदि यह कह दिया जाए कि यह एक कीड़ा जा रहा है, इसे मार दो, मैं तुम्हें हजार रुपये दूंगा। तो क्या वह कृषक श्रावक उसे मार देगा ? नहीं, वह स्पष्ट इन्कार कर देगा। जब कि खेती करने में असंख्य जीव मर जाते हैं, रात-दिन कठिन परिश्रम करना पड़ता है और फिर भी दो-चार सौ की ही कमाई होती है और इधर सिर्फ एक कीड़ा मारने

---

११ जैन-दर्शन में हिंसा के लिए 'आरम्भ' और अहिंसा के लिए 'अनारम्भ' शब्द का प्रयोग भी होता है।

से ही हजार रुपये मिल रहे हैं, तब भी वह धनिक कीड़े को क्यों नहीं मारता ? श्रावक की अहिंसा निरपराध कीड़े को मारने के लिए तैयार नहीं होती, और बड़े से बड़े प्रलोभन को ठुकरा देती है। कहा जा सकता है कि खेती में तो वह प्रयोजन के लिए हिंसा करता है, तो यहाँ भी उसे हजार रुपए मिल रहे हैं। क्या यह प्रयोजन नहीं है ? परन्तु यहाँ तो वह प्रयोजन के लिए भी हिंसा करने को तैयार नहीं है। इसका कारण यही है कि हजार रुपए के प्रलोभन में पड़ कर निरपराध कीड़े को मारना 'संकल्पी हिंसा' है, और श्रावक ऐसी संकल्पी हिंसा नहीं कर सकता। किन्तु खेती-बाड़ी में जो हिंसा होती है, वह 'औद्योगिक हिंसा' है। इस संकल्पी और औद्योगिक हिंसा के भेद को यदि ठीक तरह समझ जाएँ तो बहुत-सी समस्याओं का निपटारा हो सकता है और अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं।

विरोधी-हिंसा

राजा चेटक और कोणिक में भयंकर संहारक युद्ध[१२] हुआ था। कदाचित् कोणिक यह कहता कि अच्छा, हार और हाथी हल-विहल के पास रहने दें, मैं दोनों चीजें छोड़ सकता हूँ; परन्तु शर्त यह है कि तुम इस कीड़े को मार दो, तो क्या राजा चेटक ऐसा करने के लिए तैयार हो जाते ? जिस ऊपरी दृष्टि से साधारण लोग देखते हैं, यह सौदा महँगा नहीं, सस्ता ही था। लाखों मनुष्यों के बदले एक कीड़े की जान लेने से ही फैसला हो जाता। कितनी हिंसा रुक जाती ? परन्तु नहीं, वहाँ कीड़े और मनुष्य का प्रश्न नहीं है। वहाँ प्रश्न है 'संकल्पी' और 'विरोधी' हिंसा का। वहाँ न्याय और अन्याय का प्रश्न है। यदि संघर्ष और विरोध है तो वह चेटक और कोणिक के बीच है, उस बेचारे कीड़े ने क्या गुनाह किया है कि उसकी जान ले ली जाए ? कीड़े को मारने में संकल्पजा हिंसा है और वह भी निरपराध क्षुद्र जन्तु की। उधर जहाँ लाखों मनुष्य मारे गए हैं, वहाँ संकल्पजा हिंसा नहीं है। जहाँ निरपराध की संकल्पजा हिंसा होगी, वहाँ श्रावक की भूमिका स्थिर नहीं रहेगी। इसी कारण युद्ध में इतने मनुष्यों को मारने के बाद भी राजा चेटक का श्रावकत्व सुरक्षित रहा। और यदि वे संकल्पपूर्वक एक निरपराध क्षुद्र कीड़ा मार देते तो उनका श्रावकत्व खंड-खंड हो जाता।

फोडीकम्मे

यह हिंसा और अहिंसा का मार्मिक दृष्टिकोण है। इस पर गम्भीरता एवं निष्पक्षता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

१२ मगधराज अजातशत्रु कोणिक के लघु-भ्राता हल-विहल बड़े भाई के अत्याचार से पीड़ित हो कर चेटक राजा की शरण में गए थे। कोणिक ने इस पर क्रुद्ध हो कर वैशाली पर आक्रमण कर दिया, फलतः चेटक को शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध करना पड़ा।

खेती में महारम्भ है, इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया ? समग्र जैन-साहित्य में 'फोडीकम्मे'[१३] ही एक ऐसा शब्द है, जिसने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर, हमें 'फोडीकम्मे' के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। 'फोडी' शब्द संस्कृत के 'स्फोट' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है धड़ाका होना। जब सुरंग खोद कर उसमें बारूद भरी जाती है और तदुपरांत उसमें आग लगाई जाती है तो धड़ाका होता है और बड़ी से बड़ी चट्टान भी टुकड़े-टुकड़े हो कर इधर-उधर उछल कर दूर जा गिरती है। आज के अखबार पढ़ने वाले जानते हैं कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा देते हैं और जब उसमें चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यह है कि बारूद के द्वारा धड़ाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है।

खेती करते समय विस्फोट नहीं होता। खेती में बारूद भर कर आग नहीं लगाई जाती, न जमीन में कोई स्फोट ही होता है और न बारूद से जमीन जोती ही जाती है, वह तो हल से ही जोती जाती है। एक बार जोधपुर से एक सज्जन मुझसे मिलने आए थे। उनके साथ एक बच्चा भी था, जो सातवीं कक्षा में पढ़ता था। उसने सातवीं कक्षा का व्याकरण भी पढ़ा था। मैंने उस बालक से प्रश्न किया—किसान खेत में हल चलाता है। इसके लिए जमीन को 'जोतना' कहा जायगा, या 'फोड़ना' कहा जाएगा ? इन दोनों प्रयोगों में से शुद्ध प्रयोग कौन-सा है ? उस बालक को भी 'जोतना' प्रयोग ही सही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोड़ी नहीं जाती। हल से जमीन का फोड़ना तो दूर रहा, कभी-कभी तो जमीन खोदी भी नहीं जाती। खोदना तब कहलाता है, जब गहरा गड्ढा किया जाए। हाँ, हल से जमीन कुरेदी जरूर जा सकती है।

व्याकरण का प्रमाण

व्याकरण के अनुसार फोड़ना, खोदना और कुरेदना अलग-अलग क्रियाएँ हैं। खोदना—फावड़े या कुदाल से होता है, हल से फोड़ना या खोदना नहीं होता।

संस्कृत भाषा के 'कृषि' शब्द का अर्थ होता है—विलेखन। 'कृष' धातु कुरेदने के अर्थ में ही आती है। क्या पाणिनि-व्याकरण, और क्या शाकटायन-व्याकरण सर्वत्र 'कृष्' धातु का अर्थ 'विलेखन' ही किया गया है।

अस्तु, अभिप्राय यह है कि जमीन का जोतना 'फोडीकम्मे' के अन्तर्गत नहीं है। 'फोडीकम्मे' का संस्कृतरूप 'स्फोटकर्म' होता है और पूर्वोक्त प्रकार से यह

१३ जैन साहित्य में श्रावक के आचार का वर्णन करते हुए कहा है कि श्रावक को पन्द्रह प्रकार के व्यापार या कर्म नहीं करने चाहिए, क्योंकि उनमें महाहिंसा होती है। शास्त्रीय भाषा में उन्हें कर्मादान कहते हैं। 'फोडी-कम्मे' उनमें से एक है, जिसे कुछ लोग भ्रांतिवश खेती करना समझते हैं।

स्पष्ट है कि जमीन में हल चलाना, न तो स्फोट करना है और न खोदना ही, क्योंकि जमीन जोतते समय न तो धड़ाका किया जाता है, और न गड्ढे ही किए जाते हैं।

वास्तव में 'स्फोट-कर्म' तब होता है, जब सुरंग खोद कर उसमें बारूद भर कर एवं आग लगा कर धड़ाका किया जाता है। पहाड़ों में खान खोदने का काम बहुत पुरातन युग से चला आ रहा है। हथौड़ों और सांवरों से विशालकाय पत्थर कहाँ तक खोदे जा सकते हैं? अस्तु, उनमें छेद करके बारूद भर दी जाती है और ऊपर से आग लगा दी जाती है। जब बारूद में आग भड़कती है तो चट्टानें टूट-टूट कर उछलती हैं। और जब वे उछलती हैं तो दूर-दूर तक के प्रदेश में रहने वाले जानवर और इन्सान के भी कभी-कभी प्राण ले बैठती हैं। कितने ही निर्दोष प्राणियों के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं और कितने ही बुरी तरह घायल हो जाते हैं।

देहली की एक घटना है। हम एक बार शौच के लिए पहाड़ पर गए हुए थे। हम पहुँचे ही थे कि कुछ मजदूर दौड़ कर आए और बोले—महाराज, भागिए, दौड़िए। जब मैं विचार करने लगा तो उनमें से एक ने कहा—'बाबा, क्या सोचता है, क्या मरेगा? क्या यहीं पर हत्या देगा?' तब तो हमने भी पीछे को तेज कदम बढ़ाए। मैं कुछ ही कदम पीछे हटा था कि इतने में ही वहाँ बारूद फटी, जोर का धड़ाका हुआ और उसके साथ ही पत्थर के बड़े-बड़े भीमकाय टुकड़े उछल कर आ गिरे। मैं जरा-सा बच गया, वरना वहीं जीवन-नाटक समाप्त हो जाता।

ऐसे स्फोटों से पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का भी कुछ ठिकाना नहीं रहता है। कभी-कभी जोरदार धड़ाके से पहाड़ भी खिसक जाते हैं, और न जाने कितने मनुष्य दब कर मर जाते हैं, जिनका फिर कोई पता ही नहीं चलता। तो ऐसा स्फोटकर्म महारंभ है, महा-हिंसा है और मानव-हत्या का काम है।

मजदूर लोग काम करने के लिए सुरंगों में घुसते हैं और जब कभी गैस पैदा हो जाती है तो अन्दर ही अन्दर उनका दम घुट जाता है। अभी कुछ ही दिनों पहले हम खेतड़ी गाँव से गुजरे तो मालूम हुआ कि एक खान में कई आदमी दब गए हैं। वे बेचारे खान में काम कर रहे थे। पहाड़ धंस गया और वे वहीं दब कर खत्म हो गए।

ऐसे कामों में पंचेन्द्रिय की और पंचेन्द्रियों में भी मनुष्यों की हत्या का सम्बन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोट-कर्म को महान् हिंसा में गिना है। श्रावक तो कदम-कदम पर करुणा और दया की भावना को ले कर चलता है, अतः उसे यह स्फोट-कर्म शोभा नहीं देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था, परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके बदले कुछ इधर-उधर की निरर्थक बातें चल पड़ी हैं। जन-हित के लिए कुँआ खुदवाना भी महारंभ माना जाता है और यदि कोई दूसरा लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारंभ बताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन राजा हो जाए तो वह

जनता के हित का कोई काम नहीं कर सकता, क्योंकि महारंभ हो जाएगा। और जनता के सम्बन्ध में यदि वह कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से निर्जीव मांस का पिण्ड ही माना जाएगा। मनुष्य खुद तो दुनियाभर के भोग-विलास करता रहे, किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करे, किमाश्चर्यमतः परम् !

भयानक भूल

अभिप्राय यह है कि जैन-धर्म कोरे मिथ्या आदर्श या कल्पना पर चलने वाला धर्म नहीं है। यह तो पूर्णतः यथार्थवादी धर्म है। यह आदर्श को अपने सामने रखता अवश्य है, पर उसकी दृष्टि सदैव व्यवहार और वास्तविकता पर रहती है। इसने स्फोट-कर्म किसे बताया था और हम उसे भूल कर क्या समझ बैठे हैं! जो लोग खेती कर रहे हैं, उन्हें महारंभी कहने लगे। और कितने दुःख की बात है महारंभी कह कर उन्हें भी पशु-हिंसकों की अधम श्रेणी में रख दिया गया है। ऐसा करने वालों ने वास्तव में कितना गलत काम किया है? वे समझते है कि हम कृषि की आजीविका को गर्हित ठहरा रहे हैं। पर, वे वास्तव में कसाईखाने की आजीविका की भयानकता एवं गर्हितता को कम कर रहे है। पशु-वध और कृषि, दोनों को महारंभ की एक ही कोटि में रख कर कितनी बड़ी भूल की है। काश कुछ सोचा तो होता!

एक कसाई और एक कृषक जब यह सुनता है कि कसाई-खाना चलाना भी महारंभ है और कृषि भी महारंभ है, तो कसाई को अपनी आजीविका त्याग देने की प्रेरणा नहीं मिल सकती। वह कृषक की कोटि में अपने आपको पा कर दुगुने उत्साह का अनुभव करेगा और सन्तोष मानेगा। यदि पशु-वध को त्याग देने का विचार उसके दिमाग में उठ भी रहा होगा, तब भी वह न त्यागेगा। दूसरी ओर जब कृषक यह जानेगा कि उसकी आजीविका भी कसाई की आजीविका के समान है और जब उसे इस बात बात पर विश्वास भी हो जाएगा; तब कौन कह सकता है कि कृषि जैसे श्रमसाध्य धन्धे को त्याग कर वह कसाईखाने की आजीविका को न अपना ले?

कितने खेद की बात है कि इस प्रकार भ्रांति में पड़ कर और गलत विवेचनाएँ करके हमने भगवान् महावीर के उपदेशों की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ाई, बल्कि क्षुद्र स्वार्थों में फँस कर घटाई ही है।

एक गृहस्थ से देहली में भेंट होने पर मैंने पूछा—"कहिए, क्या बात है?" उसने कहा—"आपकी कृपा है, बड़े आनन्द में हूँ। महाराज, मैं पहले बहुत दुखी था। खेती का काम करता था तो महा-हिंसा का काम होता था। अब जमीन बेच कर चाँदी का सट्टा करता हूँ। बस, कोई झगड़ा-टंटा नहीं है। न जाने, किस पाप-कर्म का उदय था कि खेती जैसे महापाप के काम में फँसा था। अब पूर्वपुण्य का उदय हुआ तो उससे छुटकारा मिला है। अब सट्टे का धन्धा बिल्कुल प्रासुक (निर्दोष) धन्धा है। न कोई हिंसा है, न कोई बड़ा पाप।"

दो महीने बाद वही गृहस्थ एक दिन रोते हुए-से मेरे पास आए। पूछा—'क्या हाल है?' उसने कहा—'महाराज, मर गया। किसी काम का न रहा। सारी पूंजी गँवा बैठा।'

मैंने कहा—"अरे, तुम्हारा तो पूर्व पुण्य का उदय हुआ था और प्रासुक काम की शुरूआत हुई थी। न कोई हिंसा न कोई पाप। फिर बर्बाद कैसे हो गए?"

यदि गलत दृष्टिकोण जनता को मिल जाता है तो उससे महा-हिंसा को उत्तेजना मिलती है। यह न करो, वह न करो; इस तरह उसे मर्यादित चालू जीवन से उखाड़ कर दूसरे सट्टे आदि के कुपथ पर लगा दिया जाता है। फिर वह न तो इधर का रहता है, और न उधर का। वह बाह्य हिंसा के चक्र में उलझा हुआ यह नहीं समझ पाता कि सट्टे के पीछे कितनी अनैतिकता है?

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम जैन-धर्म की वास्तविकता को समझें, साफ दिमाग रख कर समझें और फिर मस्त-मस्तिक पर कोहरे की तरह घनीभूत छाए हुए भ्रमों को दूर कर दें। □

गोरक्षा का प्रश्न और अहिंसा

३०

अभी हमारे सामने वर्तमान में एक ताजा प्रश्न चल रहा है—'गोरक्षा' का। प्रश्न कोई अधिक पेचीदा नहीं था, किन्तु उसे इतना गहरा उलझा दिया गया है कि अब वह पेचीदा बन गया है।

जरा गम्भीरता से विचार कीजिए, 'गोरक्षा' का प्रश्न किस दृष्टिकोण से उठा है ? उसकी पृष्ठभूमि क्या है ?

'गोरक्षा' के सम्बन्ध में यह तर्क दिया जाता है कि "गाय हमें दूध देती है, इसलिए उनकी रक्षा होनी चाहिए।"

मैं पूछता हूँ यदि दूध देने के आधार पर ही गोरक्षा का नारा उठा है तो क्या भैंस दूध नहीं देती ? बकरी दूध नहीं देती ? गाय की अपेक्षा भैंस अधिक दूध देती है, और अधिकतर लोग भैंस का ही दूध पीते हैं, फिर भैंस की उपेक्षा क्यों ? गाय को बचाएँ तो क्या भैंस को मरने दें ? बकरी का दूध भी गाय के दूध से अधिक पाचक एवं स्वास्थ्यप्रद माना गया है।

दूसरा तर्क यह है कि 'गाय हमारी माता है, उसके शरीर में देवताओं का निवास है। उसका दूध पवित्र है, वह पवित्र प्राणी है। इसलिए उसकी रक्षा होनी चाहिए।"

अभी कुछ दिन पहले अहमदाबाद के कुछ विद्वान् यहाँ आये थे। गोरक्षा का प्रश्न चला तो उनमें से एक विद्वान् श्री रतिलालभाई बोले—"गौ हमारी माता है, इसलिए उसकी रक्षा होनी चाहिए, तो उस मौसी का क्या होगा ?"

मैंने जरा आश्चर्य से पूछा—"मौसी.....?" तो उन्होंने कहा—"गौ माता है, तो भैंस हमारी मौसी है, वह भी दूध देती है, उसका दूध भी हम सब पीते हैं।" मैंने कहा—"हाँ, माँ के साथ मौसी का ध्यान भी रखना चाहिए।"

पवित्रता के विषय में जैनदृष्टि

रहा पवित्रता का प्रश्न ! इस अर्थ में सभी प्राणी-देह या तो पवित्र हैं या अपवित्र है—यह विचार मूल में ही गलत है। हमारा दर्शन तो एकमात्र चैतन्य को ही पवित्र मानता है, जो सब में एक जैसा प्रतिष्ठित है। देह की पवित्रता या अपवित्रता के मिथ्या आधार पर अहिंसा का समाधान नहीं हो सकता।

इसलिए मैं सोचता हूँ—गोरक्षा के पीछे जो दृष्टिकोण है उसमें अहिंसा की दृष्टि से संशोधन होने की आवश्यकता है, जैसाकि हम चिन्तन करते आ रहे हैं,

अहिंसा की दृष्टि मूलतः चैतन्य की दृष्टि है। वह किसी देह-विशेष की पवित्रता या अपवित्रता के विकल्प में नहीं उलझती, चैतन्य चैतन्य के बीच वह किसी प्रकार की सीमा या भेदरेखा नहीं खींचती। प्रत्येक देह में वह समान चैतन्यदेव की सत्ता को स्वीकार करती है। इसके अतिरिक्त और कोई देवी-देवता किसी देह में रहते हैं, यह अहिंसा के दर्शन को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं है। इसलिए उसका पहला उद्घोष यह होगा कि प्रत्येक प्राणी की रक्षा की जाए। उसकी दृष्टि में गौ हत्या ही क्यों, पशुहत्या ही समूल बन्द होनी चाहिए। कहीं भी किसी भी, पशु या प्राणी का उत्पीड़न एवं वध आदि न हो। चाहे वह गाय हो, भैंस हो या बकरी हो, अथवा सूकर आदि अन्य प्राणी हो। देश में आज जो पशुवध के लिए बड़े-बड़े कत्लखाने खोले जा रहे हैं; चर्म और मांस के उत्पादन के लिये अनेक प्रकार के आयोजन हो रहे हैं; वे सब समाप्त होने चाहिए।

यह ठीक है कि यह एक बहुत बड़े आदर्श की बात है। आज यथार्थ की भूमिका पर विचार करना है। यथार्थ के विचार से आज हम इस स्थिति में नहीं हैं कि प्रत्येक प्राणी की हिंसा को रोक सकें। इसलिए मजबूरन यह विकल्प हमारे सामने आता है कि कम से कम जो गाय जो हमारे सबसे निकट का प्राणी है और जिसके साथ हमारी कुछ प्राचीन सांस्कृतिक भावनाएँ जुड़ी हैं, परस्पर के उपकार से जो हमसे अधिक संलग्न है, उसकी हत्या तो रोकें। इस दृष्टि से आज सबसे पहले गाय की रक्षा का प्रश्न हमारे सामने है और वह इस दृष्टि से हल होना चाहिए। अभी और किसी को नहीं, गाय को ही बचा सके तो हमारे लिये यह भी महत्त्वपूर्ण है। जो बच सके उसी का अभिनन्दन! किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य प्राणियों की रक्षा न की जाए, उनकी उपेक्षा की जाए, उन्हें मरने दिया जाए। गौ-रक्षा के साथ उनकी रक्षा के लिए भी हमें निरन्तर प्रयत्न करना है।

हिंसा से हिंसा नहीं मिटती

गौ-रक्षा के लिये जिस प्रकार आम हड़ताल, आमरण अनशन राष्ट्र की सम्पत्ति का विनाश आदि के रूप में उत्तेजक आन्दोलन चलाया जा रहा है, या चल पड़ा है, जनभावनाओं को उभाड़ कर शासक को विवश तथा बदनाम करने का प्रयत्न किया जा रहा है, वह अहिंसा की दृष्टि से उचित नहीं है।

अहिंसा और दया की बात हिंसक तरीकों से प्रस्तुत करना मूलतः ही गलत है। हिंसक साधन अपना कर हिंसा को रोका नहीं जा सकता। धर्म और संस्कृति की रक्षा के नाम पर अतीत में अनेक नृशंस हत्याकाण्डों से इतिहास के पृष्ठ रंगे गए हैं, मनुष्य ने मनुष्य का रक्त बहाया है। आज उसकी स्मृतिमात्र से ही रोमांच हो उठता है और मन घृणा एवं ग्लानि से भर जाता है। गौरक्षा के नाम पर आज भी उस इतिहास की पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न करना नितान्त मूर्खता होगी। गाय की रक्षा के नाम पर मनुष्य का खून बहे, यह बड़ी विचित्र बात है।

अहिंसा का दर्शन बलात्कार में विश्वास नहीं करता। किसी को विवश करके

अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं करवाई जा सकती। अहिंसा हृदय-परिवर्तन करती है, मजबूर नहीं करती। वह सात्विक आचार और प्रचार के पक्ष में है, अन्य किसी तोड़-फोड़ के पक्ष में नहीं। भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ने अहिंसा और करुणा के प्रचार के लिए कभी भी शासन का द्वार नहीं खटखटाया। बड़े-बड़े सम्राट् उनके भक्त थे, उनके चरणों में बैठ कर उपदेश सुनते थे, पर कभी भी उन्होंने किसी सम्राट् को राज्य में हिंसा बन्द करने के लिए विवश नहीं किया। उन्होंने जनता का हृदय-परिवर्तन किया, वातावरण बदला, हिंसकों की भावनाएँ बदलीं।

जैन इतिहास में मगधसम्राट् श्रेणिक को महावीर का परम भक्त बताया गया है। उसी मगध में कालसौकरिक कसाई रहता था, जो पाँच सौ भैंसे प्रतिदिन मारता था। सम्राट् ने एक बार उसे पञ्चेन्द्रिय हिंसा से विरत करने के लिए कारागृह में बन्द कर दिया। किन्तु यहाँ बैठा भी वह भावना से भैंसे मारता चला गया।

भगवान् महावीर ने मगधेश से कहा—"सम्राट्, इस प्रकार बलपूर्वक उसकी हिंसा नहीं छुड़ाई जा सकती। हृदय बदले बिना अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। जैन इतिहास बताता है कि मगध के महामन्त्री अभय ने आखिर कालसौकरिक के पुत्र को अपना मित्र बनाया और धीरे-धीरे उसके संस्कार बदल कर उसे अहिंसा के मार्ग पर गतिशील किया।

पूरा जैनवाङ्मय पढ़ जाने के बाद भी आपको कहीं पर यह नहीं मिलेगा कि महावीर ने कहीं किसी को हिंसा आदि का त्याग करने के लिए विवश किया हो। उनकी साधना इच्छायोग की साधना थी। सात्विक प्रेरणा जगाने भर का उद्देश्य उनके समक्ष था। सत्प्रेरणा जगी, हृदय प्रबुद्ध हुआ कि व्यक्ति स्वयं अहिंसा, सत्य आदि के मार्ग पर चल पड़ता था।

घर-घर में संसद् है ?

मैं आपसे कह रहा था कि गौ-रक्षा के लिये शासन को प्रभावित करने की अपेक्षा समाज को प्रभावित करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि समाज को छोड़ कर केवल शासन के माध्यम से ही हम अहिंसा की प्रतिष्ठा करवाना चाहते हैं, तो कल हिंसक शक्तियां भी शासन को प्रभावित करके अहिंसा की जड़ें उखाड़ने का प्रयत्न कर सकती हैं। तब हम क्या करेंगे ? शासनतन्त्र अस्थायी है, वह बदलता रहता है, कभी किसी के हाथों में तो कभी किसी के हाथों में !

संसद्भवन के समक्ष उग्र प्रदर्शन करके, राज्यव्यवस्था में विक्षेप डाल कर और जन-धन की हानि करके हम अपनी बात मनवाना चाहें, यह गलत है। धर्म कभी शासन का द्वार नहीं खटखटाता है। हमारी संसद् उस पार्लियामेंट भवन में नहीं रहती, वह घर-घर में है। आप घर-घर में जाइए। अधिकारियों के घर पर, संसद्सदस्यों के घर पर जाईए, उन्हें और उनके परिवार को अपनी बात समझाइए, उनके विचार बदलिए और फिर आप अपने उद्देश्य की सिद्धि करने का प्रयत्न कीजिए।

अहिंसा और संस्कृति की रक्षा के लिये हमें तामसिक एवं राजसिक मार्ग नहीं, किन्तु सात्विक मार्ग अपनाना चाहिए। शासन का भी आश्रय लें तो उसका रूप भी सात्विक ही होना चाहिये। अहिंसा या किसी भी अन्य धर्म एवं सिद्धान्त का प्रचार कभी भी भय, प्रलोभन, छलछद्मों और प्रपंचों से नहीं, सात्विक पद्धतियों से होता है, हृदय के विश्वास और संस्कार बदलने से होता है। जीवन का परिवर्तन आगे की भूमिका है। सबसे पहले दृष्टिपरिवर्तन की भूमिका पर हमें चलना है। हमारी दृष्टि, विचार करने का तरीका जब शुद्ध और पवित्र हो जाता है, हृदय में विवेक जग जाता है तो फिर जीवन पवित्र और उज्ज्वल होने में कोई समय नहीं लगता। सबसे मुख्य प्रश्न है—हमारी दृष्टि चैतन्यप्रधान हो, जड़प्रधान नहीं। हमारी विचार-क्रान्ति का मूल केन्द्र चैतन्य होना चाहिए; जड़ नहीं। शुद्ध तर्कप्रधान चिन्तन, समस्या का सही और स्थायी समाधान करता है। केवल भावनाप्रधान चिन्तन हमें सही लक्ष्य की ओर नहीं ले जा सकता। जब-जब तर्क को छोड़ कर केवल भावना एवं कल्पना का आधार लिया है, हम भटके हैं और बुरी तरह भटके हैं। तर्कहीन भावना अन्धविश्वास को जन्म देती है और अन्ध-विश्वास सत्य को धूमिल करता है। सत्य की उपासना के लिए चैतन्यप्रधान तर्कदृष्टि ही अपेक्षित है। □

अमृतमय सन्देश : अहिंसा

अहिंसा के अग्रगण्य सन्देशवाहक भगवान् महावीर हैं। आज दिन तक उन्हीं के अमर सन्देशों का गौरवगान गाया जा रहा है। आपको मालूम है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले का समय भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक महान् अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओं के आगे पशुबलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं, मांसाहार और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में पिस रहे थे। स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपों में सब ओर हिंसा का घातक साम्राज्य छाया हुआ था। भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया, जिससे भारत की कायापलट हो गई। सांस्कृतिक क्षेत्र में और भी कई प्रश्न हैं। जिन पर हमें अहिंसा की दृष्टि से सोचना और उनका उचित हल ढूँढ़ना चाहिए। कुछ प्रश्नों पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं।

होली के सांस्कृतिक पर्व के पीछे अहिंसा

जब जन-जीवन अनेक विघ्नबाधाओं से निकल कर प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ता है, तब उसमें एक आनन्द और उल्लास छा जाता है। वही आनन्द और उल्लास होलिकापर्व के रूप में हमारे सामने आया। प्रतिवर्ष वह हमारी सामाजिक क्रान्ति और संस्कृति का अंग बन कर आता है। इस शुभ अवसर पर हम एक-दूसरे से मिलजुल कर सामाजिक आनन्द का उपभोग करते हैं। होलिकापर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र सभी परस्पर मिल कर आनन्द और उल्लास मनाते हैं। होलीपर्व पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। हमारी मूल अहिंसात्मक संस्कृति का यह पावन प्रतीक है। यह पर्व हर इन्सान को प्रेम का पाठ पढ़ा कर मानव समाज में परिकल्पित ऊँचनीच के भाव को मिटाता है। वर्तमान समय में इसमें कुछ विकृतियाँ अवश्य आ गई हैं। गन्दी गालियाँ देना, धूल-कीचड़ उछालना, गन्दा मजाक करना तथा अन्य गन्दी हरकतें करना ये बातें आजकल इस पर्व के साथ जुड़ गई हैं; जो हमारी मूल संस्कृति और परम्परा के विरुद्ध हैं। ऐसी गन्दी हरकतें करके हम पर्व की मूल आत्मा और उसके पीछे निहित भावना को भुला बैठे हैं। केवल उसके शरीर की आराधना करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस पर्व के शरीर को नहीं, मूल आत्मा को पकड़ने का प्रयत्न करें। तभी जन-जीवन में अहिंसा और प्रेम की भावना

बढ़ेगी और उसमें उल्लास और आनन्द प्रकट हो सकेगा। इसी में होली के पर्व की सार्थकता है।

दीपावली पर्व : अहिंसा का बोधक

दीपावली पर्व भी भारत का एक सामाजिक एवं राष्ट्रीय पर्व है। क्योंकि दीपावलीपर्व को भी समाज के सभी व्यक्ति बड़े उल्लास के साथ मनाते है। दीपावली पर्व मनाने वाले व्यक्तियों में, किसी भी प्रकार का वर्णभेद नहीं माना जाता। दीपावली पर्व के मनाने में भारतीय संस्कृति के मूल उद्देश्य को समझने के लिए हमें उसकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करना चाहिए। वर्षाकाल में अनेक प्रकार के विषैले प्राणी पैदा हो जाते हैं। वर्षावास में जो प्रकृति में नमी और सीलन रहती है, उससे अनेक जीवों की उत्पत्ति में वृद्धि हो जाती है। काले कजरारे बादलों से आकाश घिरा रहता है, जिससे चारों ओर अन्धकार-सा छाया रहता है। वर्षाकाल में घर में बहुत कूड़ा-कचरा भी इकट्ठा हो जाता है। इस कारण घर की स्वच्छता और उज्ज्वलता नष्ट हो जाती है और हमारे चारों ओर एक गन्दा वातावरण फैल जाता है। निरन्तर वर्षा होने के कारण अन्दर में गंदगी और बाहर में कीचड़ फैल जाता है। इस कीचड़, गंदगी और अन्धकार से मानवमन ऊब जाता है। वर्षाकाल की समाप्ति पर आकाश स्वच्छ हो जाता है और बाहर का कीचड़ सूख जाता है, तब घर के अन्दर की गंदगी को भी बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाता है। शरदपूर्णिमा के उजियाले में जब मानव अनन्तनील गगन में असंख्य तारों को जगमग करते देखता है, और चन्द्रज्योत्सना से समग्र विश्व को दुग्धस्नात जैसे उज्ज्वलारूप में देखता है, तो उसका मन आनन्द और उल्लास से भर जाता है। शरदपूर्णिमा से ही लोग अपने घरों की सफाई-पुताई शुरू कर देते हैं, तब यह समझा जाता है कि दीपावली पर्व सन्निकट है और उसकी आराधना के लिए तैयारियाँ होने लगती हैं। उस समय मनुष्य अपने घर और बाहर सबको स्वच्छ और पावन बनाने का प्रयत्न करने लगता है। मनुष्य का उदास मन प्रसन्न हो उठता है, जबकि वह अपने घर के आंगन में दीपकों की माला को जगमग करते देखता है। दीपकों की उस ज्योतिर्मय माला से उसके घर के आंगन का ही नहीं, आस-पास के सारे प्रदेश का भी अन्धकार दूर भाग जाता है और जीवन का कण-कण आलोक से आलोकित हो उठता है। इसी आधार पर इसे प्रकाशपर्व कहा जाता है। इस पर्व पर अन्दर-बाहर सर्वत्र प्रकाश छा जाता है। अन्धकार मानव मन को आनन्दित नहीं करता। वह उसे उदास बनाता है। दीपावली पर्व के पीछे हमारा जो मुख्य दृष्टिकोण था, उसे हम भूल गए हैं। अन्दर और बाहर की स्वच्छता ही इस पर्व का मुख्य उद्देश्य था। गन्दगी हिंसा का प्रतीक है और स्वच्छता अहिंसा का। हम गंदगी को दूर करके हिंसा को दूर करते हैं और स्वच्छता को ला कर अहिंसा की आराधना करते हैं। दीपावलीपर्व की आराधना भी प्रकाश के माध्यम से अहिंसा की आराधना है।

हिंसा के परित्याग और अहिंसा के संरक्षण के लिए हमें सांस्कृतिक क्षेत्र के इन विभिन्न प्रतीकों पर गहराई से चिन्तन करना चाहिए।

अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में परिवार-नियोजन

माना गया है कि जीवन की मूल प्रवृत्ति सुखैषणा है। सुखैषणा ने ही अहिंसा के विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। जीवदया का दूसरा नाम, जो सुखैषणा की आधारभित्ति है, अहिंसा है। प्राणिमात्र का परस्पर सम्बद्ध हो कर कल्याणमार्ग पर अग्रसर होना, जिसमें अपने-पराये की द्वैत-भावना एकत्व-भाव में विलय हो कर उदात्त रूप ग्रहण करती है, अहिंसा का एकमात्र आश्वत मार्ग है। अहिंसादर्शन के महान् चिंतक तीर्थंकर महावीर ने तो प्राणियों को इसी मूल भावना को अहिंसा का मुख्य हेतु माना है, और कहा है—**"सव्वे जीवा सुहसाया दुहपडिकूला।"**—समस्त जीव-जगत् को सुख-शांति प्रिय है, दुःख अप्रिय है, इसलिये किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए। **"सव्वे अकंत दुक्खाय, अओ सव्वे अहिंसिया।"**—दुःख सब प्राणियों को अप्रिय है, इस कारण किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। चिंतन का यह स्वर स्पष्ट कर देता है कि अहिंसा का आदर्श जन-जीवन की पीड़ा एवं व्यथा को कम करना तथा सुख-शान्ति की व्यवस्था को स्थिर रखना है।

पीड़ा और व्यथा से चेतना उद्वेलित होती है, वह क्षुब्ध एवं अशांत रहती है। अशांति की स्थिति में मन स्थिर नहीं रहता, और बिना स्थिरता के मानव-चेतना का आध्यात्मिक विकास कथमपि संभव नहीं। आध्यात्मिक विकास अहिंसा का चरम आदर्श है। कहने का तात्पर्य यह है कि अहिंसा के चरम आदर्श को प्राप्त करने के लिए, जीवन में पीड़ा की निवृत्ति एवं सुख-शांति की व्यवस्था का स्थिर होना, अत्यन्त आवश्यक है। मानव-जाति का इतिहास इसका साक्षी है कि सुखशांति की स्थिरता की स्थिति में ही अहिंसा एवं नैतिकता का विकास-विस्तार हुआ है। कारण, मानवमन जब अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की संतुष्टि सहजरूप में पाता रहता है, तो उसे अनैतिक क्रियाओं का सहारा नहीं लेना पड़ता, उसकी जरूरत ही वह महसूस नहीं करता। अभाव की स्थिति में ही नानाविध असंगतियाँ एवं आचार-हीनताएँ उभरती हैं। इन असंगतियों एवं आचारहीनताओं का आधारभूत एक और कारण है और वह है—मानवमन के असंयम का नाना कुरूपताओं के रूप में प्रस्फुटन।

मानवमन का असंतुलित हो जाना, मानव का आत्मसंयम को खो देना ही अनेकानेक विषमताओं एवं समस्याओं का जनक है। कारण, आत्मसंयम के खो देने से ही मनुष्य का मन अभद्र कामनाओं, सांसारिक विषय-भोगों की ओर द्रुतगति से भागने लगता है। और, यह द्रुतगति की दौड़ लीमित आय की रेखा को छलांग कर वहाँ तक पहुँच जाती है, जहाँ अभावों का अखण्ड राज्य होता है। मन की यही तृष्णा, ऐच्छिक सुख की यही अनियन्त्रित लालसा, मानव को सहज सुख के सोपान से विचलित करती रहती है।

परिवार-नियोजन और अहिंसा-दृष्टि

आज मानव-जाति के सामने बढ़ती हुई जनसंख्या के गतिरोध का प्रश्न एक विकट समस्या के रूप में उपस्थित है, जिसके लिए परिवार-नियोजन की दिशा में प्रचारित उपादानों द्वारा प्रजनन की गति को रोकने का प्रयास किया जा रहा है। बहुत बार यह प्रश्न सामने आता है कि परिवार-नियोजन के लिए अपनाये जा रहे ये प्रयोग अहिंसा की दृष्टि से कहाँ तक संगत हैं? यह स्पष्ट है कि अहिंसा, जीवन की व्यापक संभावनाओं का केन्द्रीय रूप है। अतः जीवन का हर प्रश्न अहिंसा का प्रश्न बन जाता है। परिवार के नियोजन का प्रश्न भी अहिंसा से आ जुड़ा है। मेरा विचार है कि जिस प्रकार प्राचीन युग में अहिंसा के विकास के लिए कृषि का विकास आवश्यक मान लिया गया था, उसी प्रकार व्यापक चिंतन के बाद वर्तमान में, परिवार-नियोजन को भी अहिंसा के विकास में एक अनिवार्य कार्यक्रम मान लिया जाए। हो सकता है, इस पर कुछ लोगों के मन में यह प्रश्न उठ खड़ा हो कि क्या इससे अहिंसा की मूल भावना—संयम, जीवदया पर आघात नहीं होगा? क्या परिवार-नियोजन के कृत्रिम उपादानों का व्यवहार मानव को असंयमी नहीं बनाएगा? उत्तर स्पष्ट है, यह खतरा अवश्य है। अतः सर्वप्रथम संयम के द्वारा भोगनिग्रह की प्रेरणा मानव को मिलनी चाहिए। ब्रह्मचर्य की साधना इसके लिए सर्वोत्तम मार्ग है। मर्यादाहीन भोगासक्ति जीवन के तेज को ध्वस्त कर देती है, विवेक-बुद्धि एवं बल-विक्रम को नष्ट कर डालती है। परन्तु प्रश्न उनका है, जो, लम्बे समय तक ब्रह्मचर्य की साधना नहीं कर सकते। फलतः हर वर्ष जनसंख्या की वृद्धि होती रहती है, और भरण-पोषण के उचित साधनों के अभाव में आने वाले प्राणी भुखमरी के शिकार होते रहते हैं।

आए दिन समाचारपत्रों आदि में पढ़ने एवं सुनने में आता है कि अमुक स्थान पर अमुक व्यक्ति ने गरीबी के कारण अपने पूरे परिवार को जहर दे कर मार डाला। अमुक व्यक्ति रेल की पटरी पर कट मरा तथा अमुक ने फाँसी लगा ली। तो, यहाँ पर यह सबसे ज्यादा विचारणीय बात हो जाती है कि आखिर यह सब क्यों होता है? अभावों के कारण ही तो! क्योंकि रोटी कम है, और खाने वाले ज्यादा हैं, वस्त्र थोड़ा है, और पहनने वाले ज्यादा हैं। आदमी न रोटी की समस्या पूरी कर पाता है, न वस्त्र की। अतः वह अपने जीवन के बोझों से घबरा कर इस प्रकार का हिंसात्मक गलत कदम उठाता है। इस पर से स्पष्ट हो जाता है कि अभावों के बीच जनसंख्या की दिनानुदिन वृद्धि अभावों को और भी बढ़ा कर हिंसा को ही प्रोत्साहन देती है। इस दृष्टि से, जनसंख्या को सीमित करना कहीं ज्यादा श्रेयस्कर एवं हिंसा से रहित है।

अभावों के बीच जन्म प्रदान कर किसी प्राणी को अक्षय पीड़ाओं में कराहते छोड़ देना, कहाँ तक ठीक है? सोचने की बात है कि किसी प्राणी को जीवनभर अभावों के बीच पीड़ा, कुण्ठा एवं संत्रास के सागर में डुबो देना, उसके लिए सुख-

शांति की बात होगी, या कि उसे इधर आने से रोक कर ? दिनरात अभावों में तड़पते रहना भी कोई श्रेयस्कर जिन्दगी है ? अतः स्पष्ट है, अमुक अंश में, परिवार-नियोजन का कार्यक्रम भी अहिंसा के क्षेत्र में आता है।

जनसंख्या के अनुपात में उपभोग के साधन

यह सच है कि परिवार-नियोजन वर्तमान युग की बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या का एक सामान्य समाधान बन गया है। किन्तु वस्तुतः यह समस्या वर्तमान की ही नहीं, मानव-जाति की आदिम समस्या है। जैनपुराणों का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव से पूर्व, जबकि अकर्मभूमि में यौगलिक सभ्यता थी, जनसंख्या सीमित थी, और उपभोग-सामग्री प्रचुरमात्रा में उपलब्ध थी। आगे चल कर जनसंख्या बढ़ने लगी, तो उपभोग-सामग्री में कमी आने लगी। फलतः संघर्ष, विग्रह और युद्ध होने लगे। समाज में विशृंखलताजन्य अशांति बढ़ने लगी। और तब युगद्रष्टा ऋषभदेव ने कृषि एवं उद्योग का विकास करके अभावजनित विग्रह की शान्ति का पथ प्रशस्त किया।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जनसंख्या-वृद्धि के साथ यदि उपभोग-सामग्री की वृद्धि नहीं होती है, तो गरीबी, अभाव और तज्जन्य संघर्ष पैदा होते हैं। ऋषभदेव के युग में जनसंख्या की वृद्धि का होना आवश्यक था, अतः उनके समय में परिवार-नियोजन का प्रश्न उपस्थित न हुआ। किन्तु जन-जीवन को अभावजन्य पीड़ा से बचाने के लिए उन्होंने कृषि एवं उद्योग का समाधान प्रस्तुत कर लोकहित का एक महत्त्वपूर्ण मार्ग प्रशस्त किया, जिसके परिणामस्वरूप जनजीवन गरीबी के उत्पीड़न से बच सका। कल्पना कीजिए, यदि उस युग में कृषि एवं उद्योग के रूप में अपेक्षित साधन-वृद्धि न की गई होती, और जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि का अनुपात तीव्रगति से बढ़ता ही रहता, तो क्या परिवार-नियोजन जैसी किसी उपयुक्त व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं जाता ? क्या तब नाना प्रकार के अभावों से त्रस्त कीड़े की तरह कुलबुलाती जिन्दगी जीने को जनसंख्या दिनानुदिन बढ़ाते जाते और कोई ठीक समाधान नहीं निकालते ? मेरा विश्वास है कि यदि जीवन की उपभोग्य-वस्तुएं ज्यों की त्यों सीमित बनी रहतीं और जनसंख्या बढ़ती ही जाती, तो अहिंसा के आधार पर सामाजिक विकास की संभावनाएँ मूलतः क्षीण ही हो जातीं।

वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में विचार करने पर ऐसा कुछ महसूस होता है कि निकट भविष्य में अभी यह संभव नहीं कि औद्योगिक विकास का जनसंख्या-वृद्धि के साथ आसानी से तालमेल बैठ सकेगा। फिर क्या जनता इसी प्रकार अभावों से प्रताड़ित, भूखी, नंगी, दरिद्र, रुग्ण एवं अशांत स्थिति में जिन्दगी की विषम घड़ियाँ काटती रहेगी ? क्या यह अभाव मनुष्य को एक दिन छीना-झपटी, संघर्ष, हिंसा एवं विद्रोह के लिए मजबूर नहीं कर देगा ? जब समाज में खाने वाले अधिक होंगे और खाद्य-पदार्थ कम होंगे; जब रहने वाले अधिक होंगे और रहने योग्य आवास कम होंगे;

स्वास्थ्य, चिकित्सा और शिक्षा के साधन भी अल्प होंगे, तो निश्चय ही भूख, बीमारी और अशिक्षा का प्राबल्य होगा। परस्पर विद्वेष की भावना से कलह का उदय होगा, फलतः शांति की चिरपुनीत धारा अवरुद्ध हो जाएगी और अशांति के तूफान के बीच हिंसा का जघन्य ताण्डव शुरू हो जाएगा। ऐसी परिस्थिति में अहिंसा के विकास एवं जन-कल्याण की अभिवृद्धि की कल्पना कौन कर सकता है ?

समस्या का समाधान

अब पहले का प्रश्न फिर उभर कर आता है कि—'इस समस्या का समाधान क्या है ?'

'जनसंख्या की वृद्धि का अनुपात कम होना चाहिए'—यह सीधा-सा उत्तर है।

अब प्रश्न यह है कि—'यह बढ़ती हुई जनसंख्या आखिर रुके कैसे ? सहज स्वाभाविक रूप से या कृत्रिम साधनों द्वारा ?'

पहला मार्ग निश्चय ही प्रशस्त है, खतरे से खाली भी है। आन्तरिक चेतना का जागरण होने पर वैराग्य के द्वारा जो भोगासक्ति कम होती है, वह साधन ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही स्थितियों में सही समाधान प्रस्तुत करता है। ब्रह्मचर्य में आध्यात्मिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार का निष्कलुष लाभ है। धर्मपरम्पराओं का कर्तव्य है कि वह इसे आन्दोलन का रूप दें, जन-जीवन में नैतिक जागरण पैदा करें। यह मार्ग कठिन अवश्य है, पुरानी भाषा में तलवार की धार पर चलने-जैसा है, फिर भी असंभव तो नहीं है। हजारों ही नहीं, लाखों साधकों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन जीया है, और उनकी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी शानदार सफलताएँ हर युग के लिए प्रेरणास्रोत रहेंगी। आंशिक ब्रह्मचर्य के साधक भी कुछ कम नहीं हैं। अतः सर्वप्रथम परिवार-नियोजन की समस्या के समाधान के लिए यही पवित्र सर्वश्रेष्ठ साधन अपनाना चाहिए। यह साधन अहिंसक भी है, नैतिक भी है और धार्मिक भी। इस पथ की जो कठिनाइयां हैं, उनके व्यावहारिक हल खोजने की दिशा में रचनात्मक उपक्रम की अपेक्षा है। इसके लिए शुद्ध सात्विक भोजन, मादक द्रव्यों का त्याग, स्वच्छ धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा, सत्संग, आध्यात्मिक ग्रन्थों का यथोचित स्वाध्याय, समाज में सामूहिक रूप से उत्तेजक शृंगार-प्रसाधनों का परिहार, कामोत्तेजक अर्धनग्न नाच-गान एवं अश्लील सिनेमा आदि का परित्याग—इत्यादि कुछ ऐसे व्यावहारिक प्रयत्न हैं, जो ब्रह्मचर्य की साधना के लिए सहायक हो सकते हैं।

दूसरा मार्ग प्रचलित परिवार-नियोजन का रूप है, किन्तु उसमें खतरा भी है। सुनने में आता है कि कृत्रिम साधनों के द्वारा परिवार-नियोजन करने से नैतिक आदर्श गिर जाएँगे, विषयभोग की आकांक्षाएँ अनियंत्रित एवं उद्दाम हो उठेंगी। कुमारिकाओं एवं विधवाओं में, जो एक बंधन एवं भय की सीमा है, वह समाप्त हो जाएगी। आशंकाओं को सर्वथा झुठलाया तो नहीं जा सकता, किन्तु ये जो हेतु दिखाए गये हैं, वे कोई ऐकान्तिक अन्तिम एवं नितान्त सही ही हैं, ऐसी बात नहीं। प्रायः देखने-सुनने

में आता है कि कृत्रिम साधनों के प्रयोग के बिना भी सैकड़ों-हजारों कुमारिकाएँ एवं विधवाएँ गर्भपात एवं भ्रूणहत्याएँ करती हैं। ऐसा क्यों है? यह अनियंत्रित एवं उद्दाम विषय-भोग की आकांक्षाओं का दुष्परिणाम नहीं तो और क्या है? रही बात नैतिक आदर्श की, तो जिसके मूल में किसी प्रकार का भय या आतंक हो, वह और कुछ भले ही हो, नैतिक आदर्श कदापि नहीं हो सकता। और, फिर यह भय भी तो एक-तरफा ही है। महिलावर्ग कृत्रिम उपकरणों के अभाव में भले ही कुछ नियंत्रित रह ले, किन्तु पुरुषवर्ग तो इस नियंत्रण से मुक्त ही रहता है। प्रकृति ने उस पर ऐसी कोई स्थिति नियत नहीं की है, जो किसी शारीरिक परिवर्तन के भय से नियन्त्रण में रह सके। फिर, एक विशेष प्रकार के कृत्रिम साधनों से ही मनुष्य क्यों डरता है? जीवन के पद-पद पर तो यह देखा जाता है कि मनुष्य आए दिन कृत्रिम साधनों का प्रचुर रूप में उपयोग कर अपना जीवन-पथ तय कर रहा है। उनसे यदि जीवन की स्वाभाविकता पवित्रता एवं नैतिकता नष्ट नहीं होती, तो इससे ही नष्ट हो जाएगी, ऐसी निश्चयात्मक आशंका क्यों है? साधन का जब तक साधन के रूप में ही उपयोग होता है, तब तक तो कोई खास बुराई नहीं है, उसके उपयोग की 'अति' ही बुराई है। अतः 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

अधिक संतान जीवन के लिए घातक

परिवार-नियोजन के प्रश्न को एक और दृष्टि से भी सोचा जाना चाहिए कि अधिक संतान न केवल सामाजिक जीवन की अशांति का कारण है, अपितु मातृजीवन के लिए भी घातक है। मातृजीवन की दुर्बलता, क्षीणता एवं अनेकानेक बीमारियों का कारण अधिक संतान का होना है। अधिक संतति के कारण माताएँ जल्दी ही कालकवलित हो जाती हैं। इस दृष्टि से परिवार-नियोजन के कार्यक्रम पर यदि विचार किया जाए, तो इसमें अहिंसा के साथ विरोध कहाँ है? अपितु यह कार्यक्रम तो मातृजाति को पीड़ाओं से मुक्त करने की दिशा में अहिंसा के पक्ष में ही आता है। आगम-साहित्य की 'बहुपुत्तिया' का उदाहरण हमारे समक्ष है। अधिक संतान के कारण वह बेचारी किस दयनीय स्थिति को प्राप्त हो गई थी! उसका कितना बुरा हाल हुआ था! क्या यह हिंसा प्रतिकार के योग्य नहीं है?

परिवार-नियोजन का सहज एवं अनुकरणीय मार्ग

जैसा कि मैं पहले स्पष्ट कर चुका हूँ, जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि का समाधान करने की दिशा में परिवार-नियोजन का कार्यक्रम एक व्यावहारिक कार्यक्रम है। और वह राष्ट्रहित की दृष्टि से आवश्यक भी है। किन्तु यहाँ एक बात और भी विचारणीय है, वह यह कि जीवन को शमन एवं दमन के इन कृत्रिम कार्यक्रमों पर ही आधारित न रह कर मन में कीटदंश के समान विषवमन करने वाली विषय-भोग की लिप्साओं की कुछ मानसिक चिकित्सा भी होनी चाहिए। स्वस्थ चिन्तन के द्वारा कामवृत्ति का शमन अपेक्षित है। निरोध गर्भ का ही नहीं, प्रत्युत मन की

विषय-तृष्णा का भी होना चाहिए। नसबंदी मात्र प्रजनन-अवयव की ही नहीं, प्रत्युत मन की तृष्णाओं की भी होनी चाहिए। इसके लिए जनता में नैतिक आदर्शों की भावना को जगाने की अनिवार्य अपेक्षा है। ब्रह्मचर्य का पालन, ब्रह्मचर्य की दृष्टि से ही नहीं, अपितु अहिंसा की दृष्टि से भी परमावश्यक है—यह आदर्श जनसामान्य के सामने आना चाहिए। किन्तु आदर्श के आग्रह में यथार्थ को भी नहीं भुलाया जा सकता। मस्तक आकाश में ऊँचा उठा रहे, कोई आपत्ति नहीं; किन्तु पैरों के नीचे की धरती भी तो देखनी ही चाहिए कि वह कितनी ठोस है? कितना भार सहन कर सकती है? आदर्श के साथ यथार्थ को और यथार्थ के साथ आदर्श को मिलाते रहना चाहिए। इस प्रकार अहिंसा के सम्यक् एवं समुचित विकास की दृष्टि से परिवार-नियोजन को अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इसलिए कि यह जन-जीवन की पीड़ा, क्षोभ, अशांति, विक्षिप्तता, दरिद्रता एवं अशिक्षा को कम करने में किसी न किसी रूप में सहायक होता है। हाँ, हमें परिवार-नियोजन के साथ ही नैतिक आदर्श की भावना भी समानरूप से जागृत करनी चाहिए, ताकि उसके खतरे कम हो सकें, और हमारा राष्ट्र अपने जीवनपथ को सरलता के साथ मंजिल का रूप दे सके। आज मानव के लिए यह एक सर्वथा अपरिहार्य एवं अनिवार्य बात हो गई है कि वह मानसिक संकीर्णता की काल कोठरी से निकल कर चिन्तन के उन्मुक्त एवं विस्तीर्ण धरातल पर खड़ा हो, तथा युगबोध एवं युग की मांग पर पूरी सहानुभूति एवं सहृदयता से विचार करे। जीवन की इस विस्तीर्ण भावभूमि पर पहुँचने पर यह अपने आप प्रत्यक्ष हो जाएगा कि वर्तमान परिस्थिति में परिवार-नियोजन मूलतः अहिंसा का ही एक आवश्यक पहलू है। □

वैचारिक अहिंसा और अनेकान्त | ३२

जैनधर्म में समभाव या समताभाव को विशेष प्रधानता दी जाती है और समता के भाव से ही अनेकान्त का जन्म होता है। अनेकान्त और अहिंसा एक-दूसरे के पूरक हैं। विचारात्मक अहिंसा का ही नाम अनेकान्त है या यों कहें कि बौद्धिक अहिंसा ही अनेकान्त है। इसमें किसी एक पक्ष या एक अंश को प्रधानता नहीं दी जाती, न उसके लिए आग्रह ही होता है। यह सबके प्रति समान आग्रह रखने को कहता है। इसका बहुत ही व्यापक क्षेत्र है। इसके अन्दर सभी एकान्तवादी विचार आ जाते हैं। यह धर्म, दर्शन, संस्कृति सभी क्षेत्रों तक अपना स्थान रखता है। इसके बिना जीवन के किसी भी व्यवहार का चलना मुश्किल हो जाता है।

अनेकान्तः एक विश्लेषण

जैनतत्त्वमीमांसा में अनेकान्त का विश्लेषण प्राप्त होता है। जब भ० महावीर ने सांसारिक वस्तुओं का मौलिकता के दृष्टिकोण से अध्ययन किया तो उन्हें जानकारी हुई कि हर एक पदार्थ चाहे वह बिल्कुल बड़ा हो अथवा बिलकुल छोटा, पर उसमें अनन्त धर्म होते हैं।[1] अनेक गुण होते हैं। जैनदर्शन में गुण शब्द के लिए 'धर्म' शब्द प्रयोग होता है। किन्तु यह सम्भव नहीं कि एक साधारण व्यक्ति किसी वस्तु के सभी धर्मों को जान सके। कोई व्यक्ति कह सकता है कि वह अपनी कलम को अच्छी तरह जानता है, क्योंकि उसकी कलम उसके पास है, वह उससे लिखता है। लेकिन उसका ऐसा कहना गलत होगा। इतना वह कह सकता है कि कलम अमुक रंग की है, उसमें पीली या उजले रंग की निब लगी है, अमुक कम्पनी की बनी हुई है। मोटी है अथवा पतली है। लेकिन क्या वह बता सकेगा, यदि उससे पूछा जाय कि उसकी कलम तलवार, कुदाल, हँसिया, मोटरकार, जहाज आदि से कितनी भिन्न है? शायद ऐसा बताना उसके लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा। इसी तरह कलम के सम्बन्ध में उससे और भी प्रश्न पूछे जा सकते हैं। और सभी प्रश्नों के उत्तर के लिए उसे उन सभी वस्तुओं को जानना चाहिए, जिनसे सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं। किन्तु सभी वस्तुओं के विषय में जानकारी रखना एक साधारण व्यक्ति के लिए असम्भव है। एक साधारण व्यक्ति न तो एक वस्तु को पूर्णतः जानता है और न सभी वस्तुओं को ही। क्योंकि एक वस्तु को जानने का अर्थ होता है, सब को जानना और सबको जानने का,

---

१ "अनन्त-धर्मात्मकं वस्तु" (स्याद्वादमंजरी)

अर्थ होता है एक को जानना।[२] जो सर्वज्ञ होता है वह सभी वस्तुओं को जानता है। लेकिन देखा जाता है कि जो सर्वज्ञ नहीं है, वह भी अपने एकपक्षीय ज्ञान को पूर्ण सत्य मान कर दूसरों को गलत बताता है, उनसे झगड़ पड़ता है। इस तरह का व्यक्ति एकाग्रही होता है ; क्योंकि वह केवल एक पक्ष किसी विशेषवाद, एक सिद्धान्त के लिए आग्रह करता है। एकाग्रही को ही एकान्तवादी कहते हैं।

अन्धे और हाथी

इस एकान्तवादी प्रकृति की स्पष्टता के लिए आचार्यों ने एक बड़ा ही रुचिपूर्ण उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार है—कुछ अन्धों ने हाथी के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने का विचार किया और उन सबों ने हाथी को छू कर ही जाना कि हाथी किस प्रकार का होता है जिसने पैर का स्पर्श किया उसने कहा कि हाथी खम्भे की तरह है। जिसने हाथी की दुम पकड़ी, उसने कहा कि हाथी रस्से की तरह हिलता, डोलता हुआ कोई जानवर है। जिसने कान का स्पर्श किया, उसने कहा कि हाथी सूप की तरह होता है। वे सभी अपने-अपने ज्ञान को सत्य मानने लगे और दूसरे के ज्ञान को गलत। यद्यपि उनमें से किसी ने हाथी को पूर्णरूपेण नहीं देखा था। पर वहाँ कोई आँख वाला व्यक्ति आया तो उसने उन्हें हाथी का पूर्ण रूपक सुनाया। आँख वाले व्यक्ति से, जिसने हाथी को सब तरह से देखा, हाथी के सम्बन्ध में जब वर्णन सुना, तब उन सबों को यह जानकारी हुई कि अलग-अलग वे सबके सब अंशतः सही हैं, संकीर्णतः नहीं, और यहीं पर वे एकान्तवाद से अनेकान्तवाद की ओर चले आते हैं। जहाँ पर किसी एक के लिए नहीं, बल्कि सबके लिए आग्रह होता है, वहीं अनेकान्त पाया जाता है। जीवन का के सभी व्यापारों या व्यवहारों में अनेकान्त की झलक नजर आती है।

आचार्यों के अभिमत

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जिन्हें कि पांचवीं शती के भारत के उच्चकोटि के दार्शनिकों में स्थान प्राप्त है, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सन्मतितर्क' में अनेकान्तवाद की महत्ता को ऊपर उठाते हुए कहते हैं कि 'अनेकान्तवाद विश्व का गुरु है'। अर्थात् अनेकान्तवाद एक सही ढंग से ज्ञानपथ प्रदर्शित करता है। आचार्य हरिभद्र अनेकान्त के सम्बन्ध में कहते हैं— 'कदाग्रही व्यक्ति की, जिस विषय में मति होती है, उसी विषय में वह अपनी युक्ति को लगाता है। परन्तु एक निष्पक्ष व्यक्ति उस बात को स्वीकार करता है जो युक्तिसिद्ध हो'। इस प्रकार आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मतितर्क', आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा, आचार्य हरिभद्र ने 'अनेकान्तप्रवेश' और 'अनेकान्तजय-पताका', अकलंकदेव ने 'सिद्धिविनिश्चय' एवं उपाध्याय यशोविजय ने अपने विभिन्न ग्रन्थों में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन किया है।

---

२ एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः;
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥
—षड्-दर्शन-समुच्चय टीका, पृ० २२२.

स्याद्वाद

अनेकान्त का भाषागत रूप ही स्याद्वाद है। जो विचार या सिद्धान्त चिन्तन के रूप में अनेकान्त कहा जाता है, वही भाषा में स्याद्वाद के रूप में अभिव्यक्ति पाता है। इस तरह अनेकान्त यदि एक विचारपद्धति है, तो स्याद्वाद एक भाषापद्धति। दोनों वैसे ही हैं जैसे एक सिक्के के दो रूप। अनेकान्त एक निर्दोष विचार-प्रक्रिया है, तो स्याद्वाद एक निष्पक्ष अभिव्यक्ति।

'स्यात्' शब्द का अर्थ होता है—'कथंचित्'। इसीलिए स्याद्वाद को 'कथंचित्-वाद' के नाम से भी जाना जाता है। स्याद्वाद उस अभिव्यक्ति की राह दिखाता है, जिससे ज्ञान सही ढंग से प्रकाशित हो जाए और उससे किसी अन्य व्यक्ति का ज्ञान दोषपूर्ण जाहिर न हो। क्योंकि यदि एक व्यक्ति का ज्ञान सही है, सत्य है इसका यह मतलब नहीं होता कि दूसरे का ज्ञान असत्य है। और ऐसा कहने का किसी को 'अधिकार' भी नहीं होता; कारण सबके ज्ञान अधूरे ही रहते हैं। केवल सर्वज्ञ का ज्ञान ही पूर्ण एवं सब तरह से सत्य होता है। एक पदार्थ के अनेक धर्म या गुण या पहलू होते हैं। कोई एक व्यक्ति एक पहलू को जानता है, तो दूसरा उसके दूसरे धर्म को या दूसरे पहलू को। तब एक पहलू को जानने वाला दूसरे पहलू वाले को गलत कैसे कह सकता है, वह तो एक पहलू को ही जानता है, दूसरे को जानता ही नहीं। यहां पर स्याद्वाद कहता है जिस प्रकार किसी वस्तु के एक पहलू को जानने वाला सही है, उसी प्रकार दूसरे पक्ष को भी जानने वाला सही है। किन्तु दोनों के ज्ञान पूर्ण नहीं है। उन्हें पूर्णतः सत्यता प्राप्त नहीं। दोनों की सत्यता किसी खास सापेक्षता में है। अतः स्याद्वाद अपेक्षा पर या सीमा पर जोर देता है। इस सापेक्षता स्पष्टतः इस प्रकार मालूम हो सकती है। एक व्यक्ति को कोई पुत्र कहता है, कोई पिता कहता है, कोई पति कहती है, कोई भाई कहता है, कोई दोस्त कहता है। इस तरह विभिन्न लोग उसे विभिन्न रिश्तों से सम्बोधित करते हैं। यहाँ पर यदि उस व्यक्ति को पिता कहने वाला अपने को बिलकुल सही माने और दूसरों को गलत, या पुत्र कहने वाला अपने को सही माने और दूसरे को गलत तो वास्तविक स्थिति क्या समझी जाएगी। यद्यपि आदमी एक ही है, उससे रिश्ते अनेक हैं और अपने-अपने रिश्ते के अनुसार उसे सम्बोधित करने वाले सबके सब ठीक हैं। ऐसा नहीं कि जो उसे पिता कहता है वह ठीक है और पुत्र कहता है वह गलत है। रिश्ते ज्ञान के पहलू के प्रतीक हैं, अपेक्षा के प्रतीक हैं। यही बात किसी भी वस्तु के ज्ञान के सम्बन्ध में होती है। अतः किसी भी व्यक्ति को चाहिए कि अपना ज्ञान किसी खास सीमा या किसी खास अपेक्षा में सही समझे और उसी के अनुसार अभिव्यक्ति भी करे; ताकि दूसरे के ज्ञान पर किसी तरह आक्षेप नहीं आए।

ऐसी अभिव्यक्ति के लिए स्यात् का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। स्यात् घट है और स्यात् घट नहीं है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति में न है, गलत है और न

'न है'। क्योंकि घट है, इसका अर्थ है कि घट 'जिस रूप में और जिस स्थान या समय में देखा जा रहा है, उस रूप में है, किन्तु अन्य रूप, स्थान और समय में वह नहीं देखा जा रहा है, तो उस रूप में वह नहीं। अतः जो यह कहता है कि घट है कहना ठीक है और घट नहीं है, कहना गलत है। वह निश्चित ही एकान्तवादी है, अनेकान्तवादी नहीं। अनेकान्तवाद तो सब दृष्टियों से देखता है और सबको सही मानता है।

प्रतीकात्मक चिन्ह

एकान्तवाद का प्रतीकात्मक चिह्न 'ही' है और अनेकान्तवाद का 'भी'। एकान्तवादी कहता है 'मेरा सिद्धान्त ही ठीक है' इसका अर्थ होता है कि अन्य जितने भी ज्ञान हैं, गलत हैं। एकान्तवादी दूसरे के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ता, वह पूरी सम्भावना पर स्वयं अधिकार कर लेता है। इसके विपरीत अनेकान्तवादी कहता है कि **'मेरा भी सिद्धान्त ठीक है'**। ऐसी अभिव्यक्ति से दूसरे के लिए स्थान बच जाता है। 'मेरा भी सिद्धान्त ठीक है' का अर्थ होता है कि मेरे अलावा औरों के भी सिद्धान्त ठीक हैं।

अहिंसा

अहिंसा के सम्बन्ध में अब तक जो चर्चा की गई है उसमें यह देखा गया है कि अहिंसा का पूर्ण पालन तब होता है। जब मन, वाणी और शरीर से हिंसा न की जाय, न करवाई जाए और न हिंसा का अनुमोदन किया ही जाए। यहाँ पहला स्थान मन का अथवा चिन्तन का है। यह अनेकान्त का या अहिंसा का प्रथम चरण है। जब विचार में किसी को गलत साबित किया जाता है, तब द्वेष पैदा होता है। यदि सबको सही मान लिया जाए, सभी को सत्य माना जाए, केवल अपने ही सिद्धान्त को सही न मान कर औरों के सिद्धान्तों को भी सही माना जाए उनका आदर किया जाए तो किसी भी प्रकार के द्वेष को स्थान नहीं मिलता, फिर हिंसा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अनेकान्त हमें यही सिखाता है कि किसी एक सिद्धान्त के प्रति आग्रह न करो, सबके लिए आग्रही बनो, यानी समाग्रही बनो। अहिंसा की दूसरी स्थिति है—वाणी, जिसकी पूर्ति स्याद्वाद से होती है। स्याद्वाद सिखलाता है कि ऐसी अभिव्यक्ति करो, जिससे सबकी सत्यता जाहिर हो। ऐसा नहीं कि तुम घोषित करो 'मैं ही सत्य हूँ', फिर तो दूसरा तुमसे झगड़ने को तैयार हो जाएगा और उसके परिणामस्वरूप हिंसा होगी। कहो—मैं भी 'ठीक हूँ,' ताकि दूसरे के मन में किसी प्रकार का दुःख पैदा न हो, उसे भी सन्तोष हो कि अभिव्यक्ति करने वाला अपनी सत्यता की अभिव्यक्ति के साथ हमारे लिए भी स्थान छोड़ रहा है।

इस प्रकार वैचारिक अहिंसा, अनेकान्त और स्याद्वाद से अहिंसा की पूर्वपीठिका तैयार होती है, क्योंकि अहिंसा का विचारगत रूप अनेकान्तवाद है, भाषागत रूप स्याद्वाद है और आधारगत या कर्मगतरूप में तो स्वयं अहिंसा दिखाई पड़ती ही है। □

जीवन के चौराहे पर

३३

जगत् में कितने अगणित जीव-जन्तु भरे पड़े हैं। नाना प्रकार के पशु-पक्षी, कीड़े, मकोड़े तो हैं ही, लाखों प्रकार की वनस्पति और दूसरे भी छोटे-बड़े असंख्य प्रकार के प्राणी भी हैं। उनकी आत्मा में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। अन्तर है केवल शरीर का और आत्मिक शक्तियों के विकास का। इसी अन्तर ने मनुष्य में और दूसरे प्राणियों में बड़ा भेद पैदा कर दिया है। इसीलिए शास्त्र मानव-जीवन की गौरव-गाथा गाता है और मानव भी अपनी स्थिति पर गर्व करता है, अपने को धन्य मानता है। पर, मनुष्य को यह भी सोचना है कि इस जीवन के लिए उसे कितनी तैयारी करनी पड़ी है? किस प्रकार की साधनाएँ करनी पड़ी हैं?

बड़ी-बड़ी तैयारियाँ और साधनाएँ करने के बाद जो दिव्य-जीवन मिला है, उसकी क्या उपयोगिता है? क्या, यह जीवन भोग-विलास में लिप्त रहने के लिए है, धनसंचय या मान-प्रतिष्ठा के पीछे भटकते-भटकते समाप्त हो जाने के लिए है? क्या, इसलिए है कि एक दिन संसार में यों ही आए और यों ही चले गए?

आवागमन

जो आया है, वह तो जाएगा ही, चाहे कोई भिखारी हो, दरिद्र हो, अथवा राजा हो, सेठ हो। यह आवागमन का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है, आज भी चल रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा। प्रकृति के इस क्रम को रोकना आपके वश की बात नहीं है। चक्रवर्ती सम्राट् की शक्तिशाली सत्ता भी इसे बन्द नहीं कर सकती। यहाँ तक कि असंख्य देवी-देवताओं पर शासन करने वाला देवाधिपति इन्द्र भी इसे रोकने में असमर्थ है। संसार में कोई ऐसी जगह नहीं कि जहाँ हम जम कर बैठ गए तो अब उठेंगे ही नहीं। यद्यपि व्यक्ति यही चाहता है कि वह न उठे, किन्तु उसके चाहने की यहाँ कोई कीमत नहीं है। एक सामान्य व्यक्ति तो क्या, बड़े-बड़े शक्तिशाली यहाँ आए और चले गए। जिनकी मदमाती सत्ता ने एक दिन संसार में भूकम्प पैदा कर दिया था, जिनकी सेनाओं ने हिन्दुस्तान के कोने-कोने को रौंद डाला था और अपना खजाना भर लिया था, उनकी शक्ति भी यहाँ विफल हो गई। लाखों वीरों की सुदृढ़ सेना एक ओर दीन-भाव से खड़ी रही और जो बड़े-बड़े मंत्री यह कहते थे कि बाल की खाल निकाल देंगे और कोई न कोई रास्ता निकालेंगे, परन्तु आवागमन के प्राकृतिक कार्यक्रम को रोकने में उनकी विलक्षणबुद्धि भी कुछ काम न दे सकी। देवी-देवता खड़े रहे, उनसे भी कुछ नहीं बना। एक साधारण आदमी

संसार से विदा होता है तो लाचार और बेबस हो कर जाता है। वैसे ही जब एक धनी या सम्राट् विदा होते हैं, तो वे भी लाचार और बेबस हो कर ही विदा होते हैं।

एक ही राह

बिना वर्ग-भेद के सभी के लिए यदि एक राह नहीं होती तो दुनिया का फैसला होना मुश्किल हो जाता। यही राह गरीब और अमीर को एक करने वाली है, यह झोंपड़ियों तथा महलों तक का एक जैसा फैसला कर देती है। दुनिया में और कितनी ही राह क्यों न हों, पर श्मशान की राह तो एक ही है, जिस पर सबको चलना पड़ता है और जहां भिखारी से ले कर सम्राट् तक जल कर मिट्टी में मिल जाते हैं। यहां दो राह नहीं बन सकतीं, मंजिल दो नहीं हो सकती! सब के लिए एक ही राह है, एक ही मंजिल है और उसी में से सब को गुजरना है।

यह देखा गया है कि इन्सान की जिन्दगी में अभिमान, प्रतिष्ठा, आदि जो भौतिक अलंकरण हैं, वे सब यहीं समाप्त हो जाते है। मनुष्य, आगे कुछ भी नहीं ले जा सकता? महल, सोना-चांदी, जेवर वगैरह सब यहीं रह जाते हैं। कुटुम्ब-कबीला, समाज और राष्ट्र सभी यहीं छूट जाते हैं।

मानव-जीवन की सबसे बड़ी जो विशेषता है, वह यही है कि मनुष्य सोच सकता है कि उसे यहाँ से क्या ले जाना है, क्या नहीं ले जाना है? खाली हाथ दरिद्र हो कर लौटना है, या सम्राट् की तरह ऐश्वर्य की विराट् साज-सज्जा के साथ वापस होना है।

अन्तिम प्रवचन

भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में एक सुन्दर उदाहरण दिया है, और उसके सहारे बहुत बड़ा सत्य प्रकाशित किया है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि एक लघुकाय शब्द-सूत्र के सहारे करोड़ों मन सत्य का भार उतार दिया है। वह एक छोटा-सा दृष्टान्त अवश्य है, किन्तु उसके पीछे एक बहुत बड़ी सच्चाई, जीवन का महत्त्वपूर्ण अध्याय छिपा पड़ा है। उत्तराध्ययन सूत्र में आता है।[१]

भगवान् महावीर ने व्यापार करने आये बनियों का उदाहरण दिया है जो इस प्रकार है—

एक सेठ के तीन पुत्र थे। तीनों बुद्धिमान और विचारशील थे, पर वे घर में ही पड़े रहते थे, अतः उनको बुद्धि को परखने का प्रसंग नहीं मिलता था। उनके

---

१ जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाहं, एगो मूलेण आगओ॥
एगो मूलं वि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह॥

विचारों को, चरित्र को और व्यक्तित्व को ठीक तरह पनपने का और विकसित होने का अवसर उपलब्ध नहीं होता था।

पर सेठ बड़ा बुद्धिमान था। उसने सोचा—देखना चाहिए, कौन लड़का कैसा है और आगे चल कर मेरे वंश का उत्तरदायित्व कौन कितना निभा सकता है? कौन मेरे कुल की प्रतिष्ठा को स्थायी रूप से सुरक्षित रख सकता है? मैं दुनियाभर की परीक्षा करता हूँ तो अपने लड़कों की परीक्षा भी क्यों न करूँ?

सेठ ने एक दिन तीनों लड़कों को बुलाया और कहा—"तुम सब समझदार और योग्य हो गए हो। जीवन के कार्य-क्षेत्र में काम कर सकते हो। जो कुछ मैं करता हूँ, वह तो तुम्हारा ही है। उसे मुझे कहीं अन्यत्र ले नहीं जाना है। किन्तु तुम मुझे यह विश्वास दिला दो कि तुम मेरे पीछे मेरी जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभा सकोगे।"

लड़कों ने कहा—"पिताजी, फरमाइये, क्या करें?"

इसी सवाल को हल करने के लिए तो पिता ने उन्हें बुलाया था। कमाने के लिए वह अपने लड़कों को बाहर नहीं भटकाना चाहता था। उसके पास आजीविका के सभी साधन मौजूद थे। परन्तु 'क्या करें'? यह जो परमुखापेक्षी वृत्ति बन जाती है और बार-बार जो यह प्रश्न मन में पैदा हो-हो कर रह जाता है, इसी का उसे समुचित समाधान करना था।

सेठ ने कहा—"करना क्या है? चले जाओ। नाव को समुद्र में बहने दो और लंगर खोल दो, डाँड़ तो तुम्हारे हाथ में है। वस्तुतः सफल जीवन का यही अर्थ है कि तुम कितने पुरुषार्थ से, कितनी योग्यता से जीवन-नौका को सकुशल तट पर ले जाते हो! जिस नाव में बैठे हो, उसका लंगर यदि नहीं खोला है, तो उसके चलाने का कोई अर्थ नहीं। खोल दिया जाए जीवन-नौका का लंगर और छोड़ दिया जाए उसे लहरों पर! जब जीवन-नौका लहरों के थपेड़े खाएगी और नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होंगे, तब पता लगेगा कि तुम्हारे अन्दर कितनी योग्यता है। यदि समुद्र में तूफान आया है तो नाव को कैसे ले जाएँ, और कहाँ मन्द गति और कहाँ तीव्र गति दी जाए, आदि-आदि योग्यताएँ ही तो जीवन के सफल संचालन के लक्षण हैं।"

योग्यता की जाँच

पिता की बात सुनकर पुत्रों ने कहा—"बात ठीक है। आपका विचार सही है। हम अपनी योग्यता की जाँच करेंगे।"

इसके लिए उनको योग्य पूँजी दे दी गई। एक-एक लाख रुपये तीनों को दे दिये गए और उनसे कह दिया गया कि तीनों, तीन दिशाओं में अलग-अलग चले जाएँ। अपनी दिशाएँ इच्छा के अनुरूप निश्चित कर सकते हैं।

तीनों पुत्रों ने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न देशों में जा कर बड़ी-बड़ी फर्में स्थापित कीं।

उनमें एक बड़ा चतुर और बुद्धिमान् था। उसने अपनी पूँजी ऐसे व्यवसाय में लगाई कि बारे-न्यारे होने लगे। धन दिन दूना और रात चौगुना बढ़ने लगा। वह

बड़ा सच्चरित्र था। जैसे-जैसे लक्ष्मी आती गई, वह नम्र होता गया। उसने आस-पास के व्यापारियों में अपनी धाक जमा ली। जहाँ कहीं भी रहा, बेगाना बन कर नहीं रहा। ऐसे रहा, मानो उन्हीं के घर का आदमी हो और किसी को लूटने नहीं आया, किन्तु अपने-पराये सब का समुचित संरक्षण करने आया है। इस तरह उसने अपनी चारित्रिक प्रतिष्ठा जमा ली। उसके पास लक्ष्मी खूब आई, पर लक्ष्मी का नशा तनिक भी नहीं आया। वह दुश्चरित्र नहीं बना।

गोता लगाकर भी सूखा

मजा तो यह है कि समुद्र में डुबकी तो लगाए, किन्तु सूखा निकल आए। कोई तट पर बैठा रहे और कहे कि मैं सूखा हूँ, भीगा नहीं, तो ऐसे सूखेपन का कोई मूल्य नहीं है। यदि समुद्र में गोता लगा दे और तत्क्षण सूखा निकल आए, भीगे नहीं, तब कहा जा सकता है कि वास्तव में जादू है, चमत्कार है। इसी प्रकार यदि कोई धन वैभव पा कर भी सच्चरित्र बना रहे, उसे नशा न चढ़े, तब हम कहेंगे कि समुद्र में गोता तो लगाया किन्तु फिर भी सूखा ही निकला। जब चारों ओर लक्ष्मी की झनकार हो रही हो, फिर भी लक्ष्मी की मादकता से ठोकर न लगे और वासना की बौछार से बिना भीगे बाहर आ जाए, तब तो कह सकते हैं कि यह एक ठीक कला है। 'आनन्द' श्रावक ने संसार-समुद्र में गोते लगाए थे, फिर भी वह सूखा ही निकला। महावीर के परम भक्त राजा चेटक आदि सभी ने संसार-समुद्र में गोते लगाए थे, किन्तु सभी सूखे थे। चक्रवर्ती भरत भी संसार-समुद्र में गोते लगा कर भी सूखे ही थे। सारांश में यही अभिमत पर्याप्त होगा कि सांसारिक कार्यों में संलग्न रहते हुए भी फल की प्राप्ति में लिप्त नहीं रहना चाहिए।

जीवन-व्यापार को सफलतापूर्वक चलाने की महत्वपूर्ण कला जल में खड़े कमल से ही सीखी जा सकती है। कमल कीचड़ में पैदा होता है, पत्थर की चट्टान, रेत या टीले पर नहीं। निस्सन्देह वह गहरे सरोवरों में जन्म लेता है, फिर भी वह पानी से नहीं भीगता, क्योंकि वह पानी से ऊपर रहता है। कमल की यह विशेषता है कि यदि उसके ऊपर पानी डाला जाए, या वर्षा का पानी पड़े, तब भी उसमें ऐसी चिकनाहट नहीं होती है कि सब पानी बह जाएगा और वह अपने निर्लिप्त गुण के कारण सूखा का सूखा ही रहेगा। जैसे कमल पानी में पैदा होता है, फिर भी पानी के प्रभाव से सर्वथा अलग रहता है। इसी प्रकार सफल जीवन का भी आदर्श होना चाहिए।[१]

कमल की कला

ऐसा भूल कर भी न समझना चाहिए कि कमल पानी में भीगने के भय से बाहर क्यों नहीं भागता। यदि भागने का प्रयत्न करे तो वह एक क्षण भी जिन्दा नहीं रह सकता। इसी प्रकार कोई संसार के बाहर कैसे भाग सकता है? और भाग कर जाएगा

---

१ "न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासो।"

भी कहाँ ? इस विश्व के बाहर उसका कहाँ ठिकाना है ? कहीं भी जाए, रहेगा तो संसार के वायुमण्डल में ही। इसलिए, जबतक व्यक्ति गृहस्थ हो, उसे संसार में रहते हुए ही, कमल की भाँति निर्लिप्त रहने की कठिन साधना करनी चाहिए। संसार-सागर में जीवन-जहाज को सफलतापूर्वक चलाने के लिए इसके सिवाय और कोई दूसरा चारा नहीं है।

यदि साधु गोचरी के लिए जाए और वहाँ किसी आकर्षणवश उसका मन डगमगाने लगे तो, यह कैसे चलेगा ? आखिर, उसे भी यह कला सीखनी ही पड़ेगी। यह अपार संसार है, यह दुर्गम दुनिया है।। इसी से वस्त्र-पात्र भी लेना है, झोंपड़ियों और महलों में भी जाना है। आँख बन्द करके नहीं चल सकते, नाक बन्द करके नहीं जी सकते, और हाथ-पैर बाँध कर निष्क्रिय बैठ भी नहीं सकते। सब इन्द्रियाँ अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप अपना काम करती ही रहेंगी। फिर साधु तो ऐसी कला सीखते हैं कि खाते, पीते, सुनते और देखते हुए भी मोह-वासना के कीचड़ में नहीं फँसते। दैनिक व्यवहार में प्रायः वे निन्दा भी सुनते हैं, स्तुति भी सुनते हैं, अच्छा या बुरा, जैसा भी रूप आँखों के सामने से गुजरता है, उसे देखते भी हैं। किन्तु निर्लिप्त भावना के कारण वे मोह-जन्य वासना के कुचक्र में नहीं फँसते, सदैव उससे परे ही रहते हैं, क्योंकि सांसारिक मोह-वासना का कुचक्र साधु-जीवन को अधःपतन के गर्त्त में ले जाने वाला है।

अस्तु, कमल की वही कला सबको भी सीखनी है। यदि कोई भागना भी चाहेगा तो कब तक भागेगा ? भगवान् महावीर का यह अटल सिद्धान्त है कि—"जिस किसी भी स्थिति में रहो, किन्तु यह कला सीख लो कि कमल जल में रहता है और जल में रह कर भी सूखा ही रहता है।"[२] यदि यह दिव्य-दृष्टि जीवन में मिल गई, तो समझ लो कि जीवन की सफल कला मिल गई। जिसे जीवन की यह मंगलमयी कला मिल गई, वह साधक उत्तरोत्तर ऊपर ही उठता जाता है और सांसारिक मोह-वासना का कोई विकार उसकी प्रगति में बाधक नहीं होता।

उस सेठ के लड़के ने लाखों-करोड़ों कमाए। वह धन भी कमाता रहा और सदाचारी भी बना रहा। वह धन कमा कर जब घर लौटा तो नगर के लोग उसके स्वागत के लिए उमड़ पड़े। सेठ भी अपने परिवार के साथ हर्षोल्लास से गद्गद स्वागतार्थ दौड़ा। बड़े सम्मान के साथ, इज्जत के साथ और धूमधाम के साथ उसने नगर में प्रवेश किया। वह तो प्रफुल्लित था ही, साथ ही हर एक नगर-निवासी भी हर्षोल्लास से भरपूर था।

सेठ का दूसरा लड़का भी बाहर गया, उसने भी किसी व्यवसाय में पूँजी लगाई। किन्तु वह अपनी बुद्धि एवं प्रतिभा का अच्छी तरह उपयोग न कर सका, फलतः उसने कुछ पाया नहीं, किन्तु साथ ही खोया भी नहीं। पिता की दी हुई पूँजी

---

२ "जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।"

को बराबर बनाए रखा ; यही उसकी बहुत बड़ी बुद्धिमानी थी। उसने ठीक ही सोचा —यदि पूँजी में बढ़ोतरी नहीं होती है तो अब चल देना चाहिए। घर पहुँचने पर यद्यपि उसका बड़े भाई की भाँति स्वागत नहीं हुआ, किन्तु अनादर भी नहीं हुआ। पिता ने उससे कहा—"बेटा, खेद की कोई बात नहीं। तुम जैसे गए थे, वैसे ही लौट आए। कुछ खो कर तो नहीं आए, यह भी तो एक कमाई है। कुछ न खोना भी तो कमाने के ही बराबर है।"

सेठ का तीसरा लड़का लक्ष्मी की गर्मी में और धन के नशे में पागल हो गया, फलतः वह दुराचार में फँस गया। उसने सारी पूँजी भोग-विलास और ऐश-आराम में उड़ा दी। जब सर्वस्व लुट चुका तो खाने को भी मुहाल हो गया। अन्त में उसने भी घर लौटने की सोची, किन्तु शोभनीय पोशाक की जगह चीथड़े पहने हुए था, प्रसन्नता की जगह आँसू बहा रहा था और स्वादिष्ट भोजन के नाम पर भीख माँगता आया था। जब उसने गाँव में प्रवेश किया, तो कोई सूचना नहीं भेजी और बीच बाजार से न हो कर अन्धेरी गली में से ही घर की ओर भागा। उसने मुँह पर कपड़ा ढँक लिया था, जिससे कोई पहचान न सके। आखिर घर में आ कर वह रो पड़ा। घर वालों ने कहा—"अरे मूर्ख ! तू तो मूल पूँजी को भी गँवा आया ?"

मूल पूँजी

यह संसार जीवन-व्यापार का एक बाजार है। हम मानवगति-रूपी गाँव में पहुँच गए हैं और व्यापार करने के लिए यहाँ बाजार में एक स्थान मिल गया है। जो पहले नम्बर का व्यापारी होगा, वह यहाँ और वहाँ; अर्थात्—लोक और परलोक दोनों जगह आनन्द पाएगा। जब लौटेगा तो पहले से उसके स्वागत की तैयारियाँ होंगी। जब यहाँ रहेगा, तब यहाँ भी जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश देगा और जहाँ कहीं अन्यत्र भी जाएगा, वहीं सुखद सन्देश सुनाता रहेगा। उसके लिए सर्वत्र आनन्द-मंगल और जय-जयकार होंगे। वह स्वर्गीय जीवन का अधिकारी है।

जो मूल पूँजी ले कर आया है, अर्थात्—जिसने इंसान की यह जिन्दगी पाई है और जो आगे भी इंसान की जिन्दगी पाएगा, उसके लिए कह सकते हैं कि उसने कुछ नया कमाया नहीं, तो कुछ अपनी गाँठ का गँवाया भी नहीं।

परन्तु जो आता है इंसान बन कर और वापिस लौटता है कूकर-सूकर बन कर वह फिर क्या हुआ ? यदि यहाँ पचास, या सौ वर्ष रहा, और लौटा तो कीड़ा-मकोड़ा बना, गधा-घोड़ा बना, या नरक का मेहमान हुआ तो वह हारा हुआ व्यापारी है। वस्तुतः वह ऐसा व्यापारी है, जिसने अपने जीवन के लक्ष्य का अच्छी तरह निर्णय नहीं किया है।

भारतीय चिन्तन की गूढ़ भाषा में भावार्थ यह है कि इन्सान की जिन्दगी श्रेष्ठतम जिन्दगी है। अतः जो करना है और जो करने योग्य है, वह सब यहाँ ही कर लेना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया, तब फिर कहाँ करेंगे ?

"यहाँ का नाश सबसे बड़ा नाश है ! यहाँ की हार सबसे बड़ी हार है !! यहाँ, यदि अच्छी बातें न हुईं तो यहाँ-वहाँ सर्वत्र सबसे बड़ा अनादर है, अपमान है।"[२]

जीवन का चौराहा

मानव, जीवन के चौराहे पर खड़ा है। यहाँ से एक रास्ता—स्वर्ग एवं मोक्ष को जाता है; दूसरा—नरक को जाता है; तीसरा—पशु-पक्षी की योनि को; और चौथा—मनुष्य-गति को जाता है। अब यह तय करना है कि किस रास्ते पर चलना है? चारों रास्तों के दरवाजे खुले पड़े हैं। चारों ओर सड़कें चल रही हैं। एक ओर प्रकाश चमक रहा है, तो दूसरी ओर अन्धकार घिर रहा है। अब विचार करना है। कि अपनी जिन्दगी को किधर ले जाना है! यदि आदमी सत्य और अहिंसा के सन्मार्ग पर चलेगा तो वह यहाँ भी आनन्द-मंगल पाएगा और आगे जहाँ कहीं भी जाएगा, जन-संसार को दुःख के बजाय सुख की ही जिन्दगी देगा। यह दिव्य-प्रकाश का आदर्श मार्ग है। यह वह प्रकाश है, जो कभी धुँधला नहीं पड़ता, अन्धकार से नहीं घिरता।

समय प्रतीक्षा नहीं करता

इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने कहा है कि—'हृदय में जब धर्म के आचरण करने की पवित्र भावना उत्पन्न हो और संकल्प भी पक्का हो, तो फिर टालमटोल करने की क्या आवश्यकता है? 'मा पडिबंध करेह'; अर्थात्—देरी मत करो' भूखे को जब भूख के समय भोजन मिल जाए, तब क्या भूखा इन्तजार करेगा? नहीं; उसी समय खाएगा और दौड़ कर खाएगा।

जब आध्यात्मिक भूख लगी हो, जीवन-निर्माण की सच्ची लालसा जागृत हुई हो तो उस समय जीवन का जो महत्त्वपूर्ण मार्ग है, सच्चाई का मार्ग है, समाज एवं राष्ट्र के हित का कल्याणपथ है, उसी पर सत्यनिष्ठ हो कर चलना चाहिए। तनिक भी इन्तजार मत करो! इस रूप में तत्क्षणकारिता ही जीवन-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण आदर्श है, जो साक्षात् रूप में हमारे सामने है। परन्तु लोग बहुधा कहा करते हैं—"जी हाँ। बात तो ठीक है! पर अभी अवकाश नहीं है।" यह क्या विचित्र चिन्तन है? हृदय की इस अशोभन दुर्बलता को जितनी भी जल्दी हो, दूर कर देना चाहिए और जो कुछ भी सत्कर्म करना हो, उसे शीघ्राशीघ्र कर लेना चाहिए। क्योंकि समय की गति तेज है, वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, किन्तु अवसर को अवश्य प्रकट कर देता है। अवसर भी साकार रूप में प्रकट नहीं होता, पक्षी की भाँति अपने पंख ही फड़फड़ाता है। जो अपनी कुशाग्रबुद्धि से अवसर के पंख को पहचान लेता है और अपने अभीष्ट कार्य को उस पंख से सुसम्बद्ध कर देता है, वह समय की द्रुतगामी गति के साथ प्रगति करता हुआ एक दिन अवश्य ही उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है।

अतः अहिंसा पर अन्तरंगबहिरंग सभी पहलुओं से चिन्तन-मनन करके द्रुतगति से आचरण की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। □

---

२ "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।" —केनोपनिषद्